मात्रिक छंदों का विकास

(मध्यकालीन हिन्दी-काव्य में प्रयुक्त मात्रिक छंदों का विश्लेषणात्मक तथा ऐतिहासिक अध्ययन)

डॉ० शिवनन्दन प्रसाद
साहित्यरत्न, एम्० ए०, डी० लिट्०

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना

प्रकाशक
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना

© बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

प्रथम संस्करण, २०००
विक्रमाब्द २०२०; शकाब्द १८८४; खृष्टाब्द १९६४
सजिल्द मूल्य : ८.५० न० पै०

मुद्रक
संजीवन प्रेस
बीबाघाट, पटना

वक्तव्य

'मात्रिक छन्दों का विकास' नामक यह शोध-प्रबन्ध पटना-विश्वविद्यालय की डी० लिट्० उपाधि के निमित्त तैयार किया गया था, जिसके विद्वत्तापूर्ण प्रतिपादन के कारण इसके लेखक श्रीशिवनन्दन प्रसादजी को उक्त विश्वविद्यालय ने सन् १९५८ ई० में डी० लिट्० की उपाधि से विभूषित किया था। इस शोध-प्रबन्ध की विशेषता है कि यह मौलिक रूप में हिन्दी-भाषा में ही लिखा गया था और चूँकि हिन्दी-काव्यों में मात्रिक छन्दों का ही प्राचुर्य है, अतः ग्रन्थ-लेखक ने अपने प्रतिपादन के विषय के लिए मात्रिक छन्दों को ही ग्रहण किया। इस ग्रन्थ में मध्यकालीन हिन्दी-काव्य में प्रयुक्त मात्रिक छन्दों का विश्लेषणात्मक तथा ऐतिहासिक अध्ययन बड़ी ही पाण्डित्यपूर्ण सुललित शैली में प्रस्तुत किया गया है। हमारा खयाल है, हिन्दी-भाषा में छन्दों के सम्बन्ध में ऐसा अनुसन्धानपूर्ण विस्तृत विवेचन करनेवाला यह अकेला ग्रन्थ है, जिससे निश्चय ही यह हिन्दी-साहित्य की शास्त्रीय ग्रन्थ-पंक्ति में अपना वैशिष्ट्य स्थापित करेगा।

सम्पूर्ण ग्रन्थ ७ अध्यायों, २५ प्रकरणों तथा ३ परिशिष्टों में समाप्त होता है, जिसमें छन्दःशास्त्र का विस्तारपूर्वक ऐतिहासिक और परिचयात्मक विवेचन एवं विश्लेषण अंकित है। अपने शास्त्रीय अध्ययनपूर्ण वैशिष्ट्य के कारण ही यह छन्दःशास्त्र के अध्येताओं के लिए मानदण्ड बनेगा, ऐसा हमारा विश्वास है।

छन्दःशास्त्र का आविष्कार कब हुआ और किसने किया, यह आजतक के विद्वानों के अनुसन्धान-अन्वेषण से निश्चित नहीं हो सका है। वेद की भाषाओं की तरह छन्द को भी अनादि ही माना जाना चाहिए; क्योंकि वेदों को 'छन्दस्' कहा गया है—**छन्दांसि यस्य पर्णानि** और वेदों में गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्, बृहती, पंक्ति और जगती छन्दों का उल्लेख मिलता है, जिससे पता चलता है कि वेदों के निर्माण के समय छन्दों का विधान हो गया था। जहाँतक लौकिक छन्दों के आविष्कार का प्रश्न है, काव्य की तरह इसका आविष्कारक भी महर्षि वाल्मीकि को ही माना जाता है। इतना तो निश्चय ही कहा जायगा कि छन्दों के निर्माण के पश्चात् ही छन्दःशास्त्र का आविष्कार हुआ होगा, जिसका श्रेय शेषावतार पिंगलाचार्य को प्राप्त है; क्योंकि छन्दःशास्त्र के सभी रचनाकार अपने को पिंगलाचार्य का ऋणी मानते हैं। पिंगलाचार्य के पश्चात् अन्य शास्त्रों की तरह छन्दःशास्त्र का भी प्रचुर विकास और विस्तार हुआ तथा प्रस्तार-भेद से हजारों छन्द लोक में बनने लगे। किन्तु, पिंगल के काल के सम्बन्ध में आजतक जो भी अनुमान हुए हैं, सब अधूरे तथा अप्रामाणिक हैं। हमारी समझ से पतंजलि के पूर्व और पाणिनि के समय पिंगल का काल निश्चित होना चाहिए। हमें प्रसन्नता है कि जिस शास्त्र की इतनी प्राचीन परम्पराएँ हैं, उनके सम्बन्ध में डॉ० शिवनन्दन प्रसादजी ने जो अतीव श्रमसाध्य अध्ययन प्रस्तुत किया है, वह सर्वथा अभिनन्दनीय एवं श्लाघनीय माना जायगा। लेखक का पाण्डित्य तो विशेष रूप से स्तुत्य है ही।

अपनी महत्त्वपूर्ण प्रकाशन-माला में डॉ० शिवनन्दन प्रसाद के इस विशिष्ट शोध-प्रबन्ध को गूँथते हुए बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् आह्लाद का अनुभव कर रही है और आशा है कि हमारे अन्य समादृत ग्रन्थों की तरह इसका भी यथेष्ट सम्मान विद्वत्समाज में होगा। विश्वास है, अपनी स्थापनाओं के कारण यह ग्रन्थ अनुसन्धान के क्षेत्र में गौरवान्वित होगा।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना
महाशिवरात्रि, २०२० वि०

भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'
निदेशक

पूज्य गुरुवर

डॉ० विश्वनाथ प्रसादजी

एम्० ए०, बी० एल्०, पी-एच्० डी० (लंदन)

के

कर-कमलों में

सादर

'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।'

—शिवनन्दन प्रसाद

भूमिका

हिन्दी के छन्दों पर शोधकार्य करने का निश्चय मैं सन् १९५०-५१ ई० में ही कर चुका था। इस निश्चय की प्रेरणा मुझे गुरुवर डॉ० विश्वनाथ प्रसादजी से मिली, जिन्होंने मेरे आग्रह पर कृपापूर्वक मार्ग-निर्देशन का भार स्वीकार किया और मैं कार्य में लग गया। उनमें कठिन परिश्रम करने और कराने की अद्भुत सहज क्षमता के अतिरिक्त मैंने उस प्रज्ञाज्योति के दर्शन किये, जिससे मेरे पथ का अंधकार दूर होता गया और मैं मध्यकालीन हिन्दी-छन्दःप्रयोग-संबंधी सर्वथा नवीन और महत्त्वपूर्ण तथ्यों एवं उनके संबंधों की उपलब्धि में सफल हो सका। कई वर्षों के निरन्तर श्रम के फल-स्वरूप सन् १९५७ ई० में प्रबन्ध पूरा हुआ और अगले वर्ष पटना-विश्वविद्यालय द्वारा डी० लिट्० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ।

मध्यकालीन हिन्दी-काव्य में प्रयुक्त मात्रिक छंदों का विश्लेषणात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन शोध-विषय के रूप में अपनाया गया, इसका कारण है। मात्रिक छंद ही हिन्दी के अपने छंद हैं, जो आदिकाल से आधुनिक काल तक सम्यक् रूप से हिन्दी-काव्य में प्रयुक्त मिलते हैं। वर्णवृत्त हिन्दी में अपवाद के रूप में ही व्यवहृत हुए।

इन मात्रिक छंदों का सर्वाधिक उल्लेख्य विकास मध्यकाल में और वह भी सं० १७०० वि० तक हुआ है। संवत् १७०० विक्रम वह सीमा-रेखा है, जिसके पहले संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के प्रायः सभी प्रमुख छंदोलक्षण-ग्रंथ बन चुके थे और जिसके बाद ही हिन्दी के छंदोलक्षण-ग्रंथ निर्मित हुए। हिन्दी के प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण लोकप्रिय मात्रिक छंद सं० १७०० वि० के पूर्व ही विशिष्ट आकार ग्रहण कर प्राकृत-अपभ्रंश-छंदोलक्षण-ग्रंथों में उल्लिखित हो चुके थे। अतएव, मध्यकाल में भी सं० १७०० वि० को व्यावहारिक काव्य-प्रयोग के बीच मात्रिक छंदों के अध्ययन के लिए परवर्त्ती सीमा के रूप में स्वीकार किया गया।

आधुनिक हिन्दी-काव्य में इन शास्त्रोक्त मात्रिक छंदों के अतिरिक्त जो अन्य नई और शास्त्रेतर छंदोयोजनाएँ प्रयुक्त होती हैं, वे अध्ययन का स्वतंत्र विषय होने के कारण इस ग्रन्थ में समाविष्ट नहीं की गईं। दूसरे, आधुनिक मुक्त छंद या तालवृत्त पर डॉ० पुत्तूलाल शुक्ल ने अच्छा काम किया है, जिसकी पुनरावृत्ति अनावश्यक थी।

छंदःसंबंधी हमारे प्रस्तुत अध्ययन की प्रकृति विश्लेषणात्मक (तथा तुलनात्मक) एवं ऐतिहासिक दोनों प्रकार की है। अध्याय ४ में विभिन्न लक्षणग्रन्थों के आधार पर छंदोलक्षणों का विश्लेषण तथा उनकी तुलना की गई है। इस प्रक्रिया द्वारा कतिपय सर्वथा नवीन और महत्त्वपूर्ण तथ्य तथा उनके संबंध उपलब्ध हुए हैं, जो इस अध्याय के प्रकरण ३, ५ और ७ में विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। अध्याय ५ और ६ में १० विशिष्टमात्रिक छंदों (तथा उनके भेदों और रूपांतरों) के उद्भव और विकास का ऐतिहासिक अध्ययन लक्षणग्रन्थों में उल्लेख के साथ-साथ वास्तविक काव्य-प्रयोग के आलोक में किया गया है,

जिसके द्वारा उक्त तथ्यों की पुष्टि हुई है तथा अन्य मौलिक और महत्त्वपूर्ण तथ्य तथा उनके संबंध उपलब्ध हुए हैं।

मेरी उपलब्धियों का अनल्प श्रेय मेरे इस सौभाग्य को है कि मुझे हिन्दी-छंदोलक्षण ग्रन्थों की कम-से-कम २५ हस्तलिपियों के अवलोकन का दुर्लभ अवसर मिला। इनमें पाँच डॉ० विश्वनाथ प्रसादजी के सौजन्य से प्राप्त हुईं। इनमे तीन विशेष उल्लेख्य हैं—मुरलीधर कविभूषण-कृत 'छंदोहृदयप्रकाश' (बाद में डॉ० विश्वनाथ प्रसादजी के ही संपादकत्व में हिन्दी-विद्यापीठ, आगरा-विश्वविद्यालय से प्रकाशित), वृंदावनलाल-कृत 'छंदसार' तथा जयदेवमिश्र-कृत 'वृत्तार्णव'। तीन हस्तलिपिया गया के श्रीमन्नूलाल पुस्तकालय में देखने को मिलीं, जिनमें उल्लेख्य है—सुखदेवमिश्र-कृत 'पिंगल'। मैं इस पुस्तकालय के अधिकारियों के प्रति कृतज्ञ हूँ। शेष सभी हस्तलिखित ग्रन्थ काशी नागरी-प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय मे देखने को मिले। इनमें उल्लेख्य हैं—सुखदेव-मिश्र-कृत 'पिंगल', 'छंदोविकास', 'वृत्तविचार' तथा 'छंदविचार'; मतिराम-कृत 'छंदसार-पिंगल', रामसहाय-कृत 'वृत्ततरंगिनी', अयोध्याप्रसाद-कृत छंदानंदपिंगल', जानी बिहारीलाल-कृत 'छंदप्रभाकरपिंगल', चतुरदास-कृत 'चतुरचंदिकापिंगल' और बिहारी-कृत 'छंदप्रकाश'। पुस्तकालय-भवन में दिन-दिन भर बैठकर हस्तलिपियों के उपयोग की सुविधा के लिए मैं सभा के अधिकारियों का आभारी हूँ।

मैं डॉ० माहेश्वरी सिंह 'महेश' के प्रति व्यक्तिगत रूप से विशेष आभारी हूँ, जिन्होंने लंदन-विश्वविद्यालय में स्वीकृत अपने शोध-प्रबंध (The Historical development of mediaeval Hindi prosody : Ramanand—Kesava : 1400—1600) की अपनी टाइप की हुई प्रति मुझे अवलोकनार्थ सहर्ष सुलभ करने की कृपा की थी। इसी प्रकार, प्रयाग-विश्वविद्यालय के पुस्तकालयाध्यक्ष ने डॉ० जानकीनाथ सिंह 'मनोज' के अप्रकाशित शोध-प्रबंध की प्रति भेजने का अनुग्रह कर मेरा कम उपकार नहीं किया। इन पूर्ववर्त्ती शोध-प्रबन्धों के अवलोकन द्वारा मुझे अपने शोध-विषय के सीमा-निर्द्धारण में सुविधा हुई है। और, मैं इन प्रबंधों में विवेचित विषय की पुनरावृत्ति से बहुत अधिक बच सका हूँ।

मैंने जिन अन्य विद्वज्जनों के प्रकाशित ग्रन्थों अथवा निबन्धों से बहुत अधिक लाभ उठाया है, उनमें मुख्य हैं डॉ० एच० डी० वेलंकर, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० बाबूराम सक्सेना, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० केसरीनारायण शुक्ल, डॉ० रामकुमार वर्मा, डॉ० पुत्तूलाल शुक्ल, श्रीरघुनन्दन शास्त्री आदि। इन सभी के प्रति मैं सादर आभार व्यक्त करता हूँ।

इस ग्रन्थ में दृष्टिकोण की वैज्ञानिक वस्तुनिष्ठता के अनुरूप ही भाषा-प्रयोग अभीष्ट रहा है। भावात्मक अथवा आलंकारिक शैली से बचने की चेष्टा की गई है तथा मंतव्य के प्रकाशन में सामान्यतः स्पष्टता, सरलता और संक्षेप को महत्त्व दिया गया है, यद्यपि वर्ण्य विषय की प्रकृति के कारण भाषागत पारिभाषिकता व्यापक रूप से समाविष्ट है। विषय के स्पष्टीकरण के हित में कहीं-कहीं पुनरुक्ति का अपराध भी अनिवार्यतः हो गया है।

'मात्रिक छंदों का विकास' अब प्रकाशित रूप में आपके सामने है। पाण्डुलिपि सन् १९६० ई० में ही बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् (पटना) को, परिषद् के आद्य संचालक स्वर्गीय आचार्य शिवपूजन सहायजी के आदेशानुसार, प्रकाशनार्थ प्रस्तुत की गई थी। इसके प्रकाशन के अवसर पर स्वर्गीय सहायजी का सादर साभार स्मरण स्वाभाविक है। परिषद् के वर्त्तमान निदेशक, बंधुवर डॉ० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' तथा अन्य सम्बद्ध कार्यकर्त्ताओं के निरन्तर सत्प्रयत्नों से ही यह ग्रन्थ मुद्रित रूप में आपके सामने आ सका है। उनके प्रति किन शब्दों में आभार व्यक्त करूँ।

ग्रन्थ को यथासंभव सामान्य त्रुटियों से मुक्त रखने का प्रयास किया गया है, किन्तु प्रयत्न के बावजूद त्रुटियों का रह जाना संभव है। जैसी भी हो, अब यह कृति विद्वज्जनों के समक्ष प्रस्तुत है। भरोसा इसका है कि—संत हंस गुन गहहिं पय, परिहरि बारि बिकार।

उपनिदेशक | विनीत
केन्द्रीय हिन्दी-निदेशालय | शिवनन्दन प्रसाद
शिक्षा-मंत्रालय, भारत-सरकार, दिल्ली
५-१-१९६४

संकेत-सूची

अ०—अध्याय।

अ०छं०—अयोध्याप्रसाद-कृत छंदानंदपिंगल।

कद०—कविदर्पणम्।

गा०ल०—नंदिताढ्य-कृत गाथालक्षणम्।

चिं० छं०—चिंतामणि-कृत छंदविचार।

छं० को०—रत्नशेखर-कृत छंदःकोश।

छं०प०भा०—हरदेवदास-कृत छंदपयोनिधि भाषा।

छं०पिं०—भिखारीदास-कृत छंदोर्णवपिंगल।

छं०प्र०—जगन्नाथप्रसाद भानु-कृत छंदःप्रभाकर।

छं०हृ०प्र०—मुरलीधर कविभूषण-कृत छंदोहृदयप्रकाश।

जकी०—जयकीर्त्ति-कृत छंदोऽनुशासनम्।

जय०—जयदेव-कृत जयदेवच्छंदस्।

जा०छं०अथवा जा०छं०पिं०—जानी बिहारीलाल-कृत छंदप्रभाकरपिंगल।

जा० ना० सिं०—श्रीजानकीनाथसिंह 'मनोज' का शोध-प्रबन्ध—'The Contribution of Hindi Poets to prosody.

दे०—देखिए।

पिं०—पिंगलाचार्य-कृत छंदःशास्त्रम्।

पृ०—पृष्ठ-संख्या।

प्रा०पैं०—प्राकृतपैंगलम्।

रा०वृ०त०—रामसहाय-कृत वृत्तरंगिनी।

वृ०छं०—वृन्दावनलाल-कृत छंदसार।

वृ०जा०स०—विरहांक-कृत वृत्तजातिसमुच्चय।

वृ०र०—केदारभट्ट-कृत वृत्तरत्नाकर।

श्रु०—कालिदास-कृत श्रुतबोध।

सु०पिं०—सुखदेवमिश्र-कृत पिंगल।

सु०वृ०वि०—सुखदेवमिश्र-कृत वृत्तविचार।

सु०वृ०छं०—सुखदेव मिश्र-कृत छंदविचार

स्वयं०—स्वयंभू-कृत स्वयंभूच्छंदस्।

हिं०का०धा०—राहुल सांकृत्यायन-कृत हिन्दी-काव्यधारा।

हे०छं०—हेमचंद्र-कृत छंदोऽनुशासनम्।

ABORI—Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona.
GOS—Gaekwads Oriental Series.
JBBRAS—Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society.
JDL, CU—Journal of the Department of letters, Culcatta University.
JUB—Journal of the University of Bombay.

।—लघु=एक मात्रा।

ऽ—गुरु=दो मात्राएँ।

विषय-सूची

विषय	पृ० सं०
अध्याय १—विषयावतरण और परिभाषाएँ	१
प्रकरण १—अद्यतन कृतकार्य, विषयसीमा और उद्देश्य-निरूपण	
प्रकरण २—कुछ पारिभाषिक शब्द	६
'हिन्दी' और उसकी अर्थ-परिधि	६
'छंद' शब्द और उसके अर्थ	९
वृत्त	१३
मात्रा	१६
लघुगुरु	१७
स्वर	१९
ताल	२०
लय	२१
पाद	२२
प्रत्यय	२३
गण के स्वरूप और उनका विकास	२३
वार्णिक गण	२४
मात्रिक गण	२७
अध्याय २—हिन्दी-छन्दःशास्त्र का विकास	३१
प्रकरण १—संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश के छंदोलक्षण-ग्रंथ	३३
छंदःशास्त्र-परंपरा का प्रारंभ	३३
अग्निपुराण	३४
नारदीय पुराण	३४
भरतमुनि-कृत नाट्यशास्त्र	३५
पिंगलच्छंदःसूत्रम्	३५
कालिदास-कृत श्रुतबोध	३९
वराहमिहिर की बृहत्संहिता	४०
जयदेव-कृत जयदेवच्छंदस्	४०
विरहांक-कृत वृत्तजातिसमुच्चय	४२
नंदिताढ्य-कृत गाथालक्षण	४४
स्वयंभू-कृत स्वयंभूच्छन्दस्	४५
जयकीर्त्ति-कृत छंदोऽनुशासन	४७

क्षेमेन्द्र-कृत सुवृत्ततिलक ४९
हेमचन्द्र-कृत छंदोऽनुशासन ५०
केदारभट्ट-कृत वृत्तरत्नाकर ५१
कविदर्पणम् ५३
प्राकृतपैंगलम् ५५
रत्नशेखर-कृत छंदःकोश ५८
अनुपलब्ध लक्षणग्रंथ ६०
दामोदरमिश्र-कृत वाणीभूषण ६०
गंगादास-कृत छंदोमंजरी ६१
रामचरणशर्मसूरि की वृत्तप्रत्ययकौमुदी ६१
गंगासहायक-कृत छंदोऽङ्कुर ६१
अमरदास-कृत प्रस्तारादिरत्नाकर ६२
हिन्दी के प्रमुख छंदोलक्षण-ग्रंथों की सूची ६३

प्रकरण २–हिन्दी के छंदोलक्षण-ग्रंथ **६५**

मुरलीधर कविभूषण-कृत छंदोहृदयप्रकाश ६५
चिंतामणि त्रिपाठी-कृत छंदोविचार ७२
सुखदेवमिश्र-कृत पिंगलवृत्तविचार तथा अन्य ग्रंथ ७३
मतिराम : छंदसार पिंगल ७८
वृन्दावनदास-कृत छंदसार ७९
जयदेवमिश्र-कृत वृत्तार्णव ८२
रायकृत पिंगलकनका ८४
सूरतिमिश्र-कृत लघुपिंगल ८५
देवदत्त काव्यरसायन या शब्दरसायन ८५
माखन-कृत छंदविलास या श्रीनागपिंगल ८६
सोमनाथ-कृत रसपीयूषनिधि ८६
भिखारीदास-कृत छंदोर्णवपिंगल ८६
मनीराममिश्र-कृत छंदछप्पनी ९१
नारायणदास-कृत छंदसार ९१
दशरथ-कृत वृत्तविचार ९१
रामसहाय-कृत वृत्ततरंगिनी ९२
नन्दकिशोर-कृत पिंगलप्रकाश ९३
हरदेवदास वैश्य-कृत पिंगल या छंदपयोनिधिभाषा ९३
अयोध्याप्रसाद-कृत छंदानंदपिंगल ९४
रघुवरदयालदुर्ग-कृत छंदरत्नमाला ९४

जानी बिहारीलाल-कृत छंदप्रभाकरपिंगल ९५
बिहारी-कृत छंदप्रकाश ९७
आचार्य चतुरदास-कृत चतुरचंद्रिकापिंगल ९८
जगन्नाथप्रसाद भानु-कृत छंदःप्रभाकर ९८
,, ,, छंदसारावली १००
,, ,, काव्यप्रभाकर १००
अवध उपाध्याय-कृत नवीनपिंगल १०१
रघुनंदन शास्त्री-कृत हिन्दीछंदप्रकाश १०१
परमानंद-कृत श्रीपिंगलपीयूष १०२
अन्य ग्रंथ १०२
शेष हस्तलिखित प्रतियों का विवरण १०३
प्रकरण ३—संस्कृत-हिन्दी-छंदोलक्षण-ग्रंथों की परंपरा : वर्गीकरण और मूल्यांकन १०७
छंदःशास्त्रीय विकास के मीलस्तंभ ११८
अध्याय ३—हिन्दी में व्यवहृत विभिन्न छंदों पद्धतियों का उद्भव और विकास १२१
प्रकरण १—छंद का जन्म और उसका प्रवर्त्तन १२३
प्रकरण २—छंद का विकास १२५
वैदिक अक्षरवृत्त या स्वरवृत्त १२५
प्रकरण ३—वर्णवृत्त की उद्भावना और उसका विकास १२८
वर्णवृत्त का जन्म १२८
वर्णवृत्तों में गणप्रयोग १३३
वर्णवृत्तों में यति का प्रयोग १३३
सम, विषम और अर्द्धसमवृत्त १३४
वर्णवृत्तों के नामकरण का आधार १३७
प्रकरण ४—संस्कृत और प्राकृत की छंदःपरंपराएँ १४१
अक्षर और वर्णवृत्त १४१
तालवृत्त १४१
प्रकरण ५—मात्रावृत्त १४३
मात्रावृत्त की उत्पत्ति १४३
तालवृत्त और उसका प्रभाव १४३
अपभ्रंश में तालवृत्त का प्रयोग १४८

भाषा-परिवर्त्तन का प्रभाव १५२
मात्रिक छंदों की लोकप्रियता के अन्य कारण १५४
अध्याय ४—लक्षणग्रंथों में उल्लेख के आधार पर मात्रिक छंदों का विश्लेषणात्मक और तुलनात्मक अध्ययन १५६
प्रकरण १—संस्कृत के छंदोलक्षण-ग्रंथों में उल्लिखित मात्रिक छंद १६१
मात्रिक छंदों के तीन वर्ग १६१
संस्कृत-लक्षणकारों द्वारा उल्लिखित मात्रिक छंदों के तीन वर्ग १६२
गाथा (आर्या)-वर्ग १६२
वैतालीय वर्ग १६७
मात्रासमक वर्ग १६९
अन्य छंद १७०
प्रकरण २—प्राकृत-अपभ्रंश के छंदोलक्षण-ग्रंथों में उल्लिखित मात्रिक छंद १७२
प्राकृत-अपभ्रंश-परंपरा के छंदोग्रंथ १७२
समद्विपदी मात्रिक छंद १७४
विषम द्विपदी १८४
द्विपदी छंदों के अध्ययन पर आधारित सामान्य निष्कर्ष १८५
चतुष्पदी मात्रिक छंद १८७
सममात्रिक चतुष्पदी १८८
तालसंगीत और सममात्रिक चतुष्पदी १९१
पादांतर्गत तुकवाले चतुष्पदी २०१
अर्द्धसममात्रिक चतुष्पदी २०५
विषममात्रिक चतुष्पदी २११
पंचपदी मात्रिक छंद २११
षट्पदी मात्रिक छंद २१२
अष्टपदी मात्रिक छंद २१२
प्रगाथ मात्रिक छंद २१३
षट्पदी प्रगाथ २१४
सप्तपदी प्रगाथ २१५
अष्टपदी प्रगाथ २१५
नवपदी प्रगाथ २१६
दशपदी प्रगाथ २१६
एकादशपदी प्रगाथ २१७
द्वादशपदी प्रगाथ २१७

चतुष्पदी प्रगाथ २१७
षोडशपदी प्रगाथ २१७
प्रकरण ३—प्राकृत-अपभ्रंश-छंदोलक्षण-ग्रंथों में उल्लिखित मात्रिक छंद-संबंधी सामान्य निष्कर्ष २१८
प्रकरण ४—हिन्दी के छंदोलक्षण-ग्रंथों के आधार पर मात्रिक छंदों का तुलनात्मक और विश्लेषणात्मक अध्ययन २२३
हिन्दीलक्षण-ग्रंथों में छंदोवर्गीकरण २२३
सममात्रिक छंद २२५
सममात्रिक दंडक २४२
अर्द्धसममात्रिक छंद २४३
विषममात्रिक छंद २४८
प्रकरण ५—सामान्य समीक्षा एवं निष्कर्ष २५२
अध्याय ५—काव्य-प्रयोग के आधार पर कुछ प्रमुख मात्रिक छंदों के ऐतिहासिक विकास का अध्ययन (द्विपदी छंद) २६१
प्रकरण १—आर्या या गाथा छंद २६३
आर्या के प्रारंभिक प्रयोग २६३
आर्या छंद की उत्पत्ति २६६
नामभेद और उसका कारण २६९
आर्या का परवर्ती प्रयोग-वैविध्य २७०
हिन्दी-काव्य में गाथा-प्रयोग २७८
आर्या (गाथा)-संबंधी सामान्य निष्कर्ष २८१
प्रकरण २—दुवई (सार) छंद २८३
प्रारंभिक प्रयोग २८३
दुवई छंद की उत्पत्ति २८७
दुवई के नामभेद २८८
दुवई छंद का परवर्त्ती प्रयोग-वैविध्य २८८
१७वीं शती के बाद दुवई-प्रयोग २९९
दुवई छंद-संबंधी सामान्य निष्कर्ष ३०१
प्रकरण ३—उल्लाला छंद ३०३
प्रारंभिक प्रयोग ३०३
उल्लाला छंद की उत्पत्ति ३०७
उल्लाला के नाम तथा भेद ३०८
हिन्दी-काव्य में उल्लाला का प्रयोग ३०९
सं० १७०० वि० के बाद उल्लाला-प्रयोग ३१२

उल्लाला-संबन्धी सामान्य निष्कर्ष ३१३
प्रकरण ४–घत्ता छंद तथा कडवकांत घत्ता-विधान ३१५
प्रारंभिक प्रयोग ३१५
घत्ता छंद की उत्पत्ति ३२०
घत्ता छंद और मध्यकालीन हिन्दी-काव्य ३२१
मध्यकालीन हिन्दी-काव्य में कडवकांत घत्ता का प्रयोग ३२२
घत्ता छंद और कडवकांत घत्ताविधान-संबंधी सामान्य निष्कर्ष ३२४
अध्याय ६—काव्य में प्रयोग के आधार पर कुछ प्रमुख मात्रिक छंदों के ऐतिहासिक विकास का अध्ययन (चतुष्पदी छंद) ३२५
प्रकरण १–छोटे पादवाले छंद ३२७
प्रथमोल्लेख तथा प्रारंभिक प्रयोग ३२७
छोटे पादवाले छंदों की उत्पत्ति ३३३
परवर्त्ती प्रयोग ३३४
छोटे पादवाले छंदों के संबंध मे सामान्य निष्कर्ष ३३६
प्रकरण २–चौपाई-पद्धरी-वर्ग ३३७
लक्षणग्रंथों में सोलह मात्राओ के पादवाले छंद ३३७
प्रारंभिक प्रयोग ३३८
चौपाई-पद्धरि-वर्ग के छंदों की उत्पत्ति ३५२
चौपाई तथा पद्धरि का परवर्त्ती प्रयोग-वैविध्य ३५३
चौपाई-पद्धरि-सम्बन्धी सामान्य निष्कर्ष ३५९
प्रकरण ३–काव्य (रोला)-वर्ग ३६०
लक्षणग्रंथों में २४ मात्राओं के पादवाले छंद ३६०
काव्य (रोला) छंद के प्रारंभिक प्रयोग ३६१
काव्य (रोला)-वर्ग के छंदों की उत्पत्ति ३६७
परवर्त्ती काव्य-प्रयोग ३६९
१७वीं शती के बाद रोला-प्रयोग ३७१
काव्य (रोला)-संबंधी सामान्य निष्कर्ष ३७१
प्रकरण ४–चउपइया-त्रिभंगी-वर्ग ३७३
पादांतर्गत तुक के साथ दो यतिवाले छंदों का छंदःशास्त्रीय उल्लेख ३७३
प्रारंभिक प्रयोग ३७४
पादांतर्गत तुक के साथ दो या अधिक यतिवाले चतुष्पदी छंदों की उत्पत्ति ३७९
परवर्ती प्रयोग ३८०
पादांतर्गत तुक के साथ दो या अधिक यतिवाले छंदों के सम्बन्ध में सामान्य निष्कर्ष ३८६

प्रकरण ५—दोहा-सोरठा-वर्ग ३८७
लक्षण-ग्रंथों में दोहावर्ग के छंद ३८७
काव्य-ग्रंथों में दोहावर्ग के छंदों के प्रारंभिक प्रयोग ३८९
दोहा-सोरठा-वर्ग के छंदों का उद्भव ३९५
दोहावर्ग के छंदों का परवर्त्ती प्रयोग-वैविध्य ४००
दोहादि-सम्बन्धी सामान्य निष्कर्ष ४१०
प्रकरण ६—विषममात्रिक छंद (प्रगाथ) ४१२
अध्याय ७—उपसंहार ४१७
सामान्य समीक्षा एवं निष्कर्ष ४१९
परिशिष्ट ४२६
परिशिष्ट १—सहायक सामग्री-सूची ४३१
(क) छंदोलक्षण-ग्रंथ ४३१
(ख) काव्य-ग्रंथ ४३४
(ग) अन्य ग्रंथ ४३८
(घ) पत्र-पत्रिकाएँ ४४१
परिशिष्ट २—मात्रिक गण ४४२
परिशिष्ट ३—संख्यासूचक सांकेतिक शब्दावली ४४३

★

मात्रिक छंदों का विकास

अध्याय १

विषयावतरण और परिभाषाएँ

प्रकरण १

अद्यतन कृत कार्य, विषय-सीमा और उद्देश्य-निरूपण

हिंदी काव्य में प्रयुक्त छंदों के गवेषणात्मक अध्ययन के क्षेत्र में अबतक जो प्रयास हुए हैं, उनके द्वारा अध्ययन की कुछ दिशाएँ और विधियाँ संकेतित हुई हैं तथा कुछ नई सामग्री भी प्रकाश में आई है। फिर भी, हिंदी-छंद-संबंधी व्यापक और महत्त्वपूर्ण तथ्यों एवं मूल्यों के सम्यक् परिज्ञान के लिए इस क्षेत्र में अभी अनल्प उद्योग अपेक्षित है।

प्रस्तुत प्रकरण में इस विषय से संबद्ध अबतक के शोधकार्यों का संक्षिप्त अवलोकन और हमारे इस शोध-प्रबंध की विषय-सीमा तथा उद्देश्य का निर्धारण अभीष्ट है।

हिंदी छंदों पर शोध-कार्य करनेवालों में श्रीजानकीनाथ सिंह 'मनोज' का नाम सर्वप्रथम लिया जा सकता है। इन्होंने अपने प्रबंध 'The Contribution of Hindi Poets to Prosody'?[१] में छंदःशास्त्र के विकास में हिंदी कवियों की देन के मूल्यांकन का प्रयास किया है। श्रीमाहेश्वरी सिंह 'महेश' ने अपने प्रबंध The Historical development of medieval Hindi prosody; Ramanand-Kesava; 1400-1600,'[२] में मध्यकालीन हिंदी छंदःशास्त्र के ऐतिहासिक विकास का अध्ययन किया है। उक्त दोनों प्रबंध अँगरेजी भाषा में लिखित हैं। इधर श्रीपुत्तूलाल शुक्ल ने हिंदी के आधुनिक छंदों पर काम किया है।[३] इन तीनों सज्जनों के कार्य अत्यंत सराहनीय हैं और इस विषय के शोधकर्त्ता के लिए मार्ग प्रशस्त करने की दृष्टि से अत्यंत उपयोगी हैं।

श्रीजानकीनाथ सिंहजी का प्रबंध पाँच अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में लिखित छंदोलक्षण-ग्रंथों का परिचय; द्वितीय अध्याय में हिंदी में लिखित छंदोलक्षण-ग्रंथों का परिचय तथा मूल्यांकन; तृतीय अध्याय में हिंदी के काव्य (लक्ष्य)—ग्रंथों का परिचय, छंद का रस तथा अलंकार से संबंध, हिंदी कवियों की मौलिकता तथा उनके द्वारा प्रयुक्त नये छंदों का उल्लेख ; चतुर्थ अध्याय में छंदों का वर्गीकरण और छंदोलक्षणकारों द्वारा प्रवर्त्तित नये छंदों की चर्चा तथा पंचम अध्याय में हिंदी सवैया का विश्लेषण और भावी शोधकर्त्ताओं के लिए सुझाव प्रस्तुत किये गये हैं।

डॉ० 'महेश' के प्रबंध में चार खंड हैं, जो १५ अध्यायों में विभक्त हैं। प्रथम खंड में मध्यदेश, उसकी भाषा हिंदी, वृत्त, स्वरवृत्त, वर्णवृत्त, मात्रावृत्त तथा तालवृत्त का परिचय दिया गया है, द्वितीय खंड में हिंदी छंदःपद्धतियों की सामान्य चर्चा है, तृतीय खंड में अपभ्रंश तथा हिंदी के क्षेत्र को छंदःप्रयोग की दृष्टि से कई भागों में विभक्त कर एक भाग से दूसरे भाग में छंदों के स्थानांतरण (Migration) का अध्ययन है। चतुर्थ खंड में भारतीय संगीत, भाव और रस का विचार है।

---

१. प्रयाग विश्वविद्यालय की डी० फिल० उपाधि के लिए स्वीकृत प्रबंध। अप्रकाशित।

२. लंदन विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत प्रबंध। अप्रकाशित।

३. लखनऊ विश्वविद्यालय से पी०-एच०-डी० उपाधि के लिए स्वीकृत प्रबंध। प्रकाशित।

डॉ० पुत्तूलालजी के प्रबंध[1] का संबंध आधुनिक हिंदी के मुक्त छंदःप्रणाली से है, अतः प्रस्तुत शोधप्रबंध ('मध्यकालीन हिंदी काव्य में प्रयुक्त मात्रिक छंदों का विश्लेपणात्मक तथा ऐतिहासिक अध्ययन') के विपय-क्षेत्र से उसका विशेष संबंध नही। हमारे शोध-विपय से केवल प्रथम दो प्रबंधों का संबंध है।

श्रीजानकीनाथजी ने प्रथम दो अध्यायों मे छंदोलक्षण-ग्रंथों की जो चर्चा की है, वह अब अपर्याप्त हो गई है। उन्होंने संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश के छंदोग्रंथों के अंतर्गत केवल पिंगलकृत छंदःशास्त्र, क्षेमेन्द्रकृत सुवृत्ततिलक, केदारकृत वृत्तरत्नाकर, गंगादासकृत छंदोमंजरी, दामोदरकृत वाणीभूषण, हेमचंद्रकृत छंदोऽनुशासन तथा प्राकृतपैंगलम् का उल्लेख किया है। आज हमारे समक्ष इस कोटि की और भी बहुत अधिक सामग्री उपलब्ध है, जैसे जयकीर्त्तिकृत छंदोऽनुशासन, जयदेवकृत जयदेवच्छंदस्, नंदिताढ्यकृत गाथालक्षण, विरहांककृत वृत्तजातिसमुच्चय, स्वयंभूकृत स्वयंच्छंदस्, कविदर्पण, रत्नशेखरकृत छंदःकोश आदि।[2] जानकीनाथजी को इन ग्रंथों की जानकारी संभवतः नहीं थी और उन्होंने इनका उपयोग नही किया है। फलतः, जानकीनाथजी का विवेचन आज पुराना पड़ गया है। इसी तरह हिंदी के भी आज बहुत-से ऐसे छंदोग्रंथ उपलब्ध हो गये हैं, जिनका पता जानकीनाथजी को नहीं था, जैसे मुरलीधर कविभूपणकृत छंदोहृदयप्रकाश, वृंदावनदासकृत छंदसार, सुखदेवमिश्रकृत पिंगल, छंदविचार तथा छंदोनिवास, अयोध्याप्रसादकृत छंदानंदपिंगल, जानी बिहारीलालकृत छंदप्रभाकरपिंगल, जयदेवमिश्रकृत वृत्तार्णव, चतुरदासकृत चतुरचंद्रिकापिंगल, बिहारीकृत छंदप्रकाश, हरदेवदासकृत छंदपयोनिधि आदि।[3] इन ग्रंथों का उल्लेख तक जानकीनाथजी ने नहीं किया है। डॉ० महेश के प्रबंध में तो ऐतिहासिक क्रम से संस्कृत हिंदी-परंपरा के छंदोग्रंथों की कोई व्यवस्थित चर्चा ही नही है। यह महत्त्वपूर्ण विषय विद्वान् लेखक द्वारा उपेक्षित रह गया है। डॉ० महेश ने विदेश में शोधकार्य किया। संभव है, ये सामग्रियाँ वहाँ दुष्प्राप्य रही हों और इसीसे इनका उचित उपयोग वे न कर सके। अतएव, इस विषय के पुनरध्ययन की आवश्यकता अभी बनी हुई है। इस हेतु, प्रस्तुत शोध-प्रबंध के एक अध्याय में संस्कृत-हिंदी-परंपरा के अंतर्गत उपर्युक्त नवोपलब्ध सामग्रियों के आलोक में हिंदी छंदःशास्त्र की प्रवृत्तियों का अध्ययन और मूल्यांकन हमें अभीष्ट है।[4]

श्रीजानकीनाथजी ने अपने पांडित्यपूर्ण प्रबंध में विभिन्न छंदःप्रणालियों के उद्भव और विकास के ऐतिहासिक या वैज्ञानिक अध्ययन का प्रयास बिलकुल नहीं किया है। डॉ० महेश ने छंदःशास्त्र-संबंधी सर्वविदित सूत्रों के आधार पर विभिन्न छंदःप्रकारों (स्वर-वृत्त, वर्णवृत्त, मात्रावृत्त और तालवृत्त) का अति संक्षिप्त परिचयात्मक विवरण तो अपने प्रबंध के प्रथम दो खंडों में अवश्य उपस्थित किया है, किंतु इन विभिन्न छंदःप्रणालियों की उत्पत्ति और विकास की ऐतिहासिक प्रक्रियाओं पर, वास्तविक काव्यप्रयोग के आलोक में, युक्तिपूर्वक सोदाहरण विचार नहीं किया है। यह विचार अब हम प्रस्तुत ग्रंथ केएक अध्याय में कर रहे हैं।[5]

---

१. 'आधुनिक हिंदी काव्य में छंदयोजना'।

२. दे०—अ०२। प्र०१। (इन अमूल्य छंदोग्रंथों के संपादन और पाठाध्ययन की दिशा में श्रीवेलंकर ने स्तुत्य कार्य किया है।)

३. अ०२। (इन ग्रंथों में प्रथम और अंतिम को छोड़कर शेष सभी अप्रकाशित हैं तथा हस्तलिखित रूप में सुरक्षित हैं।)

४. दे०—अ०२।

५. दे०—अ० ३।

श्रीजानकीनाथ तथा डॉ० महेश ने अपना विवेचन केवल मात्रावृत्त के क्षेत्र में सीमित नहीं रखा—इसका परिणाम यह हुआ है कि दोनों विद्वानों का विवेचन सामान्य तथा मात्र विहंगावलोकन-जैसा होकर रह गया है, विशेष छंदों या छंदःसमूहों की बारीकियों पर उनका ध्यान नहीं जा सका है। जानकीनाथजी ने तो मात्रिक छंदों का विश्लेपणात्मक तथा तुलनात्मक अध्ययन किया ही नहीं है, यद्यपि अपने प्रबंध के अंत में ऐसे अध्ययन की आवश्यकता और महत्ता स्वीकार की है। छंदोलक्षणग्रंथों के आधार पर हिंदी में मात्रिक छंदों का विश्लेषणात्मक तथा तुलनात्मक अध्ययन आजतक नहीं हुआ है। प्रस्तुत प्रबंध के एक अध्याय में अब इस दृष्टि से अध्ययन किया जा रहा है।[1]

इसी तरह, आर्या, दुवई, उल्लाला, घत्ता, चौपाई, पद्धरि, रोला, दोहा, छप्पय प्रभृति अलग-अलग मात्रिक छंदों की उत्पत्ति एवं कालक्रमिक छंदःशास्त्रीय उल्लेख के साथ, व्यावहारिक काव्यप्रयोग के बीच उनके ऐतिहासिक विकास का अध्ययन आज तक नहीं हुआ है। उपर्युक्त शोधकर्त्ताओं में से किसी ने भी इसका प्रयास नहीं किया। कहना न होगा कि इस प्रकार का विशिष्ट छंदों का ऐतिहासिक अध्ययन अत्यंत आवश्यक और महत्त्वपूर्ण कार्य है। प्रस्तुत शोध-प्रबंध के दो अध्यायों में हम मध्यकालीन हिंदी में प्रयुक्त दश प्रमुख छंदों या छंदोवर्गों का अलग-अलग ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत कर रहे हैं।[2] जानकीनाथजी ने अपने प्रबंध में सवैया छंद का विशेष अध्ययन किया है, अतएव इस प्रबंध में उसकी चर्चा अनावश्यक है। इस शोधप्रबंध का उद्देश्य मध्यकालीन हिंदी के मात्रिक छंदों का विश्लेषणात्मक तथा ऐतिहासिक अध्ययन होने के कारण वर्णवृत्त 'कवित्त' (अपनी लोकप्रियता के बावजूद) हमारी विपय-सीमा के अंदर नहीं आता। डॉ० महेश तथा जानकीनाथजी ने छंदों के भाव-रस-अलंकारादि से संबंध का अध्ययन किया है, अतएव पुनरुक्ति-भय से प्रस्तुत प्रबंध में इस विषय की विशेष चर्चा नहीं की गई है। इसी तरह डॉ० महेश ने विभिन्न क्षेत्रों के परस्पर छंदःसंक्रमण का देशगत अध्ययन अच्छा किया है। प्रस्तुत प्रबंध में इमीसे तद्विषयक विचार भी अनावश्यक समझा गया है। छंदःशास्त्रोक्त प्रस्तारादि प्रत्ययों का मूल्य सैद्धांतिक मात्र होने के कारण तथा हिंदी के व्यावहारिक काव्य मे उनका अधिक संबंध न होने के कारण इस प्रबंध में उनकी विशद चर्चा भी आवश्यक नहीं समझी गई।

संक्षेप में, इस प्रबंध की विषय-परिधि के अंतर्गत मात्रिक छंदों के विवेचन की पीठिका के रूप में हिन्दी छंदःशास्त्र-परंपरा के विकास का अध्ययन तथा मूल्यांकन, मात्रिक छंदः-पद्धति के विकास का अध्ययन, लक्षण-ग्रंथों के आधार पर मात्रिक छंदों का तुलनात्मक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन तथा व्यावहारिक काव्य-प्रयोग के आधार पर मध्यकालीन हिंदी के दश प्रमुख छंदों या छंदोवर्गों का अलग-अलग व्युत्पत्तिगत एवं ऐतिहासिक अध्ययन आते हैं। इस प्रबंध का उद्देश्य उक्त विषय-क्षेत्र से संबद्ध अबतक अज्ञात सामग्रियों, तथ्यों तथा इनके परस्पर संबंधों को यथासंभव प्रकाश में लाकर मात्रावृत्त-विपयक ज्ञान-क्षितिज का अपेक्षाकृत विस्तार करना है।

---

१. दे०—अ० ४।

२. अ० ५। (१—आर्या-गाथा वर्ग, २—दुवई, ३—उल्लाला, ४—घत्ता)
अ० ६। (१—छोटे पादवाले मात्रिक चतुष्पदी, २—चौपाई-पद्धरिवर्ग, ३—काव्य (रोला), ४—पादांतर्गत तुक के साथ दो-यतिवाले छंद, ५—दोहा-सोरठा-वर्ग, ६—विषम छंद या प्रगाथ।)

प्रकरण २
कुछ पारिभाषिक शब्द

'हिंदी' शब्द और उसकी अर्थ-परिधि

'हिंदी' शब्द, व्युत्पत्ति की दृष्टि से, फ़ारसी की देन है। संस्कृत की 'स्' ध्वनि का रूप फारसी में 'ह्' हो जाता है। अतएव, संस्कृत के 'सिंधु' और 'सिंधी' शब्दों के रूप फ़ारसी में 'हिंद' और 'हिंदी' हो गये। मुसलमान जब भारत आये, तब सिंधु नदी के पूर्व के समस्त भूमि-भाग को 'हिंद' और उसके निवासियों तथा उनकी भाषा को 'हिंदी' कहने लगे।[1]

"शब्दार्थ की दृष्टि से हिन्दी शब्द का प्रयोग हिंद, अर्थात् भारत में बोली जानेवाली किसी भी आर्य, द्रविड़ अथवा अन्य कुल की भाषा के लिए हो सकता है, किंतु आजकल वास्तव में इसका व्यवहार उत्तर भारत के मध्य-भाग के हिंदुओं की वर्त्तमान साहित्यिक भाषा के साथ-साथ इस भूमिभाग की समस्त बोलियों और उनसे संबंध रखनेवाले प्राचीन साहित्यिक रूपों के लिए साधारणतया होता है। इस भूमि-भाग की सीमा पश्चिम में जैसलमीर, उत्तर-पश्चिम में अंबाला, उत्तर में शिमला से नेपाल के पूर्वी छोर तक के पहाड़ी प्रदेश का दक्षिणी भाग, पूरब में भागलपुर, दक्षिण-पूरब में रायपुर, तथा दक्षिण-पश्चिम में खंडवा तक पहुंचती है।"[2]

इस भाषा के लिए 'हिंदी' नाम का प्रयोग आरंभ में हिंदुओं ने नहीं किया। मध्यकालीन वैष्णव भक्त कवियों ने अवधी या व्रजभाषा को 'हिंदी' नहीं कहा, वरन् 'भाषा' (या भाखा) कहना पसंद किया है—

भाखा भनिति भोरि मति मोरी।[3]

अथवा

व्यास कहे सुखदेव सों द्वादस स्कंध बनाई।
सूरदास सोई कहे पद भाखा करि गाई।।[4]

नन्ददास, केशवदास आदि ने भी अपनी भाषा को 'भाषा' या 'भाखा' ही कहा है, 'हिंदी' नहीं।[5] 'भाषा' के लिए 'हिंदी' शब्द का सर्वप्रथम उपयोग मुसलमानों द्वारा हुआ। मुसलमानों ने ही प्रचलित देशभाषा को 'हिंदी' नाम दिया। 'उर्दू-ए-क़दीम' 'तारीख़े नस्र उर्दू' आदि ग्रंथों में यह प्रमाणित किया गया है कि उर्दू का सबसे पुराना नाम 'हिंदी' ही है। अमीर ख़ुसरो की ख़ालिक़बारी में, जो उर्दू-हिंदी का प्राचीनतम कोश है, 'सब जगह 'हिंदी' या 'हिंदवी' ही आया है, उसमें उर्दू, रेख्ता या और किसी दूसरे

---

१. डा० धीरेन्द्र वर्मा—ग्रामीण हिंदी। १९५० संस्करण। पृ० ३।
२. वही। पृ० ३-४।
३. तुलसीदास—रामचरितमानस। १।९। (गीता प्रेस)
४. सूरदास—सूरसागर। पद सं० २२५। (ना० प्र० सभा)
५. नन्ददास—रासपंचाध्यायी। अध्याय १। पंक्ति ४०।
केशवदास—रामचंद्रिका। प्रकाश १। पद्य ५।
वृन्द—वृन्द सतसई। दोहा ७०५।

नाम का कहीं भी उल्लेख नहीं है। खालिकबारी में बारह बार 'हिंदी' और पचपन बार 'हिंदवी' शब्द का प्रयोग हुआ है।[1] 'हिंदी' का अर्थ है हिंद की भाषा, और 'हिंदवी' से मतलब है हिंदुओं या हिंदुस्तानियों की भाषा। इन दोनों शब्दों में 'याय-निसबती' या संबंधमूलक 'ईकार' है।[2]

'हिंदी' या 'हिंदवी' शब्द का प्रयोग हिंदुओं की भाषा के अर्थ में नहीं, वरन् हिंद की सामान्य देशभाषा के अर्थ में होता था। 'उर्दू' के प्रसिद्ध कवि 'आतिश' ने 'उर्दू' के लिए भी 'हिंदी' शब्द का प्रयोग किया है।[3] इन्शा ने भी अपने 'दरिया-ए-लताफत' में 'उर्दू' को 'हिंदी' कहा है।[4] मदरास-स्थित एलोर-निवासी बाकर आगाह ने अपने उर्दू दीवान का नाम 'दीवाने-हिंदी' रखा। इस संबंध में लिखते हुए मुहम्मद अब्दुल कादिर सरवरी के शब्द हैं—

"हिंदी या हिंदवी इसका क़दीमतरीन नाम था। उर्दू और दखनी के लिए भी यह लफ्ज बिला तकल्लुफ इस्तेमाल होता था गोया 'उर्दू', 'हिंदी' और 'दखनी' एक ही ज़बान के मुख्तलिफ नाम थे।"[5]

तो, 'हिंदी' शब्द मुसलमानों की देन है और 'सिंधु' शब्द के फारसी-रूप 'हिंद' से बना है। हिंद की भाषा हिंदी कही गई है। समूचे हिंद की न भी हो, तो कम-से-कम हिंद या भारत के मध्यभाग और ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रदेश की भाषा तो हिंदी अवश्य मानी गई है।

हिंदी भाषा वस्तुतः एक भाषा नहीं, वरन् भाषा-समूह है। "हिंदी शब्द से कई बोलियों या उपभाषाओं का बोध होता है। खड़ी बोली, ब्रजभाषा और बुन्देलखंडी 'पश्चिमी हिंदी' कही जाती है; अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी को 'पूर्वी हिंदी' कहते हैं तथा भोजपुरी, मैथिली और मगही को बिहारी भाषा-वर्ग में रखा गया है।"[6] इनके अतिरिक्त राजस्थानी को भी हम हिंदी के प्रभाव-क्षेत्र के भीतर मान सकते हैं। हिंदी भाषा-भाषी क्षेत्र का विस्तार उस समस्त भूमि-भाग तक माना जा सकता है, जहाँ की साहित्यिक भाषा आज प्रधानतया हिंदी है।

हिंदी आधुनिक भारतीय आर्यभाषा है, जिसकी उत्पत्ति प्राचीन भारतीय आर्यभाषा से, जिसका साहित्यिक रूप संस्कृत है, इस क्रम से हुई—

---

१. 'खालिकबारी' में 'हिंदी' तथा 'हिंदवी' शब्दों के प्रयोग के एक-एक उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

हिंदी—नमक मलह है लोन शीरीं है मीठा,
व हिंदी जबाँ बेमजा हस्त सीठा।
हिंदवी—मुश्क काफूरस्त कस्तूरी कपूर,
हिंदवी आनंद शादी ओ सरूर।

२. पद्मसिंह शर्मा—हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी। पृ० १६।

३. मतलब की मेरे यार न समझे तो क्या अजब।
सब जानते हैं तुर्क की हिंदी जबाँ नहीं,—आतिश।

४. पद्मसिंह शर्मा—हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी। पृ० १९।

५. रिसाला (उर्दू) अप्रिल १९२९ ई०।

६. डा० धीरेन्द्र वर्मा—हिंदी भाषा का इतिहास। पृ० ५६।

संस्कृतकालीन बोलचाल की भाषा (प्राकृत)

प्राकृत

शौरसेनी　　अर्द्धमागधी　　मागधी　　महाराष्ट्री

अपभ्रंश

शौरसेनी　　अर्द्धमागधी　　मागधी　　महाराष्ट्री　आदि।

शौरसेनी अपभ्रंश से पश्चिमी हिंदी, राजस्थानी, आदि का जन्म हुआ, अर्द्धमागधी अपभ्रंश से पूर्वी हिंदी का तथा मागधी से बिहारी बोलियों का।

डॉ० ग्रियर्सन ने आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं को तीन शाखाओं में विभक्त किया है—

१. बाहरी शाखा,

२. बीच की शाखा,

३. भीतरी शाखा।

पश्चिमी हिंदी का स्थान भीतरी शाखा में है, पूर्वी हिंदी बीच की शाखा में आती है और बिहारी बोलियाँ बाहरी शाखा में परिगणित है।[1]

इस प्रकार हिंदी भारतीय आर्यभाषा-वर्ग की सभी शाखाओं के प्रतिनिधित्व की क्षमता से युक्त है।

आज 'हिंदी' शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त है। कभी 'हिंदी' से दिल्ली के आसपास बोली जानेवाली खड़ी बोली का अर्थ लिया जाता है, कभी 'हिंदुस्तानी' या 'उर्दू' का; कभी 'हिंदी' का इतिहास डेढ़ सौ वर्षों का बताया जाता है, कभी अपभ्रंश में लिखनेवाले सिद्धों से लेकर आजतक की संपूर्ण उत्तर-भारतीय साहित्यिक परंपरा को हिंदी की परिधि में अंतर्भुक्त कर लिया जाता है।

प्रस्तुत प्रबंध के सीमा-निर्द्धारण की दृष्टि से अभीष्ट है कि 'हिंदी' शब्द की अर्थ-परिधि हम निश्चित कर लें।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'हिंदी' शब्द का व्यवहार उस केन्द्रोन्मुख भाषा के अर्थ में किया है, जिसका प्रयोग मध्यप्रदेश में लगभग एक सहस्र वर्षों से साहित्यिक प्रयत्नों के लिए निरंतर होता आया है।[2] इस मध्यदेश या हिंदी भाषा-भाषी क्षेत्र में अनेक बोलियाँ या उपभाषाएँ रही हैं, जिनमें से कई का प्रयोग साहित्य के लिए समय-समय पर होता रहा है। "देशकाल-भेद से साहित्यिक भाषा के रूपों में भेद अवश्य पाया जाता है, परन्तु प्रयत्न बराबर यही रहा है कि भाषा केन्द्रीय भाषा के निकट रहे। हिंदी की एकता इसी में है।"[3]

१. **Dr. Grierson—The Linguistic Survey of India; Introduction, A II, p, 120.**

२. **डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—हिंदी साहित्य: उसका उद्भव और विकास। पृ० २।**

३. **डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—हिंदी साहित्य ०, पृ० २।**

वर्त्तमान हिंदी-भाषी-क्षेत्र को हम भौगोलिक दृष्टि से 'मध्यदेश' यद्यपि नहीं कह सकते, फिर भी लगभग इस क्षेत्र के लिए 'मध्यदेश' नाम परंपरा मे प्रयुक्त होता आया है। 'मध्यदेश' शब्द वेदों या ब्राह्मण-ग्रंथों में प्रयुक्त नहीं। इसका प्रथम स्पष्ट वर्णन मनुस्मृति में है।[1] मनुस्मृति में आधुनिक हिंद या हिंदुस्तान कहे जानेवाले भूभाग के लिये 'आर्यावर्त्त' शब्द आया है।[2] मध्यदेश का विशद वर्णन बौद्धग्रंथों में मिलता है।[3]

हिमालय और विंध्य पर्वतों के बीच की उर्वरा भूमि ही यह मध्यदेश है। हिंदी इसी क्षेत्र की साहित्यिक भाषा है। "हिंदी अपने व्यावहारिक अर्थ में इसी मध्य भूमि-भाग की वर्त्तमान साहित्यिक भाषा तथा इसी भूमि-भाग की बोलियों और उनसे संबद्ध प्राचीन साहित्यिक रूपों के अर्थ में प्रयुक्त नाम है।"[4] 'हिंदी की इस परिभाषा को स्वीकार करते हुए भी हम प्रस्तुत प्रबंध की सीमा के अंदर 'हिंदी' के अंतर्गत केवल उन्हीं बोलियों का ग्रहण करेंगे, जिनमें किसी भी युग में परिनिष्ठित साहित्यिक प्रयत्न हुए हैं और ऐसे प्रयत्नों के प्रमाण आज भी मिलते है।

हम, स्पष्ट है कि, हिंदी को उस संकुचित अर्थ में नहीं ले रहे हैं, जिसके अनुसार वह खड़ीबोली से अथवा सरल उर्दू मे तदात्मप्राय हो जाती है। प्रस्तुत शोध-प्रबंध के उद्देश्य की दृष्टि से हिंदी के अंतर्गत सभी परंपरागत साहित्यिक बोलियों को तथा साथ ही हिंदी के प्राचीन रूप अपभ्रंश को स्वीकार करना अपेक्षित है।

'छंद' शब्द और उसके अर्थ

हिंदी 'छन्द' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के दो शब्दों से संभव है—'छन्दस्' और 'छन्दक'। छन्दक का अर्थ होता है—हाथ में धारण करने का आभूषणविशेष। 'छंद' शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। श्रीमद्भगवद्गीता में वेदों को 'छन्दस्' कहा गया—

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥[5]

पाणिनि की अष्टाध्यायी में भी 'छन्दस्' शब्द वेदों का बोधक है। अमरकोश (छठी शताब्दी)[6] में 'छन्द' शब्द का अर्थ 'मन की बात' या अभिप्राय लिया गया है—

अभिप्रायश्छन्द आशयः।[7]

---

१. **हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि।**
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः॥
—मनुस्मृति, २। २१।

२. आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः॥
—मनुस्मृति, २।२२।

३. दे० **T. Max Muller—Sacred Books of the East.** **(Vinaya Texts) Pt. 2, Vol XVII—V. 1312.**

४. डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० २।

५. श्रीमद्भगवद्गीता, ।१५।१।

६. **Keith—A History of Sanskrit Literature; p. 413.**

७. अमरकोश: तृतीय काण्ड; संकीर्ण वर्ग; श्लोक २०।

उसी में अन्यत्र इसका अर्थ 'वश' भी दिया है—

अभिप्रायवशौ छन्दाब्दौ जीमूतवत्सरौ।[1]

उसी में फिर कहा गया है—

गायत्री प्रमुखं छन्दो—।[2] तथा—

छन्दः पद्येऽभिलाषे च।[3]

परवर्त्ती श्लोक-खण्डों में 'छन्दस्' शब्द पद्यविधान के अर्थ में प्रयुक्त है। इस प्रस्तुत अर्थ में भी यह शब्द अत्यन्त प्राचीन है। छन्द.शास्त्र को छः वेदांगों में एक कहा गया है। अन्य वेदांग है—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, और ज्योतिष।[4] छन्द को वेद-मंत्रों का आधार माना गया है, इसलिए कहा गया है—'छन्दःपादौ तु वेदस्य।' (शिक्षा)। निरुक्त के भाष्यकार ने तो यहातक कह दिया है कि छन्दो के बिना वाणी का उच्चारण ही संभव नही—

नाच्छन्दसि वागुच्चरतीति।[5]

छान्दोग्य-उपनिषद् मे इस पर प्रकाश पड़ता है कि पद्यविधान के अर्थ में छन्दस् शब्द का उपयोग कैसे हुआ। कहा गया है कि देवगण ने मृत्युभय से बचने के लिए ऋक्, यजुः और साम वेदों में प्रवेश किया और छन्दो ने मृत्यु से उन्हें बचाने के लिए उनका आच्छादन किया। इसीसे ये छन्द कहलाये। (छद या छदन पत्र, पत्ते। छद चिड़ियों के पंख।[6] छन्दांसि आच्छादनात्।[7]) देखिए—

यदेभिरात्मानमाच्छादयन् देवा मृत्योर्बिभ्यतः
तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्—[8]

इस उक्ति से छन्दों के महत्त्व पर भी प्रकाश पड़ता है। छन्दों में अमरत्व प्रदान करने की क्षमता है। गद्य की अपेक्षा पद्य अधिक श्रवण-सुखद तथा कण्ठस्थ करने में सुगम है। मुद्रण-यंत्र के अभाव के कारण प्राचीन काल में छन्दोबद्ध रचना को अधिक दिनों तक रक्षित रखने का एक प्रधान साधन थी।

'छन्दस्' शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से बताई गई है—

'छदि संवरणे'—इस सूत्र के अनुसार व्युत्पन्न छन्दस् शब्द का अर्थ हुआ 'आच्छादन'।

'चदि आह्लादे'—इस सूत्र के अनुसार (चदेरादेश्चछः—इस उणादि सूत्र के सहारे) व्युत्पन्न 'छन्दस्' शब्द का अर्थ हुआ 'आह्लादन'।

---

१. अमरकोशः तृतीय कांड; नानार्थ वर्ग; श्लोक ८८।
२. „ । द्वितीय काण्ड; ब्रह्म वर्ग; श्लोक २२।
३. „ तृतीय काण्ड; नानार्थ वर्ग; श्लोक २३२।
४. अमरकोशः ।१।१७।४।
५. निरुक्त ।७।१२।२।
६. अमरकोश । द्वितीय काण्ड। वनौषधिवर्ग ।—श्लोक १४ । तथा मनुष्य वर्ग। श्लोक ३६।
७. निरुक्त ।७।१२।२।
८. छान्दोग्य उपनिषद् : खण्ड४ ; अध्याय १ ; श्लोक २।

छन्दस्' शब्द के ये दोनों अर्थ अत्यंत प्राचीन हैं।

पद्यविधान के अर्थ में प्रयुक्त 'छन्दस्' शब्द में इन दोनों अर्थों का स्पष्टतः अन्तर्भाव है; छन्द से आच्छादन भी होता है, आह्लादन भी।

हिंदी शब्दसागर के अनुसार 'छन्द' संज्ञा पुलिंग शब्द है, जो संस्कृत 'छंदस्' से व्युत्पन्न है। हिंदी में इसका प्रयोग कम-से-कम सोलह अर्थों में होता है। ये अर्थ इस प्रकार हैं—

(१) वेदों के वाक्यों का वह भेद जो अनुच्छेदगत अक्षरों की संख्या पर आधारित रहता है। ये भेद मुख्यतः सात है—गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, और जगती। इनमें प्रत्येक में आर्षी, दैवी, आसुरी, प्राजापत्या, याजुषी, साम्नी, आर्ची, और ब्राह्मी नामक आठ-आठ प्रकार होते हैं। इनमें परस्पर सम्मिश्रण से अनेक संकर जाति के छंदों की कल्पना की गई है। इन मुख्य सात छन्दों के अतिरिक्त अतिजगती, शक्वरी, अतिशक्वरी, अष्टि, अत्यष्टि, धृति, अतिधृति, कृति, प्रकृति, आकृति, विकृति, संस्कृति अभिकृति और उत्कृति नामक छन्द भी हैं, जो केवल यजुर्वेद के यजुओं में होते हैं। वैदिक पद्य के छन्दों में मात्रा अथवा लघु-गुरु का कुछ विचार नही किया गया है, उनमें छन्दों का निश्चय केवल उनके अक्षरों की संख्या के अनुसार होता है।[1]

(२) वेद।[1]

(३) वह वाक्य, जिसमें वर्ण या मात्रा के अनुसार विरामादि का नियम हो। यह दो प्रकार का होता है—वर्णिक या मात्रिक। जिस छन्द के प्रति पाद में अक्षरों की संख्या और लघुगुरु के क्रम का नियम होता है वह वर्णिक या वर्णवृत्त और जिसमें अक्षरों की गणना और लघु-गुरु के क्रम का विचार नहीं, केवल मात्राओं की संख्या का विचार होता है, वह मात्रिक छन्द कहलाता है। रोला, रूपमाला, दोहा, चौपाई आदि मात्रिक छन्द हैं। वंशस्थ, इंद्रवज्रा, मालिनी, मंदाक्रांता इत्यादि वर्णवृत्त हैं। पादों के विचार से वृत्तों के तीन भेद होते हैं—समवृत्त, अर्द्धसमवृत्त और विषमवृत्त।[1]

(४) वह विद्या, जिसमें छन्दों के लक्षण आदि का विचार हो। यह छः वेदांगों में मानी गई है। इसे पाद भी कहते हैं।[1] (छन्दःशास्त्र)

(५) अभिलाषा, इच्छा।[1]

(६) स्वैराचार, स्वेच्छाचार।[1] (मनमाना व्यवहार)

(७) बंधन, गाँठ।[1] (जैसे—पशुओं के पैर छानना, अथवा लोकभाषा में, भोजोपरांत छंदा)।

(८) जाल, संघात, समूह।[1]

(जैसे—बीज के बृंद में है तम छंद,
कलिंदजा बुंद लसे दरसानी।)

(९) कपट, छल, मकर।[1]

जैसे—राजबार अस गुणी न चाही जेहि दूना कर खोज।[2]
यही छंद ठगविद्या छला सो राजा भोज।।

१. हिंदी शब्दसागर (बृहत्)।
२. जायसी।

अथवा

'कहा कहति तू बात अयानी।
बाके छन्द भेद को जाने, मीन कबहुं धौ पीवत पानी॥'[1]

मुहावरा—छलछंद=कपट। जैसे—

वीरता जब भागती है तो उसके पैरों से राजनीतिक छल-छन्द की धूलि उड़ती है।[2]

अथवा

छोभ छल-छन्दन को बाढ़े पाप द्वन्दन को
फिकिर के फन्दन को फारिहे पै फारिहे॥[3]

(१०) चाल, युक्ति, कला, चालबाजी।[4]
(११) रंगढंग, आकार, चेष्टा।[4]
(१२) अभिप्राय, मतलब।[4]
(१३) एकांत, निर्जन।[4]
(१४) विष।[4]
(१५) ढक्कन, आवरण।[4]
(१६) पत्नी।[4]

'शब्दसागर' में निर्दिष्ट उपरिलिखित अर्थसंख्या २ तथा ५ से १६ तक हमारे विवेच्य विषय की दृष्टि से प्रासंगिक नहीं। शेष प्रस्तुत प्रसंग मे ग्राह्य है।

छंदःशास्त्र के ग्रंथों में प्रायः वार्णिक छंदों के लिए 'वृत्त' शब्द का तथा मात्रिक छंदों के लिए 'जाति' या 'छंद' शब्द का प्रयोग हुआ है।[5] वैदिक छंदों के लिए भी छंद (छंदस्) शब्द ही प्रयुक्त हुआ है।[6]

प्रस्तुत प्रबंध की अर्थ-सीमा में 'छन्द' शब्द यथावसर इन तीन रूपों मे गृहीत है—

(१) वैदिक छन्दों के अर्थ में,

(२) छंदःतत्त्व या छंदोविधान के सामान्य अर्थ में, तथा—

(३) विशिष्ट छन्दों (अनुष्टुप्, दोहा, आदि) अथवा छन्द-प्रवृत्तियों (वर्णिक छन्द; मात्रिक छन्द; सम, अर्द्धसम या विषम छन्द, आदि) के अर्थ में।

कभी-कभी छन्द शब्द का प्रयोग सामान्य रूप से पद्य के या पद्य की विशिष्ट इकाइयों अथवा पदों के अर्थ में भी होता है। (उदाहरणतः—"सूरसागर के सभा-संस्करण की कुल

१. सूरदास—सूरसागर। पद सं० २३६३।
२. जयशंकर 'प्रसाद'—'ध्रुवस्वामिनी', अंक १।
३. पद्माकर।
४ हिंदी शब्दसागर (बृहत्)
५. पिं० ।५।१; वृ० जा० स०। शीर्षक; जय०।५।१; अकी०।१।२०; हे० छं० १।११।
६. जय०।१।१ तथा।२।१।

छन्द-संख्या ४९३६ है।" छंद-संख्या=पद्य-संख्या। अथवा "इस ऐतिहासिक कथा की रचना छन्द में हुई है।" छन्द=पद्य।) प्रस्तुत प्रबंध में पद्य के अर्थ में छन्द शब्द के ऐसे अपारिभाषिक प्रयोग से भी यथासंभव बचने की चेष्टा की गई है।

वृत्त

'वृत्त' शब्द 'छन्द' शब्द के पर्यायवाची की तरह प्रयुक्त होता है; फिर भी छन्दः शास्त्रीय अर्थ की दृष्टि से यह उतना व्यापक नहीं। हिंदी शब्दसागर में इसके निम्न-लिखित अर्थ दिये गये हैं—

(१) चरित्र, चरित।

(२) आचार, चाल-चलन।

(३) समाचार, वृत्तांत, हाल।

(४) जीविका का साधन, वृत्ति।

(५) वह छन्द जिसके प्रत्येक पाद मे अक्षरों की संख्या और लघु गुरु के क्रम का नियम हो। वार्णिक छन्द।

(६) एक छन्द, जिसके प्रत्येक चरण में बीस वर्ण होते है। गंडना, दंडिका।

(७) वह क्षेत्र, जिसका घेरा या परिधि गोल हो।

(८) वह गोल रेखा, जिसका प्रत्येक बिंदु उसके अंदर के मध्यबिंदु से समान अंतर पर हो।[1]

अर्थसंख्या १ से ४ तथा ७ से ८ हमारे प्रबंध की अर्थ-सीमा के बाहर है। 'वृत्त' शब्द का प्रयोग वार्णिक छन्दों तथा एक विशिष्ट छन्द के नाम के अतिरिक्त सामान्य रूप में किसी भी छन्दःप्रवृत्ति के अर्थ में भी होता है।

मैक्समूलर के अनुसार अँगरेजी के 'वर्स' (Verse) और संस्कृत के 'वृत्त' शब्दों में एक प्रकार का शब्दशास्त्रीय संबंध है।[2]

'वृत्त' शब्द 'अमरकोश' में निम्नलिखित अर्थों में आया है—

१—गोल, वर्त्तुल।[3]

२—वरण किया हुआ।[4]

३—चरित्र।[4]

४—अतीत।[5]

५—दृढ़।[5]

६—पद्य (श्लोक)।[6]

---

१. हिंदी शब्दसागर।
२. **Encyclopaedia Britanica; 'Verse'.**
३. अमरकोश: ३।६९।
४. अमरकोश: ३।९२।
५. अमरकोश: ३।७८।
६. अमरकोश: ३।७८।

छन्दों के प्रसंग में प्रयुक्त 'वृत्त' शब्द में उपर्युल्लिखित प्रथम अर्थ का समावेश हो जाता है।

लौकिक वार्णिक वृत्त के पादों मे वर्णों-मात्राओं की संख्या के साथ मात्राओं का क्रम भी निश्चित होता था। अतएव, पादगत ध्वनियों का प्रयोग गोलाकार, घेरे के रूप में, अथवा एक निश्चित परिधि में होता था। यह बात निम्नांकित रेखाचित्र से स्पष्ट होगी, जिसमें उदाहरण के लिए एक वर्णवृत्त, (छन्द) द्रुतविलंबित के पादगत वर्णों का लघु-गुरुनिर्देश वृत्त (=घेरे) के रूप में किया है—

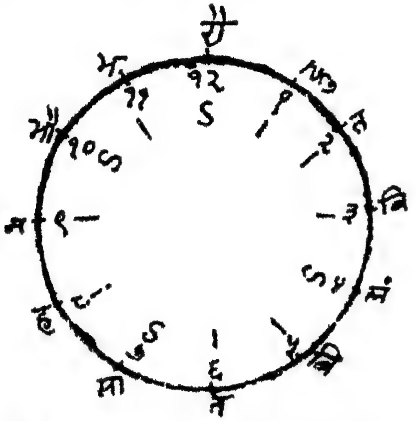

वर्णवृत्त द्रुतविलंबित के प्रत्येक पाद की ध्वनियों का लघुगुरु-क्रम इसी प्रकार होगा। वैदिक अथवा मात्रिक छन्दों मे भी ध्वनियां की गति पादगत वर्ण अथवा मात्रा-संख्या के नियमन के कारण गोलाकार होती है, यद्यपि इन छन्द-प्रकारों में गति की परिधि सर्वथा पूर्वनिश्चित नहीं होती। अतएव, यद्यपि वैदिक और मात्रिक छन्दों को भी वृत्त कहना असंगत नहीं है; फिर भी आरंभ में लौकिक वर्णिक छन्दों के प्रकार को ही 'वृत्त' संज्ञा प्राप्त हुई होगी। हो सकता है 'वृत्त' शब्द पहले 'छन्द' शब्द की तरह 'पद्य' मात्र के सामान्य अर्थ में भी प्रयुक्त रहा होगा। डा० माहेश्वरी सिंह 'महेश' ने 'वृत्त' शब्द को 'छन्द' का पर्यायवाची मानते हुए 'वृत्त' के चार भेद स्वीकार किये हैं—

१—स्वर-वृत्त, (वैदिक वृत्त)

२—वर्ण-वृत्त,
३—मात्रा-वृत्त, तथा
४—ताल-वृत्त।[1]
} (लौकिक वृत्त)

स्वर-वृत्त उदात्त, अनुदात्त, और स्वरित ध्वनि-विशेषताओं पर या स्वर के आरोह-अवरोह (pitch) पर आधारित हैं।

वर्णवृत्त का आधार वर्ण-संख्या और लघुगुरु-क्रम की निश्चित योजना है।

मात्रावृत्त का आधार मात्राओं की चरणगत संख्या-समानता और निश्चित लय-योजना है।

तालवृत्त में मात्राओं या वर्णों की चरणगत संख्या की समानता अपेक्षित नहीं होती केवल लय और ताल का आधार ग्रहण किया जाता है। ताल-सृष्टि के लिए

---

१. **Dr. Maheshwari Singh 'Mahesh'—The Historical Development of Medieval Hindi prosody [London University Thesis] Part I; Chapter 3.**

समान ताल-मात्रिक इकाइयों (ताल-गणों) की बलाघातपूर्ण आवृत्ति होती है। बलाघात का आधार अँगरेजी के छंदों में भी प्रायः ग्रहण किया जाता है। अँगरेजी छंदों की तीन कोटियाँ हैं—(१) बलाघातयुक्त छंद, जिसमें लय (rhythm) का आधार कालमात्रा (time) नहीं, बलाघात (accent) होता है तथा छंद का पाद बलाघात युक्त तथा बलाघात-रहित अक्षरों (syllables) द्वारा गठित पाद-खंडों (foot) में विभक्त होता है; (२) कालमात्रिक छंद, जिसमें पाद को बलाघात के अनुसार नही वरन् उच्चारण-काल के अनुसार काल-इकाइयों (measures) में विभक्त किया जाता है, यद्यपि अँगरेजी भाषा की प्रकृति के कारण शब्दोच्चारण में पूर्वनिश्चित या रूढ बलाघातात्मकता-होती ही है; और (३) मिश्र, जिसमें विकल्प से दोनों प्रकार के पादों का प्रयोग होता है।[1] हिन्दी के मात्रिक छंद उपर्युक्त दूसरी कोटि से तुलनीय हैं। अपभ्रंश-हिंदी में प्रयुक्त ताल-वृत्त में बलाघात का प्रयोग अवश्य है, किंतु अँगरेजी बलाघातपूर्ण छंदों से उसका अंतर है; एक तो यह कि तालवृत्त में बलाघात का स्थान शब्दों में अँगरेजी शब्दों के समान पूर्वनिश्चित या रूढ न होकर अर्थ-सापेक्ष होता है; दूसरे, बलाघात अनिवार्यतः समान काल-गत अंतर पर आता है, जैसा अँगरेजी में इस कोटि के छंदों में नहीं होता। प्रत्येक दो बलाघातों के बीच इस समान कालगत अंतर की योजना के लिए काल-इकाइयों, अर्थात् ताल-गणों की योजना होती है। इस प्रकार ताल-वृत्त में बलाघात तथा कालमात्रिकता दोनों का समाहार होता है। प्रत्येक ताल-गण एक बलाघातपूर्ण काल-इकाई है, जिसकी लगातार आवृत्ति द्वारा लय-सृष्टि होती है। लौकिक वृत्त सम, अर्द्धसम और विषम—ये तीन प्रकार के हो सकते हैं।[2]

पिंगलकृत 'छन्दःशास्त्रम्' की वृत्ति (हलायुध) में छन्द के दो भेद कथित हैं—वृत्त और जाति। लोक के बीच उद्भूत होने के कारण ही संभवतः मात्रिक छन्द जाति कहे गये हैं। वैदिक परंपरा से प्राप्त वार्णिक छन्द वृत्त कहे गये।[3] कई अन्य आचार्यो ने भी 'वृत्त' शब्द का प्रयोग वर्णिक छंदों के लिए ही किया है।[4] किंतु, वृत्तजातिसमुच्चय तथा प्राकृत-पैंगलम् में 'वृत्त' शब्द का प्रयोग वार्णिक तथा मात्रिक, दोनों प्रकार के छंदों के अर्थ में हुआ है।[5] हिंदी में, 'छन्दःप्रभाकर' में 'वृत्त' शब्द का प्रयोग प्रायः वार्णिक छन्दों के अर्थ में सीमित कर दिया जान पड़ता है। मात्रिक छंदों के लिए 'जाति' तथा वार्णिक छन्दों के लिए 'वृत्त' शब्द प्रयुक्त है।[6]

प्रस्तुत प्रबंध में 'वृत्त' शब्द को प्रायः छंद शब्द के पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त किया गया है। किंतु, प्रयत्न यह किया गया है कि 'वृत्त' शब्द का उपयोग यथासंभव सामान्य छंदःप्रवृत्तियों के अर्थ में ही किया जाय। (जैसे—मात्रा-वृत्त, अर्द्धसम-वृत्त आदि।) विशिष्ट छंदों के अर्थ में 'वृत्त' शब्द प्रायः नहीं प्रयुक्त हुआ है (जैसे—द्रुतविलंबित वृत्त न कहकर द्रुतविलंबित छंद कहा गया है।)

---

१. **Shapiro—A Bibliography of Modern Prosody (1948); pp. 1-2.**
२. पिं० । ५ । २ ।
३. पिं० । ५ । १ । वृत्ति ।
४. जय० । ५ । १; जकी० । १ । २०; वृ० जा० स० शीर्षक ।
५. प्रा० पैं०, पृ० १ तथा ३४३; वृ० जा० स० १ । ३ ।
६ छं० प्र०, भूमिका, पृ० ६ ।

वर्ण

अनेकार्थक 'वर्ण' शब्द भी छन्दोविवेचन के प्रसंग में अर्थ-विशेष की सीमा में बंध जाता है। 'वर्ण' शब्द के ये अर्थ बताये जाते हैं :—१—रंग,[1] २—आर्य जन-समुदाय के चार प्राचीन विभाग, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र। जाति।[2] ३—भेद, प्रकार[3], ४—अक्षर; अकारादि चिह्न, या ध्वनि-संकेत।[4]; ५—रूप।[1]; ६—स्तुति।[1]

स्पष्ट है कि प्रस्तुत प्रबंध में सामान्यतः 'वर्ण' शब्द का चौथा अर्थ ही ग्राह्य होगा। व्याकरण और भाषा-विज्ञान में 'वर्ण' शब्द मूल ध्वनि के अर्थ में प्रयुक्त होता है—'वर्ण' उस मूल ध्वनि को कहते हैं जिसके खंड न हो सकें, जैसे, अ, इ, क्, ख् इत्यादि।[5] वर्ण के दो भेद हैं, स्वर और व्यंजन।[6]

किंतु, छंदोविवेचन के प्रसंग में 'वर्ण' शब्द का प्रयोग इस व्याकरण-गत पारिभाषिक अर्थ में न होकर सामान्य रूप में 'अक्षर' (Syllable) शब्द के पर्यायवाची की तरह होता है। छंदःशास्त्र में अ, आ, अथवा क्, ख्, आदि एक-एक वर्ण हैं तथा क, का, ख, खा आदि भी एक-एक ही वर्ण हैं। यहांतक कि संयुक्ताक्षर को भी एक वर्ण ही माना जाता है, यद्यपि उसमें कई वर्ण प्रयुक्त हुआ करते हैं, जैसे—ज्योत्स्ना शब्द में दो वर्ण हैं, 'ज्यो' और 'त्स्ना'।

वस्तुतः, छंदःशास्त्रीय विवेचन के प्रसंग में वर्ण (Syllables) वाणी-प्रवाह की उस इकाई को कहते हैं, जिसका उच्चारण एक प्रयास में, फेफड़े की वायु के एक बार के दबाव में किया जाता है। उपर्युक्त ज्योत्स्ना शब्द में ज्यो का उच्चारण एक साथ, एक प्रयास में होता है और त्स्ना के उच्चारण के लिए दूसरे प्रयास की अपेक्षा होती है।[7]

वर्ण-वृत्त में वर्णों की गिनती ऐसा ही मानकर होती है।

मात्रा

'मात्रा' शब्द 'मा' धातु से (=माप करना, नापना) व्युत्पन्न है और इसका अर्थ है 'माप की इकाई'। इस शब्द के विभिन्न अर्थ, जो कोश में दिये गये हैं, इस प्रकार हैं :—

१—परिमाण।[1]; २—एक बार खाने योग्य औषध।[1]; ३—उतना काल, जितना एक ह्रस्व स्वर के उच्चारण करने में लगता है। छंदःशास्त्र में इसे मत्त, मत्ता, कल या काला भी कहते हैं।[1]; ४—वह स्वर-सूचक रेखा जो अक्षर के ऊपर-नीचे या आगे-पीछे लगाई जाती है।[1]; ५—थोड़ा।[1] किसी चीज का कोई निश्चित छोटा भाग।[1]; ६—परिच्छेद या सामग्री।[8]; ७—सूक्ष्म या पतला।[8]; ८—संपूर्णता।[9]; ९—अवधारण या निश्चय।[9];

---

१. हिंदी शब्दसागर

२. अमरकोश, २।७।१।

३. हिंदी शब्दसागर।

४. अमरकोश, ३।४८।

५. कामता प्रसाद गुरु—हिंदी व्याकरण, पृ० ३५।

६. वही पृ० ३६।

७. Accent and Rhythm; p 6.

८. अमरकोश ३।१।६२।

९. वही। ३। ३। १७७-७८।

१०—रूप।; ११—संगीत में गीत और वाद्य का समय निरूपित करने के लिए उतना काल, जितना एक स्वर (स, रे, ग, म आदि) के उच्चारण में लगता है।

विशेष—संगीत में एक ह्रस्व स्वर के उच्चारण में जितना समय लगता है उसे ह्रस्व मात्रा कहते हैं। दो ह्रस्व स्वरों के उच्चारण में जितना समय लगता है, उसे दीर्घ मात्रा कहते हैं और तीन अथवा उससे अधिक स्वरों के उच्चारण में जितना समय लगता है, उसे प्लुत मात्रा कहते हैं।

सामान्यतः छंदःशास्त्रीय विवेचन के प्रसंग में 'मात्रा' शब्द प्रायः तीसरे अर्थ में, एक स्वर वर्ण के उच्चारण-काल के अर्थ में ग्रहण किया जाता है। 'मात्रा' ह्रस्व ध्वनि के उच्चारण में लगनेवाले समय को कहते हैं, जो मात्रिक छंदोविवेचन में परिमाण की इकाई (Unit of measurement) की तरह प्रयुक्त होता है। इस प्रकार, इस अर्थ में 'मात्रा' शब्द के ऊपर बताये गये अर्थों में से कई अंतर्भुक्त-से हो जाते हैं। 'मात्रा' को 'कल' या 'कला' भी कहते हैं।

सामान्य रूप से उपरिनिर्दिष्ट अर्थबोध से काम चल जाता है, किंतु विशिष्ट प्रसंगों में 'मात्रा' शब्द के सूक्ष्म अर्थ-भेद भी हैं। ताल-वृत्त और मात्रा-वृत्त के प्रसंगों में यह अर्थ-भेद स्मरणीय है। ताल-वृत्त के प्रसंग में 'मात्रा' एक ह्रस्व या लघु वर्ण के उच्चारण में लगे समय (time) को कहते हैं। एक ताल-गण में ऐसी काल-मात्राओं (अथवा ताल-मात्राओं) की निश्चित संख्या होती है। मात्रा-वृत्त के प्रसंग में 'मात्रा' शब्द द्वारा एक ह्रस्व या लघु वर्ण के ध्वनि-परिमाण (Quantity or content) का बोध होता है। परंपरा से समझा जाता है कि लघु वर्ण का ध्वनि-परिमाण एक मात्रा के बराबर तथा गुरु वर्ण का ध्वनि-परिमाण दो मात्राओं के बराबर है। मात्रिक गण में ऐसी वर्ण-मात्राओं की निश्चित संख्या होती है।

ताल-वृत्त में वर्णों का स्थान गौण है, असली चीज है प्रत्येक स्वराघातपूर्ण इकाई का काल-परिमाण। इस काल-परिमाण की पूर्ति के लिए वर्णों के अतिरिक्त मौन (=विराम) अथवा प्लुत उच्चारण का भी सहारा लिया जा सकता है। किंतु मात्रा-वृत्त में वर्णों का अनिवार्य महत्त्व है; प्रत्येक वर्ण का परंपरागत विशुद्ध उच्चारण अपेक्षित है, ठीक उसी प्रकार जैसे वर्ण-वृत्त में। पाद-पूर्ति के लिए विराम वर्णों का स्थान नहीं ले सकता। प्रत्येक मात्रा का उच्चरित होना आवश्यक है। पादपूर्ति प्रयुक्त वर्णों के ध्वनि-परिमाणों के योग द्वारा होती है। दूसरे शब्दों में तालवृत्त के प्रसंग में 'मात्रा' शब्द वर्ण के काल-परिमाण का सूचक है, तथा मात्रावृत्त के प्रसंग में वह वर्ण के ध्वनि-परिमाण का सूचक है। ताल-मात्रा और वर्ण-मात्रा शब्दों द्वारा क्रमशः इन अर्थों की स्पष्टतर अभिव्यक्ति होती है।

मात्रिक छंदों में वर्णमात्रा लघुतम इकाई है, ताल-वृत्त में ताल-मात्रा।

प्रस्तुत प्रबंध में मात्रा शब्द का प्रयोग दोनों अर्थों में हुआ है तथा स्पष्टीकरण के लिए उसके साथ यथावश्यकता 'वर्ण' अथवा 'ताल' विशेषण का प्रयोग किया गया है।

लघु-गुरु

हमारे प्रसंग में 'वर्ण सस्वर अक्षर है, जो संयुक्त भी हो सकता है। 'वर्ण' 'लघु' या 'गुरु' हो सकता है। लघु वर्ण में एक मात्रा मानी जाती है और गुरु में दो मात्राएँ। ह्रस्व स्वर और उनसे मिले हुए व्यंजन, जैसे अ, इ, उ, ऋ, क, ख, चि, लु, त्रि, त्स्न, आदि वर्ण, लघु या ऐकमात्रिक हैं। चंद्रबिंदु से युक्त होने पर भी ऐसे वर्ण लघु माने

जाते हैं। दीर्घ स्वर और उनसे मिले हुए व्यंजन, जैसे आ, ई, ऊ, का, शी, त्या, आदि गुरु हैं। संयुक्त स्वर तथा तत्संबंधी व्यंजन, जैसे ए, ऐ, ओ, औ, के, पै, को, गो, आदि गुरु अथवा द्वैमात्रिक हैं। अनुस्वार और विसर्गवाले सभी स्वर तथा उनसे संयुक्त व्यंजन भी गुरु हैं। शब्दांतर्गत संयुक्त या द्वित्व अक्षर के पहलेवाला अक्षर लघु भी हो, तो गणना में उसे गुरु मानना चाहिए। जैसे, 'प्रश्न' में 'श्न' के पूर्व होने के कारण 'प्र' लघु होकर भी गुरु माना जायगा।

किंतु, इन नियमों के अपवाद भी कम नहीं। कहीं-कहीं गुरु अक्षरों का लघु की तरह उच्चारण होता है और तब उन्हें लघु या एक-मात्रिक ही मानना चाहिए। संयुक्त स्वरों के लघु उच्चारण मध्यकालीन हिंदी कविता में प्रचुर रूप में द्रष्टव्य हैं—

जो मुनीस जेहि आयसु दीन्हा।
सो तेहि काजु प्रथम जनु कीन्हा।[1]

अथवा

तब नरनाह बसिष्ठ बोलाये।[2]

संयुक्ताक्षरों के पहलेवाले अक्षर के दीर्घ उच्चारण का नियम भी सापवाद है। हिंदी में यह नियम पादव्यापी नहीं, केवल शब्दव्यापी है। 'जसि रघुबीर ब्याह बिधि बरनी।' में 'ब्या' के पूर्ववाला वर्ण 'र' लघु का लघु ही रहेगा। समस्त पदों में भी यदि द्वितीय पद का प्रथम अक्षर संयुक्त हो, तो प्रथम पद का अंतिम अक्षर विकल्प से ही गुरु माना जाता है। जैसे 'अंगप्रभा' में 'ग' का उच्चारण लघु और गुरु दोनों रूपों में आवश्यकता-नुसार होता है। 'कन्हैया' अथवा 'तुम्हें' शब्द में भी संयुक्ताक्षर का पूर्ववर्त्ती वर्ण लघु माना जाता है।

संस्कृत में इस प्रकार के अपवाद न तो 'एचों' (एच् ए, ऐ, ओ, औ) के संबंध में बहुत है, न संयुक्ताक्षरों के संबंध में। हिंदी में ये विकल्प हैं। अतएव, ऐसे वर्णों की लघु-गुरु-गणना उच्चारण-काल को ध्यान में रखकर ही करनी चाहिए।

'एचों' के लिए नागरीलिपि में लघु और गुरु उच्चारण के अनुसार अलग-अलग लिपि-चिह्न नहीं हैं। अतएव, इनके दीर्घ चिह्नों से ही लघु 'एचों' का द्योतन भी अनिवार्य है यद्यपि डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने एचों के ह्रस्व रूप के द्योतन का उपक्रम किया है।[3] किंतु स्मरणीय है कि छंदों में लघुगुरुनिर्णय के लिए ध्वनि या उच्चारण ही आधार हो सकता है, लिपिचिह्न नहीं।

संस्कृत में 'एचों' के ह्रस्व रूप स्वीकृत नहीं। (एचां ...ह्रस्वाभावात्।) संस्कृत के आचार्यों ने इन वर्णों के ध्वनि-तत्त्व पर जितना ध्यान दिया था, काल-तत्त्व पर उतना नहीं। अतएव, वे उच्चारण के इस सूक्ष्म भेद को संभवतः लक्ष्य न कर सके थे। संस्कृत भाषा में एचों के ह्रस्व प्रयोग प्रायः होते भी नहीं थे। एचों के ह्रस्व प्रयोग का विकल्प हिंदी में संस्कृत का नहीं, प्राकृत का प्रभाव है। हेमचंद्र के 'एदोतो पदांते प्राकृते ह्रस्वो वा'[4] कथन से इसकी पुष्टि होती है।

---

१. **तुलसी : रामचरितमानस अयोध्याकांड, ७-९।**
२. **वही, रामचरितमानस, बालकांड। ३२६।**
३. **डा० धीरेन्द्र वर्मा—हिंदी भाषा का इतिहास, पृ० ९४-१०४। १९३३।**
४. **हे० छं० १।९।**

मध्यकालीन हिंदी कवियों ने भाषा-संबंधी जिन स्वच्छंदताओं का उपभोग किया है, उनमें एक यह भी है कि वे छंदोविधान की आवश्यकता के अनुसार शब्दांतर्गत वर्णों का रूप ह्रस्व या दीर्घ कर लिया करते थे। जैसे, 'जो' को 'जु', 'सो' को 'सु', 'उमंग' को 'उमँग' और इसी प्रकार 'कृपानिधान' को 'कृपानिधाना' अथवा 'राज' को 'राजू' या 'राजा' कर लेना उनके बायें हाथ का खेल था। एक उदाहरण देखिए—

सकल पूगफल कदलि रसाला।
रोपे बकुल कदंब तमाला॥[1]

किंतु आधुनिक काव्य में इस प्रकार की स्वतंत्रता श्रेयस्कर नहीं समझी जाती।

हिंदी छंदोविवेचन के प्रसंग में स्मरणीय है कि 'मात्रा' तथा लघु-गुरु अक्षरों का (अँगरेजी छंदों में प्रयुक्त) स्वरात्मक बलाघात से कोई निश्चित या अनिवार्य संबंध नहीं। मात्राएँ या लघु-गुरु अक्षर ध्वनि के उच्चारण-काल के बोधक हैं, जबकि स्वराघातयुक्त अथवा स्वराघात-रहित अक्षर से उच्चारण में ध्वनि की तीव्रता का बोध होता है। पदार्थ-विज्ञान इन दोनों के अंतर को स्पष्टतया स्वीकार करता है।[2]

स्वर

छन्दःशास्त्रीय विवेचन में 'स्वर' शब्द तथा उसके तद्भव रूप 'सुर' का प्रयोग भी विशिष्ट पारिभाषिक अर्थ में होता है। 'स्वर' शब्द के कोशगत अर्थ हैं—

(१) प्राणी के कंठ से अथवा किसी पदार्थ पर आघात पड़ने के कारण उत्पन्न होनेवाला शब्द, जिसमें कोमलता, तीव्रता, उदात्तता, अनुदात्तता आदि गुण हों।[3]

(२) संगीत में वह शब्द, जिसका कोई निश्चित रूप हो और जिसके उतार-चढ़ाव आदि का, सुनते ही, सहज में अनुमान हो सके।सुर। सुभीते के लिए सात स्वर नियत किये गये हैं। इनके नाम क्रम से षड्ज, ऋषभ्, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद हैं, जिनके संक्षिप्त रूप सा, रे, ग, म, प, ध, और नि हैं।[3]

(३) व्याकरण में वह वर्णात्मक शब्द, जिसका उच्चारण आप-से-आप स्वतंत्रतापूर्वक होता है और जो किसी व्यंजन के उच्चारण में सहायक होता है। हिंदी वर्णमाला में ११ स्वर हैं—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ए, ऐ, ओ और औ।[3]

(४) वेदपाठ में होनेवाले शब्दों का उतार-चढ़ाव।[3]—(स्वरित, उदात्त और अनुदात्त उच्चारण)।

(५) आकाश (स्वर=स्वर्गः=आकाश)[4]

छन्दोविधान के प्रसंग में 'स्वर' शब्द पाँचवें अर्थ को छोड़ प्रायः सभी अर्थों में यथावश्यकता प्रयुक्त होता है। प्रस्तुत प्रबंध में भी यह ध्यातव्य होगा कि प्रसंगविशेष में इस शब्द का व्यवहार किस अर्थ में हुआ है।

---

१. तुलसीः रामचरितमानस, बालकांड, ३४४।
२. **Raymond Macdonald Alden Ph. D.—English Verse; p. 392.**
३. हिंदी शब्दसागर (बृहत्)।
४. अमरकोश, १।१।६ तथा ३।३।२५४, वेंकटेश्वर प्रेस, २००९ वि०।

वैदिक छंदोविधान को स्वरवृत्त कहते हैं; क्योंकि उनमे स्वरों अर्थात् उदात्त, अनुदात्त और स्वरित ध्वनि-प्रकारों का आधार लिया गया है। छंदों का संबंध संगीत से भी है अवश्य। अतएव, उपरिकथित द्वितीय अर्थ में भी 'स्वर' शब्द का प्रयोग कहीं-कही आवश्यक हो सकता है। संगीत के सात स्वरों का संबंध प्रकृति के प्राणियों से भी बनाया जाता है। इस संबंध मे यह श्लोक द्रष्टव्य है—

षड्जं रौति मयूरस्तु गावो नर्दन्ति चर्षभम्।
अजाविकौच गान्धारं क्रौञ्चो नदति मध्यमम्।।
पुष्पसाधारणे काले कोकिलो रौति पञ्चमम्।
अश्वस्तु धैवतं रौति निषादं रौति कुञ्जरः।।[1]

व्याकरणगत वर्णविचार के अंतर्गत वर्ण के भेद-विशेष के अर्थ मे भी 'स्वर' शब्द का प्रयोग हमारे विवेच्य विषय की दृष्टि से आवश्यक हो सकता है।

ताल

ताल, संगीतादि में समय के परिमाण-बोध के लिए एक मान या इकाई है। 'अमर-कोश' में कहा है—

ताल: कालक्रियामानं लयः साम्यं....।[2]

आरंभ में, ताल शब्द का अर्थ था—अंगुष्ठ और बीचवाली अंगुली के फैलाव की लंबाई।[3] धीरे-धीरे 'हथेली' के सामान्य अर्थ[4] में इस शब्द का प्रयोग होने लगा होगा। संगीत में समय के निश्चित परिमाण के सूचन के लिए दोनों हथेलियों के नियमित आघात की प्रवृत्ति के विकसित होने पर 'ताल' शब्द इस निश्चित काल-परिमाण या इकाई के अर्थ में भी प्रयुक्त होने लगा होगा। हथेलियों के परस्पर आघात से उत्पन्न ध्वनि को 'ताली' कहते ही हैं।[4] 'ताल' शब्द का अर्थ मँजीरा भी होता है।[5] संगीत में ताल देने के लिए (अथवा, काल-परिमाण की आवर्त्तनशील इकाई के बोध के लिए) हथेलियों के अति-रिक्त मँजीरे का उपयोग भी होता है, विशेष कर लोकगीत-नृत्यादि में। 'हथेली' और 'मँजीरे' के अर्थ-संपर्क के कारण ही संगीतगत इस इकाई के सूचक आघात को ताल कहने लगे होंगे।

काल-परिमाण के अतिरिक्त 'ताल' शब्द छंदःशास्त्र में मात्रिक डगण के दूसरे भेद का बोधक भी है। इनके अतिरिक्त 'ताल' शब्द के जो अर्थ हैं—चश्मे के पत्थर या काँच का एक पल्ला, हरताल (एक वनस्पति), ताड़ का पेड़, या फल, ताला, तलवार की मूठ, तालाब आदि[5]—वे हमारे विवेच्य प्रसंग की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं।

ताल की परिभाषा आसान नहीं। फिर भी, कहा जा सकता है कि ताल "संगीत, नृत्य या छंदोरचना में समान काल-परिमाण के अंतर से बार-बार आनेवाली यति के बला-

---

१. अमरकोशः पृ० २५ (पादटिप्पणी)
२. अमरकोशः। १।७।९।
३. वही। २।६।८३।
४. हिंदी शब्दसागर (बृहत्)।
५. वही।

घात द्वारा नियंत्रण को कहते हैं।"[1] ताल की सूचना ध्वनिगत बलाघात द्वारा अथवा हथेली के आघात या मँजीरे या तबले आदि के सहारे दी जाती है। छंदों के अंतर्गत तालवृत्त में ताल द्वारा उत्पन्न सांगीतिक माधुर्य आकर्षण का प्रधान आधार है।

संगीत में दो अनिवार्य तत्व हैं—स्वर और ताल। स्वर ध्वनि के प्रकार का सूचक है और ताल उसके परिमाण या काल का।

किंतु छंद में वैदिक स्वरवृत्त के अतिरिक्त स्वर-तत्त्व प्रायः नगण्य है। ताल का महत्त्व लौकिक छंदों में स्वर की अपेक्षा कहीं अधिक है। यों, संस्कृत के वर्णवृत्तों का सांगीतिक आधार लघु-गुरु वर्णो का उच्चारण-भेद है। फिर भी, वर्णवृत्तों के कई ऐसे भेद हैं, जिनमें ताल की चरितार्थता भी हो जाती है। मात्रिक छंद भी सामान्यतः तालवृत्त से भिन्न हैं; क्योंकि मात्रिक छंदों में पादगत यति नियत समय पर, समान कालगत अंतर पर अनिवार्यतः नहीं आती। किंतु, अनेक ऐसे मात्रिक छंद भी है, जिनमें यति समान कालगत अंतर पर आती है।

आरंभिक काल में, वैदिक छंदों में स्वर का संबंध छंदोविधान से घनिष्ठ था—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित ध्वनि-प्रकारों की योजना के कारण वैदिक छंदों को स्वर-वृत्त कहा गया है। लौकिक वर्णवृत्तों या मात्रिक छंदों में स्वर-नियोजन की चिंता नहीं की गई। किंतु, लोकगीत, लोकनृत्य आदि के प्रभाव-स्वरूप ताल की उपयोगिता छंदोरचयिताओं को अनुभूत होने लगी और छंदोविधान में ताल के क्रमशः अधिकाधिक उपयोग की प्रवृत्ति दिखाई पड़ी। हिंदी के कुछ छंदों में पादगत ताल-योजना का महत्त्व इतना है जितना पादगत वर्णसंख्या या मात्रासंख्या की समानता का नहीं। ताल के आधार पर चलनेवाले ऐसे छंदों को ताल-वृत्त कहा गया है।

लय

अनेकार्थक शब्द 'लय' भी छंदोविवेचन के प्रसंग में पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त होता है। यों 'लय' के अर्थ हैं—एक पदार्थ का दूसरे में मिलना, विलीन होना, मग्न होना, ध्यान में डूबना; प्रेम या अनुराग; कार्य का फिर कारण-रूप में परिणत हो जाना; जगत् का नाश या प्रलय; संश्लेष, आदि भी।[2] किंतु, हमारे प्रसंग में 'लय' शब्द का प्रयोग प्रायः निम्नोक्त अर्थों में सीमित है—

१—संगीत में नृत्य, गीत, वाद्य आदि की समता।

(लयः साम्यं।[3])

२—गीत गाने का ढंग या तर्ज; धुन।[4]

३—संगीत में सम।[4]

अँगरेजी में लय के लिए Rythm शब्द का उपयोग होता है, जिसकी परिभाषा यह दी गई है कि वह बलाघातयुक्त और बलाघात-रहित अक्षरों का प्रवाह-वैविध्य है।[5] इस परिभाषा में अँगरेजी छंदों का ही ध्यान रखा गया है।

---

१. **H. D. Velankar—Bharat Kaumudi; p. 1066.**

२. **हिंदी शब्दसागर।**

३. **अमरकोश १ । ७ । ९ ।**

४. **हिंदी शब्दसागर ।**

५. **Accent and Rhythm; p. 69.**

संस्कृत-हिंदी परंपरा के छंदो को दृष्टिपथ में रखते हुए हम लय को स्वरों, लघु-गुरु वर्णों, बलाघात-रहित (मात्रिक) इकाइयो अथवा बलाघातयुक्त (ताल) इकाइयों का वैविध्य-पूर्ण समंजस प्रवाह मान सकते हैं।

साधारणतः हम 'लय' उसे कहते हैं, जिसके द्वारा किसी छंदोविशेष के गाने अथवा पढ़ने के तर्ज या धुन का बोध हो। वर्णवृत्तों के विवेचन के प्रसंग मे लय के निर्देश का महत्त्व उतना नही; क्योकि छन्दोविशेष में पादगत मात्राक्रम निश्चित होने के कारण लय स्वयं निश्चित होती है, उसमे अंतर संभव ही नहीं। मात्रिक छंदों में पादगत मात्राक्रम निश्चित नही होता। अतएव, पादगत मात्रा-संख्या की रक्षा करते हुए भी लघुगुरु के स्थान-परिवर्त्तन द्वारा लय-परिवर्त्तन किया जा सकता है। कभी-कभी यह लय-परिवर्त्तन इतना अधिक हो जाता है कि छंद का स्वरूप ही बदल जाता है और उतनी ही मात्राओं के पाद का एक दूसरा छंद बन जाता है। अतएव, मात्रिक छंदों में छंदोविशेष की पहचान के लिए प्रत्येक पाद मे केवल मात्राओं की संख्या गिन लेने मे काम नही चलता, लय या पढ़ने के तर्ज पर भी ध्यान देना होता है। लय-साम्य तथा मात्रासंख्या की समानता— इन दोनो बातों का आधार लेकर ही मात्रिक छंदो का अभिधान होता है। मात्रिक छंदो में लय-निर्धारण के लिए कभी मात्रिक गणो का निर्देश और कभी विशेष स्थानों मे लघु-गुरु-स्वरूपों या वार्णिक गणों का विधान या निषेध किया जाता है। किंतु, स्मरणीय है कि मात्रिक छंदों में लय-निर्धारण वर्णवृत्तों के समान कठोर नही होता। उसमे एक सीमा के अंदर परिवर्त्तन का अवकाश रहता है। यह लय-स्वातंत्र्य मात्रिक छंदो की अपनी विशेषता है। फिर भी, लय-स्वातंत्र्य की, प्रत्येक छंद मे, एक सीमा होती है, जिसके उल्लंघन से छंद का ढांचा बिगड़ जाता है अथवा एक दूसरा ही छंद बन जाता है।

पाद

'पाद' शब्द के निम्नलिखित अर्थ अमरकोश में आये हैं—

१. पर्वत के समीप एक छोटा पर्वत।[1]

२. पाँव, चरण।[2]

३. चौथा भाग।[3] चौथाई।

४. किरण।[4]

प्रथम अर्थ से ध्वनित है कि प्रारंभ में 'पाद'-शब्द अंश या अंग के अर्थ में ही प्रयुक्त रहा होगा, बाद में यह अंश अंशी के चतुर्थ भाग के रूप में अथवा यह अंग प्राणी के निचले भाग (चरण) के रूप में निर्णीत हो गया होगा। छंदःशास्त्र में छंदों के चौथाई भाग अथवा अन्य निश्चित भाग के लिए 'पाद' शब्द का प्रयोग होता है।[5] छंदःशास्त्र में पहले चतुष्पदी छंदों के प्रसंग में 'पादों' की धारणा बद्धमूल हुई, ऐसा मानने के कारण हैं। वैदिक छंदों में सम्पूर्ण छंद की अक्षर-संख्या की गिनती होती थी, पाद-विभाजन प्रधान नहीं था। लौकिक वर्ण-वृत्तों में पाद-विभाजन का महत्त्व बढ़ा और छंदो-

१. अमरकोश २।३।७।

२. वही २।६।७१ तथा हिंदी शब्दसागर।

३. वही २।९।८९ तथा हिंदी शब्दसागर।

४. वही ३।३।८९।

५ पिंगल—छन्दःशास्त्र।३।१।

लक्षण-कथन के लिए पाद का लक्षण कह देना यथेष्ट हुआ। चतुष्पदी वर्णवृत्तों में पूरे छंद के चौथाई भाग को 'पाद' (=चौथा भाग) कहा गया। जब चार से भिन्न (दो; छः आदि) पंक्तिवाले छंद भी आये तथा अर्द्धसम और विषम छंदो की उद्भावना हुई तो 'पाद' शब्द पूरे छंद के उस विशिष्ट अश के लिए रूढ हो गया, जो एक सीध मे या एक पंक्ति में लिखा जाता था या जिसके अंत में यति अथवा विराम का विधान था। अब 'पाद' का अर्थ 'चौथाई' नहीं रहा, पूरे छंद के अंगविशेष के अर्थ में उस शब्द का प्रयोग होने लगा। बाद में तो 'पाद' का पर्यायवाची 'चरण' शब्द भी इसी अर्थ का सूचक हुआ।

'पाद' या 'चरण' शब्द छंदःशास्त्र में आज इसी पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त होता है।

प्रत्यय

हिंदी शब्दसागर में 'प्रत्यय' शब्द के ये सोलह अर्थ बताये गये हैं—

१. विश्वास। २. प्रमाण। ३. विचार। ४ बुद्धि। ५. व्याख्या। ६. कारण, हेतु। ७. आवश्यकता। ८. प्रख्याति। ९. चिह्न। १० निर्णय। ११ सम्मति। १२ स्वाद। १३. सहायक। १४. विष्णु का एक नाम। १५. वह रीति जिसके द्वारा छंदों के भेद और उनकी संख्या जानी जाय। छंदःशास्त्र मे ९ प्रत्यय हैं—प्रस्तार, सूची, पाताल, उद्दिष्ट, नष्ट, मेरु, खंडमेरु, पताका और मर्कटी। १६. व्याकरण मे वह अक्षर या अक्षर-समूह, जो मूल धातु के अंत में, उसके अर्थ में कोई विशेषता उत्पन्न करने के उद्देश्य से लगाया जाय।[1]

छंदःशास्त्र में 'प्रत्यय' शब्द प्रायः पंद्रहवें अर्थ में प्रयुक्त होता है। प्रस्तारादि प्रत्ययों की चर्चा पिंगल के 'छंदःशास्त्र' के आठवें अध्याय में है। जयदेवकृत जयदेवछन्दस्, जयकीर्त्तिकृत छन्दोनुशासन, हेमचंद्रकृत छंदोनुशासन, केदारकृत वृत्तरत्नाकर, प्राकृतपैंगलम्, दशरथकृत वृत्तविचार, सुखदेवकृत वृत्तविचार तथा पिंगल, रामसहायकृत वृत्ततरंगिणी, नंदकिशोरकृत पिंगलप्रकाश, सोमनाथकृत रसपीयूषनिधि, भिखारीदासकृत छंदोर्णवपिंगल, हरदेवदासकृत छंदपयोनिधिभाषा, भानुकृत छंदःप्रभाकर प्रभृति ग्रंथों में प्रत्ययों पर विचार किए गये हैं। प्रत्ययों का अध्ययन बहुत अधिक व्यावहारिक उपयोगिता से संपृक्त न होकर बहुत कुछ कौतुक-मात्र कहा जा सकता है। इसकी विशद चर्चा प्रस्तुत प्रबंध के उद्देश्य की दृष्टि से प्रासंगिक नहीं।

गण के स्वरूप और उनका विकास

छंदःशास्त्र में 'गण' शब्द का प्रयोग प्रायः छंदों के पाद या चरण के माप के लिए इकाई के अर्थ में आता है।

'गण' शब्द के, विविध प्रसंगों में, निम्नलिखित अर्थ हो सकते हैं—

१. समूह, झुंड।[2] २. श्रेणी, कोटि।[3] ३. ऐसे मनुष्यों का समुदाय, जिनमें किसी विषय में समानता हो।[3] ४. सेना का वह भाग, जिनमें तीन गुल्म हों।[4] ५. छंदःशास्त्र

१. हिंदी शब्दसागर पृ० २२३२ (१९२५ संस्करण)।
२. अमरकोश, २।५।४०।
३. वही तथा हिंदी शब्दसागर।
४. अमरकोश, २।७।८१।

में प्राय: तीन वर्णों का समूह, लघु, गुरु के क्रम के अनुसार जिनकी संख्या आठ है।[1] ६. व्याकरण में धातुओं और शब्दों के वे समूह, जिनमें समान लोप, आगम और वर्ण-विकारादि हों।[1] ७. शिव के पारिषद। प्रथम।[2] ८. दूत, सेवक, पारिषद।[1] ९. परिचारक वर्ग, अनुचरों का दल।[2]

छंदोविवेचन के प्रसंग में 'गण' शब्द लगभग उपरिलिखित पाँचवें अर्थ में ही प्रयुक्त होता है।

वैदिक छंदों में परिमाण-बोध के लिए गणों का उपयोग नहीं होता था। अक्षर या वर्ण ही इकाई का काम देता था। अक्षरों की संख्या के निर्देश द्वारा ही छंद की अथवा उसके पाद की लम्बाई का ज्ञान हो जाता था; क्योंकि वैदिक छंदों में पादगत अक्षरों की संख्या-समानता के अतिरिक्त उदात्त अनुदात्त, और स्वरित ध्वनि-प्रकारों की योजना ही अभीष्ट होती थी; पादगत मात्राओं की संख्या-समानता अथवा मात्राओं का क्रम-निर्देश आवश्यक नहीं था। अतएव, वर्ण-इकाइयों के स्वरूप (लघु-गुरु) का निर्देश जरूरी नहीं था। लौकिक संस्कृत के छंदों में पादगत अक्षर-संख्या के बोध के साथ पादगत मात्रा-संख्या तथा मात्राक्रम का निर्देश भी आवश्यक हो गया। अब एक वर्ण या अक्षर इकाई का काम नहीं दे सकता। मात्रा-क्रम-निर्देश के लिए ही प्रत्येक वर्ण के लघुगुरु-स्वरूप और उनके परस्पर संबंध का सविस्तर उल्लेख छंदोलक्षण-निरूपण की पूर्णता की दृष्टि से जरूरी हो गया। इसलिए, एक ऐसी प्रणाली की आवश्यकता हुई, जिसके द्वारा संक्षेप में, कम-से-कम शब्दों में (और इसकी प्राचीन काल में बहुत अपेक्षा थी) छंद के पूरे लक्षण को स्मृति-सुगम रूप में व्यक्त किया जा सके। वार्णिक गणों का आविष्कार इसी आवश्यकता का प्रतिफलन है।

वार्णिक गणों से लक्षण-निरूपण में जो सुविधा हुई, उसे हृदयगम करने के लिए हमें उन छंदोग्रंथों के पृष्ठ उलटने चाहिए, जिनमें लक्षण-निरूपण के लिए गणों का उपयोग नहीं हुआ है। जैसे, भरतकृत नाट्यशास्त्र, कालिदासकृत श्रुतबोध अथवा विरहांककृत वृत्त-जाति-समुच्चय (अ०५)। इनमें छंदों के पादगत प्रत्येक वर्ण के लघुगुरु-स्वरूप का सविस्तर उल्लेख किया गया है। किंतु, यह ढंग अनावश्यक रूप से कितना पेंचीदा या कष्टप्रद है, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

वार्णिक गण—प्रश्न यह हो सकता है कि वार्णिक गणों में वर्णों की संख्या तीन ही क्यों रखी गई। द्वैवर्णिक गण भी हो सकते थे और वस्तुत: एक अज्ञात जैन ग्रंथकार ने अपने अप्रकाशित 'रत्नमंजूषा' में इनका उपयोग किया भी है।[1] द्वैवर्णिक गण के चार स्वरूप ही संभव हैं—SS, ।।, ।S, S।—और यह पादगत लक्षण-निर्देश के लिए, विशेष-रूप से जहाँ पाद लंबे हों, कुछ छोटा पड़ता है। पाद अधिक लंबे होने की दशा में गणों की संख्या अधिक हो जायगी। 'गण' का मान ऐसा चाहिये, जो बहुत अधिक भी नहीं, अल्प भी नहीं। इसलिए, तीन वर्णों के गण स्वीकृत हुए। भारत में तीन की संख्या के प्रति विशेष आकर्षण रहा है। यह संख्या बड़ी संख्याओं में सबसे छोटी और छोटी संख्याओं में सबसे बड़ी समझी गई। दर्शन के क्षेत्र में भी, इस अनेकरूपात्मक जगत् के उद्भव की व्याख्या के लिए तीन 'प्रधान', जिनका संबंध तीन गुणों से है, इकाई के

---

१. हिंदी शब्दसागर।

२. वही तथा अमरकोश, ३।३।४६।

३. एच० डी० वेलंकर—'जयदामन' भूमिका, पृ० १७, (हरितोषमाला, बंबई)।

रूप में स्वीकृत हुए। वैशेषिकों का 'त्र्यणुक' तथा वेदांतियों द्वारा मान्य जीवन की तीन दशाएँ—उत्पत्ति, स्थिति और संहार—भी उल्लेख्य हैं। अनन्तकाल को भूत, वर्त्तमान और भविष्यत् इन तीन वर्गों मे परिधि-बद्ध किया गया। फलित ज्यौतिष के अनुसार नक्षत्रों के तीन गण हैं—देव, मनुष्य और राक्षस। देवताओं में ब्रह्मा, विष्णु और महेश, गुणों में सत्-रज-तम, लोकों में आकाश-धरित्री-पाताल, आदि 'तीन' की लोकप्रियता के परिचायक हैं। पाणिनि के अनुसार भी बहुत्वबोधक सबसे छोटी संख्या 'तीन' है। 'दो' को संस्कृत के वैयाकरण ने द्विवचन कहा है, लघुतम बहुवचन 'तीन' ही है। ग्रीक और लैटिन भाषाओं के छंदोविधान में भी अक्षरों (syllables) के समूह को गणना की इकाई या प्रतिमान (foot) माना गया है, और इस इकाई में अक्षरों की संख्या सामान्यतः तीन ही रखी गई है। आठ गणों के समान ही इसके भी विविध लघुगुरु-क्रम-स्वरूपों का उपयोग हुआ है।[1] अँगरेज़ी छंदों में तीन अक्षरों (syllables) की इकाई या प्रतिमान (foot) भी स्वीकृत हैं, यद्यपि अँगरेज़ी में ग्रीक-लैटिन छंदों के लघुगुरु अक्षरों का स्थान क्रमशः स्वराघात-रहित और स्वराघात-युक्त अक्षरों ने ले लिया है। ऐसी दो इकाइयाँ, जिनका प्रयोग अंगरेजी छंदों में होता है, Anapaest और Dactyl हैं जिनका स्वरूप क्रमशः (‿ ‿ । तथा (। ‿ ‿) है। (‿ -स्वराघातरहित अक्षर; तथा ।=स्वराघातयुक्त अक्षर)[2] अतएव, आश्चर्य की बात नहीं है कि लौकिक संस्कृत-काव्य में छंदों के लक्षण-निरूपण तथा पादगत स्वरूप और परिमाण के निर्देश के लिए तीन वर्णों के समूह को प्रतिमान रूप में स्वीकार किया गया और यह प्रतिमान गण कहलाया, संभवतः इसलिए कि यह छंदःशास्त्रीय गणना में प्रयुक्त लघुतम पादांश था।

वार्णिक गण आठ हैं; क्योंकि तीन वर्णों के समूह के लघुगुरु-क्रम-विपर्यय से आठ भेद संभव हैं।

पिंगल के छंदःशास्त्र में वार्णिक गणों का उपयोग अवश्य हुआ है, किंतु उसमें गणदेवता और उनके शुभाशुभ फलों का कही पता नही है, यद्यपि गायत्री से जगती तक वैदिक छंदों के देवता संकेतित हैं।[3] कालिदास-कृत श्रुतबोध में भी वार्णिक गणों का निर्देश है, किंतु देवता-फलाफलादि नहीं हैं। 'श्रुतबोध' में गण-लक्षण इस प्रकार है—

> आदिमध्यावसानेषु भजसा यान्ति गौरवम्।
> यरता लाघवं यान्ति मनौ तु गुरुलाघवम्॥[4]

क्षेमेंद्र-कृत 'सुवृत्ततिलक' में वार्णिक गणों के लक्षण इन शब्दों में दिये गये हैं—

> त्रिगुरुः प्राग्गुरुर्मध्यगुरुरन्तगुरुस्तथा।
> त्रिलघुः प्राग्लघुर्मध्यलघुरन्तलघुस्तथा॥
> मभजाः सनया रेफतकारौ चेति संज्ञिताः।
> लेयो लघुर्लकारोत्र गकारश्च गुरुर्मतः॥[5]

जयदेव-कृत जयदेवच्छन्दस् में भी वार्णिक गण आये हैं, किंतु देवता-फलाफल की चर्चा नहीं है।

१. **Sainstsbury--Manual of English Prosody; p. 7.**
२. **Raymond Macdonald Alden, Ph. D.—English Verse. p. 24.**
३. पिंगल—छंदःशास्त्र, १।१-८।
४. **कालिदास—श्रुतबोध, ।१।३।**
५. **क्षेमेन्द्र—सुवृत्ततिलक, १।७-८।**

सूत्र यह है—सर्वादि मध्यान्तवलौ त्रिकौ, म्नौ भ्यौ ज्रौ स्तौ[1] जयकीर्त्ति के छंदोनुशासन में वार्णिक गणों के निर्देश[2] के साथ देवतादि की चर्चा इस प्रकार है—

सर्वगुरुर्मगणः क्षितिरादिलघुर्यः पयोगणो ज्ञेयः।
मध्यलघूरोऽग्निः स्यादन्तगुरुः सो मरुन्नाम्ना॥
अन्तलघुस्तगणः खं मध्यगुरुर्जगण उच्यते सूर्यः।
आदि गुरुर्भश्चन्द्रः सर्वल्नः स्वस्त्रिकाः सर्वेऽपि॥[3]

तदनुसार गणस्वरूप, संज्ञा और देवता इस प्रकार हुए—

गणस्वरूप	संज्ञा	देवता
SSS	मगण	क्षिति
ISS	यगण	पय
SIS	रगण	अग्नि
IIS	सगण	मरुत्
SSI	तगण	ख (गगन)
ISI	जगण	सूर्य
SII	भगण	चंद्र
III	नगण	स्वः (धन—कुबेर)

जयकीर्त्ति ने गणों के शुभाशुभ फल की चर्चा नहीं की है। जयकीर्त्ति का काल १००० ई० के आसपास माना जा सकता है।[4]

जयकीर्त्ति के बाद, हेमचंद्र ने, जिसका जन्म सं० ११४५ वि० में हुआ, और जिसने छंदोऽनुशासन की रचना सं० ११९९ वि० के लगभग की थी,[5] अपने छंदोग्रंथ में वार्णिक गणों का उल्लेख किया है, किन्तु उनके देवता-फलाफलादि की चर्चा नहीं की।[6]

नारदीय पुराण में वार्णिक गणों की संक्षिप्त चर्चा है, किंतु वहां भी देवता फलाफलादि नहीं हैं। प्राकृतपैंगलम् में वार्णिक गणलक्षणों के साथ ही उनके देवता तथा शुभाशुभ फलों का उल्लेख भी है। इस ग्रंथ के अनुसार विविध गणस्वरूप, देवतादि इस प्रकार हैं—

गणस्वरूप	गणसंज्ञा	देवता		फलाफल
III	नगण	जल	मित्र	वृद्धि
SSS	मगण	पृथ्वी		ऋद्धि
ISS	यगण	अग्नि	भृत्य	सुख-सम्पदा
SII	भगण	काल		मंगल
SIS	रगण	सूर्य	शत्रु	मरण
IIS	सगण	चंद्रमा		प्रवास

---

१. जयदेव—जयदेवच्छन्दस्, १।२।
२. जयकीर्त्ति—छंदोऽनुशासन, १।६।
३. वही, १।७-८।
४. एच० डी० वेलंकर—जयदामन् (भूमिका)। पृ० ३७।
५. वही (भूमिका) पृ० ४६।
६. हेमचंद्र—छन्दोऽनुशासन १।१।

ऽऽ।	तगण	नाग	उदासीन { शून्य
।ऽ।	जगण	गगन	उद्वेग[1]

प्राकृतपैंगलम् का रचनाकाल कीथ ने १४वीं शती माना है।[2] बिबलियोथिका इंडिका सीरीज़ में प्रकाशित इस ग्रंथ के संपादक ने स्वीकार किया है कि प्राकृतपैंगलम् की रचना १५वी शती तक अवश्य हो गई होगी।[3]

अतएव, जहाँ गणदेवता की धारणा १०वीं शताब्दी तक उद्भूत हो चुकी थी, वहाँ गणों के शुभाशुभ फल की धारणा की उद्भूति १४वी शती तक हुई जान पड़ती है। जयकीर्त्ति और प्राकृतपैंगलम् द्वारा निर्दिष्ट देवताओं की सूचियो में कुछ अंतर है। इससे यह भी अनुमान किया जा सकता है कि उस बीच के युग में (१०००–१४०० ई०) गणों के देवता तथा फलाफलविषयक धारणा आकार ग्रहण करने के क्रम में होगी। हो सकता है, गण-विधान में इन अलौकिक तत्त्वों के समावेश में उस वातावरण का भी हाथ हो, जो बौद्ध, वैष्णव, शैव, शाक्त आदि धार्मिक आंदोलनों के फलस्वरूप समस्त भारत में निर्मित हो चुका था और जिसके प्रभाव मे जीवन और जगत् की प्रत्यंक वस्तु पर पुराणोन्मुख आध्यात्मिकता का रंग चढ़ाने की प्रवृत्ति चल पड़ी थी। किंतु वैदिक छंदों के देवतादि का निर्देश पिंगल-कृत छंदःशास्त्र में भी होने के कारण अनुमान यह होता है कि गणविधान में देवतादिविषयक तत्त्व स्वतः लोकजीवन के बीच उद्भूत न होकर वैदिक-पौराणिक परंपरा का ही प्रतिफलन है।

मात्रिक गण—वार्णिक गणों के अतिरिक्त मात्रिक गणों का उपयोग भी छंदःशास्त्रीय विवेचन में, जहाँ मात्रिक छंदों के नापजोख या लक्षण-निरूपण का प्रसंग आया है, किया गया है। पिंगल के छंदःशास्त्र में भी मात्रिक गणों की चर्चा है। वहाँ चार मात्राओं के समूह को इकाई माना गया है और उसे 'मात्रिक गण' संज्ञा दी गई है।[4] पिंगलाचार्य ने चार मात्राओं के समूह को इकाई माना, वार्णिक गणों की तरह 'तीन' की संख्या ही यहाँ स्वीकृत नहीं हुई, इसका कारण यह है कि वर्ण ऐकमात्रिक भी होते हैं, द्वैमात्रिक भी। अतएव, गण में मात्राओं की संख्या का 'दो' से विभाज्य होना सुविधाजनक था। दो मात्राओं की इकाई छोटी होती, और कहीं-कहीं एक ही वर्ण के बराबर हो जाती। अतः, चार मात्राओं को इकाई मानकर मात्रिक गण संज्ञा दी गई।

श्रुतबोध में मात्रिक छंद आये हैं, किंतु उनके लक्षण-निर्देश पादगत मात्रासंख्या के उल्लेख द्वारा किये गये हैं, मात्रिक गणविधान द्वारा नहीं। मात्रिक गणों का उपयोग श्रुतबोध में नहीं हुआ है। सुवृत्ततिलक में भी मात्रिक गण नहीं आये हैं। जयदेवच्छन्दम् में मात्रिक गणों का उपयोग केवल आर्या छंद के लक्षण के प्रसंग में हुआ है।[5] जयकीर्त्तिकृत छंदोऽनुशासन से मात्रा-गणों की वर्त्तमानता का प्रमाण मिलता है। उल्लेख यह है—

गणबद्धं तथा वृत्तं जातिर्मात्रागणाश्रिता।[6]

---

१. प्राकृतपैंगलम्। पृ० ३९-४३।
२. **Keith—History of Sanskrit Literature, p. 35 (1928 edition).**
३. चंद्रमोहन घोष—प्राकृतपैंगलम्, भूमिका, पृ० ७, बि० इं० सीरीज।
४. पिं० ।४।१२, १३।
५. जय० ४।६।
६. जकी० १।२०।

चातुर्मात्रिक गण-स्वरूपों का निर्देश और उपयोग भी किया गया है।[1] हेमचंद्रकृत छंदोऽनुशासन में मात्रिक गणों की स्पष्ट चर्चा इस प्रकार है—द्वित्रिचतुष्पञ्चषट्कला दतचपषा द्वित्रिपञ्चाष्टत्रयोदशभेदा मात्रागणाः।।[2]

पिंगल के छंदःशास्त्र के बाद हेमचंद्र के इस ग्रंथ में ही मात्रिक गणों के अधिक विकास की सूचना मिलती है। पिंगल, जयदेव, जयकीर्ति आदि ने मात्रिक गण का एक रूप ही—केवल चातुर्मात्रिक रूप स्वीकार किया था। हेमचंद्र के युग तक, ऐसा प्रतीत होता है कि, दो मात्राओं से छः मात्राओं तक के पाँच मात्रिक गण मात्रिक छंदों के लक्षण-निरूपण में उपयोग में आने लगे होंगे, जिन्हें हेमचंद्र ने स्वीकृति दी। यह इस बात का सूचक भी है कि हेमचंद्र के युग के पूर्व से ही मात्रिक छंदों की लोकप्रियता बढ़ने लग गई थी, तभी तो मात्रिक गणों की धारणा और अधिक विकसित हुई। द्रष्टव्य है कि हेमचंद्र ने मात्रिक गणों के विशिष्ट नाम नहीं बताये, वरन् द, त, च, प, ष अक्षरों को क्रमशः द्वित्रिचतुष्पञ्चषट्कला के लिए, प्रतीक रूप में स्वीकार कर लिया। इससे सूचित है कि ये गण इस युग में अभी विकास की प्रक्रिया में ही थे। हेमचंद्र के बाद कविदर्पणकार ने मात्रिक गणों का नामकरण किया है। कविदर्पणकार ने द्वित्रिचतुष्पचषट्कला-गणों के प्रतीक रूप में क्रमशः क, च, ट, त, और प अक्षरों का व्यवहार किया है तथा इन गणों के नाम क्रमशः कगण, चगण, टगण, तगण और पगण रखे हैं।[3] स्पष्ट ही वर्णमालान्तर्गत स्पृष्ट व्यंजन वर्गों के प्रथमाक्षरों के आधार पर यह नामकरण हुआ है। स्मरणीय है कि तगण, जिसे कविदर्पणकार ने पांचमात्रिक गण माना है, पहले से ही वार्णिक गण (ऽऽ।) के रूप में चला आता था। हो सकता है, इस कठिनाई ने बाद में मात्रिक गणों के नाम-परिवर्तन में योग दिया हो; क्योंकि हम कविदर्पण के शीघ्र ही बाद प्राकृतपैंगलम् में मात्रिक गणों के नाम परिवर्तित रूप में देखते हैं। मात्रिक गणों के नाम और लक्षण प्राकृतपैंगलम् में इस प्रकार बताये गये हैं—

> ट ट्ठ ड ढाणह मज्झे
> गणभेओ होंति पंच आक्खरओ।
> छ प च त दा जहसंखं
> छ ऽ पंच च उ त्ति दु क लासु ॥[4]

इसके अनुसार मात्रिक गण तथा उनकी मात्रासंख्याएँ इस प्रकार हैं—

ट गण	—६	मात्राएँ।
ठ गण	—५	मात्राएँ।
ड गण	—४	मात्राएँ।
ढ गण	—३	मात्राएँ।
ण गण	—२	मात्राएँ।

१. जकी० ५।१-२।
२. हे० छं० १।२।
३. नेया मत्ताछंदे दुतिचउपंचछकला गणा पंच।
दुतिपंचअट्ठतेरसभेइल्ल क च ट त प नामा॥
—क० द० १।२।
४. प्रा० पैं० १।१२।

इन गणों के भेद इस प्रकार उक्त हैं—

टगणो तेरह भेओ
भेआ अट्ठाइ होन्ति ठगणस्स।
डगणस्स पंच भेआ
तिअ ढगणे बे बि णगणस्स।।[1]

टगण के ये तेरह भेद हैं—

SSS, IISS, SIIS, SSII, IIIIS, IISII, IIIIII, ISSI, SISI, ISIS, ISIII,[*] IIISI, SIIII

ठगण के ये आठ भेद हैं—

SSI, SIS, ISS, IIIS, IISI, ISII, SIII, IIIII,

डगण के ये पाँच भेद हैं—

SS, IIS, SII, ISI, IIII

ढगण के ये तीन भेद हैं—

SI, IS, III

णगण के ये दो भेद हैं—

S, II

इन विविध भेदों में से प्रत्येक के नाम भी प्राकृतपैंगलम् में निर्दिष्ट हैं। उदाहरण के लिए, षण्मात्रिक गण टगण के विविध भेदों के नाम ये हैं—हरः, शशिः, सूर्यः, शक्रः, शेषः, अहिः, कमलं, ब्रह्मा, कलिः, चन्द्रः, ध्रुवः, धर्मः, शालिकरः।[2] ढगण के विविध भेद हैं—इन्द्रासनं, सूरः, चापः, हीरः, शेखरः, कुसुम, अहिगणः, पापगणः।[3] डगण के भेदों के नाम हैं—

SS	—कर्णः
IIS	—करतलं
ISI	—पयोधरौ
SII	—धुवचरणं
IIII	—विप्रः।[4]

ढगण के तीन भेदों तथा णगण के दो भेदों में से प्रत्येक के अनेक नाम दिये गये हैं।[5] बाद के पद्यों में अन्य गणभेदों के भी अनेक नामों का निर्देश है।[6] मात्रिक गणों के विचार के साथ प्राकृतपैङ्गलम् में भी अलौकिक तत्त्व संबद्ध है, जैसा पहले दिखाया जा चुका है। इससे यह अनुमान होता है कि गणों के देवतादि संबंध की धारणा वैदिक-पौराणिक परंपरा का प्रतिफलन है, वास्तविक लोकजीवन की मौलिक देन यह नहीं। लोक-जीवन की देन यह होती, तो इसका संबंध मात्रिक छंदों के विवेचन के लिए प्रयुक्त मात्रिक गणों से अवश्य दृष्टिगत होता।

---

१. प्रा० पैं० ।१।१३।
२. प्राकृतपैंगलम् ।१।१५।
३. वही ।१।१६।
४. वही ।१।१७।
५. वही ।१।१८-२३।
६. प्राकृतपैंगलम ।१२४-३२।

अध्याय २

हिंदी छंदःशास्त्र का विकास

प्रकरण १

संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश के छंदोलक्षण-ग्रन्थ

छंदःशास्त्र-परंपरा का प्रारंभ

प्रस्तुत अध्याय में संस्कृत-हिंदी की छंदःशास्त्र-परंपरा के प्रारंभ और विकास का अध्ययन तथा मात्रिक छंदों से संबंध रखनेवाले छंदोलक्षण-ग्रंथों का वर्गीकरण-मूल्यांकन अभीष्ट है।

हिंदी छंदःशास्त्र के विकास के सम्यक् मूल्यांकन की दृष्टि से यह अपेक्षित है कि हम छंदःशास्त्र के मूल उद्गम तथा संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश-काल में उसके विकास पर दृष्टि-निक्षेप कर लें।

छंदःशास्त्र का जन्म निश्चय ही छंदों के जन्म के बाद हुआ होगा; क्योंकि किसी कला या विद्या के संबंध में शास्त्र का निर्माण प्रायः सदैव उस कला या विद्या के एक हद तक विकास की अपेक्षा रखता है। भारतीय वाङ्मय में वेद प्राचीनतम उपलब्ध ग्रंथ कहे जाते हैं। वैदिक संहिताओं में छंदोबद्धता है, किंतु उनमें छंदों के शास्त्रीय अध्ययन का उद्योग नहीं दिखाई देता। गायत्री, शक्वरी आदि कुछ छंदों के नाम अवश्य मिलते हैं, जिनसे हम अनुमान कर सकते हैं कि इन छंदों के लक्षण भी अवश्य स्थिर किये गये होंगे; क्योंकि लक्षण के विना नामकरण निरर्थक है। इससे विदित होता है कि वैदिक काल में ही छंदोलक्षण-निरूपण की प्रक्रिया का समारंभ हो चुका था। वैदिक काल में वेदों अथवा धर्म-ग्रंथों में प्रयुक्त छंदों को आध्यात्मिक या रहस्यात्मक महत्त्व दिये जाने की प्रवृत्ति द्वारा छंदों के अध्ययन को निश्चय प्रोत्साहन मिला होगा।[1] 'छंदस्' शब्द का वेदों के अर्थ में प्रयोग[2] भी निरर्थक नहीं। वैदिक काल में छंदों के आध्यात्मिक या अलौकिक महत्त्व के कारण ही शायद छंदःशास्त्र की गणना छः वेदांगों में हुई। मुण्डकोपनिषद् में छंद को भी ऋग्वेदादि के साथ ही अपरा विद्या कहा है—

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः।
शिक्षाकल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दोज्योतिषमिति॥[3]

किंतु, लौकिक काव्य-रचयिताओं के पथ-निर्देश की आवश्यकता के फलस्वरूप छंदःशास्त्र का संबंध उत्तरोत्तर लौकिक छंदों से होता गया।[4] पिंगलाचार्य के पूर्व भी छंदों के विवेचन की प्रवृत्ति कुछ-कुछ ब्राह्मण-ग्रंथों में मिल जाती है। शांखायन श्रौत-सूत्र (७-२७),[5]

---

१. A.B. Keith—A History of Sanskrit Literature, p. 405 (1928 Edition).

२. देखिए—प्रस्तुतप्रबंध का अध्याय १, प्रकरण २।

३. मुण्डकोपनिषद्।

४. A. B. Keith—A Histary of Sanskrit Literature, p. 405.

५. शांखायन, श्रौतसूत्र; अध्याय ७, सूत्र २७, पृ० ८४ (सं० ए० हिलब्रेण्ड, पी-एच० डी०, खण्ड १)।

निदान-सूत्र, ऋक्-प्रातिशाख्य,[1] कात्यायन की ऋग्वेद और यजुर्वेद की अनुक्रमणी में छंदों के अध्ययन की प्रवृत्ति दृष्टिगत है। कात्यायन की अनुक्रमणी में वैदिक छंदों पर स्वतंत्र अध्याय है। इसमे इन चौदह वैदिक छंदों की चर्चा हुई है—गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती, अतिजगती, शक्वरी, अतिशक्वरी, यष्टि, अत्यष्टि, धृति अतिधृति। गायत्री में २४ अक्षर होते हैं। इसमें चार-चार अक्षर बढ़ाते जाने से क्रमशः शेष तेरहों छंद बनते हैं। शुक्ल-यजुः-सर्वानुक्रम-सूत्र मे इन १४ छंदों के अतिरिक्त कृति, प्रकृति, आकृति, विकृति, संस्कृति, अभिकृति और उत्कृति, ये सात छंद और भी आये हैं। ये छंद भी अतिधृति में क्रमशः चार-चार अक्षर जोड़ते जाने से बनते हैं। ऋक्-प्रातिशाख्य में भी इस विषय का विवेचन है। आर्थर मैकडानल का विचार है कि अनुक्रमणी का विवेचन प्रातिशाख्य के विवेचन से अधिक प्राचीन है, यद्यपि कहा गया है कि कुल मिलाकर प्रातिशाख्य अनुक्रमणी से पूर्व की वस्तु है।[2]

श्रौतसूत्र, प्रातिशाख्य, सर्वानुक्रमणी, आरण्यक आदि मे वैदिक छंदों का विचार मिलता अवश्य है, पर ये ग्रंथ छंदःशास्त्र के ग्रंथ नहीं कहे जा सकते; क्योंकि इनमें अन्य विषयों के साथ ही छंदों की चर्चा हुई है। यही बात हम पुराणों के संबंध में भी कह सकते हैं।

पौराणिक साहित्य

अग्निपुराण में भी छंदों का विवेचन 'आग्नेय छंदसार' शीर्षक से हुआ है। किन्तु यह विवेचन पिंगल के आधार पर माना जा सकता है; क्योंकि अग्निपुराण की इस पंक्ति से यही संकेत मिलता है—

छन्दोवक्ष्ये मूलजैस्तैः पिङ्गलोक्तं यथाक्रमम्।

अग्निपुराण में वैदिक और लौकिक दोनों प्रकार के छंदों की चर्चा है। श्लोकों में लक्षण दे दिये गये हैं। उदाहरण नहीं दिये गये। अग्निपुराण में प्रत्ययों पर भी विचार किया गया है, यद्यपि उनका विवेचन सांगोपांग नहीं हो पाया है। अग्निपुराण के काल के संबंध में इतना तो कहा जा ही सकता है कि इसकी रचना पिंगल के बहुत बाद में हुई होगी।[3]

नारदीय पुराण में भी छंदों की चर्चा ५७वें अध्याय में हुई है। प्रथम, दो प्रकार के छंद बताये गये हैं—वैदिक और लौकिक। पुनः वर्ण और मात्रा के भेद से दो और भेद किये गये, फिर म य र स त ज भ न ग ल—इन छन्दःशास्त्र के दशाक्षरों की चर्चा की है तथा मगण, यगण, रगण, सगण, तगण, जगण, भगण, नगण, गुरु तथा लघु के लक्षण बताये गये हैं। तदुपरि पाद और यति तथा सम, विषम और अर्द्धसम वृत्तों के लक्षण कथित हैं। फिर, एक अक्षर से आरंभ कर २६ अक्षरों तक के छंदों का तथा इससे अधिक अक्षरों के दण्डकों का भी उल्लेख है। उक्ता, अत्युक्ता, मध्या, प्रतिष्ठा, सुप्रतिष्ठा, गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती, अतिजगती, शक्वरी, अतिशक्वरी, अष्टि, अत्यष्टि, धृति, अतिधृति, कृति, प्रकृति, आकृति, विकृति, संस्कृति, अतिकृति, तथा उत्कृति छंदों के नाम आये हैं। फिर प्रस्तार, उद्दिष्ट, नष्ट, संख्या आदि प्रत्ययों की चर्चा है।[5]

---

१. ऋक्-प्रातिशाख्य; १६, १७, १८ पटल; बनारस-संस्कृत-सीरीज।
२. आर्थर ए मैकडानेल: ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर, पृ० २६७।
३. चंद्रमोहन घोष—छंदःसार संग्रह, भूमिका, पृ० ७।
४. ए० बी० कीथ: ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर, पृ० ४१६।
५. नारदीय महापुराण, अध्याय ५७।१-२१।

नारदीय पुराण में छंदों के उल्लेख-भर हैं और प्रत्ययों के विवेचन भी अति संक्षिप्त हैं। और, ये बातें भी मौलिक शायद नहीं हैं; क्योंकि नारदीय पुराण का निर्माणकाल निःसंदेह पिङ्गल कृत-'छंदःशास्त्र' के निर्माण-काल के बाद होगा। पौराणिक साहित्य पर लिखनेवाले विद्वानों ने यद्यपि पुराणों की परंपरा का आरंभ अत्यन्त प्राचीन काल से उचित ही माना है—यहाँतक कि कुछ ब्राह्मण-ग्रंथों तथा महाभारत में भी पौराणिक प्रवृत्ति की चर्चा आई है—फिर भी कुछ पुराण अवश्य अपेक्षाकृत बहुत अर्वाचीन हैं और नारदीय पुराण ऐसे ही पुराणों में एक है।[1] अतएव, छंदःशास्त्र के विकास में इसकी देन महत्त्वपूर्ण नहीं कही जा सकती।

भरतमुनिकृत नाट्यशास्त्र

भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' के चौदहवें और पंद्रहवें अध्यायों में छंदों पर विचार किया गया है। किंतु, भरतमुनि के विवेचन का दृष्टिकोण था नाटक की दृष्टि से छंदों का उपयोग। अतएव, वैदिक छंदों का विवेचन नहीं किया गया है। श्लोकों में छंदोलक्षण तथा शृंगाररस और नायिकाओं से संबंध रखनेवाली पंक्तियों के रूप में इन छंदों के क्रमशः उदाहरण दिये गये हैं। भरतमुनि ने प्रत्ययों पर विचार नहीं किया। भरतमुनि का विवेचन स्पष्टतया पिंगल के बाद का कहा जा सकता है। अनुमानतः भरत का समय ई० पू० द्वितीय शतक माना गया है।[2]

पिंगलाचार्यकृत 'छंदःशास्त्र' या पिङ्गलच्छन्दःसूत्रम्

एकमात्र छंदों पर ही विचार करनेवाला प्राचीनतम उपलब्ध ग्रंथ पिंगलाचार्य का 'छंदःशास्त्रम्' अथवा 'पिङ्गलछन्दःसूत्रम्' है। इसमें यद्यपि वैदिक के साथ लौकिक छंदों का विवेचन भी हुआ है, फिर भी, वैदिक छंदों पर कोई पृथक्, स्वतंत्र ग्रंथ न उपलब्ध होने के कारण, इसी ग्रंथ की गणना लोग छः वेदांगों में करते ह।

पिंगलाचार्य के 'छंदःशास्त्रम्' में छंदःशास्त्र का अधिकारपूर्ण और वैज्ञानिक विवेचन अवश्य हुआ है। पाश्चात्य विद्वान् मैकडानल ने लिखा है कि वैदिक काल के बाद के छंदों का अत्यन्त प्रामाणिक विवेचन 'छंदःशास्त्र' में उपलब्ध है। वैदिक छंदों का अध्ययन भी किया गया है। यद्यपि इसे वेदांग कहा गया है, फिर भी यह बहुत बाद की चीज है, जिसका उद्देश्य प्रधानतया बाद के ही छंदों का विवेचन है।[3]

पिंगलाचार्य का समय कीथ के अनुसार २०० ई० पूर्व के लगभग ,माना जा सकता है।[4] परंपरा से पिंगलाचार्य पौराणिक व्यक्ति तथा शेषनाग से अभिन्न माने जाते रहे हैं। हलायुधवृत्तिसहित 'पिङ्गलच्छन्दःसूत्रम्' के आरंभ में ही यह उल्लेख है, जिसमें पिंगल को नाग कहा गया है—

श्रीमत्पिङ्गलनागोक्तच्छन्दःशास्त्रमहोदधौ।
वृत्तानि मौक्तिकानीव कानिचिद्विचिनोम्यहम्॥[5]

'प्राकृतपैङ्गलम्', मुरलीधर कवि भूषणकृत 'छंदोहृदयप्रकाश' तथा भिखारीदासकृत 'छंदोर्णवपिङ्गल'

---

१. मैकडानेल—ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर, पृ० २९९ ३०२।
२. कन्हैयालाल पोद्दार—संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ३९।
३. Arthur A. Macdonell—A History of Sanskrit Literature, p. 267.
४. A. B. Keith—A History of Sanskrit Literature, p. 415.

में पिंगल को शेषनाग से अभिन्न मानते हुए एक मनोरंजक कथा की ओर निर्देश है। इस संबंध में जो कथा कही जाती है, वह इस प्रकार है—

एक बार शेषनाग जलराशि से बाहर निकलकर धरती पर वसन्त के प्रभात की धूप और हवा का आनन्द ले रहे थे। इसी समय भगवान् विष्णु के वाहन और शेषनाग के शत्रु गरुडजी वहाँ आ पहुँचे।[1] अच्छा मौका जान उन्होंने शेषनाग को पकड़ लिया। पहले तो शेषनाग घबराये, किंतु फिर उनकी बुद्धि काम दे गई। उन्होंने गरुडजी से कहा कि इस दुनिया में छंदःशास्त्र के जानकार सिर्फ वही हैं। यदि गरुडजी उन्हें खा जाते हैं, तो दुनिया से छंदःशास्त्र का लोप हो जायगा और फिर कोई भी व्यक्ति उसकी जानकारी नहीं प्राप्त कर सकेगा। गरुडजी से उन्होंने प्रार्थना की कि यदि उन्हें खाना ही है तो खा लें, किंतु इसके पहले उन्हें छंदःशास्त्र के वर्णन का पूरा अवसर दें, जिसमें कम-से-कम गरुडजी छंदःशास्त्र की जानकारी प्राप्त कर लें। गरुडजी इस शर्त्त पर तैयार हो गये कि छंदःशास्त्र का वर्णन समाप्त होते ही शेषनाग भाग खड़े न हों। शेषनाग ने कहा कि वे बिना पूर्वसूचना दिये भागेंगे नहीं। गरुडजी ने उन्हें छोड़ दिया। छंदःशास्त्र का वर्णन शेषनाग ने इतनी सुन्दर रीति से किया कि गरुडजी मन्त्रमुग्ध हो गये। भागने का अच्छा अवसर देख शेषनाग ने चार बार 'भुजङ्गप्रयातः' का उच्चारण किया और जल में कूद पड़े। गरुडजी ने जब यह धोखा देने का आरोप लगाया, तो शेषनाग ने कहा कि वे 'भुजङ्गप्रयात' पद द्वारा इस नाम के छंदविशेष के वर्णन के साथ इसकी सूचना भी दे रहे थे कि वे अब जा रहे हैं।[2] 'छंदोहृदयप्रकाश' में इस संबंध में यह उल्लेख मिलता है—

श्रीवनतासुत को मिल ज्यों लिखि के गनभेद धरा भरि के।
छंद भुजंगप्रयातबखानगमत्त महोदधि कों तरिके।
नष्ट उदिष्ट निमेरु पताकनि मर्क्कटि जालनि कों धरिके।
भूषण सोइ जगे जग में कवि पिङ्गल मंगल कों करिके।।

भिखारीदास ने इस प्रसंग का उल्लेख इस प्रकार किया है—

श्री विनतासुत देखि परम पटुता जिन्ह कीन्हेउ।
छन्दभेद प्रस्तार वरणि बातनि मन लीन्हेउ।।
नष्टोदिष्टनि आदि रीति बहुबिधि जिन भाख्यो।
जैवो चलत जनाय प्रथम वाचापन राख्यो।।
जो छंद भुजंगप्रयात कहि जात भयो जहं थल अभय।
तिहि पिङ्गल नाग नरेश की सदा जयति जय जयतिजय।।[3]

शुक्ल यजुर्वेद के शतपथब्राह्मण में किसी पैंग ऋषि का उल्लेख है। इसीके वंश में यास्क पैंगी का जन्म हुआ। संभवतः, पिंगलाचार्य का जन्म भी इसी वंश में हुआ हो, ऐसा वेबर ने अनुमान किया है।[4] जो भी हो, इतना तो कहा ही जा सकता है कि पिंगल का समय काफी प्राचीन है; क्योंकि उन्होंने वे ही छंद अपने ग्रंथ में लिये हैं, जो

---

१. प्राकृतपैंगलम् (मंगलाचरण)
२. मुरलीधरकवि भूषण—छंदोहृदयप्रकाश (हस्तलिपि, १६६६ ई०)।
(दे० इस प्रबंध का अध्याय २, प्रकरण २)
३. छंदोर्णवपिंगल (मंगलाचरण) पृ० १-२।
४. वेबर का भारतीय वाङ्मय का इतिहास, पृ० ४६।

पर्याप्त प्राचीन है। प्रथम शतक ई० पू० के लगभग लौकिक छंदों का जितना विकास हो चुका था, उसका परिचय पिंगल के ग्रंथ से नहीं मिलता। सूत्रशैली में रचना भी ग्रंथ की प्राचीनता का द्योतक है। भरतकृत नाट्यशास्त्र से तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि पिंगल का विवेचन भरत के विवेचन से अधिक प्राचीन है; अतएव पिगल का काल द्वितीय शताब्दी ई० पू० के पूर्व मानना अनुचित न होगा। कोलब्रुक ने पिंगल और पतंजलि को एक ही व्यक्ति माना है और कहा है, पिंगल ने ही पतंजलि के नाम से पाणिनि के व्याकरण पर भाष्य और योगानुशासन की रचना की। किंतु, ऐसा मानने के पक्ष में पर्याप्त कारण नहीं। जो भी हो, इतना तो असन्दिग्ध है कि पिंगल के ग्रंथ का समय अत्यन्त प्राचीन है।

पिंगल के 'छंदःशास्त्र' का विवेच्य विषय आठ अध्यायों में विभक्त हैं। प्रथम अध्याय में म य र स त ज भ न ग और ल—इन छंदः-शास्त्र के दशाक्षरों का वर्णन, गण-विचार तथा गुरुलघु-लक्षण दिये गये हैं। द्वितीय अध्याय में गायत्री तथा अन्य छंदों का विवेचन तथा उनके विविध भेदों के उल्लेख हैं। तृतीय अध्याय में छंदःपाद-विचार है। एक पाद में प्रयुक्त विभिन्न छंदों की अक्षर-संख्याओं का निर्देश है। गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, जगती आदि छंदों के पाद-लक्षण दिये गये हैं।

गायत्री आदि सात प्रकार के छंदों के सात देवताओं (अग्निः सवितासोमोबृहस्पतिर्मित्रा-वरुणाविन्द्रोविश्वदेवादेवताः),[1] सप्तस्वर (षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत, और निषाद),[2] सात वर्णों (सितसारंगपिशंगकृष्णनीललोहितगौरा वर्णाः)[3] तथा सात गोत्रों (अग्निवेश्य, काश्यप, गौतम, अंगिरस, भार्गव, कौशिक, और वसिष्ठ,)[4] का उल्लेख तृतीय अध्याय के अंतिम सूत्रों में हुआ है।

चतुर्थ अध्याय में सात श्लोकों में उत्कृति आदि वैदिक छंदों की चर्चा के पश्चात् आठवें श्लोक से लौकिक, अर्थात् लोक के बीच प्रयुक्त आर्या, वैतालीय तथा मात्रासमक का सभेद विवेचन है। अंत में चूलिका छंद की चर्चा है। ये छंद मात्रिक हैं और इनके लक्षण-निर्देश के लिए या तो चातुर्मात्रिक गण का प्रयोग हुआ है या नहीं तो मात्रासंख्या, लघुगुरु-निर्देश आदि का सहारा लिया गया है। किंतु द्रष्टव्य है कि इस प्रसंग में 'मात्रा'' शब्द का प्रयोग न कर पिंगल एक मात्रा के लिये 'ल' का प्रयोग करते हैं। यहाँ 'ल का अर्थ 'एक मात्रा' है, लघुवर्ण नहीं। पूरे ग्रंथ में मात्रिक छंदों की चर्चा चतुर्थ अध्याय के इन्हीं ४५ सूत्रों में है।[5]

पंचम अध्याय में सम, अर्द्धसम और विषम वृत्तों के लक्षण और समानी या नराच, वितान, पथ्या, चपला, विपुला, आपीड, प्रत्यापीड, मंजरी, लवली, अमृतधारा, उद्गता, सौरभक, ललित, उपस्थित, प्रचुपित, शुद्धविराड्ऋषभ, द्रुतमध्या, वेगवती, भद्रविराट्, केतुमती, आख्यानिकी, विपरीताख्यानिकी, हरिणप्लुता, अपरवक्त्र, पुष्पिताग्रा, यवमती, शिखा, खञ्जा, आदि वृत्तों के लक्षण वर्णित हैं।

षष्ठ अध्याय में तनुमध्या, कुमारललिता, माणवकाक्रीडितक, चित्रपदा, विद्युन्माला, हंसरुत, भुजंगशिशुभृता, हलमुखी, शुद्धविराट्, पणव, रुक्मवती, मयूरसारिणी, मत्ता, उपस्थिता

---

१. पिं० ३।६३। (अग्नि, सविता, सोम, बृहस्पति, मित्र-वरुण, इन्द्र, विश्वदेव)।
२. पिं० ३।६४।
३. पिं० ३।६५। (सफेद, चितकबरा, पीला, काला, नीला, लोहित, गौर)।
४. पिं० ३।६६।
५. पिं० ४।८-५३।

इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, दोधक, शालिनी, वातोर्म्मी, भ्रमरविलसिता, रथोद्धता, स्वागता, वृंता, श्येनी, विलासिनी, वंशस्थ, द्रुतविलम्बित, तोटक, पुट, जलोद्धतगति, कुसुम-विचित्रा, तत, चंचलाक्षिका, भुजंगप्रयात, स्रग्विणी, प्रमिताक्षरा, कान्तोत्पीडा, वैश्वदेवी, वाहिनी और नवमालिनी नामक छंदों के लक्षण आये हैं।

सप्तम अध्याय में प्रहर्षिणी, रुचिरा, मत्तमयूर, गौरी, असम्बाधा, अपराजिता, प्रहरण-कलिका, वसन्ततिलका, उद्धर्षिणी, चन्द्रावर्त्ता, माला, मणिगुणनिकर, मालिनी, ऋषिगणविलसित, हरिणी, पृथ्वी, वंशपत्रपतित, मन्दाक्रान्ता, शिखरिणी, कुसुमितलतावेल्लिता, शार्दूलविक्रीडित, सुवदना, वृत्त, स्रग्धरा, भद्रक, अश्वललित, मत्ताक्रीडा, तन्वी, क्रौञ्चपदा, भुजंगविजृम्भित, अपवाहक आदि छंदों के तथा दण्डकों के लक्षण दिये गये हैं।

अष्टम अध्याय में कुड्मलदती, वरतनु, जलधरमाला, गौरी, ललना, कनकप्रभा, कुटिल-गति, वरसुन्दरी, कुटिला, शैलशिखा, वरयुवती, अनिशागिनी, अवितथ, कोकिलक, विबुधप्रिया, नाराचक, विस्मिता, शशिवदना आदि छंदों के लक्षण दिये हैं। पुन प्रस्तार-निरूपण, संख्या जानने की विधि आदि बातें दी गई हैं।

'पिंगलच्छंदःसूत्रम्' संस्कृत छंद शास्त्र का प्रथम उपलब्ध विस्तृत और सुशृंखल ग्रंथ है। अतएव उसके विभिन्न अध्यायों के वक्तव्य विषय को ध्यान में रखना छंद.शास्त्र के विकास के अध्ययन की दृष्टि से उपादेय सिद्ध होगा।

अष्टम अध्याय, ऐसा प्रतीत होता है, स्वयं पिंगलाचार्य द्वारा लिखित नहीं है, वरन् पीछे से जोड़ दिया गया है; क्योंकि गाथा उन छंदों को कहा गया है, जो छंदःशास्त्र में वर्णित नहीं, पर काव्य में प्रयुक्त देखे गये हैं—

'अत्रानुक्तं गाथा।'[1]

इस ग्रंथ की चौदह टीकाएँ हैं। भट्टहलायुधकृत 'मृतसंजीवनी' टीका सर्वाधिक प्राचीन और महत्त्वपूर्ण है। इन टीकाओं के अतिरिक्त इस ग्रंथ पर 'पिंगलवार्तिक' भी लिखा गया है।

संस्कृत-भाषा में निबद्ध पिंगल के 'छंदःशास्त्रम्' में छंदो-लक्षण-निरूपण के लिए सूत्र-शैली का उपयोग हुआ है। छंदों के सूत्रगत लक्षणमात्र दिये गये हैं, उदाहरण नहीं दिये गये हैं। वर्णवृत्त के लक्षणों में वार्णिक गण का उपयोग हुआ है, जिनके निर्देश के लिए छंदःशास्त्रीय दशाक्षर (य म त र ज भ न स ल ग) प्रयुक्त हुए हैं। मात्रिक छंदों में आर्या-लक्षण-सिद्धि के लिए केवल चातुर्मात्रिक गण प्रयोग में आये हैं, अन्य मात्रिक गणों को पिंगल ने स्वीकृति नहीं दी। वर्णवृत्तों का वर्गीकरण सम, अर्द्धसम और विषम रूप में तथा मात्रिक छंदों का आर्या, वैतालीय और मात्रासमक प्रकरणों के अंतर्गत द्रष्टव्य है।

मात्रिक छंदों के विकास की दृष्टि से भी प्रस्तुत ग्रंथ का महत्त्व कम नहीं; क्योंकि आर्या, वैतालीय तथा मात्रासमक वर्ग के छंदों का सभेद लक्षणनिर्देश इस ग्रंथ में पहली बार हुआ प्रतीत होता है। इस प्रकार, मात्रिक छंदों की चर्चा करनेवाला प्राचीनतम ग्रंथ पिंगल का 'छंदःशास्त्रम्' है।

छंदःशास्त्रीय विवेचन के प्रसंग में 'पिंगल' एक व्यक्ति का नाम न रहकर 'छंदशास्त्र' का पर्यायवाची बन गया है। आगे चलकर प्राकृत में जब लोकप्रचलित छंदों के विवेचन

---

१. पिं० ८।१।

के लिए एक बृहत् लक्षणग्रंथ की रचना हुई, तब उसका नाम भी 'प्राकृतपैंगलम्' या 'प्राकृतपिंगलसूत्राणि' रखा गया। इस बात से भी छंदःशास्त्र-परंपरा के बीच उसके आदि आचार्य कहे जानेवाले पिंगल का महत्त्व अधोरेखांकित हो जाता है।

कालिदास-कृत श्रुतबोध

संस्कृत-भाषा में रचित इस छंदोग्रंथ के रचयिता, कहा जाता है, कालिदास हैं। कुछ लोग वररुचि को भी इसका लेखक मानते हैं।[1] यदि कालिदास वररुचि से अभिन्न भी माने जायँ, तो भी संस्कृत-साहित्य के इतिहास-लेखकों ने नौ कालिदासों का उल्लेख किया है। श्रुतबोध के लेखक इनमें से तीसरे कालिदास कहे गये हैं।[2] कालिदास की तिथि के संबंध में प्राच्य तथा पाश्चात्य विद्वानो के बीच बहुत मतभेद है। कीथ ने कालिदास का समय चौथी-पाँचवीं शताब्दी माना है।[3] मैकडानेल का भी यही मत है।[4]

'श्रुतबोध' की प्रतियाँ मुद्रित रूप में सर्वसुलभ हैं।[5] इस छोटी-सी पुस्तक में लघु-गुरु-लक्षण और गणलक्षण के पश्चात् ही छंदों के लक्षण-उदाहरण आरंभ हो जाते हैं। इसमें आर्या, गीति, उपगीति, अक्षरपंक्ति, शशिवदना, मदलेखा, अनुष्टुप्, पद्य, माणवकाक्रीड, नगस्वरूपिणी, विद्युन्माला, चम्पकमाला, मणिबन्ध, शालिनी, मन्दाक्रान्ता, हंसी, दोधक, इन्द्र-वज्रा उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, आख्यानकी, रथोद्धता, स्वागता, वैश्वदेवी, तोटक, प्रमिताक्षरा, भुजंगप्रयात, द्रुतविलंबित, हरिणीप्लुता, वंशस्थ, इन्द्रवंशा, प्रभावती, प्रहर्षिणी, वसन्ततिलका, मालिनी, हरिणी, शिखरिणी, पृथ्वी, शार्दूलविक्रीड़ित और स्रग्धरा छंद आये हैं। इस ग्रंथ में कुल ४३ श्लोक हैं।

इस ग्रंथ की १० टीकाएँ हैं, जिनमें मनोहरशर्मा की सुबोधिनी टीका प्रसिद्ध है।

पुस्तक की विवेचना-शैली अत्यन्त उत्कृष्ट है। छंदों के लक्षण उन्हीं छंदों में दिये गये हैं जिनके वे लक्षण हैं। उदाहरण अलग से नहीं दिये गये। इस प्रकार, लक्षण और उदाहरण के एकीकरण द्वारा अध्येता की स्मरणशक्ति को सहारा दिया गया है। पिंगला-चार्य के ग्रंथ में ऐसा नहीं है। 'श्रुतबोध' अध्यायों में विभक्त नहीं है; एक-एक कर छंदों का विवेचन हुआ है, मात्रिक छंदों में केवल आर्या और उसके भेद आये हैं। लेखक ने इसका संकेत किया है कि एक छंद से दूसरा छंद किस प्रकार उदभूत हो जाता है। जैसे, गुरुवर्ण के बदले लघु के प्रयोग से इन्द्रवज्रा छंद, उपेन्द्रवज्रा छंद बन जाता है। इस दृष्टि से समानता रखनेवाले छंद एक साथ रखे गये हैं। इस प्रकार, छंदों के परस्पर संबंध पर इस दृष्टि से इस ग्रंथ मे प्रथम बार विचार-संकेत मिलते हैं। कवियों ने किस

---

१. ए० बी० कीथ: हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर, पृ० ४१६।
२. एम० कृष्णमाचारियर: क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर; पृ० ९०८।
३. कीथ: क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, पृ० ३२।
४. आर्थर ए० मैकडानेल: ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर, पृ० ३२५।
५. इसकी निम्नलिखित प्रतियाँ हमारे सामने हैं—
   (क) गंगाविष्णु श्री कृष्णदास द्वारा लक्ष्मी-वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बंबई से सं० १९८८ में प्रकाशित। सान्वयभाषाटीका समेत।
   (ख) खेमराज श्रीकृष्णदास द्वारा श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई से सं० १९९३ में प्रकाशित संस्कृतव्याख्यासहित।

प्रकार नये छंदों की उद्भावना की होगी, इसका संकेत इस ग्रंथ में वर्त्तमान है। कवियों ने प्रस्तारविधि से कृत्रिम छंदोवृद्धि नहीं की होगी, वरन् लय-साम्य के आधार पर लघुगुरु वर्णों के यत्किंचित् परिवर्त्तन द्वारा ही नवीन छंदों की उद्भावना की होगी, यह कालिदास के विवेचन से स्पष्ट है।[1]

इस ग्रंथ में तीन मौलिक बाते महत्त्व रखती हैं—

(१) छंदों के लक्षण उन्ही छंदों मे दिये गये हैं, जिनके वे लक्षण हैं, जिससे लक्षण और उदाहरण का एकीकरण हो गया है।

(२) कवियों द्वारा नवीन छंदों की उद्भावना-विधि का संकेत इसमे मिलता है।

(३) इसमें छंदों के लक्षण गणों के कथनमात्र द्वारा नही, वरन् गुरुलघु-विचार द्वारा निरूपित हैं।

वराहमिहिर की बृहत्संहिता—के चौदहवे अध्याय मे ग्रह-नक्षत्रों की गतिविधि और छंदों का एक साथ वर्णन किया गया है।[2] भट्टोत्पल ने भी वराहमिहिर द्वारा रचे गये एक छंदोग्रंथ का उल्लेख किया है।[3] यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि दण्डी ने भी छंद पर एक पुस्तक लिखी थी, पर सम्भवतः भामह ने एक छंदोग्रंथ लिखा था।[4]

जयदेवकृत 'जयदेवच्छंदस्'[5]

जयदेव का समय निश्चय ही ९०० ई० के (अथवा संभवतः ६०० ई० के) पूर्व माना जा सकता है। कारण यह कि भट्टहलायुध (१०वी शताब्दी का उत्तरार्द्ध) ने उसकी आलोचना 'पिङ्गलछंदःसूत्रम्' की टीका में की है (पिं० १।१०; ५।८)। अभिनवगुप्त (१०वीं शताब्दी) ने भी जयदेव मे उद्धरण दिया है।[6] इनके अतिरिक्त अन्य प्रमाणों से भी जयदेव का काल ९०० ई० के पूर्व निश्चित होता है।[7] संभवतः वह जैन लेखक था और शायद इसीलिए केदारभट्ट से पुराना और अधिक व्यवस्थित ढंग का लेखक होते हुए भी वह वैदिक धर्मावलम्बियों के बीच विशेष लोकप्रिय न हो सका। इस जयदेव को गीत-गोविन्दकार जयदेव से, जो १२वीं शती में हुए,[8] भिन्न समझना चाहिए। यों, जयदेव नाम के पंद्रह विद्वानों का पता चला है। १३वी शती के एक जयदेव ने 'प्रसन्नराघव' और 'चंद्रालोक' नामक ग्रंथों की रचना की थी। जयदेवमिश्र नाम के एक प्रसिद्ध नैयायिक भी हो चुके हैं।[9] जयदेव ने अपना छंदोग्रंथ संस्कृत भाषा में, पिंगल के आदर्श पर लिखा, ऐसा प्रतीत होता है। पिंगल की ही तरह जयदेव ने अपने ग्रंथ के आठ अध्यायों में प्रथम तीन अध्यायों में वैदिक छंदों पर विचार किया है। यद्यपि जयदेव के काल में

---

१. जा० ना० सिं० पृ० ७।

२. कीथ: ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर, पृ० ४१६।

३. वही।

४. वही।

५. "जयदामन" के अंतर्गत एच० डी० वेलंकर द्वारा संपादित तथा हरितोष-समिति, बंबई से प्रकाशित। १९४९ ई०।

६. भरत: नाट्यसूत्र (१४।८३-८४। गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज) पृ० २४४।

७. एच० डी० वेलंकर—जयदामन, (भूमिका) पृ० ३३।

८. जोशी और भारद्वाज—संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० १७९।

९. वही, पृ० ५०२-३।

लौकिक वर्णवृत्तों का प्राधान्य हो गया था, किंतु फिर भी वैदिक छंदों का प्रभाव बाकी था। यह कालिदास द्वारा एक स्थल पर[1] वैदिक छंद के प्रयोग से विदित है। जयदेव ने अध्यायों का आरंभ ही नहीं, उनकी समाप्ति भी पिंगल की तरह की है। वैदिक छंदों के लक्षण सूत्ररूप में ही दिये गये हैं। लौकिक छंदों के निरूपण की शैली पिंगल से भिन्न है। उसने लक्षण-लक्ष्य शैली में इन छंदों की चर्चा की है; अर्थात् छंदों के लक्षण उन्हीं छंदों के पाद में बताये गये हैं, जिनके वे लक्षण हैं, जिसके परिणामस्वरूप लक्षण उदाहरण का काम भी देते हैं। इस शैली का अवलंबन जयदेव के परवर्त्ती कई छंदोलक्षणकारों ने भी किया है। इस दृष्टि से संस्कृत में केदारभट्ट तथा हिंदी में छंदोहृदयप्रकाशकार[2] मुरलीधर कवि भूषण तथा छंदःप्रभाकरकार भानु उल्लेख्य हैं।

'जयदेवछंदस्' का प्रकाशन तालपत्र पर लिखित हस्तलिपि के आधार पर हुआ है। इस हस्तलिपि के दो भाग हैं। प्रथम में १० पृष्ठ हैं, जिनमें जयदेवच्छंदस् का पाठ है। द्वितीय भाग में जयदेवच्छंदस् की हर्ष-विरचित विवृति है, जो पृथक् रूप से अंकित पृ० १-४४ तक है।[3] हस्तलिपि के प्रथम भाग पर तिथि सं० ११९० दी गई है और द्वितीय भाग पर सं० ११९२। हस्तलिपि जेसलमेर-भण्डार में सुरक्षित है।[4]

जयदेवच्छंदस् के आठ अध्यायों में से प्रत्येक के वर्ण्य-विषय का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है।

प्रथम अध्याय में मंगलाचरणोपरात ८ सूत्र हैं, जिनमें अष्टगणादि विचार है। द्वितीय अध्याय के छः सूत्रों तथा तृतीय अध्याय के ३३ सूत्रों में वैदिक छंदोविचार हैं। चतुर्थ अध्याय में लौकिक छंद आये हैं। मात्रिक छंदों में आर्या तथा उसके भेद[5] (विपुला, चपला, मुखचपला, जघनचपला, गीति, उपगीति, उद्गीति, आर्यागीति, आदि), वैतालीय तथा उसके भेद[6] (औपच्छंदसिक, आपातलिका, प्राच्यवृत्ति, उदीच्यवृत्ति, प्रवृत्तक, अपरांतिका, चारुहासिनी, अचलधृति[7]), मात्रासमक तथा उसके भेद[8] (उपचित्रा, विश्लोक, वानवासिका, चित्रा, पादाकुलक, अनंगक्रीड़ा[9]), तथा अतिरुचिरा हैं।[10] पंचम, षष्ठ और सप्तम अध्यायों में वर्णवृत्तविचार है, तथा अष्टम अध्याय का संबंध प्रस्तारादि अष्टप्रत्ययों से है। चतुर्थ अध्याय में ३२, पंचम में ३९, षष्ठ में ४६, सप्तम मे ३० तथा अष्टम में १२ सूत्र अथवा पद्य हैं।

---

१. अभिज्ञान शाकुन्तलम्, (४।८)
२. दे० इस प्रबंध का अ० २, प्र० २।
३. इसके अतिरिक्त इस हस्तलिपि के द्वितीय भाग में विरहांक का कविशिष्ट अथवा वृत्तजाति-समुच्चय (पृ० ४६-८९); कविशिष्ट पर गोपाल की टीका (पृ० ९०-१८३); केदार का वृत्तरत्नाकर (केवल पाठ, पृ० १-१५) तथा जयकीर्त्ति का छंदोऽनुशासन (पृ० १-२८) हैं।
४. एच० डी० वेलंकर—जयदामन, भूमिका, पृ० ३६।
५. जय० ४।६-१४।
६. वही ४।१५-२३।
७. इसे पिं० ने 'गीत्यार्या' कहा है। पिं० ४।४८।
८. जय० ४।२४-३०।
९. इसे पिं० ने 'शिखा' (सौम्या) कहा है। पिं० ४।५१।
१०. जय० ।४।३१।

जयदेवच्छंदम् का छंदोविवेचन संस्कृत-परंपरा के अनुकूल है। जयदेव ने मात्रिक छंदों में से पिंगलोक्त छंदों की ही चर्चा की है—ये वे छंद हैं, जो तद्युगीन परिनिष्ठित साहित्य में व्यवहृत होते होंगे और जिनपर पंडित-वर्ग की स्वीकृति की मुहर लग चुकी थी। जयदेव ने उस युग के लोक-काव्य के बीच प्रयुक्त उन असंख्य मात्रिक छंदों की चर्चा नहीं की है, जिनका उल्लेख लगभग समसामयिक लक्षणकार स्वयंभू और विरहांक ने किया है।

फिर भी, जयदेव का छंदोविवेचन, परंपरासिद्ध और अत्यन्त व्यवस्थित होने के कारण, कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

विरहांक-कृत वृत्तजातिसमुच्चय[1]

विरहांक के समय की संभावना संपादक ने ९वीं-१०वीं शताब्दी या इससे पूर्व मानी है। इस ग्रंथ का संपादन दो हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर हुआ है। इनमें एक में केवल मूल पाठ है, दूसरे में केवल टिप्पणी है। टिप्पणी में सं० ११९२ निर्दिष्ट है, जिसे टिप्पणी का रचनाकाल कहा जा सकता है। मूल पाठ का इससे अंतर वेलंकर ने २-३ सौ वर्ष अनुमित किया है।

विरहांक ने पिंगल,[2] भुजंगाधिप,[3] विषधर,[4] वृद्धकवि, सात्वाहण[5] तथा हाल[6] का उल्लेख किया है। प्रथम तीन तो छंदःशास्त्र के आदि आचार्य माने जानेवाले पिंगल हैं। टिप्पणीकार के अनुसार दूसरे और तीसरे दो अन्य नाग हैं।

प्राकृत भाषा में रचित प्रस्तुत ग्रंथ में छह अध्याय हैं, जिनमें चार का ही संपादन-प्रकाशन हुआ है; क्योंकि शेष दो का संबंध प्राकृत छंदों से न होकर संस्कृत छंदों से है तथा इन पर टिप्पणी भी नहीं मिलती और हस्तलेख बहुत ही असन्तोषजनक है। अध्यायों को 'णिअम' (नियम) कहा गया है।

इन चार अध्यायों में प्रथम में उन मात्रिक छंदों के नाम गिनाये गये हैं, जिनका विवेचन प्रथम चार अध्यायों में हुआ है। फिर, अंतिम दो अध्यायों के विषयोल्लेख हैं। तदुपरि लघुगुरु-विचार, चातुर्मात्रिक तथा पांचमात्रिक गणों के भेद, नाम तथा उपयोग का विचार है। इस अध्याय में कुल ३३ पद्य हैं। दूसरे अध्याय की पद्यसंख्या केवल १६ है। प्रथम आठ में गीति, वस्तुक, विदारी, एकक, द्विपथक (हि० दोहा), विस्तरितक, ध्रुवक की रचना द्विपदी की दृष्टि से विवेचित है। अगले आठ पद्यों में ५२ प्रकार के द्विपदी छंदों के नाम बताये गये हैं। तीसरे अध्याय में इन ५२ द्विपदी छंदों के लक्षण दिये गये हैं तथा चौथे अध्याय में शेष मात्रिक छंदों पर विचार है। इस ग्रंथ में छंद के लक्षणवाले पद्य उसी छंद में निबद्ध हैं। उदाहरण अलग से नहीं दिये गये हैं। इन्हें

---

१. **प्रो० वेलंकर द्वारा संपादित और JBBRAS- Vol. V. (1920), में पृ० ३४ पर प्रकाशित।**
२. **वृ० जा० स० ४।१३।**
३. **वही, २।८-९। तथा ३।१२।**
४. **वही, १।२२। तथा २।७।**
५. **वही, २।८-९ । तथा । ३।१२।**
६. **वही, २।८-९।**
७. **वही, ३।१२।**

विरहांक ने प्रायः स्वरचित दिये हैं। केवल तीन पद्यों में[1] पूर्ववर्त्ती गीतकारों की पंक्तियाँ उद्धृत की गई हैं।

प्रस्तुत प्रकाशित संस्करण में ये चार अध्याय ही हैं। मूल पाठ प्राकृत भाषा में है। संपादक ने प्रत्येक पद्य का संस्कृत अनुवाद मूल पद्यो के साथ क्रमशः दिया है। टिप्पणी से बहुत थोड़े उद्धरण दिये गये हैं। संपादक ने अंत मे अपनी टिप्पणी द्वारा कठिन अंशों की व्याख्या तथा महत्त्वपूर्ण लक्षणों की तुलना हेमचंद्र तथा पिंगल (प्रा० पैं०) के लक्षणों मे की है। मूल पाठ में हाशिये में छंदों के नाम तथा उनके आगे उनके संकेतसूत्र (Formula) दिये गये हैं।

मात्रिक छंदों के विवेचन की दृष्टि से इस ग्रंथ का महत्त्व कम नही; क्योंकि पिंगल के बाद मात्रिक छंदों का सर्वाधिक नवीन उल्लेख विरहांक ने अपने इस ग्रंथ में किया है।

वृत्तजातिसमुच्चय में समाविष्ट पिंगल द्वारा अनुल्लिखित मात्रिक छंद ये हैं[2]—सुमना, तारा, ज्योत्स्ना, मनोवती, कौमुदी, प्रगीता, अप्सरा, पद्मिनी, विद्युत्, विनता, सरस्वती, सुप्रभा, विभूति, सुमंगला, चंद्रिका, विजय या प्रभावती, चंद्रकांता, हंसी, पथ्या (४+४+४ ५+लग), रचिता, सौम्या (५+५+४+४+लग), श्यामा, विलासिनी, लक्ष्मी, मेधा, मालती, द्रुता, वनराजि, रत्नमाला, सिद्धि, भद्रा, गंधारी, मालिनी (४ या ५+७+ग), कद्रू, ललिता, विपुला (अ० स०),[3] धवला (अ० स०), सुमुखी (अ० स०), नंदा (अ०-स०), श्वेता (अ० स०), लक्ष्मी से हंसवधू तक गाथा के २६ भेद, स्कंधक और उसके २० भेद, विलासिनी, निर्वापिता, खंजक (अ० स०), आनंदित, क्रीडनक, अधिकाक्षरा, नर्कुटक, रमणीयक, द्विपथक, मागधिका, मात्रा, रड्डा, अडिल्ला, ढोसा (गाथा २), रासक१, रासक२, मालाशीर्षक, अधिकाक्षर शीर्षक, त्रिकलक, दंडक, खंडोद्गता, उद्गता, सम्मुद्रका, ललिता, कुमुदक, उत्फुल्लक, बिंदुतिलक (अ० स०), वीथी, अवलंबक, चतुष्पद, एक्कका, तिलक, खडहडक (=भ्रमरावली+गाथा), शालभंजिका, तल, तालवृत, उद्गीतक, मनोरमा, अंतुल्लक, चंडोद्योतक (अ० स०), रासा, सदानित, विशेष, चक्कलक, कुलक, सपिण्डितगलिता, विश्वला, विच्छित्ति, प्रसृता, ललिता, उद्गता, गलिता, लंबिता, शुभा, कुमुदिनी, नलिनी, मुखगलिता, पदगलिता, विषमगलिता (अ० स०), मालागलित।

इस लम्बी सूची से ध्वनित है कि विरहांक की दृष्टि परिनिष्ठित साहित्य में प्रयुक्त परंपराभुक्त छंदों तक सीमित न रहकर लोक के बीच वास्तविक प्रयोग के आधार पर किंतु अबतक छंदोग्रंथों में अनुल्लिखित छंदों को ढूँढ़कर संचय करने में लगी थी। ऊपर की सूची में ऐसे छंद भी अवश्य हैं, जो बाद में प्रयोग से उठ गये होंगे और इसलिए परवर्त्ती लक्षणकारों ने जिनका उल्लेख नहीं किया है। किंतु, इस सूची में ऐसे छंद भी हैं जो आगे अपभ्रंश और हिंदी के पद्यबद्ध वाङ्मय के दीर्घकालीन सांगीतिक सहचर बन गये। उदाहरण द्विपथक छंद है, जिसका परवर्त्ती रूप 'दोहा' अपभ्रंश और हिंदी के सर्वाधिक लोकप्रिय छंदों में रहा है। दोहा के पूर्वज 'द्विपथक' छंद के प्रथम छंद.शास्त्रीय उल्लेख का श्रेय विरहांक के 'वृत्तजातिसमुच्चय' को है।

अतएव, मात्रिक छंदों की दृष्टि से प्रस्तुत ग्रंथ अत्यंत महत्त्वपूर्ण कहा जायगा।

---

१. वृ० जा० स० ४।४, ३४ तथा ७४-७५।

२. वृ० जा० स० ३।१-५४ तथा ४।१-१०९।

३. अ० स०=अर्द्धसम।

नंदिताढ्यकृत गाथालक्षण[1]

यह ग्रंथ, जैसा नाम से ही विदित होता है, मुख्यतया गाथा छंद से संबद्ध है। गाथा प्राकृत का प्राचीनतम छंद है और जैन तथा बौद्ध आगम ग्रंथों में व्यापक रूप से प्रयुक्त हुआ है। संभवतः, इसी कारण नंदिताढ्य ने गाथा छंद को एक लक्षणग्रंथ का विषय बनाया।

गाथालक्षण में ९६ पद्य हैं, जो अधिकांशतः गाथानिबद्ध हैं। इनमें प्रायः ४९ पद्य उदाहरणों के हैं और शेष में गाथा के विविध भेदों के लक्षण-निरूपण हैं। पद्य-संख्या ६ से १६ तक मुख्य गाथा छंद का विवेचन है। इस विवेचन में विचित्र और असामान्य शब्दावली का प्रयोग हुआ है। जैसे, नंदिताढ्य ने 'शर' शब्द को चतुर्मात्रा का द्योतक माना है, जबकि पिंगल और विरहांक ने पंचकल का। इसी तरह कमल का अर्थ गुरु (ऽ), नमस् का अर्थ (।।।।), घन या मेघ का अर्थ (।ऽ।)—जिसे सामान्यतः नरेन्द्र या पयोधर कहते हैं—माना गया है।

पद्य १७-२० में गाथा के मुख्य भेद पथ्या, विपुला और चपला वर्णित हैं। पद्य २१-२५ में इनके उदाहरण हैं। पद्य २६-३० में गीति, उद्गीति, उपगीति तथा संकीर्ण गाथा उदाहृत हैं। पद्य ३१ में नंदिताढ्य ने अपने भाषा-संबंधी दृष्टिकोण को व्यक्त किया है। पद्य ३२-३७ तक गाथा के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्गों का उल्लेख है। (विप्र में गाथा के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दोनों में गुरु वर्णों का विधान है, क्षत्रिय में पूर्वार्द्ध में सभी गुरु वर्ण और उत्तरार्द्ध में सभी लघु वर्ण निर्दिष्ट हैं, वैश्य में इसका उलटा होता है, और शूद्र में दोनों पादों में सभी लघु वर्ण आते हैं।) अगले कुछ पद्यों में पूर्वोक्त गाथा-भेदों की आवृत्ति है। तदुपरि पद्य ४०-४४ में एक नवीन आधार पर गाथा के २६ भेद कथित हैं। इस भेद-कथन का आधार गाथा में प्रयुक्त लघु-गुरु वर्णों की संख्या है। प्रथम भेद कमला में ३ लघु अनिवार्यतः निर्दिष्ट हैं। अन्य २५ भेदों में क्रमशः एक गुरु के स्थान पर दो लघु बढ़ते जाते हैं। अंतिम भेद में ५७ लघु वर्ण ही प्रयुक्त होते हैं। पद्य ४५-४६ में गाथा में लघु-गुरु-संख्या जानने की रीति तथा पद्य ४७ में गाथा में कुल मात्रासंख्या कथित है। इस पद्य में गाथा का वजन, एक मात्रा को एक कर्ष मानकर, ५७ पल बताया गया है। पद्य ४८-५१ में गाथा की प्रस्तार-संख्या, पद्य ५२ में अन्य छंदों की प्रस्तार-संख्या तथा पद्य ५३-६२ में अन्य गाथा-संबंधी गणित का विचार है।

तदुपरि गाथा के ६ रूपांतरों पर विचार किया गया है। ये हैं गाथ (प्रत्यर्द्ध २७ मात्राएँ), गाथा (३०, २७), विगाथा (२७, ३०), उद्गाथा (३०, ३०), गाथिनी (३०, ३२), तथा स्कंधक (३२, ३२)। संभवतः ये गाथा-भेदों के पुराने नाम हैं और पिंगल द्वारा भी प्रयुक्त हैं। गाथ, विगाथ और उद्गाथ के नये नाम हैं, उपगीति, उद्गीति और गीति, जैसा हेमचंद्र आदि ने प्रयुक्त किया है। गाथा के इन ६ भेदों के लक्षण पद्य ६३-६५ में तथा उदाहरण पद्य ६६-७१ में दिये गये हैं। पद्य ७५ तक गाथा-विचार है। ग्रंथ यहाँ समाप्त हो जाना चाहिये था, किंतु इसके बाद अपभ्रंश में प्रयुक्त कुछ अन्य छंदों के लक्षणोदाहरण भी दिये गये हैं। पद्य ७६-७७ में पद्धति, पद्य ७८-७९ में मदनावतार या चंद्रानन, पद्य ८०-८१ में द्विपदी, पद्य ८२-८३ में वस्तुक या सार्द्धच्छंदम्, पद्य ८४-९४ में दूहा, उसके भेद और रूपांतर तथा पद्य ९५-९६ में श्लोक विवेचित हैं।

पद्य ७६-९६ तक का वर्ण्य विषय नंदिताढ्य का पूर्वलिखित अभीष्ट नहीं था। गाथा

---

१. एच० डी० वेलंकर द्वारा संपादित तथा ABORI—XIV 1932-33 में प्रकाशित।
२. गा० ल० ३१, ६३।

से सर्वथा असंबद्ध पद्धति, द्विपदी, दूहा आदि छंदों पर उन्होंने क्यों विचार किया, समझ में नहीं आता। साथ ही, पद्य ३१ में लेखक ने अपभ्रंश भाषा के प्रति अपनी जो उपेक्षा-भावना व्यक्त की है, उसे देखते हुए अपभ्रंश के छंदों का यह उल्लेख आश्चर्यकर प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त पद्य ७५ तक किसी व्यक्ति को संबोधित कर लक्षणोदाहरण नहीं दिये गये। किंतु पद्य ७८, ७९, ८४ तथा ८६ में प्रिया या पत्नी को संबोधित कर बातें कही गई हैं, जो नंदिताढ्य-जैसे भिक्षु से अपेक्षित नहीं। अतएव, वेलंकर महोदय का यह विचार असंगत नहीं प्रतीत होता कि पद्य ७६-९६ नंदिताढ्य की रचना नहीं, वरन् परवर्त्ती क्षेपक है।

लेखक का नाम दो बार ग्रंथ में आया है।[1] इसका प्राकृत रूप नंदिताढ्ढ है। इसका संस्कृत रूपांतर नंदिताढ्य या नंदिताढ्‌ढ है।[2] इस नाम द्वारा लेखक का अत्यंत प्राचीन होना ध्वनित होता है; क्योंकि अपेक्षाकृत बाद में ऐसे नाम नही रखे जाते थे। नंदिताढ्य जैन संन्यासी थे।[3] अपभ्रंश के प्रति उनकी उपेक्षा-भावना से भी उनके काल का प्राचीन होना व्यंजित होता है।[4]

संभवतः नंदिताढ्य हेमचंद्र के बहुत पूर्व हुए, यद्यपि निश्चय-पूर्वक इस संबंध में किसी विशेष शताब्दी का निर्देश नहीं किया जा सकता।[5] हो सकता है, वे विरहांक के सम-कालीन हों या इनके भी पूर्ववर्त्ती हों।

जो भी हो, गाथा छंद और उसके भेदों तथा रूपांतरों का इस ग्रंथ में जो विवेचन है, वह पिंगल के बाद का होते हुए भी उपयोगी है।

स्वयंभू-कृत स्वयंभूच्छंदस्[6]

प्रस्तुत छंदोग्रंथ के लेखक स्वयंभू को राहुल सांकृत्यायन ने पउमचरिउ (रामायण) के कवि स्वयंभू से अभिन्न माना है और उनका समय सं० ८४७ वि० निर्दिष्ट किया है।[7] राहुल के अनुसार संभवतः स्वयंभू जाति के ब्राह्मण, कवि माउरदेव और पद्मिनी के पुत्र, त्रिभुवन स्वयंभू के पिता तथा हरिवंशपुराण, पउमचरिउ और स्वयंभूच्छंदस् के रचयिता थे।[8] किंतु, वेलंकर ने स्वयंभूच्छंदस् के लेखक स्वयंभू को कवि स्वयंभू से भिन्न माना है, प्रथम को हिंदू नहीं, जैन संन्यासी कहा है तथा उनका समय १०वीं शती अनुमित किया है।[9] वेलंकर अपने मंतव्य की पुष्टि में यह कहते हैं कि स्वयंभू ने महावीर (तीर्थंकर) की प्रशंसा में लिखित

---

१. गा० ल० ३१, ६३।
२. दे० अवचूरि तथा रत्नचंद्र की टिप्पणी।
३. वेलंकर—ABORI; XIV; 1932-33; p. 9.
४. गा० ल० ३१।
५. वेलंकर—ABORI; XIV; 1932-33; p. 10.
६. इस ग्रंथ के प्रथम तीन अध्याय JBBRAS, Vol. 11, '35 में तथा शेष पाँच अध्याय JUB, Vol. V. 1936 में प्रकाशित हैं। इसका संपादन सं० १७२७ वि० में लिखित हस्तलिपि के आधार पर श्रीवेलंकर ने किया है।
७. राहुल—हि० का० धा० पृ० २२।
८. वही।
९. Velanker—Svayambhucchandas by Svayambhu—Introduction; JBERAS, n. S., Vol. II, 1935; p. 28629.

एक पद्य के मात्र प्रथमांश को उद्धृत कर यह कह दिया है कि यह पद्य अति प्रसिद्ध है, अतएव पूरा उद्धरण आवश्यक नहीं; ऐसा एक जैन ही कह सकता है। किंतु, वेलंकर के मत के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि स्वयंभू ने मयूर के सूर्यशतक में जो पद्य उद्धृत किया है,[1] उससे उनका हिंदू होना ध्वनित है। प्रो० हीरालाल जैन ने स्वयम्भूच्छदम् के लेखक स्वयंभू को हरिवंशपुराण और पउमचरिउ के कवि स्वयंभू से अभिन्न माना है।[2] इस संबंध में अंतिम रूप से कुछ भी कहने के पूर्व अधिक प्रमाणों की उपलब्धि अपेक्षित है। व्यावहारिक रूप से अभी हम इतना अवश्य मान सकते हैं कि स्वयंभूच्छंदम् की रचना १०वीं शती तक अवश्य हो चुकी थी।

स्वयंभूच्छंदस् स्पष्ट रूप से अध्यायों में विभक्त नहीं है, किंतु प्रसंग-समाप्ति-निर्देशक पद्यों द्वारा ग्रंथ का आठ अध्यायों में विभक्त होना संकेतित है।[3] प्रथम अध्याय के प्रारंभिक २२ पृष्ठ उपलब्ध नहीं; उपलब्ध अंश में स्वयंभू ने शक्वरी से आरंभ कर उत्कृति तक १३ वर्गों में ६३ वर्ण-वृत्तों का उल्लेख किया है। वर्ण-वृत्तों को हेमचंद्र और विरहांक की तरह अक्षर-संख्या के अनुसार २६ वर्गों में विभाजित करने की परिपाटी का अनुसरण तो स्वयंभू ने किया है, किंतु उनके विपरीत इन छंदों को संस्कृत का छंद न मानकर प्राकृत काव्य से उनके उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। द्वितीय अध्याय में १४ अर्द्धसम वृत्तों का विचार है। तृतीय अध्याय में विषमवृत्तविचार है। चतुर्थ से अष्टम अध्यायों तक अपभ्रंश के छंदों की चर्चा है। चतुर्थ अध्याय में उत्साह, दोहा और उसके भेद, मात्रा-भेद, रड्डा, वदन, उपवदन, मडिला, अडिला, सुदरी, हृदयिनी (हियालिया), धवल तथा मंगल आये हैं; पंचम अध्याय में छः पादों के २४ छंदों की गणना जाति, उपजाति और अवजाति वर्गों के अंतर्गत की गई है। षष्ठ अध्याय में ११८ प्रकार के चतुष्पदी छंदों (११० अर्द्धसम, ८ सर्वसम) और ४० प्रकार के द्विपदी छंदों के लक्षण तथा उनमें से कुछ के उदाहरण दिये गये हैं। सप्तम अध्याय में १० और द्विपदी छंदों के केवल लक्षण कथित हैं। अंतिम (अष्टम) अध्याय में उत्थक्क, मदनावतार, ध्रुवक, ७ छड्डणिका-भेद, ३ घत्ता-भेद, पद्धडिका तथा द्विपदी छंद उल्लिखित हैं। लक्षण सभी के, किंतु उदाहरण कुछ के ही दिये गये हैं।

स्वयंभू के छंदोविवेचन की कुछ विशेषताएँ हैं। प्रथम उन्होंने विरहांक की तरह संस्कृत वर्ण-वृत्तों के लक्षण-निर्देश के लिए भी मात्रागणों का उपयोग किया है। ये दोनों लक्षण-कार वर्ण-गणों से परिचित अवश्य थे, किंतु उन्होंने जान-बूझकर उनकी उपेक्षा की है। विरहांक ने लक्षण-निर्देश के लिए अपने पृथक् पारिभाषिक शब्दों का व्यवहार किया है, जिनका स्पष्टीकरण ग्रंथारंभ में कर दिया है। कविदर्पणकार की भी अपनी परिभाषाएँ हैं। स्वयंभू ने अपनी अलग पारिभाषिक शब्दावली का व्यवहार नहीं किया, किंतु मात्रिक गणों के बोध के लिए कुछ विशेष, स्पष्ट अर्थ-व्यंजक पदों का उपयोग किया है। उदाहरणतः द्विमात्रा के लिए द अथवा दआर, त्रिमात्रा के लिये त, तगण या तआर, चतुर्मात्रा के लिए च, चगण, चआर या चंस, पंचमात्रा के लिए प, पगण, पआर या पंस, तथा

१. स्वयं ।१।१४४।

२. **Dr. H. L. Jain—Svayambhu and his two poems in Apabhramsa; Nagpur University Journal, No. 1., Dec., 1935, p. 75.**

३. **JBBRAS, n.s. Vol. II, 1935, p. 22; and JBBRAS, 1932, p. 3.**

षण्मात्रा के लिए छ, छगण, छआर या छंस पद आये हैं।[1] ल लघु के लिए और ग गुरु के लिए प्रयुक्त हैं। ल के बदले अवक्र या ऋजु (।) तथा ग के बदले वक्र (ऽ) भी विकल्प से प्रयुक्त है।

स्वयंभू ने न केवल संस्कृत वर्णवृत्तों के लक्षणोदाहरण प्राकृत छंदों के रूप मे मात्रागणों के सहारे दिये है, वरन् विरहांक[2] और हेमचंद्र[3] द्वारा सविस्तर उल्लिखित वास्तविक प्राकृत छंदों की सर्वथा उपेक्षा भी की है। इन प्राकृत छंदों में कई विशुद्ध मात्रिक तथा कई अन्य मिश्र मात्रिक छंद हैं।

स्वयंभू ने द्विपदी छंदों को विशेष महत्त्व नही दिया, यद्यपि ये छंद अपभ्रंश-काव्य में लोकप्रिय थे।[4] किंतु, स्वयंभू की सर्वाधिक उल्लेख्य विशेषता यह है कि उन्होंने छंदों के उदाहरण बहुसंख्य प्राकृत-रचनाओं से दिये हैं और साथ ही रचयिताओं का नामोल्लेख भी किया है। इस प्रकार, उन्होंने विभिन्न प्राकृत कवियों के २०६ पद्य उद्धृत किये हैं, जिनमें १२८ संस्कृत-प्राकृत के छंदों के उदाहरण रूप में तथा शेष अपभ्रंश के छंदों के उदाहरण रूप में प्रस्तुत हैं। ५८ पद्यों के सिवा शेष सभी के रचयिता उल्लिखित हुए हैं। ये सभी उदाहरण गीतिकाव्य से लिये गये हैं, जिनमें अधिकांश का संबंध प्रेम या शृंगार से है जिसके वर्णन में लोक-जीवन की ताजगी और रूढ़ि-स्वातंत्र्य है। जिन कवियों से उद्धरण लिये गये हैं, उनमें प्रसिद्ध हैं उद्भट, कालिदास, विषधर (पिंगल) और हाल।

लक्षण-निर्देश-शैली के संबंध में यह भी द्रष्टव्य है कि स्वयंभू ने छंदों के लक्षण प्रायः लक्ष्य छंदों में ही दिये हैं तथा उदाहरण कहीं-कही अलग से भी दिये गये हैं।

ग्रंथ निःसंदेह महत्त्वपूर्ण है।

जयकीर्त्ति-कृत छंदोऽनुशासन[5]

जयकीर्त्ति का समय १००० ई० के लगभग माना जा सकता है।[6] वे कन्नड़-प्रदेश के निवासी दिगंबरजैनमतावलंबी थे।[7]

संस्कृत-भाषा में निबद्ध जयकीर्त्ति का छंदोऽनुशासन पिंगल और जयदेव की परंपरा के अनुसार आठ 'अधिकरों' (=अध्यायो) में विभक्त है। किंतु, इसमें वैदिक छंदों की

---

१. अंश = गण; प्रायः मात्रागण। दे०, वृ० जा० सं० १।१५, १८, २०; गा० ल०। ७, ९, १२।; छं० को० ।५२-५४।
२. वृ० जा० स० अ० ३-४।
३. हे० छं० अ० ४।
४. Velankar—Apabhramsa Metres I, para 27; JUB, Vol. II, 1933.
५. एच० डी० वेलंकर द्वारा संपादित तथा 'जयदामन' (हरितोषमाला १) के अंतर्गत, हरितोष-समिति, बंबई, द्वारा प्रकाशित। (केवल मूल संस्कृत)।
६. वेलंकर—जयदामन (भूमिका), पृ० ३७। (जयकीर्त्ति के समय के लिए दे०—श्री गोविंदपाइ का प्रबंध; प्रबुद्ध कर्नाटक (कन्नड़ त्रैमासिक); खंड २८, अंक ३, जनवरी १९४७)।
७. वही।

चर्चा नही की गई है। कारण, एक तो इसके लेखक जैन थे; दूसरे, वैदिक छंदो के प्रभाव की व्यापकता लगभग इस समय तक समाप्त हो चुकी थी। जयकीर्त्ति, संस्कृत-परिनिष्ठित-परंपरा के लक्षणकार होते हुए भी समय की प्रवृत्ति से प्रभावित हुए बिना न रह सके और इसी का फल है कि वैदिक छंदो की जगह उन्होंने अपभ्रंश के उन मात्रिक छंदों की, जो व्यावहारिक काव्य-प्रयोग के बीच दिनानुदिन अधिक लोकप्रिय होते जा रहे थे, अन्य संस्कृत लक्षणकारों की अपेक्षा अधिक चर्चा की है, यद्यपि ग्रंथ-समाप्ति पर एक श्लोक द्वारा पिंगल-जयदेव की परंपरा को स्वीकृति प्रदान की है।[1]

यह ग्रंथ आद्योपांत पद्यबद्ध है। सामान्य विवेचन (प्रत्ययगणितादि) के लिए अनुष्टुप्, आर्या और स्कंध—इन तीन छंदो का सहारा लिया गया है। किन्तु, छदोलक्षण पूर्णतः या अंशतः उन्ही छंदों में दिये गये हैं, जिनके वे लक्षण हैं। उदाहरण अलग से नही दिये गये। इस प्रकार, इस ग्रंथ में छदोविवेचन लक्षणोदाहरण-तादात्म्यशैली में किया गया है।

आठ अधिकारों में से प्रत्येक का वर्ण्य विषय निम्नोल्लिखित है।

प्रथम अधिकार मे संज्ञावर्णन, द्वितीय अधिकार में उक्ता से लेकर उत्कृति जाति तक के सम वर्णिक छंदो का वर्णन, तृतीय अधिकार में अर्द्धसम वर्ण-वृत्त वर्णन तथा चतुर्थ अधिकार में विषम वर्ण-वृत्त-वर्णन है। पंचम अधिकार मे आर्या तथा मात्रासमक वर्ग के मात्रिक छंद आये हैं। षष्ठ अधिकार में वैतालीय वर्ग के मात्रिक छंदों के अतिरिक्त द्विपदी, अब्जनाल, कामलेखा, उत्सव, महोत्सव तथा रमा नामक छंद और वर्णिक दण्डक आये हैं। सप्तम अधिकार 'कर्णाट विषयभाषा-जात्यधिकार' है, जिसमें कन्नड भाषा के छद निर्दिष्ट हैं। अष्टम अधिकार का संबंध प्रस्तारादि प्रत्ययों से है।

छंदोग्रंथों में अबतक अनुल्लिखित मात्रिक छंदों की दृष्टि से यह ग्रंथ बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है; क्योंकि जयदेव की तरह जयकीर्त्ति की प्रवृत्ति व्यावहारिक लोकप्रयोग के आधार पर छंदोविवेचन की ओर उतनी नही, जितनी परिनिष्ठित परम्परागत छंदोल्लेख की ओर है। फिर भी, जयकीर्त्ति के युग तक कुछ अन्य नये मात्रिक छंदों की लोकप्रियता इतनी अवश्य बढ़ चुकी थी कि परिनिष्ठित परपरा के लक्षणकार भी उनकी उपेक्षा न कर सके। जयकीर्त्ति ने ऐसे बहुत से मात्रिक छंदों का उल्लेख किया है जो जयदेव के ग्रंथ में नही है, किंतु ऐसे छंदों में अधिकांश के प्रथमोल्लेख का गौरव जयकीर्त्ति से विरहांक ने छीन लिया है। फिर भी, संस्कृत के लक्षणकारों में से उनके प्रथम उल्लेख का श्रेय जयकीर्त्ति को ही है। जयकीर्त्ति द्वारा उल्लिखित नवीन, अर्थात् इनके पहले तक अनुल्लिखित, मात्रिक छंद हैं—द्विपदी, अब्जनाल, कामलेखा, उत्सव, महोत्सव, रमा, लयोत्तर।[2] संस्कृत में प्राप्त मात्रिक छंदों में कुछ नये नाम या छन्दोभेदों का भी जयकीर्त्ति ने उल्लेख किया है, जैसे—सर्वचपला,[3] पिंगलपादाकुलक, मागधी आदि।

---

१. माण्डव्यपिङ्गलजनाश्रयसैतवाख्य—

श्रीपाद[illegible] ।

छन्दांसि वीक्ष्य विविधानपि सत्प्रयोगान् ।

छन्दोऽनुशासनमिदं जयकीर्त्तिनोक्तम् ॥ (जय० ।८।१९।)

२. जकी० ६।२८-३२।

३. महाचपला, पिं० ४।२७।; सर्वचपला, जकी० ५।७।

क्षेमेन्द्रकृत सुवृत्ततिलक

'कीथ ने क्षेमेन्द्र का काल हेमचंद्र (१२वीं शती) के पूर्व अथवा ग्यारहवीं शती माना है।[2] मैकडानल के अनुसार क्षेमेन्द्र की 'बृहत्कथामंजरी' की रचना १०३४ ई० में हुई थी।[3] अतः, क्षेमेन्द्र का समय १०वी शती का उत्तरार्द्ध और ११वीं शती का पूर्वार्द्ध माना जाय, तो इसमें अनौचित्य नहीं। सुवृत्ततिलक की रचना का समय यही रहा होगा।

इस ग्रंथ में तीन विन्यास हैं। प्रथम विन्यास में छन्द और उनके लक्षण है। लक्षण श्लोकों में तथा उदाहरण स्वरचित पद्यों में है। छंदों के नाम दो बार आये हैं, एक बार लक्षण में, दूसरी बार उदाहरण में। दूसरे विन्यास में अन्य कवियों से अवतरण है, जिनमें छंदःशास्त्र के नियमों का पूर्णतया पालन नहीं हो पाया है। कालिदास, भवभूति, बाणभट्ट, राजशेखर, श्रीहर्ष आदि की रचनाओं से भी ऐसे अवतरण लिये गये है। छंदों की सूक्ष्म विशेषताओं का जिनसे लय की व्यंजना होती है, वर्णन भी हुआ है। तीसरे विन्यास में छंदों का संबंध काव्यवस्तु, रस आदि से स्थापित करने का प्रयास है। लेखक के विचार में विशेष रसों या प्रसंगों के लिए विशेष छंद ही उपयुक्त और पर्याप्त प्रभावशाली होते हैं। तृतीय विन्यास का यह विवेचन सुवृत्ततिलक की प्रमुख विशेषता है। क्षेमेन्द्र के अनुसार—

शास्त्रं कुर्यात्प्रयत्नेन प्रसन्नार्थमनुष्टुभा।
येन सर्वोपकाराय याति सुस्पष्टसेतुताम्॥[4]

किंतु काव्य में रसों और प्रसंगों के अनुसार छंदो-योजना अपेक्षित है—

काव्ये रसानुसारेण वर्णनानुगुणेन च।
कुर्वन्ति सर्ववृत्तानां विनियोगं विभागवित्॥[5]

पुराण या प्रबंध-काव्य के आरंभ में, उपदेश-प्रधान रचना या कथा-विस्तार में अनुष्टुप् छंद उपयुक्त बताया गया है।[6]

शृंगार, आलम्बन के रूपवर्णन अथवा वसन्तादि वर्णन में उपजाति छंद अधिक समीचीन कहे गये हैं।[7] विभाव-वर्णन के अंतर्गत चन्द्रोदय आदि वर्णन में रथोद्धता, नीति-प्रसंग मे वंशस्थ, वीररौद्रादि रसों में वसन्ततिलका, सर्गान्त में मालिनी, उपपन्न परिच्छेद में शिखरिणी, साक्षेपक्रोधधिक्कार आदि में मन्दाक्रान्ता, राजाओं के शौर्यस्तवन में शार्दूलविक्रीडित, सावेगपवनादि वर्णन में स्रग्धरा छंद निर्दिष्ट है।[8] किंतु साथ ही यह कहा गया है—

१. 'काव्यमाला' के अंतर्गत उसके द्वितीय भाग में अंतर्भुक्त; पं० दुर्गाप्रसाद तथा काशीनाथ पांडुरंग परब द्वारा संपादित एवं निर्णयसागर प्रेस, बंबई से १८९६ ई० में प्रकाशित। पृ० ५४।
२. कीथ : हिस्ट्री आव् संस्कृत लिटरेचर, पृ० ३३, १३५।
३. आर्थर ए० मैकडॉनल—हिस्ट्री आव् संस्कृत लिटरेचर, पृ० ३७६।
४. सुवृत्ततिलक ३।६।,
५. सुवृत्ततिलक ३।७।
६. वही ३।९, १६।,
७. वही ३।१७।,
८. वही ३।१८ से २२ तक।,

वृत्ते यस्य भवेद्यस्मिनभ्यासेन प्रगल्भता।
स तेनैव विशेषेण स्वसन्दर्भं प्रदर्शयेत्।।[२]

विन्यास के अन्त मे बताया गया है कि कुछ बड़े कवियो या पत्रकारो ने विशेष छदो के प्रति ममता दिखाई है। जैसे, पाणिनि ने उपजाति के प्रति, कालिदास ने मन्दाक्रान्ता के प्रति, भारवि ने वशस्थ के प्रति, और भवभूति ने शिखरिणी के प्रति।

सुवृत्ततिलक की एक और विशेषता यह है कि इसमे मात्रिक छद आये ही नही है। उन मात्रिक छदो का उल्लेख भी इस ग्रथ मे नही, जिनका वर्णन पिगल, जयदेव और जयकीर्त्ति ने किया है, जैसे आर्या, गीति, वैतालीय, मात्रासमक आदि। अतएव, मात्रिक छदो के विकास-क्रम के अध्ययन के प्रसग मे इस ग्रथ का महत्त्व उल्लेख्य नही।

हेमचंद्रकृत छंदोऽनुशासन

हेमचद्र का काल १०८८-११७२ ई०, तदनुसार विक्रम-सवत् ११४५-१२२९ माना जाता है।[४] हेमचद्र का जन्म धुदुक नामक स्थान मे, जो गुजरात के अहमदाबाद जिले मे है, विक्रम सं० ११४५ की कार्त्तिक पूर्णिमा को हुआ था। इनके पिता का नाम चच्लिग और माता का पाहिनी था। हेमचद्र के अन्य नाम चागदेव, हेमाचार्य और सोमचद्र थे। अनहिलवाड (पाटन) के राजा जयसिह के भतीजे कुमारपाल के ये आश्रित और गुरु कहे गये है।[५] हेमचद्र श्वेताम्बर जैन तथा पूर्णतल्लीयगच्छ के देवचद्र के शिष्य थे। ये बहुमुखी प्रतिभावाले लेखक और वैज्ञानिक दृष्टि-सम्पन्न आचार्य और शास्त्रप्रणेता थे। त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र तथा योगशास्त्र इनके जैनधर्म-सबंधी ग्रंथ है, कुमारपालचरित्र इनका प्राकृत महाकाव्य है तथा नाममाला, काव्यानुशासन, शब्दानुशासन और छदोऽनुशासन इनके शास्त्र-ग्रथ है। अपनी रचनाओ द्वारा प्राकृत को सस्कृत-जैसा महत्त्व दिलाने के अतिरिक्त उपेक्षिता अपभ्रंश भाषा मे रचना कर इन्होने उसे सहज ही सक्रिय व्यावहारिक उदाहरण द्वारा लोकप्रिय बना दिया।[६] छद.शास्त्र पर उन्होने महत्त्वपूर्ण ग्रथ 'छदोऽनुशासन' लिखा।[७] हेमचद्र ने अपने इस ग्रंथ को, पिगल जयदेव और जयकीर्त्ति की तरह, आठ अध्यायो मे निबद्ध किया है। प्रथम अध्याय भूमिका-मात्र है, द्वितीय और तृतीय अध्यायो मे सस्कृत के वर्णवृत्त तथा चतुर्थ मे वैतालीय और मात्रासमक सभेद वर्णित है, पचम, षष्ठ तथा सप्तम अध्यायों में अपभ्रश के अन्य (मात्रिक) छंदो का विवेचन है, तथा चतुर्थ अध्याय में आर्या या गाथा के सभेद वर्णन के बाद गलितक खजक और शीर्षक छद आये है जो

---

१. वही ३।२७।
२. वही ३।२९ से ३० तक।
३. (क) हरितोषमाला के अंतर्गत 'जयदामन' में अंतर्भुक्त, एच० डी० वेलंकर द्वारा संपादित तथा हरितोष-समिति, बंबई द्वारा १९४९ में प्रकाशित। केवल मूल पाठ।
   (ख) Journal BBRAS-1943-44 में एच०डी० वेलंकर द्वारा अ० ४-७ संपादित। लेखक की अपनी टीका तथा अज्ञात लेखक की अवचूरिका के साथ।
४. कीथ, ए हिस्ट्री आव् संस्कृत लिटरेचर—पृ० १४२।
५. जोशी और भारद्वाज—सं० सा० का इति०, पृ० १७०।
६. एच०डी० वेलंकर—जयदामन् (भूमिका) पृ० ४४-४५।
७. कीथ—ए हिस्ट्री आव् संस्कृत लिटरेचर, पृ० ४१७।

सभी प्राकृत के छद हैं। लघुगुरुप्रयोग मे पूर्ण या आशिक स्वच्छदता इन सभी छंदो में दृष्टिगत है, अतएव ये सभी मात्रिक छद की कोटि मे ही रखे जा सकते हैं।

वैतालीय और मात्रासमक के कुछ नये भेद, जिनका उल्लेख पिगल, जयदेव, विरहाक, जयकीर्त्ति आदि पूर्ववर्त्ती आचार्यो ने नही किया था, हेमचद्र ने प्रस्तुत किये। जैसे—दक्षिणातिका, पश्चिमातिका, उपहासिनी, नटचरण, नृत्तगति। गलितक, खंजक और शीर्षक के क्रमशः जो भेद बताये गये हैं, वे भी शास्त्रोक्ति की दृष्टि से प्राय· नवीन हैं। हेमचद्र के अन्य मात्रिक छदो मे कुछ का उल्लेख वृत्तजातिसमुच्चय मे है, अन्य सर्वथा प्रथम बार शास्त्रोल्लिखित हुए हैं। छंदोऽनुशासन मे सम, अर्द्धसम और विषम छदोभेदो तथा द्विपदी तथा चतुष्पदी के रूप मे छंदोयोजनाओ का निरूपण हुआ है। कुल सात-आठ सौ छदो पर विचार हुआ है। हॉ, दोहा और चौपाई के लक्षण नही आये हैं, यद्यपि उपदोहक और दोहक का नामोल्लेख अवश्य है।[1] अपभ्रश के और भी कई दूसरे छद जो समकालीन अपभ्रश मे प्रचलित थे, इसमे नही मिलते, किंतु वे ही छद 'प्राकृत-पैङ्गलम्' मे समाविष्ट हो गये हैं। स्पष्टतया 'प्राकृत-पैङ्गलम्' परवर्त्ती ग्रथ है।

फिर भी, मात्रिक छदोलक्षण के प्रसग मे हेमचंद्र के 'छदोऽनुशासन' का महत्त्व नवीन मात्रिक छंदो के उल्लेख की दृष्टि से बहुत अधिक है।

केदारभट्ट-कृत वृत्तरत्नाकर[2]

'वृत्तरत्नाकर' का रचनाकाल कीथ ने पन्द्रहवी शती के पूर्व माना है।[3] स्वय ग्रंथ से लेखक के पिता, जाति और वर्ण का पता तो चल जाता है, किंतु रचनाकाल का उसमे कोई निर्देश नही है। केदार का उल्लेख हेमचद्र के छदोऽनुशासन (११५० ई० के लगभग रचित) मे नही है, इसका कारण यह हो सकता है कि केदार की प्रसिद्धि अभी भारत-व्यापी नही हो पाई थी। इस अनुल्लेख से यह नही मानना चाहिए कि केदार अनिवार्यतः हेमचंद्र के परवर्त्ती हैं, ऐसा वेलकर महोदय का मत है।[4] केदार के पिता का नाम पब्वेक, था जो शैवागम का अच्छा जानकार तथा वैदिक धर्मावलबी था।

केदार का समय १५वी शताब्दी के बहुत पहले मानना चाहिए। वृत्तरत्नाकर मे दिये गये लक्षणो के उद्धरण मल्लिनाथ की काव्य-टीकाओ मे मिलते हैं। अत·, केदार का समय १३०० ई० के बाद नही माना जा सकता।

एच० डी० वेलंकर ने तो केदारभट्ट का समय ११०० ई० के लगभग निश्चित किया है।[5] कारण भी दिये गये हैं। प्रथम तो यह कि वृत्तरत्नाकर की एक हस्तलिपि तालपत्र

---

१. हे०—छं० ।६।२०।

२. (क) 'वृत्तरत्नाकरम्' तृतीयावृत्ति। संस्करण वि० सं० १९९२। प्रकाशक— मेहर-चन्द्र लक्ष्मणदास, लाहौर। पृष्ठ-संख्या १४४। रत्नप्रभाटीकोपेतम्।

(ख) श्रुतबोध-वृत्तरत्नाकरौ (प्रकाशक, श्रीवेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई। सं १९९३)

(ग) वृत्तरत्नाकर ('जयदामन' के अन्तर्गत हरितोष समिति, बम्बई से १९४९ ई० मे प्रकाशित।)

३. कीथ : ए हिस्ट्री आव् संस्कृत लिटरेचर, पृ० ४१७।

४. जयदामन, भूमिका, पृ० ४३।

५. जयदामन, भूमिका, पृ० [illegible]

पर लिखित जेसलमेर मे वर्त्तमान है,[1] जिसमें समय सं० ११९२ दिया गया है। दूसरे, वृत्तरत्नाकर की कई वृत्तियाँ उपलब्ध हैं, जिनका समय ज्ञात है। सबसे पुरानी टीका राघवाचार्य के पुत्र त्रिविक्रम की है, जो दक्षिण के एलापुर का निवासी था। संभवतः यह वही त्रिविक्रम है, जो अहनिलवाड पाटन के राजा कर्णदेव (११वी शताब्दी ई० का उत्तरार्द्ध) के राजपुरोहित वर्द्धमान का शिष्य था। एक दूसरी वृत्ति सुल्हणकृत है, जिसका समय सं० १२४६ व्यंजित है। सोमचंद्र ने भी वृत्तरत्नाकर की वृत्ति सं० १३२९ में लिखी। १६वी शताब्दी मे रामचंद्र विबुध और १०वी मे समयसुन्दरगणि ने वृत्तियाँ लिखी। भास्करकृत सेतु १७३२ वि० मे, नारायणभट्ट की वृत्ति १६०२ शक सं० में तथा जनार्दनकृत भावार्थदीपिका भी १७वी शती मे ही निर्मित हुई। इस प्रकार प्रथम वृत्ति ११वी शताब्दी में ही लिखी गई।

वृत्तरत्नाकर मे छः अध्याय है। प्रथम में मंगलाचरण, छंदोभेद, गणविचार, गुरुलघु-विचार, छंदःशास्त्रपरिभाषा, सम, अर्द्धसम और विषम वृत्तों के लक्षण, गद्यवृत्तभेद, दण्डक, दण्डक-गाथास्वरूप आदि वर्णित है। द्वितीय अध्याय मे आर्या, गीति, वैतालीय, वक्त्र और मात्रासमक के प्रकरणो के अंतर्गत क्रमशः इन वर्णो के मात्रिक छंदो का निरूपण हुआ है। तृतीय अध्याय में समवर्ण-वृत्त प्रकरण के अंतर्गत उक्ता से लेकर उत्कृति जाति तक के छंदों का निरूपण है। दण्डक प्रकरण के अंतर्गत दण्डको का विचार है। चतुर्थ अध्याय मे अर्द्धसम वृत्तों तथा पचम अध्याय में विषम वृत्तों का निरूपण हुआ है। अंतिम अध्याय मे प्रस्तार, नष्ट, उद्दिष्ट, संख्या आदि छंदःशास्त्र के गणित-पक्ष का विवेचन आया है। इस ग्रंथ मे छंदों का निरूपण गणों के सहारे किया गया है।

जयदेव के जयदेवच्छंदस् तथा कालिदास के श्रुतबोध की तरह इस ग्रंथ की भी विशेषता यह है कि इसमें छंदों के लक्षण लक्ष्य छंदों में ही देकर लक्षण-उदाहरण का एकीकरण किया गया है। जैसे, द्रुतविलम्बित छंद का लक्षण इस प्रकार द्रुतविलम्बित छंद में ही दिया गया है—

द्रुतविलम्बितमाह नभौभरौ।३।५०।

। । । ऽ । । ऽ । । ऽ । ऽ

न भ भ र

समस्त ग्रंथ पद्यबद्ध है। प्रथम और षष्ठ अध्याय, जिनमें सामान्य विवेचन है, अनुष्टुप् छंद में निबद्ध है। अन्य अध्यायों में छंदों के लक्षण उन्ही में दिये गये है, जिनके वे लक्षण है। समचतुष्पादीय छंदों के लक्षण एक पाद में, अर्द्धसम छंदों के लक्षण प्रथम दो असमान पादों में तथा विषम छंदों के लक्षण पूरे छंद में दिये गये है। मात्रिक छंदों के प्रसंग में आर्या, वैतालीय, वक्त्र तथा मात्रासमक को एक साथ रखा गया है। आर्या और मात्रासमक विशुद्ध मात्रिक छंद हैं, किंतु वैतालीय को मात्रिक और वार्णिक वृत्तों का मिश्रण कहना ज्यादा उपयुक्त होगा।[2] वक्त्र को मात्रिक न मानकर विषम वर्ण-वृत्त मानना चाहिये, जिसमें वैषम्य पादों की लम्बाई पर आधृत नहीं, बरन् पादों में मात्राओं के

---

१. Dalal's Descriptive Catalogue—page 30,
(Gaekwad Oriental Series, Baroda.)

२. जयदामन, भूमिका, पृ० ३९।

क्रम में निहित है। इस प्रकार केदार द्वारा मात्रिक छंदो का विवेचन उतना सुशृंखल नही हुआ है, जितना वर्णवृत्तो का।[1]

नये मात्रिक छंदों के उल्लेख की दृष्टि से 'वृत्तरत्नाकर' का महत्त्व बहुत अधिक नही। आर्या, वैतालीय, मात्रासमक जैसे प्रकरणों में इन वर्गो के छंद रखे गये है, जिससे वर्गीकरण की प्रवृत्ति संकेतित है, किंतु इन वर्गो में जो छंदोभेद निर्दिष्ट है, वे लगभग वही है जो पिंगल, जयदेव, जयकीर्त्ति आदि पूर्ववर्ती आचार्यो ने प्रस्तुत किये है। मात्रिक छंदो के क्षेत्र में लोक-व्यवहार पर आधृत छंदोविवेचन की प्रवृत्ति की मौलिकता केदारभट्ट मे नहीं दिखाई देती। फिर भी, वृत्तरत्नाकर मे मौलिक छंदों के लक्षण अत्यन्त साफ-सुथरे और रोचक ढंग से दिये गये है और इस दृष्टि से यह ग्रंथ प्रस्तुत प्रबंध की पीठिका मे महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है।

कविदर्पणम्[2]

प्राकृत भाषा में निबद्ध इस महत्त्वपूर्ण छंदोग्रंथ का प्रकाशन पूना की भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीच्यूट मे सुरक्षित तालपत्र पर लिखित एक प्राचीन हस्तलिपि के आधार पर हुआ है। ग्रंथ के लेखक का नाम न तो कही इस हस्तलिपि में प्राप्य है और न अन्यत्र उपलब्ध।

नंदिसेनकृत अजितशांतिस्तव के भाष्य में जिनप्रभसूरि ने कविदर्पणम् की चर्चा की है। यह भाष्य सं० १३६५ में रचित है।[3] अतएव, कविदर्पणम् का रचनाकाल इसके पूर्व होना चाहिए। कविदर्पणम् में जिनसिहसूरि,[4] हेमचंद्र,[5] सूरप्रभासूरि[6] तिलकसूरि[7] तथा हर्षदेव[8] का उल्लेख है। हेमचंद्र का काल सं० ११४५-१२२९ ज्ञात है।[9] (हर्षदेव अधिक पूर्ववर्त्ती है, जिनका काल है सं० ६६०३-७०४ वि०।[10]) अतएव, कविदर्पणम् का रचनाकाल सं० १२२९ और सं० १३६५ के बीच में होना ही चाहिए।

इस ग्रंथ के साथ उक्त हस्तलिपि में ही भाष्य भी उपलब्ध है, किंतु लेखक के समान ही भाष्यकार का नाम भी अज्ञात है।

ग्रंथ में ६ 'उद्देश्य' है। प्रथम उद्देश्य में पाँच मात्रागणों, आठ वर्ण-गणों, लघुगुरु तथा यति का वर्णन है। द्वितीय उद्देश्य में मात्रिक छंदों का वर्णन है। मात्रिक छंदों के वर्गीकरण में लेखक की मौलिकता यह है कि इन छंदों की अनुच्छेद-गत[11] पाद-संख्या के आधार पर छंदों

---

१. जयदामन, भूमिका। पृष्ठ ३९।

२. प्रो० एच० डी० वेलंकर द्वारा संपादित तथा **ABORI** खंड १६, १९३४-३५, के पृ० ५६ पर प्रकाशित।

३. वेलंकर: कविदर्पणम् (भूमिका) **ABORI**, खंड १६, १९३४-३५, पृ० ४४।

४. क० द०, २। उ० २३।

५. क० द०, २। उ० ५७।

६. क० द०, २। उ० ५९।

७. क० द०, २। उ० ६३।

८. क० द०, २। उ० ६५।

९. कीथ: ए हिस्ट्री आव् संस्कृत लिटरेचर, पृ० १४२।

१०. वही, पृ० ४३३।

११. **Stanza**

के ग्यारह वर्ग माने हैं—द्विपदी, चतुष्पदी,, पंचपदी, षट्पदी, अष्टपदी (इन चारों वर्गों के छंद में केवल एक ही अनुच्छेद होता है), सप्तपदी, नवपदी, दशपदी, एकादशपदी, द्वादशपदी तथा षोडशपदी (इन छह वर्गों के छंद में दो भिन्न छंदों के अनुच्छेद मिलकर संयुक्त छंद (Strophe) की सृष्टि करते हैं)। तृतीय उद्देश्य में समवर्ण-वृत्त-वर्णन उक्तादि २६ छंदोंजातियों के अनुसार हुआ है। चतुर्थ उद्देश्य में शेष समवृत्त, अर्द्धसम वर्णवृत्त तथा विषम वर्णवृत्त वर्णित हैं। पंचम उद्देश्य में उभयछंदस्, अर्थात् ऐसे छंदों का, जो अंशतः वर्णवृत्त हैं और अंशतः मात्रावृत्त, वर्णन हुआ है। ऐसे ११ छंद आये हैं, जिनका आरंभ वैतालीय से होता है। षष्ठ उद्देश्य के तीन पद्यों में ६ प्रत्ययों की चर्चा है।

कविदर्पण में ५२ प्राकृत छंद आये हैं, जिनमें २१ सम, १५ अर्द्धसम और १३ संयुक्त (Strophe) छंद हैं। यह स्पष्ट है कि कविदर्पणकार ने सभी प्राकृत छंदों की चर्चा नहीं की है—यह उसका उद्देश्य भी नहीं रहा। उसने केवल अपने समय में प्रचलित कुछ महत्त्वपूर्ण छंद चुन लिये, अतएव उसका विवेचन तद्युगीन प्राकृत कवियों के व्यावहारिक प्रयोग पर आधृत है, परंपराभुक्त सिद्धांत पर आधृत नहीं। छंदों के वर्गीकरण, तथा लक्षण-निर्देश द्वारा कविदर्पणकार की मौलिकता का यथेष्ट परिचय मिलता है।

ग्रंथ का मूल पाठ प्राकृत भाषा में है तथा प्रस्तुत प्रकाशित संस्करण में संपादक ने मूल पाठ में आनेवाले प्रत्येक पद्य का संस्कृत अनुवाद भी साथ-साथ कोष्ठकों में दे दिया है। भाष्य संस्कृत-भाषा में है।

इस ग्रंथ की लक्षण-निर्देश-शैली के संबंध में द्रष्टव्य यह है कि इसमें छंदों के लक्षण और उदाहरण अलग-अलग दिये गये हैं, लक्षण के लिए गाथा या आर्या का, अथवा किसी अन्य छंद का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार इसमें लक्षणोदाहरणैक्यशैली का अवलंबन नहीं किया गया है। स्पष्टीकरण के लिये कुछ छंदों के एक से अधिक उदाहरण भी दिये गये हैं। लक्षण-निर्देश के लिए गणप्रयोग का सहारा लिया गया है। मात्रिक गणों का नामकरण क, च, ट, त, प (वर्णमालांतर्गत व्यंजन-वर्गों के प्रथमाक्षरों) के आधार पर हुआ है, ट, ठ, ड, ढ और ण के आधार पर नहीं, यह भी इस ग्रंथ की मौलिकता के रूप में द्रष्टव्य है।[1]

मात्रिक छंदों के प्रसंग में द्विपदी के अंतर्गत उल्लालक और मौक्तिकदाम छंद आये हैं। चतुष्पदी के अंतर्गत गाथा (उसके भेद), गीति (उसके भेद), पंचानन ललिता, मलयमरुत, दोहक (पाँच प्रकार—अव-दोहक,[2] उपदोहक, संदोहक,[3] उद्दोहक, चूडालदोहक),[4] और मागधिका के उपरांत सोलह मात्राओं के पादवाले ११ छंद, फिर खंड, मदनावतार, गलितक, खंजक, रासक, चंद्रलेखा, द्विपदी नामक छंद, रासावलय, वस्तुक तथा उत्साह छंद आये हैं। पंचपदी केवल मात्रा-नामक छंद है। भाष्यकार ने इसके भेदों पर प्रकाश डाला है। षट्पदी में घत्ता छंद सभेद वर्णित है। सप्तपदी मात्रा(५)+उल्लालक(२) है, जिसे फुल्ल कहा गया है। अष्टपदी श्रीधवल है या दोहक+संदोहक है अथवा ऐसे अन्य-अन्य

१. नेया मत्ताच्छंदे दुतिचउपंच छकला गणा
दुतिपंचअट्ठतेरसभेइल्ला कचटतप नामा ॥
—क० द०, १।२।

२. इसे प्रा० पैं० १।१७०। तथा छं० को० ने सोरठा कहा है।

३. इसे छं० को० ने उद्गाथक कहा है।

४. इसे प्रा० पैं० तथा छं० को० ने चूलिका कहा है।

मिश्रण हैं। नवपदी में रड्डा है, जिसे वस्तु भी कहा गया है। दशपदी दोहक+घत्ता है, जिसे द्विभंगी कह सकते हैं। एकादशपदी उल्लालक+मात्रा+दोहक है, जिसे त्रिभंगी कह सकते हैं। द्वादशपदी है दो खंड+गीति+द्विपदी। और, षोडशपदी वही है, जिसे सामान्यरूप से कडवक कहते हैं, जिसमें ४ पज्झटिका या अन्य चतुष्पदी का योग होता है।

इस ग्रंथ में जिन छंदों की चर्चा है, उनमें सर्वाधिक महत्त्व संयुक्त या मिश्र छंदों (strophic metres) का है। जिन ११ वर्गो में मात्रिक छंद रखे गये हैं, उनमें से ८ का संबंध ऐसे छंदों से है। हेमचंद्र ने इस वर्ग के छंदों का इतना महत्त्व नहीं दिया था।

हेमचंद्र और कविदर्पणकार के दृष्टिकोण में अंतर यह है कि हेमचंद्र-परंपरा से प्राप्त और लोक-व्यवहार से उपलब्ध सभी तरह के छंदों की बड़ी सावधानी से गिनती कराते, लक्षण बताते और उनका वर्गीकरण करते हैं, जिसमें कुछ छूटने न पाये। उन्हें इसकी चिंता नहीं कि कौन छंद व्यवहार से उठ गया है। इसकी चिंता कविदर्पणकार को विशेषरूप से है। वे वास्तविक लोकव्यवहार के बीच से छंद चुनने में प्रयत्नशील प्रतीत होते हैं, यद्यपि अपनी वर्ण्य वस्तु के वर्गीकरण पर उतना ध्यान नहीं देते। तद्युगीन व्यवहार से जो छंद उठ चुके थे, उनकी चर्चा वे छोड़ देते हैं। इसीलिए उन्होंने हेमचंद्र की तरह बहुत अधिक प्राकृत छंदों का उल्लेख नहीं किया है। कविदर्पणकार व्यवहारवादी हैं, हेमचंद्र सिद्धांतवादी। प्रथम के छंदोवर्णन में संक्षेप के साथ व्यावहारिकता है, दूसरे के वर्णन में वैज्ञानिकता और व्यापकता। कविदर्पण में विवेच्य छंदों की अल्पता इस रूप में व्याख्येय है।

प्राकृत-पैंगलम्[1]

अपभ्रंश और हिंदी में प्रयुक्त मात्रिक छंदों के अध्ययन के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ—संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश के छंदोग्रंथों के बीच—'प्राकृत-पैंगलम्' है। मात्रिक छंदों की दृष्टि से इसका वही स्थान हो, जो वर्ण-वृत्त के प्रसंग में पिंगल-कृत 'छंदःशास्त्र' का है।

फिर भी, इस ग्रंथ के लेखक तथा रचनाकाल के संबंध में निश्चयपूर्वक कह सकना आसान नहीं है। ग्रंथ-शीर्षक में दो शब्द हैं—'प्राकृत' और 'पिंगल'। 'प्राकृत' से उस भाषा का बोध होता है, जिसमें इस ग्रंथ का मूल पाठ निबद्ध है। शीर्षक का 'पिंगल' शब्द रचयिता का नाम-निर्देशक नहीं, वरन् वर्ण्यविषय-परिचायक है। संस्कृत में 'छन्दःशास्त्र' या 'छन्दःसूत्रम्' के लेखक तथा इस विषय के आदि आचार्य पिंगल के नाम पर लोग छंदःशास्त्र को ही 'पिंगल' कहने लग गये थे और आज भी कहते हैं। 'प्राकृत-पैङ्गलम्', इस प्रकार, विषय-परिचयात्मक शीर्षक है, जिसका मंतव्य है—प्राकृत भाषा में रचित पिंगल अथवा छंदःशास्त्र-विषयक ग्रंथ।

---

१. इस ग्रंथ के दो प्रकाशित संस्करण उपलब्ध हैं—

(क) 'प्राकृत-पिंगलसूत्राणि' शीर्षक से, लक्ष्मीनाथभट्ट-विरचित व्याख्यासहित, पं० शिवदत्त और काशीराज पांडुरंग परब द्वारा संपादित तथा निर्णयसागर प्रेस, बंबई, द्वारा काव्यमाला (४१) के अंतर्गत सं० १९५१ वि० में प्रकाशित।

(ख) 'प्राकृत-पैंगलम्' शीर्षक से, विश्वनाथ पंचाननकृत पिंगल टीका, वंशीधरकृत पिंगलप्रकाश, कृष्णीयविवरणाख्यटीका तथा यादवेंद्रकृत पिंगलतत्त्व-प्रकाशिका सहित, चंद्रमोहन घोष के संपादकत्व में, बिबलियोथिका इंडिका सीरीज में, दि एशिएटिक सोसायटी आव् बंगाल द्वारा सं० १९५९ में प्रकाशित।

कभी-कभी भ्रमवश उक्त पिंगलाचार्य को ही 'प्राकृत-पैङ्गलम्' का रचयिता भी मान लिया जाता है।[१] यों पिंगल का नाम रहस्यात्मक कुहरे से सर्वथा मुक्त नही। फिर भी, यह तो कहा जा सकता है कि उनका संस्कृत ग्रंथ 'छन्दःशास्त्रम्' पाणिनि के 'अष्टाध्यायी' अथवा उसपर पातंजल भाष्य के प्रायः समकालीन है।[२] पिंगल का काल २०० ई० पू० के लगभग माना गया है।[३] प्राकृत भाषा में साहित्यशास्त्रीय ग्रंथलेखन की परंपरा-प्रवर्त्तन निश्चय ही इस काल के बहुत बाद हुआ।[४] अतएव, पिंगल प्राकृत ग्रंथ "प्राकृत-पैंगलम्" के लेखक नहीं हो सकते। इसके अतिरिक्त 'प्राकृत-पैंगलम्' के मंगलाचरण में पिंगल नाग की वंदना की गई है—

जो बिबिह मत्तसाअर
पार पत्तो बि बिमल मह हेलम्।
पढमं भासतरंडो
णाओ सो पिंगलो जअइ।।[५]

कोई रचयिता ग्रंथारंभ में स्वयं अपनी वंदना करे, यह अकल्पनीय है। अतएव, उद्धृत पद्य के आलोक में पिंगल चाहे आचार्य हों या मुनि हो या नाग माने जायें, इतना निश्चित है कि प्राकृत-पैङ्गलम् का रचयिता उनसे भिन्न, उनका परवर्त्ती कोई व्यक्ति है।

'प्राकृत-पैङ्गलम्' का रचनाकाल १४वीं शताब्दी के पूर्व नही माना जा सकता; क्योंकि उसमें मेवाड़ के हमीर का नाम बार-बार आया है (श्लोक ७१, ९२, १०६, १४७, १५१, १९०, २०४, और १८३ द्रष्टव्य हैं।); हिंदू-मुस्लिम युद्धो के प्रसंग में सुलतान (श्लोक १०६), खोरासान और उल्ला (श्लोक १४७ तथा १५१), शाही तथा तुलक (या तुरक) और हिंघू (या हिंदू) (श्लोक १५७) शब्दों का प्रयोग हुआ है, जो मुसलमानों के भारत-आगमन के सूचक हैं तथा आधुनिक 'दिल्ली' नाम पौराणिक नामों का स्थान ले चुका है (श्लोक २९६)। इस ग्रंथ की रचना १६वीं शताब्दी के पूर्व माननी ही होगी; क्योंकि इस पर कई भाष्य १६वीं शताब्दी के अंत और सत्रहवी शताब्दी के आरंभ तक लिखे जा चुके थे।[६] इस ग्रंथ का रचनाकाल ईसा की १४वी शताब्दी है, ऐसा याकोबी का भी मत है।[७] एशियाटिक सोसायटी आव् बंगालवाले संस्करण के संपादक का विचार है कि यह ग्रंथ एक व्यक्ति का लिखा प्रतीत नहीं होता और इसमें बाद में भी काफी परिवर्द्धन होता रहा है।[८] किंतु, हमारा विचार है कि केवल हरिब्रह्म, हरिहरब्रह्म (श्लोक १०८, ११५ क्रमशः) तथा बिज्जाहर या विद्याधर (श्लोक १४५) के नाम आने तथा कर्पूरमंजरी (राजशेखरकृत) के कुछ अंश (श्लोक १५१, १८७, १८९, २०१) ले लिये

---

१. पं० सीताराम जोशी तथा पं० विश्वनाथ भारद्वाज : सं० सा० का सं० इति०।,पृ०। ५६९।
२. प्रा० पैं०। भूमिका। पृ० ७।
३. कीथ; ए हिस्ट्री आव् संस्कृत लिटरेचर। पृ० ४१५।
४. वही, पृ० ४३३।
५. प्रा० पैं०, १।१।
६. प्राकृत-पैंगलम् (भूमिका), पृ० ७।
७. विटर्निट्स् का संस्कृत साहित्य का इतिहास, खंड ३, पृ० २७।
(**History of Sanskrit Literature—Winternitez.**)
८. प्राकृत-पैंगलम् (भूमिका), पृ० ७।

जाने मात्र से यह सिद्ध नहीं हो जाता कि इस ग्रंथ की रचना में विभिन्न व्यक्तियों का हाथ है। क्योंकि, संभव है, ग्रंथकर्त्ता ने अन्य कवियों की कुछ पंक्तियों को रचयिता के नाम के साथ तथा कुछ को बिना नाम के अपने उदाहरणों के लिए अपना लिया हो। कहीं-कहीं एक ही छंद के दो लक्षण एक साथ जान बूझकर दिये प्रतीत होते हैं, जैसे सद्दूल सह (श्लोक १८६) तथा सद्दूल बिक्कीडिअं (श्लोक १८८)। कभी तो एक ही छंद के अनजान में अनेक लक्षण विभिन्न स्थलों पर दिये लगते हैं और कभी कई छंदों का एक ही नाम दिया गया है, जैसे कमल छंद (पृष्ठ ३५२ और ३८५), दुम्मिला छंद (पृष्ठ ५७१ और ३१५), आदि। किंतु इस कारण ही यह मानना उचित नहीं कि इसकी रचना कई व्यक्तियों द्वारा दीर्घकाल में हुई। क्योकि, हो सकता है कि बाद के लिपिकारों ने अपनी ओर से कुछ मिला दिया हो। सम्पूर्ण ग्रंथ में जो विवेचन की संतुलित व्यवस्था है, उसके कारण यह ग्रंथ दीर्घकाल के बीच अनेक व्यक्तियों के प्रयास का फल नहीं प्रतीत होता। आरंभ में छन्दःशास्त्र के गणित-पक्ष का विवेचन तथा मात्रिक और वार्णिक छंदों के निरूपण में क्रम-पालन इस कथन के पोषक हैं।

निर्णयसागर प्रेसवाली प्रति 'प्राकृत-पिङ्गलसूत्राणि' मे (जिसका पाठ बिबलियोथिका इण्डिका के अंतर्गत प्रकाशित प्राकृत-पैङ्गलम् के पाठ से बहुलांश में मिलता-जुलता है) लेखक का नाम श्रीमद्वाग्भट बताया गया है। यह संस्करण एशियाटिक सोसायटी आव् बंगाल-वाले संस्करण से पूर्व निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित हो चुका था।[1] किंतु परवर्ती संस्करण के संपादक (चंद्रमोहन घोष) ने इसकी चर्चा तक नहीं की है। बाग्भट नामक दो आचार्यों ने काव्यशास्त्र का विवेचन १२वीं-१३वीं शती में किया था, यह सिद्ध है।[2] उनके ग्रंथ क्रमशः वाग्भटालंकार तथा काव्यानुशासन हैं। संभव है 'प्राकृतपैङ्गलम्' अथवा 'प्राकृत-पिङ्गलसूत्राणि' के रचयिता इनमें से एक हों। फारसी शब्दों का प्रयोग हम्मीर की चर्चा, आदि परवर्त्ती क्षेपक के फल के रूप में भी व्याख्येय हैं।

टीकाएं—

प्राकृतपिंगलसूत्राणि की भूमिका में ग्रंथ की दो टीकाओं का निर्देश है—

१—रविकर-विरचित पिंगलसार विकाशिनी (टीका)

(इन्हीं रविकर की लिखी वृत्तरत्नावली नामक छंदोग्रंथ जर्मन-ओरियन्टल-सोसाइटी द्वारा मुद्रित है।)

२—लक्ष्मीनाथ भट्ट विरचित व्याख्या (टीका) जो निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित प्राकृत-पिंगलसूत्राणि के साथ दी गई है।

प्राकृत-पैंगलम् (बिबलियोथिका इंडिका) इन टीकाओं से समलंकृत है—

१—विश्वनाथ पंचाननकृत पिंगलटीका

२—वंशीधरकृत पिंगल-प्रकाश

३—कृष्णीयविवरणाख्यटीका

४—यादवेन्द्रकृत पिंगलतत्त्वप्रकाशिका

---

१. प्राकृतपिंगलसूत्राणि का प्रकाशन-काल १८९४ ई० तथा प्राकृतपैंगलम् का प्रकाशन-काल १९०२ ई० है।

२. कीथ: एक हिस्ट्री आव् संस्कृत लिटरेचर, पृ० १४३, ३९५।

इस ग्रंथ के दो भाग हैं; प्रथम में छंदःशास्त्र के गणित-पक्ष का विवेचन तथा मात्रिक छंदों का निरूपण है। इसी भाग में वार्णिक गणों में मित्रशत्रु गणों का विचार तथा देवता, फल आदि का विचार भी है। दूसरे भाग में वार्णिक छंदों का निरूपण है। दण्डक और विषम छंद इसमें वर्णित नहीं हैं। मात्रिक छंदों का निरूपण कहीं मात्राओं की संख्या के निर्देश द्वारा, और कहीं मात्रिक गणों के सहारे हुआ है।

इसमें जिन छंदों का निरूपण हुआ है, वे हैं, गाथा (गाहू, गाहा, विग्गाहा, उग्गाहा), गाहिणी सिंहिणी, खंधा (और उसके भेद), दोहा (और उसके भेद), रसिका (और उसके भेद), रोला (और उसके भेद), गंधाणा, चउपइआ, घत्ता, घत्ताणंद, छप्पय (और उसके भेद), पज्झटिका, अडिल्ला, पादाकुलक, रड्डा (और उसके भेद), पउमावत्ती, कुंडलिया, गगणांग, दोअइ (द्विपदी), झुल्लण, खंज, सिखा, माला, चुलियाला, सोरठा, हाकलि, महुभार, अहीर, दंडअल, दीपक, सिंहावलोक, पवंगम, लीलावई, हरिगीता, तिभंगी, दुम्मिला, हीर, जलहरण, मअणहरा, मरहट्ठा आदि मात्रिक छंद तथा सिरी, काम महु, मही, सारु, ताली, पिआ, ससी, रमण, पंचाल, मइंद, मंदर, कमल, तिणा, धारी, जगाणिया, संमोहा, हारी, हंस, जमक, सेसा, तिल, विजोहा, चउरंसा, मंथाण, संखणारी, मालती, दमणक, समाणिआ, सुवास, करहंस, सीसरूपक, बिज्जूमाला, पमाणिआ, मल्लिका, तुंग, कमल, महालच्छी, सारंगिका, पाइत्ता, कमला, बिब, तोमर, रूपमाला, मंजुता, चंपकमाला, सारवई, सुसमा, अमिअगई, बंधु, सुमुही, दोधअ, सालिणी, दमणक, सोणिआ, माल्ती, इंदबज्जा, उविंदबज्जा, उबजाइ, बिज्जाहर, भुअंगपआत, लच्छीहर, तोटक, सारंगरूअक्क, मोतिअदाम, मोदअ, तरलजअणि, सुंदरी, मआ, तारअ, कंद, पंकावली, वसंततिलआ, चक्कअअ, भमरावलि, सारंगिका, चामर, णिसिवालय, मणोहंस, मालिणी, सरनभ, णराच, लील (णील), चंचला, ब्रह्मरूअअ, पुहवि, मालाहर, मंजीरा, किलाचक्क, चचरी, सद्धूलसट्टा, चंदमल्ल, धवलाग, संभु गीता, गंडका, सद्धरा, जरेंद, हंसी, सुंदरी, दुम्मिला, किरीट, सालूर, और तिअभंगी वार्णिक वृत्त।

प्राकृत भाषा में निबद्ध इस ग्रंथ में छंदों के लक्षण प्रायः उन्हीं छंदों में दिये हैं, जिनका लक्षण-निर्देश अभीष्ट है। छंदों के उदाहरण अलग से दिये गये हैं। छंदोभेदों के उदाहरण अलग-अलग सर्वत्र नहीं हैं। छंदों के लक्षण निरूपण के लिए कहीं यथाप्रसंग वार्णिक या मात्रिक गणों का सहारा लिया गया है, कहीं वर्णमात्रा संख्या और उनके लघुगुरुस्वरूप-निर्देश द्वारा ही छंदोलक्षण-सिद्धि की गई है।

पूर्ववर्त्ती लक्षणग्रंथों में अनुल्लिखित मात्रिक छंदों के उल्लेख की दृष्टि से 'प्राकृत-पैंगलम्' महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। हिंदी काव्य में व्यापक रूप से प्रयुक्त दोहा जैसे लोकप्रिय छंद का लक्षण छंदःशास्त्रीय धरातल पर प्रथम इसी ग्रंथ में उपलब्ध हुआ, यद्यपि वृत्त-जाति-समुच्चय तथा स्वयंभूच्छंदस् में उसका पूर्वज 'द्विपथक' लक्षित हो चुका था। इसी प्रकार कई अन्य अति प्रचलित किंतु अबतक शास्त्र द्वारा अलक्षित मात्रिक छंदों का समावेश इस ग्रंथ में वास्तविक काव्य-प्रयोग के आधार पर हुआ है।

रत्नशेखरकृत छन्दःकोश

'छन्दःकोश' के रचयिता रत्नशेखर वज्रसेन के शिष्य तथा नागपुरियातपागच्छ के हेमतिलकसूरि के उत्तराधिकारी थे। एक पट्टावली के अनुसार उनका जन्म सं० १३७२ में हुआ था।[1] उनकी दो अन्य रचनाएं 'श्रीपालचरित'[2] तथा 'गुणस्थान-कुमारोह'[3] क्रमशः

१. एच० डी० वेलंकर—'जैन गुर्जर कवियों' (उद्धरण—J. U. B. II-iii. p. 34)
२. प्रकाशित—देवचंद्रलाल भाई पुस्तकोद्धार फंड सीरीज, बंबई से।

सं० १४२८ तथा १४४७ में निर्मित हुई। इस प्रकार उनका रचना काल विक्रम की १५वीं शदी का पूर्वार्द्ध माना जा सकता है।

'छंद:कोश' का प्रकाशन तीन हस्तलेखों के आधार पर एच० डी० वेलंकर के संपादन में बंबई विश्वविद्यालय पत्रिका में हुआ है। ये आधारभूत तीन हस्तलेख पूना के भाडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट से प्राप्त हुए। तीनों में चंडकीर्त्ति की टिप्पणी है।[1]

"छंद:कोश" में कुल ७४ पद्य हैं। इनमें प्रथम तीन में लघुगुरुवर्ण तथा अष्टगणविचार है। अगले आठ पद्यों में आठ वार्णिक छंद आये हैं, जो इन गणों में से प्रत्येक से अकेले बनते हैं। बारहवें पद्य से मात्रावृत्त का आरंभ होता है। इनमें भी लेखक ने पाँच ऐसे छंदों को स्थान दे दिया है, जो वास्तव में वर्णवृत्त हैं—ये हैं सोमकांत,[2] पंचचामर नाराच[3] दुमिला,[4] मेहाणी[5] और प्रमाणिका।[6] गाथा को छोड़कर लेखक ने ३० वास्तविक मात्रावृत्तों की चर्चा की है, जिनमें अंतिम पद्मावती[7] है। बाद में गाथा तथा उसके भेदों का विवेचन है।[8] इन पद्यों में छंदों के लक्षण और उदाहरण एकीकृत है, अर्थात् छंदोलक्षण उसी छंद में दिया गया है। अंतिम चार पद्यों में संख्या और लघुगुरुक्रिया प्रत्ययों की चर्चा है।

छंद:कोश के पद्यों को दो भागों में बाँटा जा सकता है। छंद:कोश के कुल ७४ पद्यों में पद्यसंख्या ५ से ५० तक (=४६ पद्य) अपभ्रंश भाषा में रचित हैं, जिसकी शैली शिथिल तथा चलते ढंग की है। निरुत्त, थ, ब्रह्मण, जाण, मुण, जम्प, पयम्प, प्रभृति विशेषणों या पदों से ऐसा प्रतीत होता है कि यह शैली लोक-प्रचलित अपभ्रंश की है। १७ पद्यों में पुराने रचयिताओं के नाम आये हैं, जैसे अर्जुन या अल्हु का नाम नौ पद्यों में है।[9] गोसल या गुल्हु का नाम ६ पद्यों में है।[10] पिंगल का नाम २ पद्यों में है।[11] १२ तथा २९ संख्यक पद्यों में संस्कृत-प्राकृत के पंडितों के दंभ एवं अज्ञान की चर्चा है। दूसरा भाग (पद्य सं० १ से ४ तथा ५१ से ७४) प्राकृत में रचित है और उसकी शैली अपेक्षाकृत समस्त है। इसमें किसी अन्य रचयिता के नाम नहीं आये हैं। इस अंतर के कारण वेलंकर महोदय का विचार है कि प्रथम भाग (पद्य ५-५०) रत्नशेखर की रचना नहीं है, वरन् उन्होंने पूर्ववर्त्ती कतिपय लेखकों की रचनाओं से ये पद्य उद्धृत किये हैं। अपने मत की पुष्टि में वेलंकर ने प्राकृत-पैंगलम् और छंद:कोश के कुछ पद्यों की पाठतुलना और पाठसाम्य द्वारा यह दिखाया है कि दोनों ग्रंथों ने पूर्ववर्त्ती आधारों से ये पद्य ग्रहण किये।[12] ऐसा साम्य छंद:कोश की पद्यसंख्या १२, १६, २५, ३१, ४६ और ५० के संबंध

१. **JUB-II-iii p. 55**
२. **छंद: कोश, १४ ।**
३. **वही, १५।**
४. **वही, १६।**
५. **वही, ४४।**
६. **वही, ४६।**
७. **वही, ५०।**
८. **वही, ५१-७०।**
९. **छं० को०, १०, ११, १९, २७, २७, ३०, ३४, ३५, ४१।**
१०. **वही, ६, १२, १४, १८, २८, २९।**
११. **वही, ४, ४५।**
१२. **H. D. Velanker—A. M., JUB. II-iii. p. 51-53.**

म द्रष्टव्य है। उदाहरण के लिए पद्य १२ को ले, जो प्रा० पैं० के पद्य १।१०७ के समान है। किंतु एक अर्थपूर्ण अंतर है। छं० को० मे 'गुल्ह कवि गरस बुनउ' के स्थान पर प्रा० पैं० में 'सेस कइ वत्थुनिवुत्तउ' पाठ आया है। प्रा० पैं० बाद की रचना है। अतएव मूल पद्य उसमें से नही लिया गया। रत्नशेखर ने गुल्ह को रचयिता कहा है। अतएव दोनों ग्रंथों ने पूर्ववर्त्ती गुल्ह से उधार लिया, ऐसा मानना उचित है।[1] इस प्रकार कहा जा सकता है कि अपभ्रंश मे रचित अंश (पद्य ५-५०) रत्नशेखर की रचना नहीं, पूर्ववर्त्ती रचयिताओ से रत्नशेखर द्वारा दिया गया उद्धरण है।

किंतु इससे ग्रंथ का महत्त्व घटता नही है। वरन्, हम यह कह सकते हैं पूर्ववर्ती रचयिताओं से मुक्त रूप से सहायता लेने के कारण ग्रंथ का छंदो-विवेचन वास्तविक छंदो-व्यवहार के अधिक निकट है और तद्युगीन छंदों के स्वरूप-विकास के अध्ययन की दृष्टि से पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है।

प्राकृत छंदों के अनुपलब्ध लक्षणग्रंथ

प्राकृत छंदों से संबंध रखनेवाले कुछ लक्षण-ग्रंथों अथवा उनके लेखकों के उल्लेख अन्य ग्रंथों में मिले हैं, यद्यपि वे ग्रंथ स्वयं अबतक अनुपलब्ध ही हैं। कविदर्पण के भाष्यकार ने मनोरथ नामक छंदोलक्षणकार तथा अज्ञात लेखक कृत छंदःकण्डली नामक ग्रंथ का उल्लेख किया है।[2] रत्नशेखर ने अर्जुन और गोसल नामक लक्षणकारों से उद्धरण दिया है।[3] इनके पूर्व ही स्वयंभू ने गोविंद और चतुर्मुख को उद्धृत किया है।[4] इससे प्रतीत होता है कि प्राकृत छंदों पर अन्य लेखकों ने भी कलम उठाई होगी, किन्तु आज उनके ग्रंथों का पता नहीं है।

दामोदरमिश्रकृत वाणीभूषण[5]

दामोदर मिश्र का उल्लेख लक्ष्मीनाथ द्वारा प्राकृत-पैंगलम् की व्याख्या में हुआ है। इस उल्लेख का काल लगभग १६०० ई० कहा जा सकता है। अतएव, दामोदर का समय १६वीं शताब्दी या इसके पूर्व माना जा सकता है। परम्परा में यह कवि भोजराज (११वीं शती) का समकालीन माना जाता है। किन्तु, श्रीजानकीनाथ सिंह ने इसका समय १४वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध अनुमित किया है।[6]

दामोदर मिश्र ने छंदःशास्त्र पर 'वाणीभूषण' नामक ग्रंथ लिखा।[7] इसके दो परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद संज्ञा प्रकरण है, जिसमें मात्रावृत्तों का भी प्रतिपादन है। दूसरे में एकाक्षर से आरंभ कर प्रायः २५ अक्षर तक के छन्दों का सोदाहरण विवेचन है।

---

१. वही, पृ० ५२।
२. ABORI, 1935, pp 44-45
३. वेलंकर: JUB, 1933, p. 52 (para 30)
४. JBBRAS, 1935, pp. 26-27
५. काव्यमाला (सं० ५३) के अंतर्गत निर्णयसागर प्रेस बंबई से, पं० शिवदत्त तथा काशीनाथ पांडुरंग परब द्वारा संपादित होकर, १८९५ ई० में प्रकाशित।
६. जा० ना० सिं०, पृ० १५।
७. जोशी और भारद्वाज: सं० सा० का इति०, पृ० ५७४।

इस ग्रंथ की लक्षणनिर्देश-शैली पद्यशैली में है, जिसमें छंदोलक्षण भी उसी छंद में दिये गये हैं, जिनके वे लक्षण हैं। उदाहरण अलग से दिये गये हैं। इस प्रकार, किसी भी लक्षितोदाहृत छंद का प्रयोग दो बार हुआ है। मात्रिक छंदों की लक्षणसिद्धि मात्रा-संख्या निर्देशादि द्वारा तथा वर्णवृत्तों की लक्षणसिद्धि वार्णिक गणों के सहारे की गई है।

गंगादासकृत छंदोमंजरी[1]

गंगादास का समय १५वीं-१६वीं शती कहा गया है (कृष्णमाचारी)। इसमें कंठाभरण आदि ग्रंथों से छन्द लिए गए, ऐसा निर्देश है, किंतु किस कंठाभरण से, यह स्पष्ट विदित नहीं होता। मात्रिक छंदों में अपभ्रंश में प्रयुक्त होनेवाले छन्द पज्झटिका और दोहादिका (दोहा) का इसमें निर्देश है।[2] छन्दोमंजरी की शैली वृत्तरत्नाकर से कुछ मिलती-जुलती है। वृत्त-रत्नाकर के ही आधार पर छन्द चुनकर इसमें रखे गए जान पड़ते हैं। प्रस्तारादि पर विचार नही है। अतएव, यह ग्रंथ वृत्तरत्नाकर के बाद का मालूम होता है।

वृत्तरत्नाकर की ही तरह इसमें छः स्तवक हैं। प्रथम स्तवक में परिभाषाएँ और सामान्य विवरण हैं। इस स्तवक का नाम है मुखबन्धाख्य स्तवक। समवृत्ताख्य द्वितीय स्तवक में समवृत्तों पर विचार हुआ है। तृतीय स्तवक अर्द्ध-समाख्य है, जिसमें अर्द्धसमवृत्तों की चर्चा है। विषम-वृत्ताख्य चतुर्थ स्तवक का सम्बन्ध विषम वृत्तों से है। पाँचवाँ स्तवक मात्रावृत्ताख्य है और इसमे मात्रिक छन्दों का विवेचन हुआ है। षष्ठ स्तवक वृत्तरत्नाकर के अनुसार प्रस्तारादिसंबंधी नही है। छंदोमंजरी मे षष्ठ स्तवक गद्यप्रद स्तवक है, जिसमें गद्यकाव्य और उसके भेदो पर विचार है।

छन्दोमंजरी की छः टीकाएँ हुई हैं। चन्द्रशेखर की छन्दोमंजरी-जीवन नामक टीका उल्लेखनीय है।

छन्दोमंजरी में मात्रिक छन्दों के अंतर्गत आर्या और उसके भेद, वैतालीय, औपच्छन्दसिक, पज्झटिका और दोहडिका (दोहा) पर विचार हुआ है।

रामचरण शर्मसूरि की वृत्तप्रत्ययकौमुदी[3]

इस लघुपुस्तिका का रचना-काल सं० १९१० है, जो पुस्तिकांत में दिया हुआ है।

ग्रंथ में दो प्रकाश हैं। प्रथम प्रकाश में प्रत्ययादि छंदःशास्त्रीय गणित-वर्णन है, दूसरे प्रकाश में छंदों के नाममात्र गिनाये गये हैं। वर्णवृत्त की ही चर्चा की गई है, मात्रिक छंद नहीं आये हैं।

मौलिकता के अभाव में पुस्तिका नगण्य है।

गंगासहायकृत छंदोङ्कुर[4]

संस्कृत में रचित इस पुस्तक के लेखक गंगासहाय विष्णुदत्त के जिन्होंने इसकी टिप्पणी

१. श्रीगंगादास विरचिता 'छन्दोमंजरी' (प्रभारुचिरा संस्कृतहिन्दीटीकाद्वयोपेता) हरिदास संस्कृत-ग्रंथमाला (चौखम्बा संस्कृत सीरीज) के अंतर्गत जयकृष्णदास हरिदास गुप्त, विद्याविलास प्रेस, बनारस से प्रकाशित (सं० २००५)

२. ज्ञा० ना० सिं० (प्रथम अध्याय)।

३. निर्णयसागर प्रेस, बंबई से सं० १९५६ में प्रकाशित।

४. विष्णुदत्त द्वारा लिखित टिप्पणी और भाषांतर के साथ श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, बंबई से सं० १९६६ में प्रकाशित।

लिखी है और इसका हिन्दी भाषानुवाद प्रस्तुत किया है पिता थे। विष्णुदत्त ने उपोद्घात के अत मे जो तिथि दी है वह है—चैत्रशुक्ल १ सोमवार सं० १९६६। अतएव अनुमान किया जा सकता है कि उनके पिता ने इस ग्रंथ की रचना सं० १[illegible]० में लगभग की होगी।

इस छोटी-सी पुस्तिका मे छंदःशास्त्रीय गणित का विचार नहीं है, संज्ञा-परिचय के उपरात केवल छदो का वर्णन है। प्रधानतया वर्णवृत्त ही आये हैं। अंत मे नाममात्र के लिए आर्या और वैतालीय की अतिसंक्षिप्त चर्चा हो गई है।

छदोलक्षण सर्वथा परंपरामुक्त है। मात्रिक छदो की अत्यल्प चर्चा के कारण इस प्रबन्ध की दृष्टि से इस पुस्तिका का महत्त्व नही के बराबर है।

अमरदासकृत प्रस्तारादिरत्नाकर[1]

इस ग्रथ का रचना-काल, जो ग्रथ के अंत मे दिया हुआ है, सं० १९[illegible] है। इस छोटी-सी पुस्तिका मे, जैसा शीर्षक से ही स्पष्ट है, प्रस्तारादि प्रत्ययों का ही वर्णन किया गया है। इस पुस्तिका मे, संस्कृत मे निबद्ध ३५ पद्य हैं जो अधिकांश अनुष्टुप् छंद मे रचित हैं।

छदो के लक्षणोदाहरण के अभाव मे प्रस्तुत पुस्तिका इस प्रबंध की दृष्टि से महत्त्व-पूर्ण नही।

---

१. श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, बंबई से सं० १९६६ में प्रकाशित।

हिन्दी के प्रमुख छंदोलक्षण-ग्रंथों की सूची।

क्रम सं० संक्षिप्त संकेत	रचनाकाल	लेखक	ग्रंथ
१—छं० हृ० प्र०	सं० १७२३ वि०	मुरलीधर कवि-भूषण	छंदोहृदयप्रकाश
२—चिं० छं०	१८वीं शती वि० पूर्वार्द्ध	चिंतामणि	छंदविचार
३—सु० पिं० (१)		सुखदेव मिश्र	पिंगल (ह०)
४—सु० पिं० (२)	१८वीं शती का पूर्वार्द्ध	„ „	„ „ (ह०)
५—सु० पिं० (३)		„ „	„ „ (ह०)
६—सु० पिं० (४)		„ „	„ „ (ह०)
७—सु० छं० नि०		„ „	छंदो-(ह०) निवास
८—सु० पिं० (५)		„ „	पिंगल (ह०)
९—मु० वृ० वि०	सं० १७२८ वि०	„ „	वृत्त विचार (ह०)
१०—मु० छं० वि०	„ „	„ „	छंदविचार (ह०)
११—	सं० १७४० वि०	मतिराम	छंदसार पिंगल
१२—वृं० छं०	१८वीं शती	वृंदावन दास	छंदसार (ह०)
१३—	„ „	जयदेव मिश्र	वृत्तार्णव (ह०)
१४—	„ „	राय	पिंगल-कनका (ह०)
१५—	„ „	सूरति मिश्र	लघु पिंगल (ह०)
१६—		देव	काव्यरसायन
१७—	सं० १७५९ वि०	माखन	छंदविलास या श्री-नाग-पिंगल
१८—		सोमनाथ	रसपीयूषनिधि
१९—छं० पिं०	सं० १७९९ वि०	भिखारीदास	छंदोर्णव-पिंगल
२०—	सं० १८२९ वि०	मनीराम मिश्र	छंद-छपनी
२१—	सं० १८२९ वि०	नारायण दास	छंदसार
२२—	सं० १८५६ वि०	दशरथ	वृत्तविचार
२३—रा० वृ० त०	सं० १८७३ वि०	रामसहाय	वृत्ततरंगिनी (ह०)
२४—		नंदकिशोर	पिंगल-प्रकाश

क्रम सं०	संक्षिप्त संकेत	रचनाकाल	लेखक	ग्रंथ
२५—	छं० प० भा०	सं० १८९२ वि०	हरदेवदास वैश्य	पिंगल या छंदपयोनिधिभाषा।
२६—	अ० छं०	सं० १९०० वि०	अयोध्या प्रसाद	छंदानंद-पिंगल (ह०)
२७—			रघुवरदयाल दुर्ग	छंदरत्नमाला
२८—	जा० छं० पि०	सं० १९८६ वि०	जानीबिहारी लाल	छंदप्रभाकर-पिंगल (ह०)
२९—			चतुरदास	चतुरचंद्रिका-पिंगल (ह०)
३०—				छंद शास्त्र (पिंगल)
३१—				पिंगल
३२—			बिहारी	छंदप्रकाश (ह०)
३३—	छं० प्र०	२०वीं शती	जगन्नाथ प्रसाद 'भानु'	छंद प्रभाकर
३४—		" "	"	छंद-सारावली
३५—		" "	अवध उपाध्याय	नवीन पिंगल
३६—		" "	रघुनंदन शास्त्री	हिंदी छंद-प्रकाश
३७—		" "	परमानंद	श्रीपिंगलदीपक

प्रकरण २

हिन्दी के छंदोलक्षण-ग्रन्थ

मुरलीधर कविभूषणकृत छंदोहृदय-प्रकाश[1]

प्रस्तुत ग्रथरत्न अबतक साहित्यजगत् की दृष्टि से ओझल, अप्रकाशित पडा था। इन क्तियो के लेखक को इसकी अमूल्य हस्तलिपि प्रो० डा० विश्वनाथ प्रसाद जी के सौजन्य से उपलब्ध हुई तथा वह डेरागाजी खा नामक स्थान से उपलब्ध बहुमूल्य सामग्रियो मे से एक है।

इस ग्रथ के लेखक मुरलीधर कविभूषण है। "मुरलीधर" नाम, और "कविभूषण" उपाधि प्रतीत होता है। किंतु कवि "भूषण" पद का ही उपयोग सक्षिप्त नाम के समान कई पद्यो मे करता है।[2] ग्रथ का शीर्षक "छदो-हृदयप्रकाश" है। ग्रथ छद:शास्त्र का हे किंतु ग्रथारभ मे गणेशवदना के उपरात कवि ने अपने आश्रयदाता महाराज हृदयशाह के वशानुक्रम तथा यश का किंचित् सविस्तर वर्णन किया हे। हृदयशाह प्रेमशाह के पुत्र तथा पुलस्त्य ऋषि के कुलोत्पन्न बताय गये हे।[1] ग्रथ का विपय छदो-विवेचन है। आश्रयदाता

---

१. प्रस्तुत हस्तलिपि हाथ के बने कागज पर है। पृष्ठ का परिमाण बायें-दाहिने १३ इंच तथा ऊपर-नीचे ९ इंच है। पृष्ठसंख्या नागरी अंकों मे पन्ने के एक ओर दी गयी है। वस्तुतः उसे आधुनिक अर्थ मे पृष्ठसंख्या कहना उचित नहीं; क्योंकि प्रत्येक पन्ने को इकाई मानकर संख्या दी गई है। अंतिम पन्ने पर संख्या ५७ है। अर्थात् ग्रंथ मे कुल ११४ पृष्ठ है। (अब हस्तलेख का मुद्रण और प्रकाशन डा० विश्वनाथ प्रसादजी के संपादन मे हिन्दी विद्यापीठ, आगरा से हो गया है।) मूल हस्तलेख की लिखावट काली और लाल रोशनाई मे मोटी (संभवतः सिरकी या कंडे की) कलम की है। अक्षर प्रायः साफसुथरे और साधारण बड़े है। लाल कपड़े की एक जिल्द के अंदर बारह ग्रंथों की हस्तलिपियाँ बँधी है। ग्रंथ है—१—छंदोहृदयप्रकाश (भूषण), २—वृत्तार्णव, ३—लघुपिंगल, ४—पिंगलकणका, ५—पिंगलसार या छंदसार, ६—वृत्तरत्नाकर सेतु (हरिभास्कर), ७—वृत्तरत्नाकर (केदार), ८—श्रुतिबोध (कालिदास, टीकासहित), ९—वृत्तरत्नावली (चिरंजीत भट्टाचार्य), १०—वृत्तिरत्नमाला (सानंद मिश्र), ११—भाषाभूषण (महाराजा जसवंतसिंह), १२—बावनाक्षरी। इनमे प्रथम पांच ग्रंथ हिंदी (व्रजभाषा) में हैं, जिनका विषय छंदःशास्त्र है। अंतिम ग्रंथ भी हिंदी में है, किंतु उसका विषय अलंकार है। शेष ग्रंथ संस्कृत मे है। वृत्तरत्नाकर और श्रुतबोध प्रसिद्ध ग्रंथ हैं, जो पहले प्रकाशित भी हो चुके है, फिर भी पाठ-भेद की दृष्टि से उनकी प्रस्तुत हस्तलिपियाँ ध्यातव्य है। हिंदी के छंदोग्रंथ प्रथम पाँच ही हैं, अतः प्रस्तुत प्रबंध की दृष्टि से इन्हीं के विवरण महत्त्वपूर्ण है। इनके विवरण क्रमशः आगे के पृष्ठों में दिये गये है।

२. भू०—छं० हृ० प्र०, पृ० ३ क, पं० १०।

के नाम पर ही ग्रंथ का शीर्षक 'छंदोहृदय-प्रकाश' रखा गया है। ग्रंथ में कविवंश-प्रकाश तथा ग्रंथसमाप्ति का काल इन शब्दों मे है—

"गहवर गुनमंडत्त कवि पंडित रामकृष्ण कस्यप कुलपूषन। रामेश्वर ता तनय सुकवि जाकवितनहिं न निरखेउनेक दूषन। मुरलीधर ता सुअन सुपंचमदेवी सिंह किअउ कविभूषण छंदोहृदयपकाश रच्योतिन्हजगमगात जिमि हरपूषन॥८॥ संवत सहत्र सय वरष, तेइस कातक मासु। पूनव कों पूरन भयो, छंदो-हृदय-पकासु॥९॥"[2]

इन उल्लेखों मे विदित होता है कि मुरलीधर कविभूषण गहवर-निवासी पंडित राम-कृष्ण काश्यप कुलोत्पन्न रामेश्वर के पुत्र थे। कवित्वशक्ति और पांडित्य कवि भूषण को वंशानुगत रूप से प्राप्त हुए थे। रामेश्वर का पूरा नाम रामेश्वर त्रिपाठी था, जैसा प्रत्येक उल्लास के अत में आये इन शब्दों से विदित होता है—

"त्रिपाठरामेस्वरात्मज मुरलीधर कविभूषणविरचिते छंदोहृदयपकासे····

'त्रिपाठी' उपाधि से कवि भूषण का ब्राह्मणजातीय होना सूचित है।

"उपर्युक्त दोहे में ग्रंथरचना-समाप्ति काल का स्पष्ट निर्देश है—सं० १७२३ वि०, कार्तिक पूर्णिमा (सन् १६६६ ई०)।

'शिवराजभूषण' के रचयिता प्रसिद्ध कवि भूषण का काल भी इसी के लगभग माना जाता है। पं० रामचंद्र शुक्ल[4] तथा डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी[5] उक्त भूषण का जन्म सं० १६७० वि० मानते हैं। मिश्रबंधु[6] भूषण का जन्म सं० १६९२ वि० तथा शिवसिंह सेंगर[7] सं० १७३८ वि० में मानते हैं। श्रीभगीरथप्रसाद दीक्षित ने[8] अंतिम विकल्प को शुद्ध माना है। यदि सेंगर और दीक्षितजी का मंतव्य स्वीकार किया जाय तो स्पष्ट ही 'छंदोहृदयप्रकाश' के लेखक भूषण तथा 'शिवराज-भूषण' के लेखक भूषण दो भिन्न व्यक्ति थे, क्योंकि शिवराजभूषण के लेखक के जन्म के १५ वर्ष पूर्व 'छंदोहृदयप्रकाश' की रचना हो चुकी थी। किंतु यदि शुक्लजी अथवा मिश्रबंधु का दिया समय स्वीकार किया जाय तो 'शिवराजभूषण' के रचयिता भूषण तथा 'छंदोहृदयप्रकाश' के रचयिता भूषण के ऐक्य की संभावना विचारणीय होगी क्योंकि सं० १७२३ (छं० हृ० प्र० का रचना-काल) में उक्त भूषण की अवस्था ५३ अथवा ३१ वर्ष की मानी जायगी। प्रथम विकल्प वाली अवस्था उच्चकोटि के छंदोग्रंथ लिखने की दृष्टि से उपयुक्त कही जा सकती है। दोनों भूषणों के ऐक्य की संभावना 'शिवराजभूषण' के एक दोहे से इस प्रकार है:—

---

१. छं० हृ० प्र०। पृ० १।
२. छं० हृ० प्र०। पृ० ५७ ख। पं० ३-८। हस्तलेख।
३. वही, प्रत्येक उल्लास के अंत में।
४. पं० रा० च० शुक्ल: 'हि० सा० का इति०'। पृ० ३०७।
५. डा० ह० प्र० द्विवेदी: हिंदी साहित्य : उसका उद्भव और विकास। पृ० ३१२।
६. मिश्रबंधु: हिंदी साहित्य का इतिहास; पृ० २१०, सं० हिंदी नवरत्न; पृ० १७१।
७. शिवसिंह सेंगर: 'शिवसिंह-सरोज'। पृ० ४६७।
८. श्री भगीरथ प्रसाद दीक्षित: भूषणविमर्श, पृ० ९-१४।

कुल सुलंक चित्रकूट पति, साहस सील समुद्र।
कवि भूषण पदवी दई, हृदयराम सुत रुद्र॥[1]

इस दोहे से विदित होता है कि शिवराजभूषण के कवि का असली नाम कुछ और था, 'भूषण' तो हृदयराम के पुत्र रुद्र द्वारा दी हुई उपाधि है। ये हृदय राम 'छंदोहृदयप्रकाश' में उल्लिखित 'हृदयशाह'[2] तो नहीं? "शिवराजभूषण" के कवि का नाम भी भूषण नहीं, भूषण उपाधि है। तो उनका असली नाम 'मनिराम'[3] न होकर मुरलीधर है क्या?

'शिवराजभूषण' के कवि भूषण ने अपने को कश्यपगोत्रीय रत्नाकर का पुत्र कहा है—

द्विज कनौज कुल कश्यपी, रत्नाकर सुत धीर।
बसत त्रिविक्रमपुर नगर, तरनी तनूजा तीर॥[4]

'छंदोहृदयप्रकाश' के कवि भूषण ने अपने को कश्यपगोत्रीय रामेश्वर त्रिपाठी का पुत्र कहा है।[5] रत्नाकर और रामेश्वर दोनों कश्यपगोत्रीय हैं, त्रिपाठी ब्राह्मण हैं—क्या दोनों नाम एक ही व्यक्ति के हैं? नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, में लिखते हुए कैप्टेन शूरवीर सिंह ने वस्तुतः रत्नाकर और रामेश्वर को एक व्यक्ति माना है,[6] यद्यपि ऐसा मानने का कोई युक्तिसंगत आधार नहीं प्रस्तुत किया। 'रत्नाकर' रामेश्वर त्रिपाठी का उपनाम है, यह अनुमान सर्वथा निराधार है।

रामेश्वर त्रिपाठी की चर्चा मुरलीधर कविभूषण के एक ग्रंथ अलंकार-प्रकाश के प्रसंग में हुई है तथा शूरवीरजी ने दुस्साहस के साथ इस ग्रंथ के लेखक मुरलीधर कविभूषण को शिवराज-भूषण के रचयिता प्रसिद्ध कवि भूषण से अभिन्न घोषित किया है।[7]

अलंकार-प्रकाश के प्रत्येक उल्लास के अंत में लेखक ने अपना परिचय 'त्रिपाठी रामेश्वर आत्मज कविभूषण मुरलीधर' के रूप में उसी प्रकार दिया है, जिस प्रकार छंदोहृदयप्रकाश के प्रत्येक उल्लास के अंत में। द्रष्टव्य है कि दोनों ग्रंथ 'उल्लासों' में ही विभक्त हैं तथा दोनों के शीर्षक प्रकाशांत हैं। इस कारण यह कहा जा सकता है कि अलंकारप्रकाश तथा छंदोहृदयप्रकाश के लेखक एक ही व्यक्ति हैं, और वे हैं रामेश्वर त्रिपाठी के पुत्र मुरलीधर कविभूषण। किंतु ये भूषण शिवराजभूषण के रचयिता से नितांत भिन्न हैं, इसमें संदेह नहीं। मतिराम से दोनों भूषणों का शैलीसाम्य[8] दोनों भूषणों के ऐक्य को प्रमाणित नहीं करता।

डा० विश्वनाथप्रसादजी का भी निश्चित मत है कि छंदोहृदय-प्रकाशकार भूषण शिवराजभूषण के रचयिता कवि भूषण से सर्वथा भिन्न व्यक्ति हैं।[9] दोनों के पिता

---

१. भूषण : शिवराजभूषण, छंद २८।
२. छं० हृ० प्र०, पृ० ३ ख। हस्तलेख।
३. भागीरथ प्रसाद दीक्षित : महाकविभूषण। पृ० १५।
४. भूषण : शिवराजभूषण। छंद २६।
५. भू०—छं० हृ० प्र०, पृ० ५७ ख।
६. कैप्टेन शूरवीर सिंह : महाकविभूषण का समय। नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ६०, अंक २, सं० २०१२, पृ० १२१।
७. वही, पृ० ११५।
८. वही, पृ० ११७।
९. दे०—डा० विश्वनाथप्रसादकृत तद्विषयक निबंध (आगरा विश्वविद्यालय हिन्दी विद्यापीठ के तत्त्वावधान में 'ग्रंथ-वीथिका' के अंतर्गत।

रामेश्वर और रत्नाकर दो भिन्न व्यक्ति हैं तथा दोनों के आश्रयदाता 'हृदयसाह' तथा हृदय-राम के पुत्र रुद्र' भी अलग-अलग व्यक्ति हैं। मुरलीधर नाम का उल्लेख अलंकार-प्रकाश तथा छंदोहृदयप्रकाश में है, किंतु 'शिवराजभूषण', 'शिवाबावनी', 'छत्रसाल-दसक' आदि ग्रंथों में नहीं, यह भी इस दृष्टि से कम अर्थपूर्ण नहीं है।

ग्रंथ-समाप्ति इन शब्दों के साथ होती है--

"इतिश्री पौलस्त्यवंशवारिज विकासन मार्त्तंड गढ़ादुर्गाधिराज्यलक्ष्मीरषण विचष्यण दोर्दंड चतुःषष्टि कलाविलासिनी भुजंग महावीराधिवीर राजाधिराज श्री महाराजा हृदय-नारायणदेव प्रोत्साहित त्रिपाठ रामेश्वरात्मज मुरलीधर कविभूषण विरचिते छंदोहृदेप्रकासे-गद्यविवरण नाम त्रयोदसोउल्लासः ।।१३।। इति श्री पिंगलभूषणकृत भाषासमाप्तं।। ।।संवत् १८३९ वर्षे श्रावण शुदिप्रतिपदायां भृगुवासरे लिषतं पुस्तकमिदं श्री श्री श्री श्री श्री श्री श्री गोस्वामि रण छोड़ रायजी कस्यस्वपठनार्थ लिप्यीकृतं होवणे पुहकरणोज्ञातीय देरेगाजीखान मध्ये।। यादृशं पुस्तकं दृष्ट्वा तादृश लिखितं मया। यदि शुद्धमशुद्ध वा मम दोषो न दीयतां।। शुभमस्तु।।"

अंतिम वाक्यों मे ग्रंथ की प्रस्तुत हस्तलिखित प्रति के लिपि-काल का निर्देश है---सं० १८३९ श्रावण शुक्ला प्रतिपदा, शुक्रवार। साथ ही यह भी उल्लेख है कि यह प्रति डेरा-गाजी खां नामक स्थान में स्वामी रणछोड़रायजी के अपने पढने के लिए तैयार की गई। प्रतिलिपिकार ने यह दावा किया है कि पुस्तक जैसी उसने देखी, वैसी ही लिखी, अतएव शुद्धाशुद्ध का दोषी वह नहीं।

इस प्रकार, ग्रंथ की प्रस्तुत प्रतिलिपि, जो सं० १८३९ (- सन् १७८२ ई०) की है, ग्रंथरचना के ११६ वर्ष बाद की होती हुई भी पर्याप्त प्राचीन, विश्वसनीय और महत्त्व-पूर्ण है।

ग्रंथ की वर्ण्य वस्तु तेरह उल्लासों में विभक्त है। प्रथम उल्लास में महाराज हृदय-शाह का वंशानुक्रम और यशोवर्णन है। दूसरे तथा तीसरे उल्लासों में पिंगल के दशाक्षर का तथा लघुगुरुस्वरूप का विचार है। चौथे से सातवें उल्लासों तक छंदों के लक्षणोदाहरण हैं; चौथे में एकाक्षर उक्ता से लेकर षड्विंशत्यक्षर उत्कृति जाति तक के लगभग २०० सम वर्णिक छंदों के लक्षण तथा उदाहरण अलग-अलग दिये गये हैं। छंदों के लक्षण उन्हीं छंदों में दिये गये हैं---इस प्रकार लक्षण उदाहरण का काम भी करते हैं, यद्यपि अलग से उदाहरण भी प्रत्येक छंद का दिया गया है। इस प्रकार प्रत्येक छंद का व्यावहारिक उप-योग दो बार हुआ है, एक बार लक्षण के लिए, दूसरी बार उदाहरण के लिए। इसी पद्धति पर पाँचवें उल्लास में अर्द्धसमवर्णवृत्त-विचार है, जिसके अंतर्गत ९ छंद आये हैं। अगले उल्लास में ३ विषम वर्णवृत्त आये हैं। सप्तम उल्लास में जाति (मात्रिक) छंदों का विवेचन भी उपर्युक्त लक्ष्यलक्षण-पद्धति पर किया गया है, जिनमें मात्रिक छंदों के लक्षण भी उन्हीं छंदों में रखे गये हैं, जिनके वे लक्षण हैं। मात्रिक छंदों में लगभग ४० छंद तथा उनके भेद हैं। छंदोभेदों के नामोल्लेख और संक्षिप्त लक्षण-निर्देश की दृष्टि से मात्रिक छंदों की संख्या भी इस ग्रंथ में २०० से कम नहीं, किंतु लक्षणोदाहरण-पद्धति पर विवेच-नार्थ केवल ५६ के लगभग छंद आये हैं। शेष उल्लासों में छंदःशास्त्रीय गणित के अंतर्गत प्रस्तारादि अष्टप्रत्ययों का विचार तथा गद्यविवेचन है।

आगे ग्रंथ के प्रत्येक उल्लास की वस्तु तथा परिमाण का परिचय संक्षेपतः अलग-अलग दिया जा रहा है।

प्रथम उल्लास में एक छप्पय छंद मे गणेशवंदना के उपरांत कवि के आश्रयदाता महाराज हृदयशाह का वंशानुक्रम-वर्णन तोमर छंद मे रचित ८७ अर्द्धालियो तथा एक दोहा मे है। हृदयशाह को पुलस्त्य ऋषि का कुलोत्पन्न प्रेमशाह का पुत्र कहा गया है। तदुपरांत आठ कवित्तों में हृदयशाह की प्रशस्ति तथा एक छप्पय में ग्रंथरचना के उद्देश्य का कथन है। इस प्रकार प्रथम उल्लास मे कुल ९८ पद्य है। तोमर छंद की अर्द्धालियों की विषम संख्या से विदित होता है कि कवि ने प्रत्येक अर्द्धाली को संपूर्ण पद्य के रूप में प्रयुक्त किया है। अन्त्यानुप्रासविधान से भी इसकी पुष्टि होती है; क्योंकि तुक दो-दो पंक्तियों के ही मिलते है।

प्रथम उल्लास में जो कवित्त आये है, उनके साहित्यिक सौंदर्य और भाषा-सौष्ठव को देखते हुए कहा जा सकता है कि कविभूषण यथेष्ट प्रतिभाशाली और समर्थ कवि थे। एक उदाहरण द्रष्टव्य है:—

कौन न कहेगो मार लीनो अवतार जानि
वानी को उचार सके चार चतुरंग है।
नित नित-जित चित बेनु चतुराई पाई
कीने चाहि देत यों सफल परसंग है।
भूमि नाहि पैए कोऊ जोक सम तम कीजै
उपमा न पैए तो अकारथ ही अंग है।
चाहि के हृदयसाहिभूप मता ही
कामदेउ देह दाहि भयो याही तें अनंग है॥[1]

द्वितीय उल्लास का आरंभ छंदःशास्त्र के आदि आचार्य पिगलनाग की, सवैया छंद मे, स्तुति से होता है। इस पद्य में इसका स्मरण कराया गया है कि एक बार पिंगल नाग की भेंट समुद्र के किनारे गरुड़जी से हो जाने पर किस प्रकार छंदःशास्त्र के सविस्तर वर्णन ने उनके प्राण बचाये थे।[2] तदुपरांत एक दोहा, दो सवैया, एक सोरठा, एक दृढ़पद छंद, चार कवित्त और पुनः दो दोहों में छंदःशास्त्रीय परिभाषाएँ—दशाक्षर, वर्ण तथा मात्रा-प्रस्तार, वर्णगणफलाफलविचार आदि—वर्णित है। इस उल्लास में कुछ १२ पद्य है।

तृतीय उल्लास में मात्रा-विवरण के अंतर्गत गुरुलघुविचार, गुरुलघुस्वरूपलक्षण तथा गुरुलघु ज्ञानफल-कथन एक सवैया, एक चौपाई, दो दोहे, पुनः एक सवैया, दो दोहे और पुनः एक सवैया—मूल आठ पद्यों में है।

चतुर्थ उल्लास में (वर्ण) वृत्त-विवरण है। प्रथम दोहे में एक से लेकर छब्बीस वर्ण के पादवाले छंदों का निर्देश तथा दूसरे में उनकी संख्या जानने का प्रकार बतलाया है। तीसरे दोहे में समवृत्त का लक्षण कथित है। चौथे दोहे से उक्ता छंद का आरंभ है। एकाक्षर श्री छंद का लक्षण-कथन श्रीछंद में ही पाँचवें पद्य में है। छठे में इसका उदाहरण है। द्वयक्षर अत्युक्ता प्रकरण के अंतर्गत काम, मही, सार और मधुछंदों के लक्षण

---

१. छं० हृ० प्र०, पृ० २ ख, पं० ९-१३।

२. दे० इसी अध्याय में 'पिंगलाचार्यकृत छंदःशास्त्र' शीर्षक के अंतर्गत।

और उदाहरण क्रमश पृथक्-पृथक् ९ पद्यो मे हैं। इसी प्रकार मध्याप्रकरण के अतर्गत त्र्याक्षर ताली, ससी, प्रिया, रमन, पचाल, मृगेन्द्र, मदर तथा कमल छदो के लक्षण और उदाहरण १० पद्यो मे हैं। प्रतिष्ठा प्रकरण के अतर्गत इसी प्रकार चार अक्षरो के तीर्णा, हारि तथा नागानिका छदो का वर्णन ७ पद्यो में हुआ है। सुप्रतिष्ठा प्र० के अतर्गत पचाक्षर समोहा, हारी, हस तथा यमक छद ९ पद्यो मे वर्णित हैं। गायत्री प्रकरण मे षडक्षर शेष, तिलक, विमोहा, चतुरशा, मथान, शखनारी, मालिनी, मध्या, वसुमती तथा दमनक छदो का वर्णन २१ पद्यो मे हुआ है। उष्णिक् प्रकरण में सप्ताक्षर शीर्षा (शिष्या[1]), ममानिका, सुवास, करहच, मधुमती, कुमारललित, मदलेखा तथा हसमाला छदो का वर्णन १७ पद्यो मे है। अनुष्टुप् प्रकरण मे अष्टाक्षर विद्युन्माला, प्रमानिका, मल्लिका, तुगा, कमल, मानवकीड, चित्रपदा, तथा नाराचिका छद १७ पद्यो मे वर्णित हैं। बृहती प्रकरण मे नौ अक्षरो के रूपमाला, लक्ष्मीधर, मारगिक, पाईता, कमला, बिबु, तोमर, मणिबध, हलमूषिका, युक्ता तथा रुक्वती छद २३ पद्यो मे वर्णित हैं। पक्ति प्रकरण के अतर्गत सजुनी, चपकमाला, सारवती, सुषमा, अमृतगति, मत्ता, मनोरमा तथा हमी छद १७ पद्यो मे वर्णित हैं। त्रिष्टुप् प्रकरण मे एकादशाक्षर मालती, बधु, सुमुखी, दोधक, मालिनी, वातोर्मि, दमनक, श्येनिका, रूपश्येनिका, इद्रवज्रा, उपेद्रवज्रा, उपजाति, स्वागता, अनुकूला, भ्रमरविलासिता, मोटनक, उपस्थिता (त ज ज ग ग[2]), माली, पुन उपस्थिता (ज स त ग ग), वृत्ता तथा समुद्रिका छद ४५ पद्यो मे वर्णित हैं। जगती प्रकरण मे द्वादशाक्षर विश्वाधारा (४म),[4] भुजगप्रयात, लक्ष्मीधर, त्रोटक, सारग, मोतियदाम, मोदक, द्रुतविलबित, प्रमिताक्षरा, चद्रवर्त्म वशस्थ, इद्रवश, पुट, ललिता, उज्ज्वला प्रियवदा, द्रुतपदा (न भ ज य),[5] नवमालती तथा तरल-नयनी आदि छदो का वर्णन ५६ पद्यो मे है। अतिजगती प्रकरण मे त्रयोदशाक्षर माया, मत्तमयूर, तारक, कद, पकावली, हरिमुख, प्रहर्षिणी, तनुरुचिरा, चडी, चद्रिका, क्षमा, मजुभाषिणी, मदभाषिणी, प्रभावती तथा कलहस छदो का वर्णन २९ पद्यो मे है। शक्वरी प्रकरण के अतर्गत चतुर्दशाक्षर वसततिलका, चक्र, वासती, असबाधा, अपराजिता, प्रहरणकलिका, लोल, इद्रवदना तथा नादीमुखी, छद १९ पद्यो मे वर्णित हैं। अतिशक्वरी प्रकरण मे पचदशाक्षर सारगी, भ्रमरावली, चामर, निशिपाल, चित्तहस, मालिनी, सरभ, मनिगुननिकर, विपिनतिलका, चद्रलेखा, रतिलेखा, प्रभद्रक तथा चित्रा छदो का वर्णन २५ पद्यो मे है। अष्टि प्रकरण मे षोडशाक्षर ब्रह्म, मत्तगजविलसित, नराच, चचला, नीलस्वरूप, चकिता, मदनललित, वाणिनी, प्रवरललित, गरुडरुत तथा अचलधृति नामक छद २३ पद्यो मे वर्णित हैं। अत्यष्टि प्रकरण में सप्तदशाक्षर प्रस्तार से माला, शिखरिणी, मदाक्राता, हरिणी, वशपत्रपतिता, समुदविलासिनी,

---

१. भानु: छं० प्र०। पृ० १२३।

२. यह मोटनक छंद (त ज ज ल ग) से बहुत अधिक मिलता जुलता है, अंतर केवल दसवें वर्ण के स्वरूप में है। इस छंद को संस्कृत लक्षणकारों में हेमचंद्र (२। १३३।) तथा जयकीर्त्ति (२। १०३) ने 'उपस्थिता' कहा है।

३. इसे केदार (३। ४५। १) तथा हेमचंद्र (२। १३४) ने 'उपस्थित' कहा है।

४. इसे प्रा० पैं० (२। १२२) में विद्याधर तथा हे०—छंदो० (२। १७३) में कल्याण कहा है।

५. ज० की—छंदो०।२।१४२।

नर्दटक, कोकिल, दोहारिणी तथा भाराक्राता छदो के वर्णन २१ पद्यो मे आये हैं। धृति प्रकरण मे अट्ठारह अक्षरो के मजीरा, क्रीडाचद्र, चर्चरी, कुसुमितलतावेल्लि, नदन, नाराच, चित्रलेखा, शार्दूलललित तथा सुधा नामक छद १४ पद्यो मे वर्णित है। अतिधृति प्रकरण मे उन्नीस अक्षरो के शार्दूलविक्रीडित, चद्र, धवल, शभु, मेघविस्फूर्जिता, छाया, सुरमा तथा फुल्लदाम नामक छद १७ पद्यो मे आये हैं। कृति प्रकरण मे विशत्यक्षर गीतिका, गडका, चित्र, सुधा (य म न न त त ग ग[1]) तथा सरववदना नामक छदो का वर्णन हुआ है। प्रकृति प्रकरण मे २१ अक्षरो के स्रग्धरा, नरेद्र तथा सरसी नामक छद ७ पद्यो मे वर्णित हैं। आकृति प्रकरण मे २२ अक्षरो के हसी, मदिरा, तथा भद्रक छद ७ पद्यो मे आये हैं। विकृति प्रकरण मे २३ अक्षरो के सुदरी, अद्रितनया, मत्तक्रीडा, चकोर, कवित्त-पद, मत्त, तथा गजेन्द्रगति नामक छद ११ पद्यो मे आये हैं। सस्कृति प्रकरण मे २४ अक्षरो के प्रस्तार से दुर्मिला, किरीट तथा तन्वी नामक छद ७ पद्यो मे वर्णित हैं। तदुपरात 'आकृति' (=अतिकृति) प्रकरण के अतर्गत २५ अक्षरो के क्रौचपदा छद का वर्णन है। इस प्रकरण मे केवल ३ पद्य हैं। उत्कृति प्रकरण मे २६ अक्षरो के भुजगविजृभित छद वर्णित है। इसमे भी केवल ३ पद्य हैं। यहाँ चतुर्थ उल्लास समाप्त हो जाता है।

चतुर्थ उल्लास की कुल पद्यसख्या ४३९ है। इसमे सम वर्ण-वृत्तो के लक्षण और उदाहरण अलग-अलग दिये गये हैं। किंतु, पद्धति यह है कि लक्षण जिस छद का है, उसी छद मे दिया गया है। इस प्रकार, प्रत्येक छद दो बार प्रयुक्त हुआ है, एक बार लक्षण के लिए और दूसरी बार उदाहरण के लिए।

पचम उल्लास मे अर्द्धसम वर्ण-वृत्त वर्णित हैं। इसमे चित्र, उपचित्र, वेगवती, हरिणीप्लुत, अपरवक्र, सुदरी, द्रुतमध्या, मदिरामुख, दुर्मिलामुख छदो का वर्णन तथा अर्द्धसमवृत्त-प्रकार-कथन १८ पद्यो मे है।

षष्ठ उल्लास मे विषम वर्णवृत्त वर्णित हैं। ये छद आये हैं—उद्गता, सौरभ तथा ललित। अत मे विषम-वृत्त-प्रकार-कथन दोहा मे है। कुल ७ पद्य हैं।

सप्तम उल्लास मे जाति (= मात्रिक) छदो का विचार है। इस उल्लास मे भी छदो के लक्षण उन्ही छदो मे रखे गये हैं—

लछन वाही छद को, वाही छदहि कीने।[2]

सबसे पहले गाथा छद आया है, जिसके गण-नियम, वर्णकृत भेद और नाम तथा कला (मात्रा)—कृत भेद और नाम तथा इनके लक्षण दिये हैं। गाथाभेद के अतर्गत विपुला, चपला, मुखचपला और जघनचपला आये हैं। तदुपरात गाहू, उपगीति, गाहिनी, सिहिनी आदि के लक्षणोदाहरण हैं। इसके बाद स्कधक छद, उसके वर्णकृत भेद और नाम आये हैं। इसके बाद ही दोहा छद आया है, जिसका लक्षण इस प्रकार बताया गया है—

छकल चारिकल गुणेकल, विषम चरण में वानि।[3]
छकल चारिकल कला इक, सम पद दोहा जानि॥

---

१. हे०—छंदो० (२।३३।८) मे तथा स्वयं—स्वयंभूच्छंदस् (१।१०८) में इसे 'शोभा' कहा गया है।

२. छं० हृ० प्र०, पृ० ५८।

३. छं० हृ० प्र०, ६२।

दोहा के भ्रमर, भ्रामर, सरभ, सेन, मंडूक, सुभरुकटु, करभ, कहीनरु, हंस, पुनतमदकल, जलधर, वटुअबल, वनर, अरुत्रिकल, कमठ, गनिमीन, हंस, अहि, वाछ, विलारउ, सुनक, मूस, पातंग।—इन २३ भेदों का उल्लेख किया गया है, किंतु उदाहरण केवल प्रथम भेद का दिया गया है। दोहा का वर्ण (ब्राह्मणादि) भेद तथा उसके दोप भी संक्षेप में निर्दिष्ट है। तदुपरांत रसिक छंद और उसके नाम-भेद, रोला छंद और उसके नाम-भेद, काव्य छंद और उसके नाम-भेद, उल्लाला छंद, छप्पय छंद, काव्य और छप्पय दोप-कथन, छप्पय के नाम-भेद, छप्पय-जाति (ब्राह्मणादि) कथन, गंधान छंद, चौपैया छंद, घंता छंद (घत्ता), घत्तानंद छंद, पद्धिडि (पद्धरी) छंद, अडिल्ल छंद, पादाकुलक छंद, चोबोला छंद, रड्डा छंद और उसके नाम-भेद और लक्षण, पद्मावती छंद, कुंडलिया छंद तथा उसके गण-नियम, गगना छंद, दोबइ (दुवई) छंद, झूडना (झूलना) छंद, खंजा छंद, सिक्खा छंद, मालती छंद, चुलियाला छंद, सोरग छंद, हाकलि छंद, मधुभार छंद, आमीर छंद, दंडकला छंद, दीपक छंद, सिंहावलोकन छंद, प्लवंगम छंद, लीलावती छंद, हरिगीता छंद, हंसगति छंद, त्रिभंगी छंद, दृढ़पद छंद, दुर्मिला छंद, हीर छंद, जनहरना छंद, मदनहरा छंद, मरहटा छंद, तथा सवैया छंद का वर्णन १८६ पद्यों में है। छंदों का वर्णन-क्रम प्राकृत-पैंगलम् के अनुसार है। अष्टम उल्लास में वर्णोद्दिष्टादि छंदःशास्त्रीय गणित का वर्णन १६ पद्यों में है। पहले उद्दिष्ट-लक्षण दोहा-कवित्त में दिया गया है। फिर नष्ट-लक्षण दोहा-कवित्त में है। फिर वर्ण-खंडमेरु-लक्षण दोहा-कवित्त तथा सोमार्क छंद में है। फिर वर्णपताका-लक्षण, वर्ण तथा मात्रापताका-प्रकाश, मर्कटी-लक्षण तथा चार वर्णों तक के मर्कटी-स्वरूप क्रमशः वर्णित हैं।

नवम उल्लास में मात्रागण-प्रस्तारविचार है। मात्रा-गणप्रस्तार प्रकार, चौकल के साधारण और विशेष नाम, मात्रागण का उद्दिष्ट-लक्षण, मात्रागण का नष्ट-लक्षण, मात्रागण का खंडमेरु लक्षण, पंचकल-खंडमेरु-स्वरूप, मात्रागण-पताकालक्षण, मात्रागण-मर्कटीजाल-लक्षण और स्वरूप, सूचीलक्षण, तथा लघुगुरु-संख्या जानने की रीति १० पद्यों में वर्णित है।

दशम उल्लास में छंदोविवरण है। साधारण छंद का लक्षण, जाति और वृत्त-लक्षण, सम, अर्द्धसम और विषम वृत्तलक्षण, समवृत्तस्थान-कथन, उक्तादिभेद (उक्ता से उत्कृति तक नामोल्लेख), वृत्तसंख्या जानने की रीति आदि का वर्णन कुल २४ पद्यों में है।

एकादश उल्लास में मुक्त छंद का विवरण है। सबसे पहले (द्वितीय) त्रिभंगी छंद, सालूर छंद, धनाक्षरी छंद, रूपधनाक्षरी छंद तथा श्लोक का वर्णन १० पद्यों में है।

द्वादश उल्लास में दंडक छंद का विवरण है। इसके अंतर्गत चंद्रवृष्टिप्रपात दंडक, आनदंडक, अर्णव दंडक, व्याल दंडक, जीमूत दंडक, लीलाकर दंडक, उद्दाम दंडक, शंखदंडक, प्रचित दंडक, अशोकपुष्पमंजरी दंडक तथा अनंगशेखर दंडक का वर्णन २६ पद्यों में है।

त्रयोदश उल्लास में गद्य-विवरण है, जिसके अंतर्गत पूर्णक गद्य, उललिका ग्राम गद्य, वृत्तगंध-गद्य तथा अंत में कविवंश-प्रकाश आये हैं।

चिन्तामणि त्रिपाठी—छन्दविचार

चिन्तामणिजी का जन्मकाल संवत् १६६६ के लगभग और कविताकाल संवत् १७०० के आसपास बताया गया है। ये तिकवांपुर (कानपुर) के रहनेवाले थे।[1] 'शिवसिंह-

१. रा० च० शु०, हि० सा० का इति० : पृ० २९२ (१९९७ सं०)

सरोज' के अनुसार ये 'बहुत दिन तक नागपुर में सूर्यवंशी भोसला मकरंदशाह के यहाँ रहे और उन्हीं के नाम पर 'छंदविचार' नामक पिंगल का बहुत भारी ग्रंथ बनाया।' चिन्तामणि के अन्य ग्रंथ हैं—काव्यविवेक, कविकुलकल्पतरु, काव्यप्रकाश और रामायण।

छंदविचार की एक हस्तलिपि बनारस के महाराज के पुस्तकालय में है। दूसरी हस्तलिपि पं० कृष्णबिहारी मिश्र के पास बताई गई। कहा जाता है, दोनों का पाठ लगभग समान है। प्रथम हस्तलिपि में लिपिकाल इस प्रकार दिया गया है—

श्री चिन्तामणि कृते छन्दोविचार......
सम्वत् १९५६ मिती कातिक सुदी बुधवार।

यह ग्रंथ साधारण और छोटा है, तथा अध्यायों में विभक्त नहीं है। विषय का विवेचन लगभग सम्पूर्णतया प्राकृतपैंगलम् पर आधृत है।[1] अतएव इस ग्रंथ का महत्त्व, प्रस्तुत प्रबंध की दृष्टि से, स्वतंत्र रूप में नहीं है। चिन्तामणिकृत एक दूसरा छंद-संबंधी ग्रंथ 'पिंगल' का० ना० प्र० सभा द्वारा प्रकाशित विवरण में निर्दिष्ट है।[2]

सुखदेव मिश्र—'पिंगल', 'वृतविचार' तथा अन्य ग्रंथ

सुखदेव मिश्र का जन्मस्थान 'कंपिला' है, जिसका वर्णन इन्होंने अपने ग्रंथ 'वृत्तविचार' में किया है। ये दौलतपुर (जिला रायबरेली) के निवासी थे।[3]

सुखदेव मिश्र का रचनाकाल सं० १७२० से १७६० तक माना गया है।[4] इनकी लिखी सात पुस्तकों का उल्लेख साहित्येतिहास में मिलता है—

वृत्तविचार (सं० १७२८), छंदविचार, फ़ज़लअली प्रकाश, रसार्णव, शृंगारलता, अध्यात्म-प्रकाश (सं० १७५५) तथा दशरथ राम।

पिंगल

इन पंक्तियों के लेखक को, इनके अतिरिक्त सुखदेवमिश्रकृत अबतक अज्ञात एक अन्य ऐसे ग्रंथ की हस्तलिपि का पता चला है,[5] जो छंदो-विवेचन के प्रसंग में इन पूर्वोल्लिखित ग्रंथों से किसी प्रकार कम महत्त्वपूर्ण नहीं। इस ग्रंथ का शीर्षक है 'पिंगल' जिसकी हस्तलिपि गया के श्रीमन्नूलाल पुस्तकालय में सुरक्षित है। इस पुस्तकालय में सुखदेव मिश्र के नाम पर छंदो-ग्रंथ संबंधी तीन हस्तलिपियाँ वर्त्तमान हैं। किंतु, हमारे उद्देश्य के लिए महत्त्वपूर्ण उनमें से प्रथम हस्तलिपि मात्र है।

---

१. जा० ना० सिं०, अ० २। 'चिंतामणि त्रिपाठी।'।

२. हस्तलिखित हिं० पु० का सं० वि०, पहला भाग, का० ना० प्र० सभा, पृष्ठ ८६।
पिंगल—चिन्तामणि त्रिपाठीकृत—हस्तलिखित-संख्या—घ-३६ तथा छ, १५१।

३. पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी भी दौलतपुर के रहनेवाले थे। उन्होंने 'सरस्वती' ··· में मिश्रजी का अच्छा-सा जीवन-वृत्त लिखा है। (—रा० च० शु०: हिं० सा० इति०, पृ० ३१४)

४. रा० च० शु०: हिं० सा० इति०। पृ० ३१३।

५. सुखदेवमिश्रकृत 'पिंगल' (हस्तलिखित)—हस्तलिपि-विभाग, श्रीमन्नूलाल पुस्तकालय, गया में सुरक्षित।

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा मे 'पिंगल' शीर्षक से सुखदेव मिश्र कृत तीन अन्य ग्रंथों की हस्तलिपियाँ सुरक्षित हैं। ये उपर्युक्त ग्रंथ मे भिन्न हैं।

सुखदेव मिश्र के नाम से दो अन्य हस्तलिपियाँ नागरी-प्रचारिणी सभा में वर्तमान हैं, जिनके शीर्षक हैं—वृत्तविचार और छंदो-निवास।

आगे इन विभिन्न हस्तलिपियो के विवरण दिये जा रहे हैं।

(१) पहले श्रीमन्नूलाल पुस्तकालय (गया) मे सुरक्षित हस्तलिपि की चर्चा हम करेंगे। इस प्रथम हस्तलिपि[1] का शीर्षक, जैसा कि कहा जा चुका है, 'पिंगल' है। लिपिकार है जुगलकिशोर लाल। लिपि-काल है फ़सली संवत् १२८६ कार्तिक २२, शुक्रवार। आरम्भ दोहे में शिवस्तुति से है। फिर, छप्पय मे आश्रय-दाता 'हिम्मत नरींद' की मंगलकामना की गई है और तदुपरान्त राजवंश का परिचय दिया गया है। ग्रंथरचना 'नृप हिम्मत के हुकुम' से हुई है—

नृप हिम्मत के हुकुम तें मिश्र सुकवि सुकदेव।
न्यारे-न्यारे कहत हैं, पिंगल के सब भेद॥

इस ग्रंथ में लघुगुरु, नष्ट, उद्दिष्ट, मेरु, पताका, मर्कटी आदि के वर्णन के बाद मात्रिक वृत्त के अंतर्गत इन छंदो का वर्णन है—गाहू, गाहा, विग्गाहा, उग्गाहा, गाहिनी, सिंहिनी, खंधा (और उसके भेद), दोहा (और उसके भेद), रसिका, रोला, चौपैया, घत्ता, छप्पे, काव्य, उल्लाला, (शाल्मली प्रस्तार) पज्झटिका, अरिल्ल, पादाकुलक, चौबोला, रड्डा, पद्मावती, कुंडलिया, दंडिका, अमृतध्वनि, सुद्धधुनि, गंगनंगन, दोवै, झूलना, 'पंजा', 'सिषा', माला, चुलियाला, सोरठा, कलिका, मधुभार, आभीर, दंडकला, दीपका, सिंहविलोकित, प्लवंगम, लीलावती, हरिगीत, त्रिभंगी, द्वितीय त्रिभंगी, दुमिल्ला, हीरक, जलहरन, मदनहार, मरहट्टा, उद्धत, मोहिनी, हरिपद, सवैया और सुगति।

वर्णवृत्त के अंतर्गत ये छन्द आये हैं—

१ वर्ण का छंद—श्री।
२ वर्ण के छंद—काम, मधु, मही, सार।
३ वर्ण के छंद—प्रिया, सखी, रमन, पंचाल, मृगेन्द्र, मंदरु, कमल।
४ वर्ण के छंद—तीरना, धारी, नगानिका।
५ वर्ण के छंद—संमोहा, हारी, हंस, जमक।
६ वर्ण के छंद—'संषा', तिलका, विमोहा, चतुरंसा, संखनारी, मालती, मदनक।
७ वर्ण के छंद—समानिका, सुवासक, करहयी, सीर्षनूपक, वसु-मती, कुमारललिता, मदलेखा।
८ वर्ण के छंद—विद्युन्माला, प्रमाणिका, मल्लिका, तुंगा, कमल, मानवविक्रीडित, अनुष्टुप।

---

१. श्री मन्नूलाल पुस्तकालय, हस्तलिपि संख्या अ—५। प्रस्तुत प्रबंध के लिए इस हस्तलिपि का उपयोग श्रीमन्नूलाल पुस्तकालय के संस्थापक श्रीसूर्यप्रसाद महाजन के सौजन्य से किया गया है।

९ वर्ण के छंद—महालक्ष्मी, सारंगिका, पइत्ता, कमला, बिब, तोमर, हलमुखी, नूपमाला, भुजगसिसुभृता, मनिबंधा।
१० वर्ण के छंद—संयुक्त, चंपकमाला, सारवती, मत्ता, सुषमा, अमृतगति।
११ वर्ण के छंद—बंधु, सुमुखी, दोधक, सालनी, मदनक, सेनिका, मालती, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, जातिउपजाति, स्वागता, रथोद्धता।
१२ वर्ण के छंद—विद्याधर, भुजगप्रयात, लक्ष्मीधर, त्रोटक, सारंग, मुक्तिकदाम, मोदक, तरलनैन छद, सुन्दरी, प्रमिताक्षरा, वंशस्थ इन्द्रवंशा।
१३ वर्ण के छंद—माया, तारक, कंद, पंकावली।
१४ वर्ण के छद—वसततिलका, चक्र, पद।
१५ वर्ण के छंद—अमावली, सारगिका, चामर, निमिपालिका, मनहंस, मालिनी, सरभ।
१६ वर्ण के छंद—नाराच, नील, चंचला, ब्रह्मतूपक।
१७ वर्ण के छंद—पृथ्वी, मालाधरि, शिखरिणी, मंदाक्राता, हरिणी, गंधानक।
१८ वर्ण के छंद—मंजीर, क्रीड़ा, चर्चरी,
१९ वर्ण के छंद—शार्दूलविक्रीडित, चंदमाला, धवला, संस, विसल्यक्षर।
२० वर्ण के छद—गीतिका, गडछा।
२१ वर्ण के छद—स्रग्धरा, नरीद।
२२ वर्ण के छंद—हसी, मदिरा।
२३ वर्ण के छंद—सुदरी, चकोर, मत्तगयंद।
२४ वर्ण के छंद—दुमिला, किरीट, सालूर।

इन छंदों के लक्षण-उदाहरण के पश्चात् सम, अर्द्धसम और विषम वृत्तलक्षण दिए गए हैं। तदुपरान्त अर्द्धसम और विषम छन्दों के लक्षण-उदाहरणादि हैं। अर्द्धसम के अंतर्गत सुन्दरी और पुहुपित अभ्रा छन्द तथा विषम के अंतर्गत रौरभ, घनाक्षरी और रूपघनाक्षरी छन्द लिए गए हैं। ग्रंथ के अन्त में यह उल्लेख है—

"हस्ताक्षर जुगलकिशोर लाल वासिंदे दादपुर प्रगन्ने पचरुखी जिले गया पोथी लिखावल बाबू गुरुबक्सलाल मालिक मोकररीदार मौजे वकसण्डा प्रगन्ने पचरुखी जिले गया तारीख २२ माह कातिक सन् १२८६ शाल रोज शुक्रवार के लिखल भेल।" इससे इस हस्तलिपि का लिपिकाल सं० १९३५ वि० विदित होता है। (१२८६+६४९=१९३५)।

(२) पिंगल शीर्षक दूसरी हस्तलिपि नागरी प्रचारिणी सभा के संग्रहालय में सुरक्षित है।[1] इसका लिपिकाल सं० १९३८ कार्त्तिक कृष्ण नवमी ग्रंथ के अंत में दिया हुआ है।[2]

१. का० ना० प्र० सभा। हस्तलिपि-संख्या ३५५। २५३।
२. सुखदेव—पिंगल (ह० लि० सं० ३५५। २५३)—अंतिम पृष्ठ।

इस ग्रंथ के प्रारंभ मे दोहा-छप्पय मे मंगलाचरण, लेखक नाम-कथन,[1] तथा प्रस्तारादि प्रत्ययविचार १०२ पद्यो मे है। तदुपरांत छंदों का वर्णन है, जिसकी पद्यसंख्या नये सिरे से दी गई है। मात्रिक छंदो मे ये छंद आये हैं—गाथा, उगाहा, गाहिनी, सिहिनी, दोहा (भेद, दोप, गणनियमादि), मराल, चौपाइयां, घत्ता, छप्पय, उल्लाला, छप्पय-भेद और शाल्मली प्रस्तार, पद्मावती, दडिका, अमृतध्वनि, शुद्धध्वनि, गगन, दोवइ, झूलना, खंज, माला, चुलियाला, सोरठा, कलिका, दंडकला, दीपक, सिहावलोक, लीलावती, हरिगीत, त्रिभंगी दुर्मिला, हीरक, जलहरन, मदनहरा, मरहठा, उद्धत, मोहिनी, हरिपद, बरवै, सवैया, सुगति तदुपरांत १वर्ण से आरभ कर वर्णवृत्तो के लक्षणादि-निरूपण हैं। मात्रिक छंद लक्षण-निरूपणशैली के संबंध मे द्रष्टव्य है कि लक्षण और उदाहरण अलग-अलग पद्यों में दिये गये हैं। लक्षणोदाहरण-तादात्म्य-पद्धति का अवलंबन नही है। लक्षण-निरूपण के लिये पादगत मात्रासंख्या तथा यतिस्थान का कथन किया गया है। ग्रंथ महत्त्वपूर्ण है।

(३) पिंगल शीर्षक तीसरी हस्तलिपि भी नागरीप्रचारिणी सभा में वर्त्तमान है।[2] यह हस्तलिपि पूर्वोक्त दो हस्तलिपियों मे प्रत्येक से भिन्न है।

इस हस्तलिपि में कुल ४६ पृष्ठ हैं, जो चार परिच्छेदों में विभक्त हैं। प्रथम परिच्छेद के १४ पृष्ठ गायब हैं। संयोगवश मात्रावृत्तवर्णन इसमें न होकर चतुर्थ परिच्छेद में है। इस ग्रंथ के आरंभ में वर्णवृत्त-वर्णन और तब मात्रावृत्तवर्णन आया है। मात्रिक छंदों के विचार के पूर्व उनकी अनुक्रमणिका दे दी गई है।[3]

इस ग्रंथ में मात्रिक छंदों की चर्चा निम्नलिखित क्रम से हुई है—

गाथा, दोहा (भेद, दोष, गणविधानादि), रसिक, गंधान, सुलक्षण, घत्ता, घनानंद, अडिल्ल, छप्पय (भेद) चौबोला, मनमोहन, गगनांग, पद्मावती, दोवई, खंजा, झूलना, हंसी, मृदुगति, शोभन, गोपाल, लीला, हरिप्रिया, शिष्या, माला, चुलियाला, हाकली, मधुभार, अहीर, ककुभा, सरसी, दंडकला, दीपक, सिंहावलोक, हरिपद, प्लवंगम, लीलावती, हरिगीत, त्रिभंगी, दुर्मिल, हीर, जलहरन, मदनहर, मरहठा, प्रज्वलिया (पद्धरी), मागधी।

हस्तलिपि के अंत में प्रतिलिपि-काल सं० १८९३ वि० दिया है।[4]

(४) पिंगल शीर्षक एक चतुर्थ हस्तलिपि भी, नागरी-प्रचारिणी सभा में वर्त्तमान है[5] इसमें १६ पृष्ठ ही शेष हैं। प्रति खंडित है।

ग्रंथारंभ में वर्णवृत्त-विचार है, जो एक वर्ण के छंद से आरंभ है। बाद में मात्रिक छंद आये हैं। दोहा के भ्रमरभ्रामरादि २३ भेदों का उल्लेख भी है।[6]

---

१. वही, पद्य २।
२. का० ना०प्र०सभा, हस्तलिपि-संख्या ३०६३। १९१२।
३. सुखदेव-पिंगल(ह०लि०सं०३०६३। १९१२) पृ०३५।
४. वही, पृ० ४६।
५. ना० प्र० सभा। हस्तलिपि-संख्या १०४४। ७२४।
६. वही, पद्य ८८।

(५) सुखदेव मिश्र कृत छंद-संबंधी पाँचवें ग्रंथ का हस्तलेख **छंदोनिवास** शीर्षक है, जो खंडित रूप में नागरी-प्रचारिणी-सभा में वर्त्तमान है।[1] इस हस्तलिपि के केवल ३० पृष्ठ शेष हैं, जो मात्रिक छंदों की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण नही।

(६) **पिंगल** शीर्षक एक और हस्तलिपि नागरी-प्रचारिणी सभा में है, जो सुखदेव मिश्र से संबद्ध है।[2] इसके आरंभ में ही मात्रावृत्तविचार है। ऐसा प्रतीत होता है कि लिपिकार ने छंदों के लक्षणादि की प्रतिलिपि करने में कोई क्रम नही रखा है। लिखावट भी गंदी है। विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं होने के कारण इस हस्तलिपि का विवरण अधिक नहीं दिया जा रहा है।

(७) सुखदेवमिश्रकृत ग्रंथ **वृत्तविचार** की एक हस्तलिपि भी नागरी-प्रचारिणी सभा में वर्त्तमान है।[3] इस हस्तलिपि के ७१ पन्ने हैं। प्रारम्भ में वर्णवृत्त-विचार है। बाद में मात्रावृत्त की चर्चा है।

मात्रिक छंदों के प्रसंग मे निम्नलिखित क्रम से छंद आये हैं—

गाथा, दोहा, रोला, रसिक, गंधान, घत्ता, घत्तानंद, कुंडलिया, काव्य, उल्लाला, छप्पय, मनमोहन, रायसेनी रड्डा, गगनांक, पद्मावती, दोवई, झूलना, मृदुगति, मोमन, गोपाल, सुभग, झूलना द्वितीय (७+७+७+५), लीला, हरिप्रिया, माला, चुलियाला, सोरठा, अहीर, हाकली, ककुभा, दीपक, दृढपद, प्लवंगम, लीलावती, हरिगीत, त्रिभंगी, दुर्मिला, दंडकल, हीर, जलहरन, मदनहर, मरहठा, मागधी।

(८) **वृत्तविचार**—श्रीजानकीनाथ सिह के प्रबंध में 'वृत्तविचार' की दो हस्तलिपियाँ बताई गई हैं, जिनके पाठ समान हैं, एक पं० कृष्णबिहारी मिश्र के पास और दूसरा स्वयं श्रीजानकीनाथ सिंह के पास।[4] इस ग्रंथ की दो अन्य हस्तलिपियाँ काशी-नागरी प्रचारिणी सभा के विवरण में निर्दिष्ट हैं। निर्माण-काल सं० १७२८ तथा लिपिकाल दोनों प्रतियों के क्रमशः सं० १८८८ तथा १८५० है।[5] पुस्तक-रचना की समाप्ति जेठ सुदी पंचमी सं० १७२८ को हुई, ऐसा उल्लिखित है। पुस्तक में ४ परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में कवित्त और छप्पय में वंशपरिचय, आश्रयदाता-परिचय, मंगलाचरण तथा पिंगल, भामह और अगस्त्य के नाम, हैं, जिनसे विषय लिए गए। द्वितीय परिच्छेद में छन्दोनियम, दग्धाक्षर, फलाफल, लघुगुरुविचार गण और प्रत्यय का वर्णन है। तृतीय परिच्छेद में वर्णवृत्तों का विवेचन है; केवल समवृत्तो की चर्चा हुई है; उक्तादि विभिन्न छन्दोजातियों का उल्लेख है, किंतु परिभाषाएँ नही दी गई हैं। वृत्तों की सूची दी गई है, जैसे श्री,

---

१. ना० प्र० सभा, हस्तलिपि-संख्या १७०७। १००३।

२. ना० प्र० सभा, हस्तलिपि-संख्या १०६६।१

३. ना० प्र० सभा, हस्तलिपि-संख्या २८०९। १७०६। (इस हस्तलिपि के अवलोकन और उपयोग की अनुमति के लिए इन पंक्तियों का लेखक सभा के अधिकारियों के प्रति आभार प्रकट करता है।)

४. जा० ना० सिं०, अध्याय २; सुखदेव मिश्र।

५. ह० हिं० पु० का सं० वि०, पहला भाग, पृ० १६१; वृत्तविचार, ह० सं०—छ २४० ए।

श्री, स्त्री, मही। दंडकों का विचार है। इस परिच्छेद पर वृत्त-रत्नाकर का प्रभाव लक्षित होता है। चतुर्थ परिच्छेद में मात्रिक छदों का विवेचन है। गण, प्रत्यय आदि का विचार भी है। विवेचन मे गद्य-पद्य दोनो का प्रयोग हुआ है। गद्य मे व्रजभाषा का प्रयोग भी आशय स्पष्ट करने के लिए हुआ है। गोपाल छन्द मे वृत्त-सूची दी गई है। प्राय: सभी पद्य गोपाल छन्द मे हैं। दोहा छन्द पर विशेष ध्यान दिया गया है। इसका विवेचन प्राकृत-पैंगलम् के समान मात्रिक गणों पर है। दोहा के प्रस्तार आवृत भेद, नाम आदि भी दिए गए हैं। पुस्तक प्राकृत-पैंगलम् से प्रभावित है।

इसकी छंदो-वर्णनशैली मिश्र है—कही सूत्रशैली, कहीं लघुगुरु-निर्देश-शैली, कही दोहा या गोपाल छन्द मे गण-निर्देश-शैली।

(९) सुखदेव मिश्र के अन्य ग्रंथ **फ़ज़लअली-प्रकाश** मे भी कुछ छन्दो का निर्देश हुआ है। इस ग्रंथ में पाँच उल्लास हैं। प्रधाननया यह नायिकाभेद और अलंकार की पुस्तक है, जो औरंगजेब के मंत्री और मोगल सेनापति फजलअली के लिए लिखित है।

(१०) श्रीमन्नूलाल पुस्तकालय की शेष दो हस्तलिपियाँ जो सुखदेव मिश्र के नाम पर हैं, छोटी हैं और किसी भी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नही।

(११) **'छन्दविचार'** नामक एक अन्य ग्रंथ की हस्तलिपि नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी के हस्तलिपि-विवरण में बताई गई है। इसका निर्माणकाल सं० १७३३ तथा लिपिकाल सं० १९११ बताया गया है।[1] उक्त विवरण मे 'पिंगल' शीर्षक से सुखदेव मिश्र के एक अन्य ग्रंथ का निर्देश भी है, जिसका निर्माणकाल सं० १७५७ दिया गया है। विषय-निर्देश इस प्रकार है—काव्य करने की रीति का वर्णन।[2]

वृत्तविचार के सिवा उपरिलिखित अन्य ग्रंथों की हस्तलिपियों का पता श्रीजानकीनाथ सिंह को नहीं था। अत: अपने शोध-प्रबंध में उन्होने केवल 'वृत्तविचार' की चर्चा की है।

सुखदेव मिश्र रससिद्ध कवि भी थे और प्रौढ आचार्य भी। शुक्लजी ने तो इनके आचार्यत्व की प्रशंसा करते हुए यहाँतक कह दिया है कि—'छंद:शास्त्र पर इसके समान विशद निरूपण और किसी कवि ने नही किया है।'[3]

मात्रिक छंदों के विकास में सुखदेव मिश्र की देन कम महत्त्वपूर्ण नही। इन्होंने कई ऐसे मात्रिक छंदों की चर्चा की जिनका उल्लेख पूर्ववर्त्ती आचार्यों ने नही किया था। ऐसे छंदों में प्रमुख हैं—

अमृतध्वनि, शुद्धध्वनि, उद्धत, मोहिनी, हरिपद, सुगति, मनमोहन, द्वितीय त्रिभंगी।

मतिराम—छंदसार पिंगल

मतिराम का जन्म संवत् १६७४ के लगभग तिकूवापुर (जिला कानपुर) में हुआ था। 'ललितललाम' नामक अलंकार-ग्रंथ के अतिरिक्त 'साहित्य-सार', 'लक्षण-श्रृंगार' और 'मतिराम-सतसई' नामक पुस्तकें भी इनके द्वारा रचित बताई जाती हैं। ललितललाम की रचना सं० १७१६ और सं० १७४५ के बीच किसी समय हुई होगी।[4]

---

१. हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण, पहला भाग, काशी ना० प्र० सभा, पृ० ४६; छंदविचार की हस्तलिपि-संख्या—ज–३०७ ए तथा छ–२४० बी।
२. वही, पृ० ८६। पिंगल की हस्तलिपि-संख्या घ–११३।
३. रा० च० शु०: हिं० सा० इति०, पृ० ३१४।
४. रा० च० शु०, हिं० सा०का इति०। पृ० ३०४ (१९९०७ संस्करण)।

'छंदसार' नामक पिगलग्रंथ की रचना भी इन्होंने की। अनुमानतः इस ग्रथ का रचना काल भी सं० १७४०-४५ के लगभग कहा जा सकता है।

इस ग्रंथ की हस्तलिपि खोजरिपोर्ट मे पं० जुगलकिशोर मिश्र (पं० कृष्णबिहारी मिश्र के पितामह) के पास बताई गई है। हस्तलिपि अपूर्ण और जीर्ण है। एक पृष्ठ अधूरा है। ग्रंथ महाराज शम्भूनाथ सोलंकी को समर्पित है। आरंभ गणविचार से हुआ है तथा प्रत्यय केवल तालिका रूप मे है। ग्रंथ संक्षिप्त है और अलग-अलग छंदो पर विचार नही होने के कारण नगण्य है।[1]

इस ग्रंथ की एक हस्तलिपि, जिसका शीर्षक है 'पिगल या छंदसारसंग्रह', इन पक्तियो के लेखक को नागरी प्रचारिणी सभा (काशी) मे देखने को मिली है।[2] इसके पूर्वांश में छंद.शास्त्रीय गणित और वर्णवृत्त तथा उत्तरांश मे मात्रावृत्त की अतिसंक्षिप्त चर्चा है। नये छंदों का अथवा पुराने छंदों के नये नाम या लक्षण का उल्लेख न होने के कारण तथा विवेचन अपर्याप्त होने के कारण यह हस्तलिपि भी प्रस्तुत शोध-प्रबंध की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण नही।

वृंदवनदासकृत 'छंदसार' या 'पिंगलसार'[3]

प्रस्तुत महत्त्वपूर्ण ग्रंथ की हस्तलिपि इन पंक्तियों के लेखक को श्रद्धेय डा० विश्वनाथ प्रसादजी के सौजन्य से प्राप्त हुई तथा डेरागाजी खाँ से उपलब्ध बहुमूल्य सामग्रियो में से है।

ग्रंथ का शीर्षक आरंभ मे 'छंदसार' दिया गया है—

अथ छंदसार लिष्यते॥०॥[4]

किंतु अंत में ग्रंथ का नाम 'पिगलसार' आया है—

इति श्री पिंगलसार समाप्तम्॥ ॥[5]

ग्रंथ का शीर्षक 'छंदमार' अथवा 'पिगलसार' विकल्प से मान सकते है।

इस ग्रंथ के लेखक वृन्दावनदास है। लेखक का नाम हस्तलिपि में न तो आदि मे है, न अंत में, वरन् मध्य मे ग्रथ के पूर्वार्द्ध की समाप्ति पर आया है—

इति श्री वृन्दावनदास कृते छंदसारे
वर्नवृत्तिविचारोनाम पूर्वार्द्धः समाप्त॥[6]

---

१. जा० ना० सिं०, अध्याय २; 'मतिराम'।
२. का० ना० प्र० सभा, हस्तलिपि सं० १६६४। ९६२।
३. प्रस्तुत प्रबंध के लिए इस हस्तलिपि के उपयोग की अनुमति श्रद्धेय डा० विश्वनाथ प्रसादजी ने कृपापूर्वक दी है, इसके लिए हम आपका आभार स्वीकार करते है। इस हस्तलिपि के पृष्ठों का आकार १३" × ९" है। कागज हाथ का बना है। काली और लाल रोशनाई में कंडे या सिरकी की कलम की साफ-सुथरी लिखावट है। अक्षरों से विदित होता है कि इस हस्तलिपि का लिपिकार 'छंदोहृदयप्रकाश' के लिपिकार से भिन्न व्यक्ति है।
४. वृन्दावनदास: छंदसार, पृ० १।
५. वही, अंतिम पृष्ठ।
६. वृन्दावनदास: छंदसार। पूर्वार्द्ध का अंत।

हस्तलिपि में ग्रंथरचना-काल का निर्देश नहीं है, किन्तु प्रतिलिपिकार और प्रतिलिपिकाल के संबंध में हस्तलिपि के अंत में यह उल्लेख आया है—

पुस्तक ईहो श्री गोस्वामरणछोडरायजी हंदालितं भाने पंबू मिति सावणो ३१ १८३९ ॥ ॥ ॥"[1]

इससे विदित होता है कि प्रतिलिपिकार गोस्वामी रणछोड़राय हैं तथा प्रस्तुत प्रति का लिपिकाल सं० १८३९ का श्रावण मास है।

'छंदसार' के लेखक वृन्दावनदास, संभव है, राधावल्लभीय संप्रदाय के चाचा वृन्दावन दास से, जो गोस्वामी हितरूप के शिष्य थे और जिनका कविताकाल सन् १७३८ (=सं० १७९५ वि०) के लगभग है,[2] अभिन्न हों और 'छंदसार' उनकी अद्यावधि अप्राप्य कही जानेवाली रचनाओं में से एक हो। 'छंदसार' के आरंभ में ही जो राधाकृष्ण की स्तुति है—

श्री राधानवगोविन्द देवोजयति॥ अथ छंदसार लिष्यते॥०॥

सोरठा॥ अमल कमलदल नैन। नव अंभुज अभिराम वपु॥ अमय सरिस रसबैन। नववय नवगोविंदजय॥१॥[3]

—उससे लेखक का राधावल्लभीय-संप्रदायावलंबी होना व्यंजित है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत हस्तलिपि का प्रतिलिपिकाल सं० १८३९ वि० है, जो 'चाचा' वृन्दावनदास के कविता-काल के ८०-८५ वर्ष बाद पड़ता है—इस बात से भी उपर्युक्त संभावना का विरोध नहीं होता। 'छंदसार' में लेखक ने जिस सोरठे में अपने विद्यागुरु का नाम वैष्णवदास बताया है, उसके पूर्ववर्त्ती सोरठे में ही अपने दीक्षागुरु की चरणवंदना की है—

गुरुपदकमल पराग। सीसधार निज भाग भर॥
वरनत कर अनुराग। बर्नकमात्रा छंद कछु॥२॥
सुमिरहु वैष्णवदास। विद्यागुरु गुनराज सुत॥
जिहिंतें होई प्रकास। छंदनभेद सुषेद बिन॥३॥[4]

इन सोरठों में विद्यागुरु का नाम वैष्णवदास कहा गया है, किन्तु दीक्षागुरु का नामोल्लेख नहीं है, यद्यपि परवर्त्ती सोरठे के 'विद्यागुरु' पद द्वारा स्पष्ट रूप से ध्वनित है कि पूर्ववर्त्ती सोरठे में दीक्षागुरु की वंदना है। हो सकता है, ये दीक्षागुरु गोस्वामी हितरूप जी हों।

उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखते हुए 'छंदसार' के लेखक वृंदावनदास तथा राधावल्लभीय संप्रदाय के वृंदावनदास के ऐक्य का अनुमान निराधार नहीं प्रतीत होता।

प्रस्तुत ग्रंथ अध्यायों में नहीं, वरन् पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध—इन दो भागों में विभक्त है। पूर्वार्द्ध में छंदःशास्त्रीय गणित का वर्णन तथा वर्णवृत्त-विचार है। उत्तरार्द्ध का संबंध मात्रिक छंदों से है।

छंदों के लक्षण प्रायः उन्हीं छंदों में दिये गये हैं, जिनके वे लक्षण हैं। इस प्रकार इस ग्रंथ में लक्षणोदाहरणैक्य-पद्धति का अवलंबन किया गया है। उदाहरण अलग से नहीं दिये गये हैं। वर्णवृत्तों के प्रसंग में शब्दों में छंदो-लक्षण-कथन के अतिरिक्त लघुगुरु

१. वही, अंतिम पृष्ठ।
२. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी: हिंदी साहित्य: उसका उद्भव और विकास, पृष्ठ २११।
३. वृन्दावनदास: छंदसार, पृ० १।
४. वही।

(। अथवा ऽ) संकेतों द्वारा भी पादस्वरूप-निर्देश हुआ है। जैसे, भुजंगप्रयात छंद का पादस्वरूप इस प्रकार निर्दिष्ट है—

(।ऽऽ ।ऽऽ ।ऽऽ ।ऽऽ)[1]

इस ग्रंथ की सबसे प्रमुख मौलिकता, जो तत्काल ध्यान आकृष्ट करती है, छंदों के वर्गीकरण के संबंध में है।

ग्रंथ के पूर्वार्द्ध में वार्णिक छंदों के वर्ग किये गये हैं—(१) सम और (२) असम। असम के अंतर्गत ही अर्द्धसम और विषम दोनों प्रकार के छंद आ जाते हैं।

सम वार्णिक छंदों के तीन भेद कथित हैं—(१) लघुगुरु नियत समवर्णवृत्त, (२) लघु-गुरु अनियत समवर्णवृत्त, (३) लघुगुरु नियतानियत समवर्णवृत्त। लघुगुरुनियत सम-वर्णवृत्तों को भी दो वर्गों में विभक्त किया गया है। ये वर्ग हैं 'छंद' तथा 'उपछंद' के। प्रथम के अंतर्गत एकाक्षरा उक्ता से लेकर षड्विंशाक्षरा उत्कृति जाति तक के ६८ छंदों के लक्षण-निर्देश हैं। उपछंद लेखक ने दंडक को कहा है, जिसके अंतर्गत सुधाधार, महीधर, वसुधाधर, नीलचक्र तथा बिहारी नामक दंडक आये हैं। इनके लक्षण और उदाहरण अलग-अलग दिये गये हैं। लक्षणों के लिए चतुष्पदी अथवा दोहा का उपयोग हुआ है। लघुगुरु अनियत समवर्णवृत्त के अंतर्गत सुधा, सुधावर, सोम्न तथा ललित—ये चार छंद आये हैं, जिनके लक्षण उन्हीं छंदों में दिये गये हैं। लघुगुरुनियतानियत समवर्णवृत्त के अंतर्गत तीन भेद कथित हैं—(१) गुरु अनियत लघुनियतानियत समवर्णवृत्त, जिसके उदाहरण मेधा और जलहरण हैं; (२) लघु अनियत गुरु नियतानियत समवर्णवृत्त, जिसके उदाहरण-स्वरूप मनहरण छंद आया है; तथा (३) गुरुलघु नियतानियत समवर्ण-वृत्त, जिसके उदाहरणरूप मे वाणी छंद निर्दिष्ट है।

असम वर्ण-वृत्त भी दो प्रकार के कथित हैं—(१) गुरुलघुनियत असम वर्णवृत्त, जिसके अंतर्गत प्रबंध और नागरा छंद आये हैं, तथा (२) गुरुलघु अनियत असम वर्णवृत्त, जिसका उदाहरण लक्षण छंद है।

उत्तरार्द्ध में मात्रिक छंदों का वर्गीकरण भी लघुगुरु नियतानियत होने के आधार पर हुआ है। मात्रिक छंद-संबंधी गणितविवेचन के उपरांत छंदों के लक्षणादि आये हैं। मात्रा-वृत्त दो प्रकार के बताये गये हैं—

१—नियतमात्रावृत्त

२—अनियतमात्रावृत्त

नियतमात्रावृत्त के चार भेद कथित हैं—

(१) नियत-मात्रा-नियत-वर्ण-वृत्त—

(ध्रुव, भ्रमर, थल, तार, नरेश, चंद्रानन, नागरा तथा गज छंद इसके अंतर्गत आये हैं।)

(२) नियतमात्रा-अनियत-वर्ण-वृत्त—

(गमक, वाम, चरणाकुलक, सिंहावलोकन, हंसा, पंचा, नंदा दोहा और सोरठा; दोहा के २३ भेद; रोला वत्थु, राय वत्थु; मोहन वत्थु; रस, रंग, काम और श्याम रोला; शुभदा; घत्ता तथा घत्तानंद के लक्षण-निर्देश इसके अंतर्गत हैं)

---

१. वृंदावनदास—छंदसार। १।४२।

(३) नियतमात्रा-नियतानियत-वर्ण-वृत्त, जिसके तीन प्रकार हैं—(क) नियतमात्रा गुरु-नियतानियत-वृत्त (इसके अंतर्गत शोभा और श्रीधर छद आये हैं); (ख) नियत-मात्रा-लघुनियतानियत-वृत्त (इसके अंतर्गत अलिल्ल छंद आया है); (ग) नियत-मात्रा-लघुगुरु-नियतानियत-वृत्त (इसके अंतर्गत राय सवैया और मरहठा छंद आये हैं।)

(४) नियतमात्रा जगणविधि-निषेधात्मक वृत्त, जिसके दो प्रकार हैं—

(क) नियतमात्रा जगणविध्यात्मक वृत्त (इसके अंतर्गत मधुभार, आभीर तथा पद्धरी छंद आते हैं)।

(ख) नियतमात्रा जगणनिषेधात्मक वृत्त। इसके पुन: दो उपभेद हैं—

(१) अर्द्धांगजगण-निषेधात्मक नियत-मात्रा-वृत्त (उदाहरण : हंसा दोहा)

(२) सर्वांगजगणनिषेधात्मक नियतमात्रा-वृत्त। पुनः ये भी दो प्रकार के होते हैं—१–गुरुनियतानियत सर्वांगजगण-निषेधात्मक नियतमात्रा-वृत्त (उदाहरण—त्रिभंगी तथा पद्मावती छंद)।२–लघुनियतानियत सर्वांग-जगण-निषेधात्मक-नियत मात्रा-वृत्त (उदाहरण अरिल्ल छंद)। **अनियतमात्रा** अनियत वर्णवाले वृत्त के वर्ग मे उदाहरणस्वरूप आनंदवत्थु तथा छप्पय—ये दो छंद उल्लिखित हैं।

इस प्रकार, इस ग्रंथ में कुल मिलाकर लगभग सवा सौ छंदों के लक्षण दिये गये हैं।

श्रीजयदेवमिश्र कृत 'वृत्तार्णव'[1]

प्रस्तुत महत्त्वपूर्ण ग्रंथ की हस्तलिपि इन पंक्तियों के लेखक को श्रद्धेय डॉ० विश्वनाथ प्रसादजी (संचालक, आगरा-विश्वविद्यालय, हिंदी-विद्यापीठ) के सौजन्य से प्राप्त हुई, जो डेरागाज़ी खाँ से उपलब्ध बहुमूल्य सामग्रियों में से है।

इस ग्रंथ की रचना डेरागाजी खाँ में ही श्रीबलभद्र के पुत्र श्रीजयदेव मिश्र द्वारा हुई, ऐसा उल्लेख ग्रंथ के अंत में आया है—

"इति श्रीबलभद्रात्मजेन श्रीमन्मिश्रजयदेव गंगाहर स्यातीय गाजी पानदेरा मध्ये विरचिते वृत्तार्णव छंदशास्त्र समाप्तम् ॥०॥०॥ श्रीकृष्ण ॥०॥ श्री राम॥"[2]

इस उल्लेख द्वारा लेखक का नाम, उसके पिता का नाम और ग्रंथरचना-स्थान का पता चल जाता है। किंतु, रचनाकाल का उल्लेख पूरी हस्तलिपि में कहीं नहीं है। प्रस्तुत हस्तलिपि का प्रतिलिपि-काल सं० १८३९ वि० है, ऐसा अवश्य कहा जा सकता है; क्योंकि एक ही जिल्द में इस हस्तलिपि के पहले आनेवाले ग्रंथ 'छंदोहृदयप्रकाश' तथा बाद में आनेवाले ग्रंथ 'छंदसार' दोनों का प्रतिलिपिकाल सं० १८३९ वि० स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट है। स्मरणीय है कि 'वृत्तार्णव' और 'छंदसार' का प्रतिलिपिकार एक ही व्यक्ति है,

---

१. **इस हस्तलिपि के पृष्ठों का आकार १३"×९" है। कागज हाथ का बना है। काली और लाल रोशनाई में सिरकी या कंडे की कलम की साफ-सुथरी लिखावट है। अक्षरों से विदित होता है कि इस हस्तलिपि का लिपिकार 'छंदोहृदयप्रकाश' के लिपिकार से भिन्न व्यक्ति है। 'छंदसार', 'पिंगलकणका', 'लघुपिंगल' और 'वृत्तार्णव' का लिपिकार एक ही व्यक्ति है।**

२. **जयदेव मिश्र—वृत्तार्णव। अंतिम पृष्ठ।**

यह लिखावट से असंदिग्धरूप से विदित है। अतएव, 'वृत्तार्णव' की रचना सं० १८३९ वि० के पूर्व अवश्य हुई होगी।

साहित्यतिहास-ग्रंथों में जयदेव नाम के कई व्यक्तियों के उल्लेख मिलते है। प्रस्तुत प्रसंग में गीतगोविदकार जयदेव (१२वी शती ई०),[1] 'प्रसन्नराघव' और 'चंद्रालोक' के रचयिता जयदेव (१३वीं शती ई०),[2] अथवा 'जयदेवच्छंदस्' के रचयिता जयदेव (९०० ई० के पूर्व)[3] से स्पष्ट ही हमारा संबंध नही हो सकता। वृत्तार्णवकार जयदेव मिश्र निश्चय ही अधिक परवर्त्ती रहे होंगे; क्योंकि उन्होंने संस्कृत-प्राकृत में रचना नहीं की, हिदी (व्रजभाषा) में की है। कीथ ने १६वीं शती के किन्ही जयदेव की चर्चा की है, जिन्होंने 'रति-मंजरी' लिखी।[4] हो सकता है, यह 'वृत्तार्णवकार' जयदेव से अभिन्न हों, किंतु अभी इस संबंध में कुछ निश्चयपूर्वक कह सकने के लिए आधार उपलब्ध नहीं।

प्रस्तुत ग्रंथ छः अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में लघुगुरुअष्टगणदग्धाक्षर-मात्रागणयतिसमविषम-वर्णन है। अंतिम अध्याय का संबंध छंदःशास्त्रीय गणित, अर्थात् अष्टप्रत्ययों (संख्या, प्रस्तार, उद्दिष्ट, नष्ट, सूची, मेरु, पताका तथा मर्कटी) मे है। शेष चार अध्यायों में छंदोलक्षणोदाहरण वर्णित है। दूसरे, तीसरे और चौथे अध्यायो में सम, अर्द्धसम और विषम वर्णवृत्त क्रमशः वर्णित है। पाँचवें अध्याय में मात्रिक छंदों का वर्णन है।

वर्ण-वृत्त-प्रसंग में छंदो-लक्षण-निरूपण सूत्रशैली में है, जिसमें छंदःशास्त्र के दशाक्षरों (य म त र ज भ न स ल ग) का उपयोग हुआ है। छंदो-लक्षण प्रायः उसी छंद के पाद में दिया गया है जिसका वह लक्षण है। दूसरे अध्याय में एकाक्षरा उक्ता से लेकर षड्विंशाक्षरा उत्कृति तक समवर्णवृत्तांतर्गत २६ छंदोजातियों का क्रमशः वर्णन है। इस प्रसंग में लगभग सवा दो सौ समवर्ण-वृत्त लक्षित है। उत्कृति जाति के छंदों के उपरांत दंडक आये हैं, जिनकी संख्या १५ है। तृतीय अध्याय में अर्द्धसम वर्णवृत्त केवल १० है, और चतुर्थ अध्याय में विषम वर्णवृत्त (भेदों को छोड़कर) केवल ७ है।

मात्रिक छंदों का वर्णन, जो पंचम अध्याय में हुआ है, उतना व्यवस्थित नही, जितना वर्णवृत्तों का। वर्गीकरण का कोई वैज्ञानिक प्रयास नहीं दिखाई देता। फिर भी छंदोलक्षण की दृष्टि से इस अध्याय की सामग्री पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। मात्रिक छंदों का लक्षणादि-निरूपण निम्नांकित क्रम से है—

आर्याप्रकरण के अंतर्गत प्रथम आर्या-गणलक्षण कथित है, पुनः पादगत मात्रासंख्योल्लेख है। फिर, आर्या छंदांतर्गत पथ्या, विपुला, चपला, मुखचपला, जघनचपला तथा उसके २७ भेद आये है। फिर, गीतिप्रकरण मे गीति, उपगीति, उद्गीति, तथा आर्यागीति छंद आये है। वैतालीय प्रकरण में वैतालीय, औपच्छंदसक, आपातलिका, दक्षिणांतिका, प्राच्यवृत्ति, उदीच्यवृत्ति, चारुहासिनी छंद है। वक्त्र अनुष्टुप् प्रकरण में वक्त्र, अनुष्टुप्, पथ्यावक्त्र, विपरीत पथ्यावक्त्र, चपलावक्त्र, विपुलावक्त्र छंद है। फिर अचलधृति, मात्रासमक, विश्लोक, वानवासिका, विचित्रा, उपचित्रा, पादाकुलक, लघुगुरु-परीक्षण (दोहा में), शिखी तथा उसके भेद, छप्पय, दोहा और उसके प्रकार, कुंडलिया, मधुभार, अभीर (अहीर), प्लवंगम, हरि-

---

१. Keith—A History of Sanskrit Literature; p. 53 and 219.

२. जोशी और भारद्वाज—संस्कृत-साहित्य का इतिहास, पृ० ५०२।

३. H. D. Velankar—Jayadaman, Introduction, p. 33.

४. Keith—A History of Sanskrit Literature, p. 469.

गीत, त्रिभंगी, दृढपद, चर्चरी, घनाक्षरी, रूपघनाक्षरी, चौपैया, घंत्तानंद, घंतोनंद (घत्ता), पद्मावती, हंसगता, जल्हरन, मदनहर, मुगगना, छप्पय आदि छंद क्रमशः वर्णित हैं। फिर, दोहाप्रकार-संबंधी अन्य मत-वर्णन, भ्रमरदोहा का लक्षण-कथन तथा दोहा का, लघुगुरु अक्षरसंख्या के अनुसार, भेद-निर्देश है। फिर द्वितीय त्रिभंगी छंदोवर्णन है। फिर क्रमशः रोलावत्थू, मोहनवत्थू, आनंदवत्थू, श्यामोल्लास, रसोल्लास, कामोल्लास, हंसादोहा, दोहाजाति (ब्राह्मणादि) वर्णित हैं। फिर एक सारिणी दी गई है, जिसके द्वारा दोहा के गुरुलघुसंख्यानुसार ये भेद निर्दिष्ट हैं—भ्रमर, भ्रामर, सरभ, सिचान, मंडक, कमल, करभ, नर, मराल, मदकल, पयोधर, चल, वानर, त्रिकल, मछ, कछ, शार्दूल, अहिवर, वगा, विडा, सुन, उदर, सर्प (कुल २३ प्रकार)। इसी प्रकार एक दूसरी सारिणी में छप्पय के बीस भेदों तथा तीसरी सारिणी में छप्पय के ९२ भेदों का उल्लेख है। चौथी सारिणी में छप्पय के अन्य ७१ भेद कहे गये हैं। इसके बाद कुंदरोला तथा उसके भेद, काव्यछंद तथा उसके भेद, छप्पय जाति-कथन, सिंहावलोकन छंद, कुंडलिया, रड्डा तथा उसके भेद तथा सवैया छंद क्रमशः आये हैं।

इस प्रकार, इस प्रसंग में भेदों को छोड़कर लगभग ५० मात्रिक छंदों का वर्णन हुआ है। किंतु, इस ग्रंथ की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है विशिष्ट छंदों के भेदों का उल्लेख। द्रष्टव्य है कि कुछ अन्य लक्षणकारों की तरह आर्या, वैतालीय, दोहा आदि के भेदों का उल्लेख तो किया ही है, वक्त्र, शिखी, वत्थू, छप्पय, काव्य और रड्डा के भेदों का उल्लेख भी किया गया है। छप्पय-भेद विशेष विस्तारपूर्वक तीन-तीन सारिणियों द्वारा प्रदर्शित हैं।

रायकृत पिंगलकनका[1]

प्रस्तुत ग्रंथ की हस्तलिपि 'छंदोहृदयप्रकाश' के साथ सलग्न हस्तलिपियों में से है, जो इन पंक्तियों के लेखक को श्रद्धेय डॉ० विश्वनाथ प्रसादजी (संचालक, आगरा-विश्व-विद्यालय, हिंदी-विद्यापीठ) के सौजन्य से प्राप्त हुई तथा डेरागाजी खाँ से उपलब्ध बहु-मूल्य सामग्रियों में से है।

ग्रंथ के रचनाकाल का उल्लेख ग्रंथ के अंदर कहीं नहीं है, किन्तु निश्चय ही प्रस्तुत हस्तलिपि का प्रतिलिपि-काल सं० १८९९ वि० है; क्योंकि जिल्द के अंदर इस हस्तलिपि के पूर्व अथवा बाद की हस्तलिपियों में यह प्रतिलिपि-काल स्पष्ट निर्दिष्ट है।

यह ग्रंथ अत्यंत छोटा है, कुल दो पृष्ठों का। इसमें अष्टगण शुभाशुभमित्रशत्रुविचार के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह वर्ण्यवस्तु एक सोरठा, दो छप्पय, एक दोहा, छः चौपाइयाँ तथा एक तोमर छंद—कुल ११ पद्यों में समाविष्ट है। अंत में एक दोहा इस प्रकार है—

पिंगल कनका ग्रंथ यह, सुने पढ़े चित लाई।
सम पिंगल का ज्ञान ह्वे, कहें महाकवि राय॥[2]

---

१. इस हस्तलिपि के पृष्ठों का आकार १३"×९" है। कागज हाथ का बना है। काली और लाल रोशनाई में कंडे या सिरकी की कलम की साफ-सुथरी लिखावट है। अक्षरों से विदित होता है कि इस हस्तलिपि का लिपिकार 'छंदोहृदयप्रकाश' के लिपिकार से भिन्न व्यक्ति है।

२. राय—पिंगलकनका। पृ० २।

'कहे महाकवि राय'—इन शब्दों मे सूचित होता है कि इस ग्रंथ के लेखक का नाम या उपनाम 'राय' है और उन्होंने अपने को महाकवि कहा है।

इसके बाद ये शब्द है, जिनसे ग्रंथ-समाप्ति होती है—'इतिश्री पिगलकनका समाप्त 'ग्रंथ ३।। 'ग्रंथ३' का अर्थ यह है कि यह प्रतिलिपिकार द्वारा प्रस्तुत तीसरी हस्तलिपि है। अंतिम शब्द की अनुस्वारांतता मूल ग्रंथ की अपेक्षाकृत प्राचीनता का व्यंजक है।

इस पुस्तक में छंदों के लक्षणोदाहरण का अभाव है; अतएव प्रस्तुत प्रबंध मे इस हस्तलिपि का उपयोग गणविचार तक ही सीमित है।

सूरतिमिश्रकृत 'लघुपिंगल'[1]

प्रस्तुत ग्रंथ की हस्तलिपि भी 'छंदोहृदयप्रकाश' के साथ संलग्न हस्तलिपियों में से है, जो इन पंक्तियों के लेखक को श्रद्धेय डॉ० विश्वनाथ प्रसादजी के सौजन्य से प्राप्त हुई तथा यह डेरागाजी खाँ मे उपलब्ध बहुमूल्य सामग्रियों में से है।

इस हस्तलिपि के अंदर ग्रंथ के रचनाकाल का कोई उल्लेख नही मिलता। किंतु, संलग्न अन्य हस्तलिपियों के समान ही इसका प्रतिलिपि-काल भी सं० १८३९ वि० है, इसमें संदेह नहीं। हम यह अनुमान कर सकते हैं कि पुस्तक की रचना इसके कुछ वर्ष पूर्व तक हो चुकी होगी।

ग्रंथ के लेखक का नाम हस्तलिपि के अंत में इस प्रकार आता है—

"इति श्रीलघुपिगल छंदग्रंथ कवि सूरति मिश्रकृत समाप्तम्।"[2]

—जिससे लेखक का नाम सूरतिमिश्र विदित होता है।

इस ग्रंथ में कुल ५९ पद्य है, जो हस्तलिपि के साढ़े तीन पन्नो में लिपिबद्ध है। यह ग्रंथ भी 'पिंगलकनका' के समान ही छोटा है और इसमें केवल छंदःशास्त्रीय गणित, अर्थात् अष्टप्रत्ययो (संख्या, प्रस्तार, सूची, उद्दिष्ट, नष्ट, मेरु, पताका, मर्कटी) का विचार है। छंदो के लक्षणोदाहरण इस ग्रंथ मे नही आये है। प्रत्ययों का अध्ययन प्रस्तुत प्रबंध की क्षेत्र-सीमा के बाहर है, अतएव उसमे इस ग्रंथ का सीमित उपयोग ही संभव हो सका है।

देवदत्त (देव)-काव्य-रसायन या शब्द-रसायन

देवदत्त का जन्म पं० रामचंद्र शुक्ल सं० १७३० में मानते है तथा डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी भी सं० १७३० में।[3] देव के रसविलास और भावविलास प्रसिद्ध हैं। रसविलास का रचनाकाल १७८३ वि० है। इसके ग्रंथ 'काव्य-रसायन' या 'शब्दरसायन' के दशम-एकादश प्रकाशों में पिगल-विचार है। इसकी चार हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध

---

१. इस हस्तलिपि के पृष्ठ का आकार १३"×९" है। कागज हाथ का बना है। काली और लाल रोशनाई में कंडे या सिरकी की कलम की साफ-सुथरी लिखावट है। इस हस्त-लिपि का लिपिकार, जैसा लिखावट से व्यक्त है, वही है, जो पिंगलकनका का है।

२. सूरतिमिश्र—लघुपिंगल। पृ० ४ क।

३. डा० ह० प्र० द्विवेदी—हिंदी साहित्य: उसका उद्भव और विकास। पृ० ३१६। रा० च० शुक्ल—हिं० सा० का इति०। पृ० ३१८।

बताई गई है—एक, नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी में, दूसरी पं० कृष्णविहारी मिश्र के पास, और शेष दो श्रीजानकीनाथ सिंह के पास। रचनातिथि किसी में नहीं, पर प्रतिलिपि-काल एक में १९३४ वि० दिया गया है।

ग्रंथ के अन्तिम दो प्रकाशों में पिंगल-वर्णन है। दशम प्रकाश में लघुगुरु, आठ गण, देवता, मैत्री, फलाफल आदि का विचार है। छंद के गणित पक्ष को छोड़ दिया गया है। इस प्रकाश में केवल वर्ण-वृत्तविचार है। दंडक भी है, किंतु विषम और अर्द्धसम वृत्त नहीं। ग्यारहवें प्रकाश में मात्रा-वृत्त-विचार है। गाहा और उसके भेदों का विवेचन विस्तार से है। लक्षण और उदाहरण प्रायः तदाकार हो गये हैं।

माखन-कृत छंदविलास या श्रीनागपिंगल

प्रस्तुत ग्रंथ की पाण्डुलिपि काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा में सुरक्षित है। ग्रंथ के उपलब्धकर्त्ता सैयद क़ासिम अली ने भूमिकारूप में कवि के संबंध में महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ दी हैं। तदनुसार, कवि का समय १७५९ वि० है, पिता का नाम गोपाल और आश्रयदाता रतनपुर के राजा राजसिंह हैं। द्रष्टव्य है कि ग्रंथ में केवल मात्रिक छन्दों पर विचार है। ग्रंथ अध्यायों में विभक्त तो नहीं, किंतु प्रकरणों में अवश्य है (जैसे छप्पय प्रकरण)। लक्षण प्रायः दोहे में है। वीर, सरसी, चौपाई आदि का उपयोग भी है।

प्रथम प्रकरण में लघुगुरुविचार, मात्रिक और वार्णिक गण-विचार, गण-मैत्री, देवता, फलाफल का विचार है। द्वितीय है छप्पय प्रकरण, जिसमें ७१ प्रकार के छप्पयों का विचार है। ये प्रकार लघुगुरु-संख्या-भेद पर आधारित हैं। गाहा, दोहा, रोला, चौपैया, करखा, अमृतध्वनि आदि पर भी विचार है।[1]

सोमनाथ-कृत रसपीयूषनिधि—

इसकी पाण्डुलिपि पं० कृष्णविहारी मिश्र के पास बताई गई है। इसमें रस, भाव, ध्वनि, अलंकार, गुण, दोष आदि के वर्णन के साथ पिंगल पर भी विचार है। तृतीय, चतुर्थ और पंचम तरंगों का संबंध छन्द से है। ग्रंथ के अंत में ग्रंथ-समाप्ति की तिथि इस प्रकार दी हुई है—

सत्रह से चौरानबे, सम्वत् जेठ सुमास।
कृष्णपक्ष दशमी भृगौ ग्रंथ परगास॥

पिंगलाचार्य की प्रशस्ति से तृतीय तरंग का आरंभ होता है। फिर लघुगुरु, गण, गणमैत्री, गणदेवता, प्रत्यय आदि का विचार दोहा छन्द में है। चतुर्थ तरंग में मात्रिक और पंचम में वार्णिक छन्दों का विचार भी दोहा में है। घनाक्षरी दण्डक तक तो विचार हुआ है, किंतु विषम, अर्द्धसम तथा संस्कृत दण्डक वृत्त छोड़ दिये गये हैं।[2]

भिखारीदास-कृत छंदोर्णव-पिंगल

भिखारीदास प्रतापगढ़ (अवध) के पास ट्योंगा गाँव के निवासी थे। इनका रचना-काल संवत् १७८५ से संवत् १८०० तक अनुमित है। दासजी के लिखे इन ग्रंथों का

---

१. जा० ना० सिं०। पृ० ३६।
२. वही। पृ० ३८।

पता लगा है—रससारांश (सं० १७९९), छंदोर्णव-पिगल (सं० १७९९), काव्यनिर्णय (सं० १८०३), शृंगारनिर्णय (सं० १८०७), नाम-प्रकाश (कोष, सं० १७९५), विष्णु-पुराण भाषा (दोहाचौपाई में), छंद-प्रकाश, शतरंजशतिका, अमरप्रकाश (संस्कृत अमरकोष, भाषा पद्य में)।[1] इनमें से छन्द-सम्बन्धी ग्रंथ दो है—छन्दोर्णवपिगल[2] और छंदप्रकाश।

छंदोर्णवपिगल की हस्तलिपि का विवरण काशी के ना०प्र०स० मे सुरक्षित है। सभा के विवरण में हस्तलिपि के आधार पर निर्माण-काल सं० १७९९ दिया हुआ है।[3] ग्रंथ के अंत में रचनाकाल इस प्रकार दिया है—

सत्रहसै निन्यानवे, मधुवदि नवैक विदु।
दास कियो छंदोर्णव, सुमिरि सॉवरो इन्दु॥[4]

जिससे ग्रंथ का निर्माणकाल सं० १७९९ प्रकट है। छंदप्रकाश की हस्तलिपि का विवरण भी सभा मे वर्त्तमान है।[5] छंदोर्णव-पिंगल का प्रथम प्रकाशन वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से सं० १९७१ में हुआ। ग्रंथ पन्द्रह तरंगो मे विभक्त है।[6] प्रथम तरंग में मंगलाचरण, कविनामग्रामादि हैं। मंगलाचरण में गणेशवंदना के उपरांत पिगलनाग की स्तुति की गई है तथा उस घटना की ओर संकेत किया गया है, जब समुद्र-तट पर गरुड़जी से सामना होने पर छंदभेद बताते हुए 'भुजंगप्रयात' कहकर जल में प्रविष्ट हो पिगलनाग ने अपनी रक्षा की थी—

श्रीविनतासुत देखि परम पटुता जिन्ह कीन्हेउ।
छंदभेद प्रस्तार बरणि बातनि मन लीन्हेउ॥
नष्टोद्दिष्टनि आदि रीति बहुविधि जिन भाख्यो।
जैवो चलत जनाय प्रथम वाचापन राख्यो॥
जो छंद भुजंगप्रयात कहि जात भयो जहं थल अभय।
तिहि पिगल नागनरेश की सदा जयति जय जयति जय॥[7]

द्वितीय तरंग मे लघुगुरु-वर्णन और गणविचार है। तृतीय और चतुर्थ तरंगों में प्रस्तारादि प्रत्यय हैं। पचम तरंग में २ मात्राओं से लेकर इकतीस मात्राओं तक के छंदों का वर्णन है। इस तरंग में छंदों का वर्णन-वर्गीकरण मात्रासंख्या के अनुसार हुआ है। जिन छंदों के नाम आये हैं, वे इस प्रकार है—

---

१. रा० च० शु० : हि० सा० का इति०। पृ० ३३३-४।
२. प्रकाशन—वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई तथा भिखारीदास-ग्रंथावली के अंतर्गत ना० प्र० सभा, काशी।
३. काशी ना० प्र० स० द्वारा प्रकाशित हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण—पहला भाग, पृ० ४६। 'छंदोर्णव' की हस्तलिपि संख्या घ—३१।
४. भि०—छं० पिं०। पृ० १२०।
५. ह० हिं० पु० का सं० विवरण। ना० प्र० सभा, काशी। भाग १। पृ० ४५। छंद-प्रकाश की हस्तलिपि-संख्या घ—३२।
६. छंदोर्णवपिगल—प्र० श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई। १९७१ वि०।
७. भि०—छं० पिं०।१।३। तु० पिं०। प्रा० पैं०। भू० छं० हू० प्र०।

एक पाद की मात्रा-संख्या		छंदों के नाम
२	...	श्री, मधु।
३	...	मही, तार, कमल।
४	...	कामा, रमनी, नरिंद, मंदर, हरि।
५	...	प्रिया, नगणिजा, पचाल, वीर, बुद्धि, निधि, यमक, गर्गा।
६	...	नाली, रमा, नगस्निका, कला, करता, मुद्रा, धारी, वाक्य, कृष्ण, नायक, हर, विष्णु, मदनक।
७	...	शुभगति।
८	...	लीला, हंस, चोबगा, मधागन, मधुमती, करहंत, मधभार, छवि।
९	...	हारी, वसुमती।
१०	...	समोहा, कुमारललिता, मध्या, नग, नुगा, कमल, कमला, रतिपद, दीपक।
११	...	अहीर, लीला, हंसमाला।
१२	...	मदलेखा, चित्रपदा, युक्ता, हरमुख, अमृतगति, मारगिय, दमनक, मानवक्रीडा, बिम्ब, तोमर, सूर, लीला, दिगीश, नरलनयन।
१३	...	नराचिका, महर्ग, लक्ष्मी।
१४	...	शिष्या, सुवृत्ती, पाइत्ता, मनिबंधो, सारस्वती, सुमुखी, मनोरमा, समृद्धिका, हाकलिका, शुद्धगा, संयता, रुक्मणी।
१५	...	चोपाई, हंसी, उज्जला, हरिणी, महालक्ष्मी।
१६	...	रूप चौपई, विद्युन्माला, चंपकमाला, सुखमा, भ्रमरविलसिता, मत्ता, कुसुमविचित्रा, अनुकूल, तोमर, नवमालिनी, चंडी, चक्र, प्रहरनकलिका, जलोद्धतगति, मनिगुन, स्वागता, चंद्रवर्त्म, मालती, प्रियंवदा, रथोद्धता, द्रुतपा, पंकअवलि, अचल-धृति, पद्धरिय।
१७	...	धारी, बाला।
१८	...	रूपमाली, माली, कलहंस।
१९	...	रतिलेखा, इंदुवदना।
२०	...	हंसगति, जलधरमाला, गजविलसिता, दीपकी, विपिनतिलक, धवल, निशिपाल, चंद्र।
२१	...	पवंगम, मनहंस।

२२	...	मालतीमाला, असबाधा, बानिती, बंशपत्र, समद-विलासिनी, कोकिलक, माया, मत्तमयूर।
२३	...	दृढ़पट, हीरक।
२४	...	वासंती, चकिता, लोला, विद्याधरी, रोला।
२५	...	गगनागना।
२६	...	चचरी, विष्णुपद।
२७	...	हरिपद।
२८	...	गीतिका, नरिद, दोवै।
२९	...	मरहट्टा।
३०	...	मारंगा, चतुष्पद, चौबोल।
३१	...	रूपसवैया, मंजरी, शंभू, हंसी, मत्तक्रीड़ा, सालू, कौंच, तन्वी, मुदरी।

इस तरंग में वर्णित मात्रिक छंदों के अंतर्गत बहुत-से ऐसे छंद भी आ गये हैं, जो वस्तुतः वार्णिक हैं[1] और पूर्ववर्ती संस्कृत-प्राकृत छंदोलक्षणकारों द्वारा वार्णिक माने गये हैं।[2] यों, प्रायः सभी वार्णिक छंदों में लय के साथ मात्रा-संख्या भी निश्चित होती है। अतएव प्रायः सभी वार्णिक छंदों को, इस दृष्टि से, मात्रिक के अंतर्गत रखा जा सकता है, जैसा भिखारीदास ने किया है। किंतु, मात्रिक छंदों की विशिष्टता और वर्णवृत्त से उनका अंतर इसमें है कि मात्रिक छंदों में वर्णसंख्या और लघुगुरुक्रम के बंधन नहीं रहते। भिखारीदास ने जिन वर्णवृत्तों को मात्रिक छंदों के बीच स्थान दिया है, उनके लक्षण भी अधिकतर वार्णिक गणों के आधार पर ही दिये गये हैं,[3] अर्थात् उनमें वर्णसंख्या तथा लघुगुरुक्रम संबंधी बंधन वर्त्तमान हैं। भिखारीदास ने शायद इन वर्णवृत्तों को मात्रावृत्त तब माना है, जब वर्णगण-बंधन होते हुए भी इनके पादांत में तुक मिलते हों, जैसा उदाहरणों से

---

१. स्वयं भिखारीदास ने ऐसे कुछ छंदों को इसी ग्रंथ में अन्यत्र वर्णवृत्तों के अंतर्गत स्थान दिया है। उ०—श्री ।५।८। तथा १०।३।
कामा ।५।१४। तथा १०।३।
ताली ।५।३०। तथा १०।४।
तीर्णा ।५।५०। तथा १०।८।

२. कुमारललिता— भि०-छं० पिं० ।५।६३।
जय० ।६।२। जकी० ।२।५६।
वृ० र० ।३।११।
मदलेखा—भि०-छं० पिं० ।५।८०। जकी० ।२।६१।
चित्रपदा—भि०-छं० पिं० ।५।८०। जय० ।६।३। जकी० ।२।६८।
विद्युन्माला—भि०-छं० पिं० ।५।५।१२९। जय० ।६।४। जकी० ।२।६४।
भ्रमरविलसिता— भि०-छं० पिं० ।५।१२९। जय० ।६।२२। जकी० ।२।१०१।
जलोद्धतगति— भि०-छं० पिं० ।५।१४२। जय० ।६।३२। जकी० ।२।१२०।

३. भि०—छं०पिं० ।५।६३ (कुमारललिता); ८० (मदलेखा); ८१ (हरमुख, सारंगिय); ९० (मानवक्रीड, तोमर); १२९ (जलोद्धतगति, मालती, प्रियंवदा, रथोद्धता) आदि।

व्यंजित है।[1] पादात तुक को भिखारीदास मात्रावृत्त के लक्षणों में से एक मानते हैं।[2] इस तरंग के छंदोलक्षणों में मात्रिक तथा वर्णिक गणों का प्रयोग प्रायः व्यापक रूप से हुआ है।

षष्ठ तरंग में मात्रामुक्तकादि कुछ छन्दों का वर्णन है। इस प्रसंग में ये छंद आये हैं— बनीनी, हीरकी, भुजंगी, चंद्रिका, नांदीमुखी, सुमेरु, प्रिया, हरिप्रिया, दिगपाल, अविधा, सायक, भूय, मोहनी, तथा गीता-प्रकरण के अंदर रूपमाल, सुगीतिका, गीता, शुभगीता, हरिगीता, अतिगीता, तथा, शुद्धगा और लीलावती। इस तरंग के छंदों को मात्रामुक्तक इसलिए कहा गया है कि ये वर्णिक या मात्रिक गणबंधन से मुक्त हैं और इनके लक्षण केवल पादगत मात्रासंख्या तथा यत्र-तत्र लघुगुरु-निर्देश के सहारे बताये गये हैं।

सप्तम तरंग में जातिछन्दवर्णन शीर्षक के अन्तर्गत दोहा और चौपैया प्रकरण हैं। दोहा-प्रकरण में दोहा, सोरठा, दोही, दोहरा, उल्लाला, चुरियाला, ध्रुवा, घत्ता छन्द आये हैं। चौपैया प्रकरण में चौपैया, पद्मावती, दुर्मिल, दंडकला, त्रिभंगी, जलहरन, मदनहरा पादाकुलक, अलीला, सिंहविलोकित और काव्य छंद हैं। इसके उपरान्त छप्पै, कुण्डलिया, अमृतध्वनि और हुल्लास छंद आये हैं।

अष्टम तरंग का संबंध गाथा-प्रकरण से है, जिसके अंतर्गत गाथा, गाहू, उग्गाहा, विग्गाहा, खंधा, गाहिनी आदि छंद हैं। नवम तरंग में मात्रादण्डक वर्णन है, जिसमें झूलना, दीपमाला, विजया और चंचरीक छंद आये हैं। दशम तरंग में वर्णवृत्त आये हैं। एकादश तरंग वर्णसवैया प्रकरण है और द्वादश तरंग में 'संस्कृत योग्य पद्यवर्णन' के अंतर्गत संस्कृत में प्रचलित वर्णवृत्तों के लक्षण और उदाहरण हैं। त्रयोदश तरंग अर्द्धसमवर्णवृत्त प्रकरण है और चतुर्दश तरंग में मुक्तक छंदों के अंतर्गत अनुष्टुप्, गंधा, घनाक्षरी तथा बरण झुल्लना का वर्णन है। पंचदश तरंग अंतिम है। इसमें वार्णिक दण्डक-भेद-वर्णन है।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि इस ग्रंथ का मुख्य उद्देश्य मात्रिक छंदों का वर्णन है, जिसे पहले कुछ तरंगों में रखा गया है। मात्रिक छंदों में जो छंद गणबंधन में बाँधे जा सके हैं, उन्हें साथ रखा गया है तथा जिनमें केवल पादगत मात्रासंख्या तथा एकाध स्थान पर लघुगुरु विधि-निषेध उल्लेख्य है, उन्हें मात्रामुक्तक कहा गया है। दोहा और चौपैया के लिए अलग प्रकरण हैं। संस्कृत में अधिक लोकप्रिय वर्णवृत्तों को भी अलग तरंग में रखा गया है। इससे प्रतीत होता है कि भिखारीदास का दृष्टिकोण हेमचंद्र के समान सिद्धांतवादी नहीं था, विरहांक या कविदर्पणकार के समान व्यवहारवादी था। भिखारीदास का ध्यान परंपरा-पालन या प्रथा-पालन की ओर कम है; लोक-व्यवहार में प्रचलित छंदों को अधिक महत्त्व देने की प्रवृत्ति उनके विवेचन में अधिक परिलक्षित होती है।

लक्षणनिर्देश-शैली की दृष्टि से कहा जा सकता है कि ग्रंथकार ने छंदों के लक्षण तथा उदाहरण अलग-अलग दिये हैं, लक्षण अधिकतर दोहा छंद में है। वार्णिक और मात्रिक गणों का यथावसर उपयोग किया गया है।

छंदार्णवपिंगल (या छंदोर्णवपिंगल[3]) मात्रिक छंदों के वर्गीकरण और लक्षण-निर्देश की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है।

---

१. भि०—छं०पिं। ५। ६५, ८३, ८६, ८८, ९१, ९३। १४२, १४६, १४७, १४८ आदि।
२. भि०—छं०पिं०। ५। ३।
३. पुस्तक के प्रकाशित संस्करण में ग्रंथ-शीर्षक के ये दोनों वर्णानुक्रम मिलते हैं।

मनीराम मिश्रकृत 'छंदछप्पनी'

मनीराम मिश्र कन्नौज निवासी इच्छाराम मिश्र के पुत्र थे। 'छंदछप्पनी' और 'आनंद-मंगल' नामक दो ग्रंथ मनीराम ने लिखे। 'छंदछप्पनी' का रचनाकाल सं० १८२९ है। यह ग्रथ 'छंदःशास्त्र' का बड़ा ही अनूठा ग्रंथ है"।[1]

नारायणदासकृत छंदसार

इस ग्रंथ की पाण्डुलिपि सरस्वती भण्डार, लक्ष्मण किला, अयोध्या में सुरक्षित बताई गई है। दतिया राज्य के गौरीशंकर[2] के पास, बिजावर राज्य-पुस्तकालय मे और खुरजा के पं० चंद्रसेन पुजारी के पास[3] भी इसकी प्रतियो का होना बताया गया है। दतिया और खुरजा की प्रतियों मे इसका रचनाकाल १८२९ वि० दिया हुआ है। खुरजा की प्रति में प्रतिलिपि-काल भी है—वह है १९२५ वि०। कवि के अनुसार ग्रंथ में ५२ छंदो का विचार है और ग्रंथरचनास्थान चित्रकूट है—

द्वादस अरु चालीस ये, छंद जो किए प्रकाम।
चित्रकूट में ग्रंथ यह, कियो नरायन दास॥[4]

इस ग्रंथ में लघुगुरुविचार, आठ गण, वार्णिक और मात्रिक वृत्तो पर विचार है। विचार और लक्षण-निरूपण का माध्यम दोहा है। घनाक्षरी के सिवा इस ग्रंथ के सभी छंद प्राकृत पैंगलम् मे मिलते है।[5]

दशरथकृत वृत्त-विचार

इस ग्रंथ की हस्तलिखित प्रति नागरी प्रचारिणी सभा, काशी में है।[6] ग्रंथ के अंत मे यह तिथि दी हुई है—१८५६ वि०, त्रयोदशी, वदी पौष। ना०प्र०स० के विवरण में १८५६ वि० को लिपिकाल कहा गया है। ग्रंथ चार 'विचारो' में विभक्त है। दोहा विचार का माध्यम है। गणेश-वन्दना से आरंभ कर लघु-गुरु-विचार, मात्रिक तथा वार्णिक गणों के नाम, तथा छन्दोगणित का वर्णन है। सम और अर्द्धसम के रूप में छंदों का वर्गीकरण है। पद्य के तीन भेद कहे गये है—मात्रावृत्त, वर्णवृत्त, उभयवृत्त। उभयवृत्त क्या है, यह स्पष्ट नही किया गया है। द्वितीय 'विचार' मे वार्णिक छन्दों का निरूपण है। तृतीय 'विचार' मे मात्रिक गणों का वर्णन और सप्त-मात्रा-पादी छंदों से आरंभ कर मात्रिक छंदोविवेचन है। गाहा, विगाहा आदि को विषम-पद छंद कहा गया है। चतुर्थ "विचार" मे केवल दो छंद है—घनाक्षरी और श्लोक (अनुष्टुप्)। ग्रंथ प्राकृत-पैंगलम् से प्रभावित है, किंतु कई नये छंदों का विवेचन भी है।[7]

---

१. रामचन्द्र शुक्ल : हि० सा० का इति०, पृ० ३५५ (१९९० संस्करण)।
२. खोज रिपोर्ट (ना० प्र० स०) नोटिस-संख्या ७८ (ए)–१९०६–८, पृ० ४३।
३. खोज रिपोर्ट —परिशिष्ट, पृ० २६८ और परिशिष्ट १, पृ० ५०।
४. छन्दसागर (मनोज द्वारा उद्धृत, पृ० ४०, पा० टि०)।
५. जा० ना० सि०। पृ० ४५।
६. ह० हिं० पु० का सं० वि०—पहला भाग, पृ० १६१। का० ना० प्र० स०। वृत्तविचार—ह० सं० ज-५७।
७. जा० ना० सि०। पृ० ४५।

दशरथकृत 'पिंगल' शीर्षक एक अन्य ग्रंथ की हस्तलिपि, जिसका लिपिकाल सं० १८५७ दिया गया है, नागरी-प्रचारिणी सभा के विवरण में निर्दिष्ट है।[1]

रामसहायकृत वृत्त-तरंगिनी

इस ग्रंथ की एक हस्तलिपि काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा में सुरक्षित है,[2] एक दूसरी हस्तलिपि पं० कृष्णबिहारी मिश्र के व्यक्तिगत संग्रहालय में बताई गई है। इनमें पाठ-भेद प्रायः नहीं है।[3] ग्रंथ के लेखक रामसहाय का नामोल्लेख हस्तलिपि में पृष्ठ २ के पद्य ९ में है। ग्रंथ-रचना-समाप्ति की तिथि हस्तलिपि में इस प्रकार दी गई है—

संध्या सुधि सिधि विधु बरष, गौरी तिथि सुदि दूजी।
सुराचार्ज बासर सुपद, अरु धठ पैग सूजी ॥[4]

अर्थात् ग्रंथरचना-काल सं० १८७३ वि० है।

प्रस्तुत ग्रंथ चार तरंगों में विभक्त है। प्रथम तरंग में गुरु-लघु, गण, देवता, फला-फल आदि का विचार है। आवश्यक प्रत्यय आदि भी दे दिये गये हैं। द्वितीय तरंग का संबंध मात्रिक छंदों से है। यह तरंग १२ पृष्ठों में व्याप्त है।[5] इस तरंग में १ मात्रा से ३२ मात्राओं तक के मात्रिक छंदों का क्रमशः उल्लेख हुआ है। मात्रिक छंदों की कुलभेद-संख्या ९२, २७, ४६, ३ बताई गई है, और पृथक्-पृथक् छंदोजातियों की भेद-संख्या भी सूची द्वारा दी गई है। प्रत्येक जाति के कुछ ही छंद उल्लिखित हुए हैं। स्पष्ट है कि सभी छंदों का उल्लेख किसी भी ग्रंथ में व्यावहारिक नहीं। इस ग्रंथ में उल्लिखित छंदों में प्रमुख हैं नंद, सारस, गंगा, अहीर, कलकंठा, माधुर्य, इंदिरा, ह्राकली, सुलक्षण, मनमोहन, गोपाल, नगर, चौपाई, पादुकुलक, कलिंद, मयूरी, वीर, दोहा, सोरठा, रोला, षट्पद (छप्पय), हरिगीत, मरहठा, चुलियाला, चौबोला, मधुकर, वंशी, पद्धरी, अलिला, सायक, मैनका, माली, बरवै, मोहनी, विशेपिका, हेमंत, प्लवंगम (दो भेद—सामान्य, और विशेष), चौपइया (अथवा नवनारी), गाहा तथा आर्या, सवैया, मार सवैया, विशेप, त्रिभंगी, जलहरण, झूलना, मदनहर और चंचरीक। अंतिम तीन दंडक कहे गये हैं; क्योंकि ये ३२ मात्राओं से अधिक के पादवाले हैं। मात्रिक छंदों का वर्गीकरण सम, अर्द्धसम, विषम आदि के रूप में नहीं है, तीनों प्रकार के छंद तथा प्रगाथ छंद भी एक ही कोटि में रखे गये हैं। किंतु, पाद-गत मात्रा-संख्या के अनुसार छंदों का क्रम प्रायः रखा गया है। मात्रिक छंदों का लक्षण-निर्देश प्रायः पादगत मात्रासंख्या के सहारे ही हुआ है, मात्रिक गणों का उपयोग प्रायः नहीं हुआ है।

---

१. हु० हिं० पु० का सं० वि०। भाग १। पृ० ५७। पिंगल-हस्तलिपि-संख्या — ६। १५३।
२. आर्यभाषा पुस्तकालय; ना० प्र० सभा, काशी; हस्तलिपि-संख्या १४०।६४।
इस हस्तलिपि के ८० पन्ने वर्तमान हैं। (इस हस्तलिपि के देखने का सौभाग्य इन पंक्तियों के लेखक को सभा के अधिकारियों के सौजन्य से मिला है, अतएव वह उनका आभार स्वीकार करता है।)
३. ना० ना० सिं०। पृ० ४७।
४. रामसहाय—वृत्ततरंगिनी (हस्त०); ना० प्र० स० का० १४०।६४; पृ० २। पद्य ८।
५. वही। पृ० ३० से ४१ तक।

तृतीय तरग में वर्णवृत्त आये हैं; इस कोटि के अंतर्गत दडक और अर्द्धसम छंदो पर भी पृथक् विचार किया गया है।

चतुर्थ तरग मे विस्तार से तुकविचार है।

इस ग्रंथ मे लक्षणोदाहरण के लिए पद्यशैली का ही प्रायः प्रयोग हुआ है, किंतु गद्य का भी कही-कही विचार स्पष्ट करने के लिए, सहारा लिया गया है। उदाहरण बहुत अधिक दिये गये हैं। लक्षण और उदाहरण अलग-अलग पद्यों मे हैं। लक्षण प्रायः दोहा छद मे निबद्ध हं।

मात्रिक छंदो पर विस्तृत विचार की दृष्टि से यह ग्रंथ ध्यातव्य है, यद्यपि मात्रासंख्या के क्रम मे मात्रिक छंदों का उल्लेख रामसहाय के पूर्व भिखारीदास कर चुके थे। फिर भी, रामसहाय ने कुछ नये मात्रिक छंदों की चर्चा की है, जो मात्रिक छंदों के विकास में उनकी देन कही जा सकती है। ये नये मात्रिक छंद हैं—नंद, सारस, गंगा, कलकंठा, माधुर्य, सुलक्षणा, मनमोहन, गोपाल, नगर, कलिद, मयूरी, वीर, मधुकर, वशी, सायक, मैनका, माली, बरवै, मोहनी, विशेपिका, हेमत, तथा विशेप। ग्रंथ महत्त्वपूर्ण है।

नन्दकिशोरकृत पिंगल-प्रकाश

ग्रथ की हस्तलिपि सरस्वती भडार, लक्ष्मण किला, अयोध्या में है। प्रतिलिपिकार का नाम सीताराम है। ग्रथ अपूर्ण है। ८ पृष्ठों मे प्रत्ययो का विचार है। लक्षण दोहा मे है। गाथा-विचार से छंदो-निरूपण आरभ होता है। प्राकृतपगलम् का प्रभाव लक्षित है।[1]

हरदेवदासवैश्यकृत पिंगल या छन्दपयोनिधि भाषा

श्रीरतिरामात्मज हरदेवदास वैश्य-रचित तथा वृन्दावन-निवासी महंत कन्हैयालाल द्वारा (गद्य मे) अनूदित यह ग्रंथ चैत्र स० १९६२ में श्रीवेकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित हुआ। कन्हैयालाल ने भूमिका मे बताया है कि हरदेवदास का जन्म सं० १८६२ मे और मृत्यु सं० १९१९ (ज्येष्ठ शुक्ला ११) मे हुई। ग्रंथ के अंत मे ग्रंथ पूर्ण करने की तिथि इस प्रकार दी हुई है—

धरो नैन निधि सिद्धि शशि, संवत सुखद उदार।
माघ शुक्ल तिथि पंचमी, रविनन्दन शुभवार॥[2]

जिसका अर्थ हुआ [नैन=२,=निधि=९, सिद्धि=८, शशि=१। रविनन्दन=शनिवार।] १८९२ संवत्–मिति माघ शुक्ल ५ शनिवार।

ग्रंथ ८ तरंगों में विभक्त है। प्रथम तरंग मे वन्दना और छंदोलक्षण हैं; द्वितीय मे लघुगुरुविचारादि; तृतीय में गणनिरूपण; चतुर्थ और पंचम में प्रत्ययादि; षष्ठ में गणागणविचार, फल, देवता आदि; सप्तम मे दोहा-लक्षण, दोहा के गणस्वरूप, संख्या, २३ भेद, सोरठा, उपदोहा, रोला आदि अन्य भेद तथा गाथा, छप्पय आदि अन्य मात्रिक छंदों के लक्षणादि हैं; अष्टम तरंग में वर्णवृत्तों का—१ वर्ण से ३२ वर्ण तक के छंदों का—विचार है।

---

१ जा० ना० सिं० पृ० ५०।
२. छंदपयोनिधि भाषा, पृ० २०७। (वें० प्रे०। १९६३ वि०)

लक्षण के लिए दोहा छंद के अतिरिक्त अन्य छन्दो का उपयोग भी हुआ है। दोहा पर विशेष विस्तृत प्रकाश इस ग्रंथ की विशेषता है।

अयोध्याप्रसादकृत छंदानंद-पिंगल

इस ग्रथ की हस्तलिपि काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा मे सुरक्षित है।[1]

ग्रंथ-रचनाकाल सं० १९०० तथा प्रस्तुत प्रति का लिपिकाल सं० १९५८ वि० है।[2] ग्रंथकार के पिता का नाम नंदकिशोर वाजपेयी तथा लिपिकार का नाम रामनाथ शुक्ल दिया है।[3] ग्रंथ अध्यायों म विभक्त नही। प्रारंभ के आठ पृष्ठो तक छंद:शास्त्रीय गणित का वर्णन है, जिसके अंतर्गत प्रस्तारादि प्रत्यय भी आये हैं। नवम पृष्ठ से वर्ण-वृत्त-लक्षणोदाहरण का आरंभ है।

मात्रावृत्त की चर्चा पृ० ४४ मे आरंभ होती है। छंदो के लक्षण बहुत ही सक्षिप्त और प्राय: अपर्याप्त रूप मे दिये गये हैं। छंदो-भेदों के लक्षण प्राय: नही ह, केवल उदाहरण दिये गये है। छंदों की चर्चा इस क्रम मे है—सारदा, कामदा, आर्या, सिहिनी, गाहा, दोहा (भ्रमर, भ्रामर, आदि २३ भेदों के उदाहरण सहित), रोला, कुंडलिया, संधान, रसिका, घत्तानंद, चौपइया; छप्पय, पज्झटिका, पादाकुलक, अडिल्ल, चौबोला, पद्मावती, मधुमंगली, गगनांगन, दोवइ, अमृतध्वनि, शुद्धध्वनि, पज्झटिका, झूलना, कडपा, सुखभुखी, रायसेनी, खंजा, सोरठा, चुलियाला, मधुभार, हाकली, दंडकला, दीपक, सिहावलोक, प्लवंगम, लीलावती, हरिगीत, शशिवदन, त्रिभंगी, दुर्मिला, हीरक, सुमनहरन, मदनहरा, उद्धत, मोहनी, हरिपद, बरवै, प्रेमसवैया, सुगति, सुपाम, विमदा, हरिप्रिया, निसेनी, नूफा, वेदवै, ताटंक, गजरा, करी, अनुगीत, हरि, कलहंस, गौरी, आदर्श, मरहठा।

सभी छंदों के लक्षण नहीं दिये गये हैं, उदाहरण प्राय: सभी उल्लिखित छदों के हैं। लक्षण जहाँ दिये गये हैं, वहाँ अलग मे पद्य में। अतएव लक्षणोदाहरण-तादात्म्य शैली का उपयोग नहीं हुआ है। लक्षण-निरूपण में पादगत मात्रा-संख्या और यति-स्थान का ही निर्देश है, मात्रिक गणों का नहीं। छंदों के वर्गीकरण का कोई प्रयास नही दिखाई देता।

इस ग्रंथ में जिन नवीन अथवा अपूर्वोल्लिखित छंदों की चर्चा हुई है, उनमें प्रमुख हैं—अमृतध्वनि, ताटंक, करी, निसेनी, वेदवै, करखा, उद्धत, बरवै, अनुगीत आदि। इन नवीन छंदों के प्रथमोल्लेख की दृष्टि मे ग्रंथ महत्त्वपूर्ण है।

रघुबरदयालदुर्गकृत छंदरत्नमाला[4]

चार विलासों में विभक्त चौबीस पृष्ठों की इस लघु-पुस्तिका में केवल वर्णवृत्तों पर

१. का० ना० प्र० सभा (आर्यभाषा पुस्तकालय)—हस्तलिपि-संख्या १८०७।१०६३। (इस हस्तलिपि के अवलोकन और उपयोग की अनुमति के लिए इन पंक्तियों का लेखक ना० प्र० सभा के अधिकारियों का आभार स्वीकार करता है।)
२. अ० छं०। पृ० ७५।
३. वही।
४. खेमराज श्रीकृष्णदास द्वारा श्रीवेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बंबई से चैत्र सं० १९७१ में मुद्रित-प्रकाशित।

विचार है। छन्दोलक्षण और उदाहरण का तादात्म्य हम यहाँ भी देखते हैं। ग्रंथ के अंत मे ग्रंथरचना-काल इस प्रकार दिया है—

संवत शत उन्नीस पर, द्वादश, श्रावणमास।
छंदरत्नमाला भयो, नौमी शुक्ल प्रकाश॥[1]

जानी बिहारीलाल कृत छंद-प्रभाकर-पिंगल

इस ग्रंथ की हस्तलिपि काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय मे सुरक्षित है।[2] इसका लिपिकाल भाद्र शुक्ल १५ चंद्रवार, सं० १९४६ वि०, तदनुसार ९ सितंबर १८८९ ई०, ग्रंथ के वर्ण्य विषय के उपरांत दिया हुआ है। ग्रंथारंभ-काल सं० १९२६ वि० तथा ग्रंथ-समाप्ति की तिथि सं० १९४६ वि० की आषाढ शुक्ल नवमी (रविवार) हस्तलिपि के अंत में निर्दिष्ट है। ग्रंथकर्त्ता का नामोल्लेख तथा उनके पिता जानी मन्नूलाल का नामोल्लेख भी ग्रंथात में हैं।

यह ग्रंथ तीन विभासों मे विभक्त है। प्रत्येक विभास कई 'प्रभाओं' मे विभक्त है। प्रथम विभास में भूमिका, मंगलाचरण, प्रस्तावनादि के उपरात छंद-परिभाषाएँ, मात्रा-षट्-प्रत्यय-निरूपण, वर्णषट्प्रत्यय-निरूपण आदि विषम वर्णित हैं।

द्वितीय विभास की प्रथम प्रभा में १ से ३२ मात्रा तक के पादवाले छदो का वर्णन कुल २१४ पद्यों मे, द्वितीय प्रभा में ३३ से ४० मात्राओं तक के पादवाले छंदो का वर्णन कुल २५ पद्यों में, तृतीय प्रभा में अर्द्धसम मात्रिक छंदों का वर्णन कुल ६४ पद्यों में तथा चतुर्थ प्रभा में 'असम' मात्रिक छंदों का वर्णन कुल २५ पद्यों में हुआ है।

द्वितीय विभास में वर्णित मात्रिक छंदों में १ कला के पादवाले छंद का कोई नाम नही दिया है। २ कलाओं के पादवाले छंदों से आरंभ कर शेष छंदों के नाम इस प्रकार हैं—

२ मात्राओ के पादवाले छंद		—श्री, मधु।
३ ,, ,,	,, ,,	—भू, हेम, कमल।
४ ,, ,,	,, ,,	—काम, हित, हरेद्र, मंदिर, हरि।
५ ,, ,,	,, ,,	—शशिप्रिया, तरनिजा, निशि।
६ ,, ,,	,, ,,	—नायक, राजहंस, धारी, राम।
७ ,, ,,	,, ,,	—नंद, सुगति, प्रभाविशाल।
८ ,, ,,	,, ,,	—छवि, मालती, शशिवदना, मधुभार।
९ ,, ,,	,, ,,	—वसुमती, हारीत।
१० ,, ,,	,, ,,	—दीपक, तुंग, संमोहा, कमला।
११ ,, ,,	,, ,,	—आभीर, समानिका, ललिता।

---

१. छंदरत्नमाला, पृ० २४।
२. का० ना० प्र० सभा (आर्यभाषा-पुस्तकालय)—हस्तलिपि-संख्या १०३८।७१८। (सभा के अधिकारियों के सौजन्य से अवलोकित)

१२ ,, ,,	,, ,,	—हरि, तोमर, बिम्बा, अमृतगति।
१३ ,, ,,	,, ,,	—चंद्रमणि, महर्ष, मनोरमा, ताटक, हनूफाल, कलि-कहि, मुखी।
१४ ,, ,,	,, ,,	—हाकलि।
१५ ,, ,,	,, ,,	—करी, हमी, हरिणी, चोपई, महालक्ष्मी।
१६ ,, ,,	,, ,,	—अरिल्ल, पादाकुलक पद्धरि, कुसुमविचित्रा।
१७ ,, ,,	,, ,,	—श्येनिका, उपेंद्रवज्रा बाला।
१८ ,, ,,	,, ,,	—राजीवगण, वनमाली, तनरुचिरा।
१९ ,, ,,	,, ,,	—वैंजवे, पीयूषवर्ष, इंद्रवदना।
२० ,, ,,	,, ,,	—हंसगति, धवल, मनिमाला।
२१ ,, ,,	,, ,,	—प्लवंगम, कंद, बसनतिलका।
२२ ,, ,,	,, ,,	—मत्तमयूर, मालिनी, मालती।
२३ ,, ,,	,, ,,	—हीर, निमानी।
२४ ,, ,,	,, ,,	—कव्य, काव्य, रोला।
२५ ,, ,,	,, ,,	—गगनागन, मुक्तमणि।
२६ ,, ,,	,, ,,	—अनुगीत, चरचरी, विष्णुपद।
२७ ,, ,,	,, ,,	—शशिधर, मंदाक्रांता
२८ ,, ,,	,, ,,	—वैंतवै, हरिगीत, ललितपद।
२९ ,, ,,	,, ,,	—मरहठा, कुसुमलतावल्लिता।
३० ,, ,,	,, ,,	—चौपइया, साटिक।
३१ ,, ,,	,, ,,	—हरिपद, चकोर, सवैया।
३२ ,, ,,	,, ,,	—त्रिभंगी, पद्मावती, दुर्मिला, दंडकल, समान सवैया, मुगत सवैया, लीलावती।

यहाँ द्वितीय विभास की प्रथम प्रभा समाप्त हो जाती है।

द्वितीय प्रभा के छंद इस क्रम से हैं—

३३ मात्राओं के पादवाले छंद		—सालु, मंजरी।
३४ ,, ,,	,, ,,	—प्रभाकर, माधवी।
३५ ,, ,,	,, ,,	—शुगंधरा।
३६ ,, ,,	,, ,,	—कुसुमस्तवक दंडक।
३७ ,, ,,	,, ,,	—झूलना, करखा।
३८ ,, ,,	,, ,,	—भुजंगविजृंभित।
३९ ,, ,,	,, ,,	—प्रेमलता।
४० ,, ,,	,, ,,	—उद्धत, मदनहर।

अर्द्धसम मात्रिक छंदों से संबद्ध तीसरी प्रभा मे निम्नोक्त क्रम से छदोवर्णन हुआ है—

मोहनी (अथवा बरवै अथवा ध्रुव) दोहरा, दोहा (सभेद), सोरठा, दोही, आर्या या गाहु, हरपद, उल्लाला, दुपदी, ललित, चुलियाला, उग्गाहा, चौबोला, घत्ता, घत्तानंद, आल्हा, स्कंधक, रसिक, हरिकीर्त्तन, चंडिकला, खज, चूडामणि, कुंडलिया, चौबोला, अमृतध्वनि, छप्पय, हुलास।

चतुर्थ प्रभा मे असमवृत्त-वर्णन इस क्रम से है—विपुला-गाथा, गाहा, विगाहा, सुवसत, गाहिनी, सिहिनी, शिष्या (शिखा), रोडा, माला, राजसेन रड्डा, तालंकिनी रड्डा, नंद रड्डा, मोहिनी रड्डा, चारुसेन रड्डा, भद्रा रड्डा।

ग्रथ के तृतीय विभाग का संबध वर्णवृत्त से है। इसमे वार्णिक छदो का वर्ग-विभाजन सम, अर्द्धसम, विषम और मुक्तक, इन चार रूपों मे किया गया है।

पुस्तक की भूमिका में विक्टोरिया रानी की प्रशसा है और ग्रथरचना-कारण की चर्चा है।

इस ग्रंथ मे जिन छंदो का उल्लेख मात्रिक छदो के प्रसग में हुआ है, उनमे कई वर्णवृत्त हैं; उदाहरणतः १ से ६ मात्राओ तक के पादवाले छंद, कुसुमविचित्रा, उपेन्द्रवज्रा, मंदाक्रांता, कुसुमलतावल्लिता, साटिक, भुजगविजृंभित आदि। अन्य अधिकाश छंद पूर्वोल्लिखित है। जानी विहारीलाल ने जिन नये मात्रिक छदो की चर्चा की है, उनमे प्रमुख हैं—प्रभाविशाल, चंडमणि, मनोरमा, हनूफाल, हरिणी, राजीवगण, वनमाली, पीयूपवर्ष, मणिमाला, कंद, कव्य (काव्य से भिन्न), मुक्तामणि, शशिधर, आल्हा, आदि।

इस ग्रंथ की छदोलक्षण-वर्णन-शैली के संबंध में द्रष्टव्य है कि छंदो के लक्षण और उदाहरण अलग-अलग दिये गये हैं। लक्षण-निरूपण के लिए प्रायः दोहा-सोरठा या पादाकुलक छंदों का सहारा लिया गया है, किंतु साथ ही गद्य में भी लक्षण निर्दिष्ट हैं। छंदोलक्षणों में पादगत मात्रासंख्या और यतिस्थान का ही निर्देश है, मात्रिक गणो का प्रायः नहीं। मात्रिक छंदों का वर्गीकरण सम (साधारण तथा दंडक), अर्द्धसम और असम रूप में किया गया है। अनुच्छेदगत पादसख्या के आधार पर छंदो का वर्गीकरण द्विपदी, चतुष्पदी आदि रूप मे नहीं किया गया। किंतु, कुछ छंदो के लक्षण-निर्देश के प्रसंग में उनके द्विपदी, षट्पदी आदि होने का उल्लेख हुआ है।[1]

ग्रंथ कई दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण है।

बिहारी कृत छंदप्रकाश

इस ग्रंथ की हस्तलिपि नागरी-प्रचारिणी सभा के संग्रहालय मे सुरक्षित है।[2] इस हस्तलिपि में केवल ३४ पृष्ठ हैं। लेखक का नाम बिहारी ग्रथ मे उल्लिखित है।[3]

इस ग्रथ मे छंदो-व्याख्या, नरगिरा-प्रयोजन, ग्रंथप्रयोजन, अक्षरभेद, मात्रानाम, वर्णमात्रा-उत्पत्ति, सर्वाक्षरभेदकथन, स्वरव्यंजनसंख्या और स्वरूप, गुणबृद्धि, स्वरव्यंजनभेद, ह्रस्वदीर्घ-लघुगुरुवर्णन, प्लुतमात्रासंख्या, उच्चारणस्थान की दृष्टि से व्यंजन-भेद, अनुस्वार-विसर्ग,

१. जा० वि०—छं० प्र० पिं०।२।३।२१।; २।३।५१।

२. का० ना० प्र० सभा (आ० भा० पु०)—हस्तलिपि-संख्या १५३४।९०४।

३. बिहारी—छंदप्रकाश। पद्य ५।

क्ष, त्र, ज्ञ आदि की व्याख्या, रेफ, आदि के लक्षणोदाहरण ८५ पद्यो मे वर्णित है। ८५ पद्यों का यह वर्णमात्रा-वर्णन नाम प्रथम अध्याय है।

द्वितीय अध्याय में पिंगल के दशाक्षर, और छंदःशास्त्रीयगणित, प्रस्तारादि प्रत्ययो का विचार है। इस अध्याय मे ७७ पद्य हैं।

ग्रंथ में ये ही दो अध्याय है। छंदों के लक्षण या उदाहरण इस ग्रंथ मे नहीं आये हैं, अतएव प्रस्तुत प्रबंध की दृष्टि मे इस ग्रंथ का विशेष महत्त्व नही।[1]

छन्दःशास्त्र (पिंगल)

इस ग्रंथ की प्राचीन हस्तलिपि नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी में है[2] जिसके केवल तीन पन्ने ही जीर्ण-शीर्ण अवस्था मे शेष हैं।[3] इन पन्नो मे वर्णवृत्त-विचार हैं। इस ग्रंथ के संबंध में और कुछ पता नही।

पिंगल (अपूर्ण)

इस ग्रंथ की हस्तलिपि नागरी-प्रचारिणी सभा मे है,[4] जिसके केवल तीन पन्ने उपलब्ध है, इन पन्नों में छंदःशास्त्रीय गणित का वर्णन है।

पिंगल (अपूर्ण)

इसकी हस्तलिपि के भी मात्र दो पन्ने शेष हैं, जो नागरी-प्रचारिणी सभा मे सुरक्षित हैं।[5] इन पन्नों का संबंध वर्णवृत्तविचार मे है।

आचार्य चतुरदासकृत चतुरचंद्रिका-पिंगल

इस ग्रंथ की हस्तलिपि एक बड़े आकार के पन्ने के रूप में है, जो नागरी-प्रचारिणी सभा में सुरक्षित है। इस पन्ने में कई 'कॉलम' बने हैं; पहले मे अक्षर-संख्या, दूसरे में छंदोनाम और जाति, तीसरे मे उनका लघुगुरुस्वरूप-प्रतिपादन और चौथे कॉलम में उदाहरण तथा प्रस्तार-भेद से विशिष्ट छंदोजातियों की छंदोभेद-संख्या दी गई है। इसमें केवल वर्णवृत्त आये है।

जगन्नाथप्रसाद 'भानु'कृत 'छंदःप्रभाकर'

जगन्नाथप्रसाद 'भानु' मध्यप्रदेश के निवासी थे। आपका जन्म सं० १९१६ वि० में हुआ। आपकी लिखी पुस्तकों में 'काव्यप्रभाकर' और 'छंदःप्रभाकर' विशेष प्रसिद्ध है।

---

१. (यह हस्तलिपि सभा के अधिकारियों के सौजन्य से इन पंक्तियों के लेखक द्वारा अवलोकित हुई।)
२. काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा (आर्यभाषा पुस्तकालय)—हस्तलिपि-संख्या २०। २६३९। १५८१।
३. पन्ना-संख्या ११, १३ और १४।
४. का० ना० प्र० सभा (आ० भा० पु०)—हस्तलिपि सं० ३१३५।१९७५।
५. का० ना० प्र० सभा (आ० भा० पु०)—हस्तलिपि सं० ३१३६।१९६६।

यों आपने सं० १९६६ वि० में रसरत्नाकर, सं० १९७४ वि० में छंदःसारावली और सं० १९८२ में नायिकाभेद शंकावली की रचना भी की।

भानुजी का छंदःप्रभाकर छंदःशास्त्र-संबंधी बृहद् ग्रंथ है, जिसकी रचना सं० १९५० वि० मे हुई।[1] एक वर्ष बाद इसका प्रकाशन भी हुआ। हिंदी छंदों पर इससे प्रामाणिक और लोकप्रिय ग्रंथ दूसरा नही। अबतक इसके अनेक संस्करण निकल चुके है।

प्रथम संस्करण के अँगरेजी में लिखित प्राक्कथन (Introduction) में ग्रंथकार ने कुछ नवीन और अद्यतन प्रयुक्त छंदों का वर्णन और उनका नामकरण करना भी अपना अभीष्ट माना है।[2] नये छंदों के समाहार के अतिरिक्त ग्रंथ में अन्य विशेषताएँ भी हैं।

किसी छंद का लक्षण उसी छंद में वर्णित हुआ है। जैसे, चवपैया छंद का लक्षण देना हो, तो चवपैया छंद में ही यह लक्षण निबद्ध होगा। इस प्रकार लक्षणोदाहरण का समाहार हो जाता है। लक्षणोदाहरण का समाहार तो संस्कृत के वृत्तरत्नाकर (केदारभट्ट-कृत) आदि कुछ ग्रंथों मे भी उपलब्ध है। किंतु केदारभट्ट ने निरर्थक वर्णो के प्रयोग का सहारा लिया है। जैसे—द्रुतविलंबित छंद मे—द्रुतविलंबितमाह नभौ भरौ[3]—यह लक्षण है, तो इसमें 'नभौ भरौ' पद निरर्थक है। यह केवल 'नगण भगण भगण रगण' का सांकेतिक रूप है। इसका कोई अन्य अर्थ नहीं। गण-सूचक सांकेतिकता के लिए तो 'न भ भ र' ही पर्याप्त था, छंदोरक्षार्थ नियोजित 'नभौ भरौ' रूप अनावश्यक था। भानु ने छंदःप्रभाकर में निरर्थक पदों का प्रयोग नही किया है। लक्षण-सूचक सांकेतिक पद भी कुछ सामान्य अर्थ रखनेवाले हैं, जिसकी संगति पूरे पद्य के अर्थ के साथ बैठ जाती है। लक्षणसूचक यह पद पद्य के आरंभ में ही आ जाता है। लक्षणवाले पद्य में छंद का पूरा नाम भी आ जाता है। उदाहरण के लिए चौपाई का लक्षण देखिए—

सोरह क्रमन जतन चौपाई।
सुनहु तासु गति अब मन लाई॥
त्रिकल परे समकल नहीं दीजे।
दिये कहूं तो लय अति छीजै॥[4]—आदि।

इसमें छंदोलक्षणसूचक पद है—

सोरह क्रमन जतन चौपाई।

अर्थात्, चौपाई छंद के प्रतिपाद में सोलह मात्राएँ होती हैं। उनमें लघुगुरु का क्रम नही (क्रम न) होता है। फिर भी, क्रमपूर्वक (क्रमन) पद नियोजित होते हैं; क्योंकि सम के पीछे सम और विषम के पीछे विषम कर दिये जाते हैं। अंत में (ज त न) जगण (।ऽ।) या तगण (ऽऽ।) नही आते। यही चौपाई का लक्षण है। शेष पंक्तियाँ व्याख्यास्वरूप अथवा छंद-पूर्त्ति के लिए ह। फिर भी, पूरे पद्य में अर्थ-संगति वर्त्तमान है।

---

१. छं० प्र०। पृ० २३५।
(संवत नभ खर ग्रहससी, विक्रम मह अवतार।
छंदप्रभाकर को भयो, मधुसित षट गुरुवार॥१२॥)
२. छं० प्र०। भूमिका। पृ० १-४।
३. वृ० र०। ३।५०।
४. छंदःप्रभाकर—'भानु', पृष्ठ ५१ (१९३१ ई० संस्करण)।

ग्रंथारम्भ के पूर्व एक तालिका दी गई है, जिसमें हिन्दी छन्द-शास्त्र में प्रयुक्त गणों तथा कुछ अन्य संज्ञाओं के अँगरेजी प्रतिरूप का उल्लेख किया गया है। ग्रंथारम्भ में उपयोगी भूमिका संलग्न है। मंगलाचरण के उपरान्त ग्रंथारम्भ होता है। आरम्भ में छंदोलक्षण, लघुगुरु-विचार, मात्राविचार, छंदोभेद, मात्रिक और वार्णिक छंदों के लक्षण, दग्धाक्षर-वर्णन, मात्रिक एवं वार्णिक गण-विचार, संख्या-सूचक सांकेतिक शब्दावली, छंदों की संख्या और वर्ग-संख्या तथा पारिभाषिक शब्दावली—ये प्रथम मयूख के प्रसंग हैं। द्वितीय मयूख का सम्बन्ध प्रत्यय या विभाग से है। सूची, प्रस्तार, नष्ट, उद्दिष्ट, पाताल, मेरु, पताका, मर्कटी, सूचिका आदि का वर्णन इसमें अभीष्ट है। तृतीय मयूख में मात्रिक समछंदों का वर्णन है। छंदों का मात्रासंख्या के क्रम से नियोजित विभिन्न छन्दोजातियों के अंतर्गत रखा गया है, जिनके लौकिक, वासव, आदि अलग-अलग नाम दिये गये हैं। चतुर्थ मयूख में सम मात्रिक दंडक आये हैं। पंचम मयूख में अर्द्धसम मात्रिक छंद हैं। षष्ठ मयूख में विषम मात्रिक छंद हैं। सप्तम मयूख में आर्या छंद का विचार है। अष्टम मयूख में वैतालीय आदि छंद आये हैं। नवम मयूख से ग्रंथ का उत्तरार्द्ध आरम्भ होता है। दश मयूख में वार्णिक गणों का विचार तथा सम वार्णिक वृत्तों का सविस्तर विवेचन है। दशम मयूख में वार्णिक सम दंडक आए हैं, एकादश मयूख में वार्णिक अर्द्धसम छंद हैं। द्वादश मयूख में वार्णिक विषम छंद हैं। यहाँ ग्रंथ-समाप्ति हो जाती है। ग्रंथ-समाप्ति के उपरान्त पिंगलाचार्य की आरती, वैदिक छंद कोष्ठक, तुकों पर विचार, उर्दू कविता-शैली का दिग्दर्शन तथा कुछ अलंकारों की चर्चा है।

ताल-वृत्त, मुक्त छंद आदि अत्याधुनिक छंदःप्रवृत्तियों का विवेचन नहीं होने पर भी इस ग्रंथ की उपयोगिता अल्प नहीं।

जगन्नाथप्रसाद 'भानु' कृत छंद-सारावली

'भानु' ने छंदःप्रभाकर के अतिरिक्त 'छंदःसारावली' की रचना भी की। इसका रचनाकाल सं० १९७४ वि० है। यह छोटी पुस्तक है और कम समय में छंदों के अति सामान्य परिचय के उद्देश्य से लिखी गई जान पड़ती है।

जगन्नाथप्रसाद 'भानु' का काव्यप्रभाकर[1]

यह बृहत् ग्रंथ १२ मयूखों में विभक्त है। ग्रंथ की कुल पृष्ठ-संख्या ७८७ है। प्रथम मयूख ५७ पृष्ठों का है, जिसका विषय छंदोवर्णन है। मात्रिक छंदों में केवल तोमर, सखी, चौपाई, पद्धरि, चौपाई, शक्ति, सुमेरु, राधिका, कुंडल, रोला, दिक्पाल, विष्णुपद, गीतिका, सरसी, सार, हरिगीतिका, चवपैया, ताटंक, शोकहर, वीर, त्रिभंगी, दुर्मिल, खरारी, करखा, झूलना, मदनहर, विजया, हरिप्रिया, बरवै, दोहा, सोरठा, उल्लाल, कुंडलिया, छप्पय तथा अमृतध्वनि छंद आये हैं। छंदोलक्षण लक्ष्य छंद के एक पाद में तथा उदाहरण अलग से दिये गये हैं। वर्णवृत्तों के लक्षण पूरे लक्ष्य छंदों में हैं। उदाहरण सर्वत्र अलग से नहीं दिये गये। जहाँतक छंदोविवेचन का प्रश्न है, छंदःप्रभाकर की विषय-परिधि इससे कहीं अधिक व्यापक है। काव्यप्रभाकर के अन्य मयूखों में क्रमशः ध्वनि, नायिकाभेद, उद्दीपन, अनुभाव, संचारीभाव, स्थायीभाव, रस, अलंकार, दोष, काव्यनिर्णय तथा कोषलोकोक्ति आदि विषय हैं। प्रस्तुत प्रबंध की दृष्टि से छंदःप्रभाकर के समक्ष इस ग्रंथ का विशेष महत्त्व नहीं।

---

१. वेंकटेश्वर प्रेस से सं० १९६६ वि० में प्रकाशित।

अवध उपाध्यायकृत नवीन पिंगल[1]

इस ग्रंथ का प्रकाशन १९३३ ई० मे हुआ है। इसमें ५ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में छंदःशास्त्र के जन्म और विकास की चर्चा इन उपशीर्षकों के अंतर्गत हुई है— पिगलशास्त्र का जन्म, पिगलशास्त्र की प्राचीनता, हिंदी में छंदःशास्त्र-संबंधी ग्रंथ, छंद की परिभाषा, संगीत और छंद, भाव और छंद, सौदर्यशास्त्र और छंद, छंद और तुक, छद और कविता, स्वच्छंद छंद। दूसरे अध्याय मे छंदो के भेद और उनके लक्षण शीर्षक से वार्णिक, मात्रिक, और लयात्मक छंदों के लक्षण, गुरुलघु, मात्राविचार, गण और उनके देवता, फला-फल आदि, लय, यति, शुभाशुभ अक्षर, दोषादि विषय हैं। तीसरे अध्याय में प्रस्तारादि और उनके नियम बताये गये हैं। चौथे अध्याय मे वार्णिक और मात्रिक के लक्षणोदाहरण तथा लयात्मक छंदों के उदाहरण मात्र दिये गये हैं। पाँचवे अध्याय में हिंदी छंदःशास्त्र की कुछ ममस्याओं पर विचार है। ये ममस्याएँ हैं—छंदों के नामकरण में मतभेद, उनके वर्गीकरण मे मतभेद, हिंदीभाषा के छंदो की व्यापकता, छंदो के नियमों को मरल बनाने का प्रयत्न, विदेशी छंदो का हिंदी छदःशास्त्र में ममावेश, नये छंदो का नामकरण आदि। लेखक ने केवल समस्याएं प्रस्तुत कर दी हैं, उनपर न तो विस्तृत विचार ही किया है और न उनका, वैज्ञानिक पद्धति पर, बुद्धिमंगत ममाधान ही पेश किया है।

फिर भी, पुस्तक मे जो प्रश्न उठाये गये हैं, उनकी दृष्टि मे हिंदी-छंदःशास्त्र के अध्येता के लिए पुस्तक उपयोगी है।

रघुनन्दन शास्त्रीकृत 'हिंदी छंद-प्रकाश'[2]

इस ग्रंथ का प्रकाशन १९५२ ई० में दिल्ली से हुआ है। इसमे चार अध्याय हैं आरंभ में भूमिका है, जिसमे छंदों की उत्पत्ति और आरंभ, छंदों का विकास, छंदःसाहित्य की रूपरेखा, छंदों की उपादेयता आदि विषयों का विवेचन हुआ है। प्रथम अध्याय मे छंदःशास्त्र की परिभाषाओं और हिंदी के छंदों की रूपरेखा पर विचार है; दूसरे अध्याय में सम, अर्द्धसम और विषम मात्रिक छंद आये हैं; तीसरे अध्याय में सम, अर्द्धसम और विषम वार्णिक छंद आये हैं तथा चौथे अध्याय में प्रस्तारादि प्रत्ययो का विचार है। परि-शिष्टिका में हिंदी छंदकोश दिया गया है। छंदों की सूची अकारादिक्रम से दी गई है, जिससे छंदों के लक्षण एक नजर में ही हम जान सकते हैं।

छंदोविवेचन-शैली में लक्षणोदाहरण-पद्धति का अवलंबन किया गया है। लक्षण गद्य में होने के कारण स्पप्ट और सुबोध है। उदाहरणों के लिए प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक काव्य का सहारा लिया गया है। फिर भी, इस ग्रंथ में जैसे वैदिक स्वरवृत्त का विवेचन नहीं हुआ है, उसी प्रकार अत्याधुनिक हिंदी-काव्य में प्रयुक्त तालवृत्त की भी विशेष चर्चा नहीं हुई है। इससे पुस्तक में, हिंदी छंदःशास्त्र के आधुनिक और अद्यतन ग्रंथ के रूप में, एक कमी रह जाती है।

---

१. प्रकाशक—साहित्य-भवन, लि०, प्रयाग (प्रथम संस्करण सं० १९९० चतुर्थ संस्करण सं० २००५) पृ० १३१।

२. प्रकाशक—राजपाल एण्ड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली। पृ० २४८, प्रथम संस्करण, १९५२।

भूमिका-भाग मे जिस महत्त्वपूर्ण विषय की चर्चा की गई है, उसका विशद विवेचन वैज्ञानिक पद्धति पर सप्रमाण नही हुआ है। छंदःशास्त्र के इतिहास की विविध प्रवृत्तियों की सविस्तर चर्चा नहीं, केवल छंदःशास्त्र के कतिपय ग्रथों का कालक्रमिक उल्लेख कर दिया गया है।

इन सीमाओं के बावजूद ग्रंथ हिंदी छंदो के तत्काल परिचय की दृष्टि से उपयोगी अवश्य है।

परमानंदकृत 'श्रीपिंगल-पीयूष'[1]

यह हिंदी गद्य में लिखित एक आधुनिक छंदोलक्षण-ग्रंथ है। भूमिका मे छंदःशास्त्र के विकास, वर्त्तमान युग में छंदोरचना तथा उसपर विदेशी प्रभाव पर दो बातें कह दी गई है। पहले अध्याय में परिभाषाएँ हैं। दूसरे अध्याय मे वर्णवृत्तविचार है। तीसरे मे मात्रिक छंदों का विचार है। चौथे अध्याय मे प्रत्यय-विचार के अंतर्गत प्रत्यय, सूची, प्रस्तार, नष्ट और उद्दिष्ट—ये पाँच उपशीर्षक हैं। पाँचवे अध्याय मे नवीन छंदों की सृष्टि की चर्चा 'उभयवृत्त', 'मुक्त वृत्त' तथा 'लयात्मक वृत्त'—इन तीन उपशीर्षकों के अंदर हुई है, तथा छंद और संगीत के संबंध और हिंदी छंदःशास्त्र की व्यापकता पर कुछ विचार दिये गये है। पुस्तक में २४० पृष्ठ हैं। इसका प्रकाशन प्रथम बार १९४९ में हुआ है।

अन्य ग्रंथ

उपर्युक्त ग्रंथों के अतिरिक्त भी छंदोलक्षण-ग्रंथ लिये गये हैं, जो मुख्यतः पूर्वोक्त ग्रंथों पर आधृत और संक्षिप्त होने के कारण विशिष्ट रूप मे उल्लेखनीय नहीं। उदाहरण के लिए कन्हैयालाल मिश्र के पिगलसार (सं० १९६० वि० के पूर्व), माँगीलाल गुप्त के भाषापिंगल (सं० १९६७ वि०) रामनरेश त्रिपाठी के पद्यप्रबोध (सं० १९७० वि०) तथा हिंदी-पद्य-रचना (सं० १७९४ वि०), पुत्तनलाल विद्यार्थी के सरलपिगल तथा वियोगी हरि के ग्रंथवृत्तचंद्रिका का नामोल्लेख किया जा सकता है।[2]

इनके अतिरिक्त भी छंदःसंबंधी ग्रंथ होंगे, जो हस्तलिखित रूप में लोकदृष्टि से ओझल पड़े, अपने जीर्णोद्धार के शुभमुहूर्त्त की प्रतीक्षा में होंगे।

जिन अनेक हस्तलिपियों के अवलोकन का अवसर हमें विभिन्न संग्रहालयों में मिल सका, उनमें से प्रस्तुत प्रबंध की दृष्टि से उल्लेख्य सामग्री की चर्चा हम इस प्रकरण में कर चुके हैं। कुछ ऐसी हस्तलिपियाँ भी हैं, जिनके विवरणमात्र हमें उपलब्ध हो सके हैं। छंदः-संबंधी ऐसी शेष हस्तलिपियों की सूची आगे दी जा रही है।

---

१ प्रकाशक—ओरियंटल बुकडिपो, दिल्ली। (चतुर्थ संस्करण १९५३)

२. डॉ० उदयभानु सिंह—महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग। पृ० ३३८।

शेष हस्तलिखित प्रतियों का विवरण

ऊपर जिन ग्रंथों की चर्चा हो चुकी है, उनके अतिरिक्त निम्नलिखित हस्तलिखित ग्रंथों का पता चला है—

छंदमंजरी[1]— श्रीरामकृत; विपय—पिंगल-वर्णन; का० ना० प्र० स० हस्तलिपि-संख्या छ-३३१।

छंदरत्नाकर[1]— व्रजलालभट्ट-कृत; निर्माणकाल-सं० १८८१; विषय—पिंगल-वर्णन; का० ना० प्र० स० ह० सं०—ङ—१६।

छंद रत्नावली[1]— हरिरामकृत; लिपिकाल सं० १९५१। का० ना० प्र० स० ह० सं० छ-२५७।

छंदाटवी[1]— गुमान द्विज-कृत;[2] का० ना० प्र० स० ह० सं० छ—४४बी।

छंदोनिधि-पिंगल[1]—मनराखनदास कृत; नि० का० सं० १८६१; लि० का० सं० १९५३; विषय—काव्यरीति-वर्णन। का० ना० प्र० स० ह० सं० ज—१८७।

पिंगल[1]— अलि रसिक गोविन्द-कृत। विषय-पिंगल। का० ना० प्र० स० ह० सं० छ—१२२ ई०।

पिंगल[1]— चंद्र-कृत; लिपि का० सं० १९०८। का० ना० प्र० स०; ह० सं० च—२०।

पिंगल[1]— व्रजनाथ-कृत; नि० का० सं० १७३२; लि० का० सं० १८६७; विषय-छंदरीति-वर्णन। का० ना० प्र० स० ह० सं० छ—१४२।

पिंगल[1]— रामचरनदास-कृत; नि० का० सं० १८४१; विषय—छंदोरीति-वर्णन; का० ना० प्र० स० ह० सं० ज—२४५ए।

पिंगल[1]— सुवंश शुक्ल-कृत; लि० का० सं० १८६५; का० ना० प्र० स० ह० सं० ज—३०६।

पिंगल[1]—(अन्यनाम नामार्णव)—राजा रणधीरसिंह-कृत; नि० का० सं० १८९४; लि० का० सं० १९५१; का० ना० प्र० स० ह० सं० छ—३१६ ए।

पिंगलकाव्य-भूषण[1]—बख्शी समनसिंह-कृत; नि० का० सं० १८७९; लि० का० सं० १८८९; विषय—पिंगल; का० ना० प्र० स० ह० सं० क—४२।

पिंगल-प्रकरण[1]— गोपकवि-कृत; लि० का० सं० १९५८; विपय—छंदों के लक्षण का वर्णन का० ना० प्र० स० ह० सं० छ—३९बी।

---

१. ह० हि० पु० का० सं० वि०—पहला भाग, पृ० ८६—८७।

२. रा० च० शु०—हि० सा० का इति० पृ० ४२९ (१९९० संस्करण)।

पिंगल मनहरण[1]— बलवीर-कृत, नि० का० सं० १७६१, विषय—पिंगलकाव्य के सब अंगो का वर्णन, चित्रकाव्य-सहित। का० ना० प्र० स० हु० म० ख—८२।

पिंगल भाषा[1]— नारायणदास-कृत, लि० का० सं० १०१९, विषय—पिंगल, का० ना० प्र० स० हु० ग० छ—७८ सी।

वृत्त-चन्द्रिका— कृष्णकवि (कलानिधि)-कृत, लि० का० सं० १८१०, विषय—पिंगल, का० ना० प्र० स० हु० स० क—८३।

१. हु० हि० पु० का० सं० वि०, पहला भाग, पृ० ८७।

अध्याय ३

प्रकरण ३

संस्कृत-हिंदी छंदोलक्षण-ग्रंथों की परंपरा

(वर्गीकरण और मूल्यांकन)।

प्रस्तुत अध्याय के विगत दो प्रकरणों मे जिन छंदोलक्षण-ग्रंथों की चर्चा हुई है, उनके वर्गीकरण और मूल्यांकन द्वारा छंदःशास्त्रीय प्रवृत्तियों के अध्ययन का प्रयास इस प्रकरण में अभीष्ट है।

पिछले पृष्ठों में उल्लिखित लक्षण-ग्रंथ, भाषा की दृष्टि से, इन तीन वर्गो में विभक्त किये जा सकते हैं—

(१) संस्कृत भाषा में रचित ग्रंथ, जिनमें मुख्य हैं छंदःशास्त्रम् (पिंगल), श्रुतबोध (कालिदास), जयदेवच्छंदम् (जयदेव), छंदोऽनुशासन (जयकीर्त्ति), सुवृत्ततिलक (क्षेमेंद्र), छंदोऽनुशासन (हेमचंद्र), वाणीभूषण (दामोदर) तथा छंदोमंजरी (गंगादास)।

(२) प्राकृत-अपभ्रंश भाषाओं मे रचित ग्रंथ, जिनमें ये उपलब्ध हैं—स्वयंभूच्छंदस् (स्वयंभू), वृत्तजातिसमुच्चय (विरहांक), गाथालक्षण (नंदिताढ्य) कविदर्पणम्, प्राकृतपैंगलम् तथा छंदःकोश (रत्नशेखर)।

(३) हिंदी भाषा में रचित ग्रंथ, जिनमें उल्लेख्य हैं—छंदोहृदयप्रकाश[1] (भूषण), पिंगल[2] (सुखदेव), पिंगल[3] (सुखदेव), वृत्तविचार[3] (सुखदेव), छंदसार[1] (वृंदावनदास), वृत्तार्णव[1] (जयदेव मिश्र), छंदोर्णव-पिंगल (भिखारीदास), वृत्ततरंगिनी[3] (रामसहाय), छंदपयोनिधि-भाषा (हरदेवदास), छंदानंद-पिंगल[3] (अयोध्याप्रसाद), छंदप्रभाकरपिंगल[3] (जानी बिहारीलाल), छंदप्रकाश[3] (बिहारी) तथा छंदप्रभाकर (भानु)।

छंदोलक्षण-निरूपण के लिए इन ग्रंथों मे से किन्हीं में केवल गद्य का, किन्ही में केवल पद्य का और किन्ही में दोनों का उपयोग हुआ है। संस्कृत-ग्रंथों में गद्य का उपयोग प्रायः सूत्रशैली में हुआ है। हिंदी के किसी-किसी ग्रंथ में विषय-स्पष्टीकरण के लिए ब्रजभाषा अथवा खड़ीबोली में गद्य का सहारा कहीं-कही लिया गया है।[4] अन्य सभी ग्रंथों में पद्यबद्धता की ओर ही सामान्य प्रवृत्ति रही है। पद्यबद्ध लक्षण-निरूपण की परंपरा संस्कृत से, प्राकृत-अपभ्रंश होती हुई, हिंदी तक पहुँच पाई है, यह हिदी के प्रायः सभी पूर्वोल्लिखित लक्षणग्रंथों से प्रमाणित है। संस्कृत छंदोग्रंथों में जहाँ भी सूत्र-शैली नहीं है, वहाँ पद्यबद्धता अवश्य है। पद्य की सद्यःस्मरणोपयुक्ता—जिसकी आवश्यकता संस्कृत-काल

---

१. हस्तलिपि। (डेराग़ाज़ी से उपलब्ध : हिंदी विद्यापीठ, आगरा-विश्वविद्यालय, में सुरक्षित)। विद्यापीठ द्वारा अब प्रकाशित।

२. हस्तलिपि (श्रीमन्नूलाल पुस्तकालय, गया, में सुरक्षित)।

३. हस्तलिपि (नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी, में सुरक्षित)

४. उ०—वृत्ततरंगिणी (रामसहाय), छंदयोनिधिभाषा (हरदेवदास वैद्य) छंद : प्रभाकर (भानु)।

में लेखन के साधनों की अल्पता, लेखन-प्रक्रिया की कष्टसाध्यता तथा मुद्रण-यंत्रों के अभाव के कारण बहुत अधिक थी—तथा उसकी सहज श्रुतिमधुरता के कारण ही प्राचीन आचार्यों ने छंदःशास्त्रीय विवेचन के लिए पद्य का सहारा अधिकांशतः लिया है।

छंदःशास्त्रीय विवेचन के लिए विकल्प में दो प्रकार की शैलियों का उपयोग हुआ है—(१) सूत्रशैली और (२) श्लोक-शैली या पद्य-शैली।

छंदःशास्त्र के प्रारंभिक विवेचन में सूत्रशैली का उपयोग उसकी महत्त्वपूर्ण विशेषता है। प्रारंभिक छंदोलक्षण-ग्रंथों में सूत्रशैली के विधान का मुख्य कारण यह है कि वे वैदिक परंपरा से विकसित हुए। उस युग में लेखन-सामग्री की अल्पता या बहुमूल्यता में अधिक अध्ययनाध्यापन की मौखिक प्रणाली के कारण आचार्य के गूढ़ मंतव्य को ऐसे छोटे वाक्यों में साररूप में निबद्ध कर देना, जो उस मंतव्य के मर्मज्ञों के लिए अर्थपूर्ण हो, किंतु उनसे अपरिचित व्यक्तियों के लिए अर्थशून्य, कंठाग्र करने की दृष्टि से सुविधाजनक प्रतीत हुआ होगा।[1] इस सूत्र-शैली के अवलंबन द्वारा अध्ययन-कार्य में अनधिकारियों के निवारण का उद्देश्य भी स्वतः सिद्ध हो जाता होगा।

छंदोविवेचन के क्षेत्र में सूत्रशैली के प्रयोग के उदाहरण सांखायन श्रौतसूत्र, निदानसूत्र, कात्यायन की (ऋग्वेद और यजुर्वेद की) अनुक्रमणी, अग्निपुराण, नारदीय पुराण[2] तथा भरत के नाट्यशास्त्र के अतिरिक्त पिंगलाचार्यकृत 'छन्दःशास्त्र', जयदेवकृत 'जयदेवच्छदम्', 'जयकीर्त्तिकृत', 'छंदोऽनुशासन', हेमचंद्रकृत 'छन्दोऽनुशासन' प्रभृति संस्कृतग्रंथों में उपलब्ध हैं। कालांतर में जब सूत्रशैली के भीतर सघन अर्थ-गर्भत्व के कारण दुर्बोधता का अनुभव होने लगा और सूत्ररूप में रचित ग्रंथों को समझने में कठिनाई होने लगी, तो भाष्यों की उद्भावना हुई, जिनसे सूत्रों को समृद्ध किया गया। भाष्यों का रूप आरंभ में गुरु-शिष्यसंवाद का रहा, जिसके सहारे किसी विषय के पूर्वपक्ष को उपस्थित कर पुनः उसके अंतर्गत प्रस्तुत शंकाओं और आपत्तियों के समाधानपूर्वक उत्तरपक्ष या सिद्धान्तपक्ष की स्थापना की जाती थी।[3] ये शंकाएँ या आपत्तियाँ यथार्थ न होकर संभाव्य भी हो सकती थीं और इस प्रकार भविष्य के लिए सुदृढ़ रूप से सिद्धांत की स्थापना का प्रयास किया जाता था। बाद में भाष्यों की शैली कुछ रूपांतरित हुई और उसने प्रबंध या वक्तव्य का रूप धारण किया। और बाद में तो उस क्लिष्ट, पारिभाषिक शैली का उदय हुआ, जिसमें क्रियापदों के बिना ही केवल संज्ञा, विभक्ति, प्रत्यय और समास के सहारे ही अत्यंत संक्षेप में सर्वथा यथातथ्य अर्थ-ज्ञापन का उपक्रम होता था। इस शैली की अति-पारिभाषिकता और इसके द्वारा विषय-विवेचन के स्वतंत्र विकास में बाधा होने के फलस्वरूप बाद में वार्त्तिक-शैली अपनाई गई तथा टीकाओं की सहायता ली गई। इन प्रवृत्तियों के उदाहरण छंदोलक्षणग्रंथों में मिलते हैं। पिंगलाचार्य कृत 'छंदःशास्त्रम्' पर कम से कम चौदह टीकाएं या वृत्तियाँ लिखी गईं। भट्टहलायुध-कृत 'मृतसंजीवनीवृत्ति' प्रायः सर्वाधिक प्राचीन और महत्त्वपूर्ण है।

---

१. A. B. Keith—A History of Sanskrit Liturature. P. 406.

२. इन ग्रंथों में छंदों के लक्षण–निरूपण सविस्तर नहीं मिलते, कहीं-कहीं तो कुछ ही छंदों का नामोल्लेख मात्र हुआ है।

३. A. B. Keith—A History of Sanskrit Liturature, P. 406.

कालिदासकृत 'श्रुतबोध' की दस टीकाओं में 'सुबोधिनी' टीका प्रसिद्ध है। 'प्राकृतपैंगलम'[1] इन चार टीकाओ से समलङ्कृत है—

१. विश्वनाथ पंचानन-कृत पिंगलटीका,

२. वंशीधर कृत पिंगलप्रकाश,

३. कृष्णीय विवरणाख्य टीका, और

४ यादवेंद्र-कृत पिंगलतत्त्वप्रकाशिका।

इस ग्रंथ का एक और संस्करण 'प्राकृतपिंगलसूत्राणि' के नाम से प्रकाशित है,[2] जिसमे लक्ष्मीनाथ भट्ट-विरचित व्याख्या संलग्न है। इसीमें रविकर-विरचित पिंगलविकाशिनी (टीका) का निर्देश है।[3]

छंदो-लक्षणनिरूपण में श्लोकशैली या पद्यशैली के उपयोग से सूत्रशैली की एक बहुत बड़ी सीमा, क्लिष्टता, का निवारण हुआ; और साथ ही, कंठस्थ करने की जो सुविधा सूत्रों के साथ थी, उसमे भी बाधा न पड़ी। श्लोक या अनुष्टुप् रचना करने और स्मरण रखने की दृष्टि से सुविधाजनक था, अतएव आरंभ मे लक्षणनिर्देश के लिए उसी का उपयोग हुआ, किंतु बाद मे रुचिवैचित्र्य के कारण अन्य छदो का व्यवहार भी हुआ। छंदोविवेचन के लिए यह पद्यविधान गद्यसूत्रों की अपेक्षा उत्तरोत्तर अधिक लोकप्रिय होता गया और प्राकृत-अपभ्रंश तथा हिंदी लक्षणकारों द्वारा तो अत्यंत व्यापक रूप मे स्वीकृत हुआ।

पद्यशैली मे छंदोविवेचन के उदाहरण श्रुतबोध, सुवृत्ततिलक, वृत्तरत्नाकर, वाणीभूषण, छंदोमंजरी आदि संस्कृत ग्रंथों में तथा स्वयंभूच्छंदस्, वृत्तजातिसमुच्चय, कविदर्पणम्, प्राकृत-पैंगलम्, छंदःकोश आदि प्राकृत-अपभ्रंश ग्रंथों में उपलब्ध है।

हिंदी में सूत्रशैली के उपयोग के उदाहरण आंशिकरूप से वृत्तविचार (सुखदेव) तथा वृत्तार्णव (जयदेव मिश्र) में उपलब्ध है। अन्य ग्रंथों में प्रायः सर्वत्र पद्यशैली का अवलंबन द्रष्टव्य है; उदाहरणतः छंदोहृदयप्रकाश छंदसार (वृंदावनदास), छंदोर्णवपिंगल, छंदपयोनिधि, छंदप्रभाकर, आदि। पद्यशैली में निबद्ध छंदोलक्षणग्रंथों में भी दो भिन्न प्रकार की प्रवृत्तियाँ देखने में आती है।

(१) कुछ ग्रंथों में छंदों के लक्षण और उदाहरण अलग-अलग पद्यों में तथा भिन्न छंदों मे दिये जाते है; अक्सर लक्षण के लिए अनुष्टुप्, आर्या, दोहा, आदि का प्रयोग होता है तथा उदाहरण अनिवार्यतः लक्ष्य छंदों में दिये जाते हैं। इस प्रकार के ग्रंथों के उदाहरण है—संस्कृत में सुवृत्ततिलक; प्राकृत-अपभ्रंश में कविदर्पणम् तथा हिंदी में रसपीयूषनिधि (सोमनाथ), छंदोर्णव-पिंगल, छंदसार (नारायणदास), छंदपयोनिधि भाषा, वृत्ततरंगिणी, छंदानंद-पिंगल, छंद-प्रभाकरपिंगल (जानी बिहारीलाल), आदि।

(२) कुछ अन्य ग्रंथों में छंदोलक्षण लक्ष्य छंद में ही निबद्ध होते है। इस प्रकार के ग्रंथों की भी दो कोटियाँ है—

(क) प्रथम कोटि में वे ग्रंथ आते है जिनमे छंदोलक्षण तो लक्ष्य छंद में निबद्ध होते हैं,

---

१ बिब्लियोथिका इंडिका सीरीज।

२ प्रकाशक—निर्णयसागर प्रेस।

३ प्राकृतपिंगलसूत्राणि (भूमिका)।

किंतु लक्ष्य छंद के उदाहरण भी अलग से दिये जाते हैं। इस प्रकार प्रत्येक लक्ष्य छंद का प्रयोग दो बार होता है, एक बार लक्षण-कथन के लिए, दूसरी बार उसके उदाहरण के लिए। इस कोटि के छंदोग्रंथों का सुवृत्ततिलकादि प्रथम प्रकार के छंदोग्रंथों से अंतर इतना ही है कि प्रथम प्रकार के ग्रंथों में छंदोलक्षण-निर्देश के लिए लक्ष्यछंद का नियमतः उपयोग न होकर किसी एक सामान्य छंद (श्लोक, गाथा, दोहा आदि) का उपयोग होता है, और इन दूसरे प्रकार के छंदोग्रंथों में उदाहरणों के अतिरिक्त लक्षण भी लक्ष्य छंद में ही रचित होते हैं। इस दूसरे प्रकार के अंतर्गत कथित कोटि के छंदोग्रंथों के उदाहरण हैं—

संस्कृत में वाणीभूषण; प्राकृत-अपभ्रंश में प्राकृतपैंगलम्, तथा हिंदी में छंदोहृदयप्रकाश।

(ख) दूसरे प्रकार (लक्ष्य-लक्षणशैली) के ग्रंथों की दूसरी कोटि वह है जिसके अंतर्गत लक्षणोदाहरण के ऐक्य या तादात्म्य की प्रवृत्ति दिखाई देती है, अर्थात् जिसके ग्रंथों में लक्षण लक्ष्य छंद में दिये गये हैं और उदाहरण अलग से नहीं दिये गये—लक्षणवाले पद्य ही उदाहरण का काम करते हैं। अतएव, प्रत्येक लक्ष्य छंद का व्यवहार प्रायः एक बार होता है। इन ग्रंथों में छंदोविधान की दृष्टि से लक्ष्यलक्षण-सादृश्य नहीं, वरन् लक्ष्यलक्षण-तादात्म्य घटित होता है। ऐसे ग्रंथों के उदाहरण हैं—

संस्कृत में श्रुतबोध, जयदेवच्छंदस्,[1] छंदोऽनुशासन (जयकीर्ति), वृत्तरत्नाकर छंदोऽनुशासन (हेमचंद्र);[2] प्राकृत-अपभ्रंश में वृत्तजाति-समुच्चय, छंदःकोश, तथा हिंदी में छंदःसार (वृन्दावनदास); काव्यरसायन (देव); छंदप्रभाकर (भानु)।

विवेच्य या लक्ष्य छंद में ही लक्षण देकर लक्षण-उदाहरण दोनों को एक ही पद्य में समाविष्ट कर देने से पाठक की स्मरण-शक्ति को सहारा मिलता है और अनावश्यक विस्तार से बचते हुए भी स्पष्टता और सुबोधता में कमी नहीं आती। एक प्रकार से, गद्यात्मक सूत्रशैली और सोदाहरण पद्यशैली के बीच यह सुखद, संतुलित, मध्यम मार्ग है। दोनों के श्रेयस्कर तत्त्वों के समाहार के कारण इस विधान की उपयोगिता के साथ लोकप्रियता भी कम नहीं है।

हमारे विवेच्य लक्षण-ग्रंथों में छंदोलक्षण-निर्देश की मुख्यतः दो शैलियाँ अपनाई गई हैं—(१) प्रथम है गण-निर्देश-शैली, जिसके अंतर्गत छंदों के लक्षणनिरूपण के लिए वार्णिक या मात्रिक गणों का उपयोग हुआ है। इस कोटि के प्रमुख ग्रंथ हैं, संस्कृत में छंदः-

---

१. जयदेव ने तीन अध्यायों में वैदिक छंदों की चर्चा पिंगलाचार्य की सूत्रशैली में की, किंतु लौकिक छंदों के विवेचन के लिए इस लक्ष्य-लक्षण-तादात्म्य-शैली का उपयोग किया।

२. जयकीर्ति तथा हेमचंद्र ने पूरे लक्ष्य छंद का लक्षण के रूप में उपयोग न कर केवल उसके एक पाद का उपयोग सूत्रशैली में किया है।

३. इस शैली के उदाहरण—
उपेन्द्रवज्रा छंद—उपेन्द्रवज्रा तु जतौ जगौ गः। (जय०। ६। १०)
उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ। (वृ० र०। ३। ३०)
दोवई छंद— आदि षट्कल पुनि चौकल पाँच एक गुरु धरिये।
सोरह बारहमत्त विरत यिक दोवह छंदहि करिये॥
(छं० हृ० प्र०। पृ० ३८ख)

शास्त्रम् (पिगल), सुवृत्ततिलक, वृत्तरत्नाकर, जयदेवच्छंदस्, छंदोऽनुशासन (जयकीर्त्ति), छंदोऽनुशासन (हेमचंद्र), छंदोमंजरी; प्राकृत-अपभ्रंश मे वृत्तजातिसमुच्चय, कविदर्पणम्, प्राकृतपैंगलम् तथा हिदी मे छंदोहृदयप्रकाश, छंदसार (वृंदावनदास), छंदोर्णवपिगल, छंद-पयोनिधिभाषा और छंद प्रभाकर। (२) दूसरी शैली वह है, जिसके अंतर्गत छंदो के लक्षण-निरूपण के लिए वार्णिक या मात्रिक गणों का सहारा नही लिया गया है, वरन् केवल पादगत वर्णसंख्या या मात्रासंख्या के उल्लेख, पादातर्गत लघुगुरु क्रम-निर्देश, यति-निर्देश आदि का सहारा लिया गया है।[1] इस कोटि के प्रमुख ग्रथ ह—संस्कृत मे श्रुतबोध; प्राकृत-अपभ्रंश में स्वयंभूच्छंदस्, प्राकृतपैंगलम्; हिदी मे छंदोहृदयप्रकाश, वृत्ततरगिनी, छंदानंद पिगल, छंदप्रभाकर-पिगल, छंदप्रभाकर आदि। प्राकृतपैंगलम्, छंदोहृदयप्रकाश तथा छंद-प्रभाकर मे दोनों शैलियो का उपयोग व्यापक अथवा वैकल्पिक रूप से हुआ है। दोनों शैलियों का वैकल्पिक या आंशिक उपयोग तो कई अन्य ग्रंथो मे भी जहाँ-तहाँ हुआ है। हिदी के लक्षणग्रंथों में, जिनमें वर्णवृत्त तथा मात्रिक छंद दोनो का विवेचन है, लक्षण-निरूपण के लिए प्रायः उपरिलिखित दोनो पद्धतियो का सहारा लिया गया है। अक्सर वर्ण-वृत्त-लक्षण-निरूपण गण-निर्देश द्वारा हुआ है तथा मात्रिक छदो के लक्षण पाद-गत मात्रा-सख्या तथा यति-स्थान के कथन द्वारा बताये गये है।

फिर भी, व्यापक रूप से, संस्कृत-परंपरा के छंदोलक्षणग्रंथों मे हम देखते है, गण-निर्देश-शैली अपेक्षाकृत अधिक लोकप्रिय हुई है। इसका कारण यह है कि गणोपयोग द्वारा लक्षण-निरूपण मे संक्षिप्तता और स्मरणोपयुक्तता का समावेश होता है। प्राचीन या मध्य-युग में जब मुद्रण के साधन वर्त्तमान नही थे और मौखिक प्रयास का अधिक सहारा लेना पड़ता था, सूत्रशैली मे रचित ग्रंथो में गणप्रयोग तो अनिवार्य ही था। पद्यशैली के ग्रंथो मे भी उसकी उपयोगिता असंदिग्ध थी। गणनिर्देशशैली के विरोध में यह कहा जा सकता है कि इससे छंदोलक्षणों में अतिपारिभाषिकता आ जाती है, जिसके व्यवधान को पार करना औसत पाठक के लिए प्रायः कठिन हो सकता है। श्रुतबोध-जैसे ग्रंथों में, जो स्पष्टतया औसत काव्य-पाठकों के लाभार्थ ही लिखे गये, इसीलिए पादगत वर्णसंख्या तथा लघुगुरुक्रम के निर्देश से ही काम चलाया गया है और गणों की अतिपारिभाषिकता से बचा गया है। किंतु, अधिकांश लक्षणग्रंथों मे गणप्रयोग की प्रवृत्ति यह सूचित करती है कि ये ग्रंथ छंदः-शास्त्र के सम्यक् अध्ययन करने की इच्छा रखनेवालो के लिये लिखे गये है।

जहाँतक मात्रिक छंदों के लक्षण-निर्देश का प्रश्न है हम आरंभ से ही गणप्रयोग की ओर प्रवृत्ति देखते है। पिगल ने अपने संस्कृत ग्रंथ छंद.शास्त्र में आर्यादि छंदों के लक्षण-निरूपण के लिए चतुर्मात्रिक गण का सहारा लिया। बाद में २ से ६ मात्राओ तक के

---

१. इस शैली के उदाहरण—

इन्द्रवज्रा छंद——यस्यां त्रिषद्सप्तमक्षरं स्यात् ह्रस्वं सुजंघे नवमं च तद्वत्।
(श्रुतबोध २१)

उपेन्द्रवज्रा छंद——यदीन्द्रवज्राचरणेषु पूर्वे भवन्ति वर्णा लघवः सुवर्णे ॥
(श्रुतबोध। २२)

सार (=दोवै) छंद—सोरहरविकल अंतै कर्णा, सार छंद अति नीको।
(छं० प्र०। पृ० ६९)

५ मात्रिक गणो का उपयोग जयदेव, जयकीर्त्ति, हेमचंद्र आदि ने किया।[1] प्राकृतपैंगलम् मे मात्रिक छंदो के लक्षण प्राय. दो बार कथित है, एकबार गणो के सहारे, दूसरी बार पादगत मात्रासंख्या-निर्देश द्वारा। तदुपरात हम पाते है, मात्रिक छंदो के लक्षण-निरूपण के लिए गणप्रयोग की प्रवृत्ति का क्रमश. ह्रास होता जाता है। अपेक्षाकृत बाद के ग्रथो मे मात्रिक गणों का सहारा प्राय: नही लिया गया है, जिसके उदाहरण वृत्ततरंगिणी, छंदानंद-पिंगल, छंदप्रभाकर-पिंगल आदि हैं। इससे यह ध्वनित है कि उत्तरोत्तर परवर्त्ती काव्य-प्रयोगो में गण-स्वरूप की रक्षा की अपेक्षा पादगत सामान्य लय-विधान मात्र की ओर रचयिताओ का ध्यान अधिक रहने लगा होगा अथवा लयसबंधी वैविध्य की सृष्टि अधिक स्वच्छंदतापूर्वक होने लगी होगी। गणविधान के प्रतिबंध इस वैविध्य का अवकाश कुछ कम देते है।

छंदोलक्षणग्रंथो में कुछ ग्रंथ तो अध्यायों (अथवा तरंगो, उल्लासो, विन्यासो आदि) मे विभक्त है और कुछ इनमें विभक्त न होकर समस्त रूप मे क्रमश छंदोविवेचन करते चलते है। प्रथम प्रकार के ग्रंथ है--

संस्कृत मे पिंगलकृत छंदःशास्त्र (८ अध्याय),[2] जयदेवच्छंदस् (८ अध्याय), जयकीर्त्ति-कृत छंदोनुशासन (८ अधिकार),[2] सुवृत्ततिलक (३ विन्यास), वृत्तरत्नाकर (६ अध्याय), हेमचंद्रकृत छंदोनुशासन (८ अध्याय),[2] वाणीभूषण (२ परिच्छेद), छंदोमंजरी (७ अपस्तवक), प्राकृत में वृत्तजातिसमुच्चय (४ नियम), कविदर्पणम् (६ उद्देश), प्राकृतपैंगलम् (२ परिच्छेद) हिंदी में छंदोहृदयप्रकाश (१३ उल्लास) सुखदेवकृत वृत्तविचार (४ परिच्छेद), छंदोर्णवपिंगल (१५ तरंग), दशरथकृत वृत्तविचार (४ विचार), वृत्ततरंगिणी (४ तरंग), छंदपयोनिधि (८ तरंग), वृंदावनदास-कृत छंदसार (पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध), वृत्तार्णव (६ अध्याय), बिहारी-कृत छंदप्रकाश (२ अध्याय), छंदप्रभाकर-पिंगल (३ विभाग) तथा भानुकृत छंदप्रभाकर (१२ मयूख)।

द्वितीय प्रकार के ग्रंथ, जिनमें अध्यायों आदि का संख्यायुक्त विभाजन नही है और विषय-विवेचन का क्रम लगातार चलता है, निम्नलिखित हैं—

संस्कृत में श्रुतबोध, छंदोंकुर, प्रस्तारादि-रत्नाकर; प्राकृत में छंदःकोश; तथा हिंदी में चिंतामणि-कृत वृत्तविचार; सुखदेव-कृत पिंगल, नारायणदास-कृत छंदसार, लघुपिंगल, पिंगल-कनका, छंदानंद-पिंगल, चतुरचंद्रिका-पिंगल, आदि। द्रष्टव्य है कि इस कोटि के ग्रंथ परिमाण में (संख्या और आकार, दोनों की दृष्टियों से) अपेक्षाकृत अल्प है। यह छंदःशास्त्र के क्षेत्र में वर्गीकरण और विषय-कोटि-विभाजन की उस वैज्ञानिक प्रवृत्ति का द्योतक है, जिसकी परंपरा पिंगलाचार्य से भानु तक अखंड रूप से वर्त्तमान रही है।

---

१. दे० प्रथम अध्याय। गण।

२. जयदेव, जयकीर्त्ति और हेमचंद्र ने आचार्य पिंगल के अनुसार ही अपने ग्रंथ ८ अध्यायों या अधिकारों में विभक्त किये। इन ग्रंथों पर अध्याय-विभाजन के अतिरिक्त भी पिंगल का प्रभाव परिलक्षित है। हरदेवदास का छंद-पयोनिधि भी आठ तरंगों में रचित है, किन्तु उसपर पिंगलेतर आचार्यों का प्रभाव ही अधिक है।

विषय-क्षेत्र के विस्तार की दृष्टि से पूर्वोक्त छंदोग्रंथों को हम निम्नलिखित चार कोटियों मे रख सकते हैं।

पहली कोटि में वे ग्रंथ आते हैं, जिनमें छंदःशास्त्रीय गणित, प्रस्तारादि प्रत्यय भी वर्णित हैं और छंदों के लक्षणोदाहरण भी हैं। पिंगल का छंदःशास्त्र, जयदेवच्छंदस्, छंदोऽनुशासन (जयकीर्त्ति), वृत्तरत्नाकर, छंदोऽनुशासन (हेमचंद्र), प्राकृतपैंगलम्, छंदोहृदयप्रकाश, पिंगल (सुखदेव), वृत्तविचार (सुखदेव), वृत्तार्णव, छंदसार (वृंदावनदास), रसपीयूषनिधि, छंदोर्णवपिंगल, वृत्ततरंगिनी, छंदपयोनिधि, छंदानंदपिगल, छंदप्रभाकर पिंगल, छंदप्रभाकर आदि ग्रंथ इस कोटि में हैं।

दूसरी कोटि में वे ग्रंथ आये हैं, जिनमे केवल छंदों के लक्षणोदाहरण आये हैं, प्रस्तारादि प्रत्ययों का विचार नही है। श्रुतबोध, वाणीभूषण, छंदोमंजरी, छंदोंकुर, वृत्तजातिसमुच्चय, छंदःकोश, श्रीनागपिंगल, छंदसार (नारायणदास), चतुरचंद्रिकापिगल आदि इस कोटि के ग्रंथों को उदाहृत करते हैं।

तीसरी कोटि में वे ग्रंथ हैं, जिनमें केवल प्रस्तारादि प्रत्ययों या छंदःशास्त्रीय गणित का विचार है, विभिन्न छंदों के लक्षण या उदाहरण नही दिये गये। इस कोटि के ग्रंथों के उदाहरण हैं—छंदसार-पिंगल (मतिराम), लघुपिंगल (सूरतिमिश्र), प्रस्तारादि-रत्नाकर (अमरदास), छंदप्रकाश (बिहारी), आदि।

चौथी कोटि में वे ग्रंथ आते हैं जिनमें छंदःशास्त्र से संबद्ध, किंतु छंदेतर विषय, जैसे, रस, रागरागिनी आदि, की चर्चा है। इस कोटि के ग्रंथ हैं—सुवृत्त-तिलक (क्षेमेंद्र), काव्यरसायन (देव) आदि।

प्रस्तारादि प्रत्ययों का वर्णन परवर्त्ती छंदोग्रंथों मे विषय की पूर्णता की दृष्टि से उतना नहीं, जितना प्रथा-पालन के लिए किया गया दीखता है, जैसा कि इस विषय के विवेचन में मौलिकता के अपेक्षाकृत अभाव द्वारा विदित होता है। वस्तुतः प्रस्तार द्वारा जितने छंदों की संभावना होती है, उतने छंदों का न तो काव्य में व्यावहारिक उपयोग हो पाता है और न छंदोग्रंथों में उल्लेख ही। नवीन छंदों की उद्‌भावना भी प्रस्तार-पद्धति से न होकर प्रायः अन्य पद्धतियों से हुई है, जैसा हम आगे के अध्यायों में देखेंगे। अतएव, बाद के ग्रंथों में छंदःशास्त्रीय प्रत्ययों को जो स्थान मिला है उसे मात्र रूढि का पालन कहा जा सकता है।

रस, भाव आदि काव्य के वर्ण्य विषयों या प्रसंगों से छंदों के संबंध पर क्षेमेंद्र ने अपने ग्रंथ के पूरे एक विन्यास में विचार किया। किंतु, बाद के छंदोग्रंथकारों ने इस महत्त्वपूर्ण दिशा में प्रायः रुचि नहीं दिखलाई।

छंदों का संगीत के रागों या रागिनियों से क्या संबंध है, इसपर भी किसी छंदोग्रंथ में स्पष्ट और अलग विचार नहीं किया गया है। संस्कृत से हिंदी तक के प्रायः सभी छंदोग्रंथों में छंदों के विवेचन तक ही ध्यान सीमित रहा है, छंदेतर विषय प्रायः नहीं आये हैं।

स्वर-वृत्त, वर्ण-वृत्त, मात्रा-वृत्त आदि छंदःप्रकारों की दृष्टि से विचार करने पर हम पाते हैं कि अधिकांश लक्षणकारों ने वर्ण-वृत्त और मात्रा-वृत्त दोनों का विवेचन अपने ग्रंथ में किया है। वैदिक छंदों का विवेचन पिंगल और जयदेव जैसे संस्कृत के प्रारंभिक छंदो-

लक्षणकारो ने तो किया है,[1] किंतु बाद के आचार्यो ने उनकी चिंता नही की। संभवत:, उनके समय तक वैदिक छंदो का युग बीत चुका था और वर्ण-वृत्त तथा मात्रा-वृत्त ने परिनिष्ठित काव्यक्षेत्र मे अपना स्थान प्राप्त कर लिया था। यह भी ध्यान देने योग्य है कि अधिकांश लक्षण-ग्रंथो मे वर्ण-वृत्त और मात्रा-वृत्त दोनो का विवेचन हुआ है। केवल वर्ण-वृत्त अथवा केवल मात्रा-वृत्त की चर्चावाले ग्रंथ बहुत ही अल्प हैं। केवल वर्ण-वृत्त का वर्णन मात्र दो ग्रंथों मे हुआ है—वे हैं, सुवृत्ततिलक और छंदरत्नमाला। केवल मात्रा-वृत्त का वर्णन तो हमें एक ही ग्रंथ मे मिला, और वह ग्रंथ है रत्नशेखर का छंदकोष। यह सचमुच आश्चर्यजनक है कि प्राकृत-अपभ्रंश के ही नही, हिंदी के भी प्रायः सभी प्रमुख छंदोलक्षणकारो ने मात्रा-वृत्त के साथ वर्ण-वृत्त को भी अपने ग्रंथ मे स्थान दिया है। अकेले छंदःकोश ही ऐसा ग्रंथ है, जिसमे वर्ण-वृत्त का विवेचन नही है, केवल मात्रिक छंदो की चर्चा है। किंतु इससे भी आश्चर्यजनक यह है कि प्राकृत-अपभ्रंश-युग मे व्यापक रूप से लोक के बीच प्रचलित ताल-वृत्त को, उनके मात्रिक स्वरूप से भिन्न, विशुद्ध ताल-वृत्त के रूप मे बहुत ही कम लक्षणकारों ने अंकित किया है। मात्रावृत्त से भिन्न ताल-वृत्त के लिए पृथक् अध्याय तो किसी भी छंदोग्रंथ मे नही। शायद इन लोक-प्रचलित ताल-छंदो का परिनिष्ठित लक्षण-ग्रंथो में प्रवेश और पंडित वर्ग की स्वीकृति प्राप्त करने के लिए पहले मात्रिक गणविधान के संस्कारो से अभिषिक्त होना पड़ता था, और इसीलिए तालवृत्त के विशुद्ध ताल-बद्ध रूप को अलग अध्याय मे आचार्यो ने विवेचन-योग्य नहीं समझा।

लक्षण-ग्रंथो मे छंदो के वर्गीकरण की प्रवृत्ति हम आरंभ से ही देखते हैं। पिंगल ने वैदिक और लौकिक, इन दो कोटियों मे छंदो को रखा,[2] फिर लौकिक के अंतर्गत मात्रा-वृत्त और वर्ण-वृत्त पर अलग-अलग विचार किया।[3] वर्ण-वृत्त के भी तीन वर्ग स्वीकृत हुए—सम, अर्द्धसम और विषम।[4] वर्णवृत्त का समार्द्धसमविषमत्व में वर्गीकरण जयदेव,[5] जयकीर्त्ति,[6] केदार,[7] हेमचंद्र[8] आदि परवर्त्ती संस्कृत लक्षणकारो ने पिंगल के अनुसार ही किया है। प्राकृत और हिंदी के अधिकांश लक्षणकारो ने भी इस वर्गीकरण को स्वीकार किया है। श्रुतबोध, सुवृत्तिलक, वृत्तजातिसमुच्चय आदि कुछ ग्रंथों में अपवाद-स्वरूप, समार्द्धसम-विषम-वर्ग-विभाजन तथा इन वर्गों के वार्णिक छंदो का अलग-अलग विवेचन नही हुआ है। मात्रिक छंदो को अवश्य समार्द्धसमविषम वर्गो मे रखने की प्रवृत्ति बहुत ही बाद मे, २०वी शती में, दिखाई देती है। संस्कृत-ग्रंथों में मात्रिक छंदो के अलग वर्ग—आर्या, मात्रा-समक और वैतालीय-वर्ग हैं अवश्य, किंतु इस वर्ग-विभाजन का आधार मात्रिक छंदो का सम, अर्द्धसम या विषम होना नही है; क्योकि एक ही वर्ग में दो या तीनों प्रकार के

---

१. पिं०। अ० २, ३।; जय०। अ० २,३।
२. पिं० ।४।८।
३ पिं० । अ० ४, तथा अ० ५-७।
४. पिं० ।५।२।
५. जय० ।५।२।
६. जकी० ।१।२१।
७. वृ० र० ।१।१२।
८. हे० छं० ।१।१२-१४।

छंद कभी-कभी आ गये हैं। उदाहरणतः, आर्या-वर्ग मे आर्या[1] छंद यदि विषम द्विपदी अथवा विषम चतुष्पदी कहा जा सकता है, तो गीति[2] छंद सम द्विपदी अथवा अर्द्धसम चतुष्पदी तथा गीत्यार्या[3] छंद सम द्विपदी अथवा सम चतुष्पदी। सम, अर्द्धसम और विषम भेदों के आधार पर मात्रिक छंदों के वर्गीकरण का सर्वथा व्यवस्थित उद्योग हिंदी में भानु के छंदःप्रभाकर (२०वीं शती) में ही दृष्टिगत हैं। हिंदी के छंदोलक्षण-ग्रंथो में वर्णवृत्त-विचारांतर्गत समार्द्धसमविषमवर्ग-विभाजन भूषणकृत छंदोहृदयप्रकाश, सुखदेवकृत पिंगल तथा वृत्तविचार, जयदेवमिश्रकृत वृत्तार्णव, भानुकृत छंदःप्रभाकर आदि में किया गया है। दशरथ के वृत्तविचार में केवल सम और अर्द्धसम तथा वृंदावनदास के छंदसार में सम और असम वर्गो में छंद रखे गये हैं। किंतु मात्रिक छंदों की चर्चा जानी बिहारीलालकृत छंदप्रभाकर-पिंगल तथा भानुकृत छंदःप्रभाकर के अतिरिक्त अन्य सभी ग्रंथो मे एक साथ हुई है, चाहे वे छंद सम हों या विषम।

मात्रिक छंदों का वर्ग-विभाजन आरंभिक आचार्यों ने आर्या मात्रासमक और वैतालीय वर्गों में, छंद की व्युत्पत्ति के आधार पर किया।[4] एक मूल मे या समान मूलों मे व्युत्पन्न छंद एक वर्ग मे रखे गये हैं।

मात्रिक छंदों का वर्गीकरण एक दूसरी दृष्टि से, छंदगत पादसंख्या के आधार पर, प्रथम बार हेमचंद्र ने किया। उन्होंने मात्रिक छंदों को द्विपदी, चतुष्पदी और षट्पदी वर्गों में रखकर उनपर अलग-अलग विचार किया।[5] हेमचंद्र द्वारा प्रवर्तित छंदोगत पादसंख्या के आधार पर वर्गीकरण की इस प्रवृत्ति की चरम परिणति कविदर्पण मे देखने को मिलती है। कविदर्पण में मात्रिक छदों को द्विपदी, चतुष्पदी, पंचपदी, षट्पदी, सप्तपदी, अष्टपदी, नवपदी, दशपदी, एकादशपदी, द्वादशपदी और षोडशपदी—११ वर्गो में रखा गया है।[6] किंतु परवर्त्ती प्राकृतपैंगलम् या छंदःकोश मे हम पादसंख्या के आधार पर वर्गीकरण का प्रयास नही देखते, यद्यपि किसी विशिष्ट छंद को द्विपदी, चतुष्पदी अथवा षट्पदी कहीं-कहीं कहा गया है। हिंदी-लक्षणग्रंथो मे भी पाद-संख्या के आधार पर वर्गीकरण की प्रवृत्ति नही दिखाई देती।

हेमचंद्र ने मात्रिक छंदों का कोटि-विभाजन भाषा के आधार पर भी किया है। उत्साहादि अपभ्रंश के छदों को उन्होंने अलग वर्ग मे रखा[7] तथा प्राकृत के गलितक, खंजक, शीर्षक आदि छंदःसमूहों पर अलग-अलग विचार किया।[8] हेमचंद्र के पूर्व जयकीर्त्ति ने भी भाषाधार वर्गीकरण का उद्योग किया था—उन्होने संस्कृत के आर्यादि तथा प्राकृत के

---

१. पिं० ।४।१४-२१।

२. पिं० ।४।२८।

३. पिं० ।४।४८।

४. पिं०। अ० ४।; जय०। अ० ४।; जकी० ।१।२१। तथा अ० ५-६।; वृ० र०। अ० २।; हे० छं० । अ० ३-४।

५. हे० छं० ।६।२। तथा अ० ६-७।

६. क० द० ।२।१। एकारसजाईओ मत्ताच्छंदे हवंति एयाओ।
बिचउसरमुणिवसुनवदसहररविसोलसपइत्ति ॥

७. हे० छं० ।५।१।

८. वही ।४।२५, ४९, ८४।

गलितकादि छंदः-समूहों को अलग-अलग रखकर विचार किया था।[1] कर्णाटक के अक्षरादि छंदों की चर्चा तो जयकीर्त्ति ने अलग 'अधिकार' में की।[2] किंतु संस्कृत, प्राकृत या अपभ्रंश के छंदों को भाषाधार पृथक् वर्ग में रखने की इस प्रवृत्ति के दर्शन भी हिंदी में अधिक नही होते। हाँ, आर्यादि संस्कृतागत छंदःसमूहों को अवश्य पृथक् वर्ग में, कुछ ग्रंथों में, रखा गया है।[3]

छंदःपाद की लंबाई के आधार पर सम छंदों को दो कोटियों मे रखने का प्रयास भी बहुत पहले से हुआ है। वर्णवृत्तों में २६ वर्ण तक के पादवाले छंद साधारण और २६ से अधिक वर्ण के पादवाले छंद दंडक माने गये। समवर्णवृत्तातर्गत दंडक-विचार की परंपरा का आरंभ भी पिंगलाचार्य से हो जाता है।[4] वार्णिक दंडक छंदों की अलग चर्चा जयदेव,[5] केदार,[6] हेमचंद्र,[7] आदि ने भी की है। हिंदी-लक्षणकार वृंदावनदास ने वर्णिक दंडक को उपछंद कहा है।[8] सममात्रिक छंदों में दंडक वे है, जिनमे प्रतिपाद ३२ से अधिक मात्राएँ होती है; ३२ मात्राओं तक के पादवाले छंद साधारण कोटि में परिगणित होते है।[9] मात्रिक दंडक छंदों को अलग वर्ग मे रखकर विचार करने की प्रवृत्ति संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश छंदोग्रंथों में नही दिखाई देती। हिंदी में भी छंदोहृदयप्रकाश या सुखदेवकृत पिंगल में हम अलग मात्रिक दंडक-विचार नही पाते। रामसहायकृत वृत्ततरंगिनी में अवश्य मात्रिक दंडको की पृथक् चर्चा हुई है। मात्रिक-दंडक-कोटि मे रामसहाय ने तीन छंदों का उल्लेख किया है—झूलना (३७ मात्राएँ), मदनहर (४० मात्राएँ) और चंचरीक (४२ मात्राएँ) का।[10] प्राकृतपैंगलम् में झूलना[11] और मदनहर[12] छंद आये है, किंतु इन दंडक छंदों को अलग वर्ग या कोटि में रखने का उपक्रम नही किया है। रामसहाय के कुछ परवर्त्ती आचार्य भिखारीदास ने मात्रिक दंडकों का वर्णन अलग प्रकरण (तरंग) में किया था।[13] किंतु, मात्रिक दंडकों की सविस्तर चर्चा परवर्त्ती जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' ने ही की।[14] किंतु इससे यह न समझना चाहिए कि मात्रिक दंडक छंदों का व्यवहार सुदूर अतीत में—प्राकृत काल में—नहीं होता था; क्योंकि प्राकृत-पैंगलम् में उल्लिखित उपर्युक्त

---

१. जकी० ।१।२२।
२. वही। अधि० ७।
३. छं० प्र०। आर्या प्रकरण। पृ० १००। वैतालीय प्रकरण। पृ० १०३।; छं० पिं०। गाथा प्रकरण। प० ६९।
४. पिं० ।७।३३।
५. जय० ।७।३२।
६. वृ० र० ।३।१०७।
७. हे० छं० ।२।३८७-४०१।
८. वृ० छं०। पूर्वार्द्ध, ६६।
९. छं० प्र०। पृ० ५।
१०. रा० वृ० त०। १५४-१५९। पृ० ४०-४१।
११. प्रा० पैं०।१।१५६।
१२. वही ।१।२०५।
१३. छं० पिं०। नवम तरंग।
१४. छं० प्र०। पृ० ७८।

दोनों छंदों के अतिरिक्त उद्‌गता नाम के एक दंडक का उल्लेख भी वृत्तजातिसमुच्चय में मिलता है।[1] यहाँ मंतव्य इतना ही है कि दंडकों के अलग वर्ग की स्वीकृति भिखारीदास के पहले नहीं दिखाई देती।

वार्णिक और मात्रिक दोनों प्रकार के छंदों के वर्गीकरण के लिए, उपर्युक्त आधारों से सर्वथा भिन्न और अपेक्षाकृत नवीन आधार वृंदावनदास के हस्तलिखित हिंदी ग्रंथ छंदसार में दृष्टिगत है। वह आधार है वर्णो या मात्राओं की संख्या अथवा उनके लघुगुरुस्वरूप का नियत या अनियत होना।[2] इतने व्यापक रूप से वर्गीकरण के इस आधार की स्वीकृति अन्य किसी भी छंदोग्रंथ में नही दिखाई दी। कारण यह है कि वर्ग-विभाजन की यह प्रणाली सैद्धांतिक अधिक है, व्यावहारिक कम। व्यवहार में मात्रिक छंदों में गुरु-लघु वर्णों की संख्याएँ बहुत कम निश्चित रहा करती हैं, जबकि वर्ण-छंदों में वे संख्याएँ बहुत कम अनिश्चित रहा करती हैं। इसीसे भानु आदि परवर्त्ती आचार्यों ने वृंदावनदास की वर्गीकरण-पद्धति को अपने ग्रंथ के लिये नहीं अपनाया।

भारतीय छंदःशास्त्र के विषय का अलौकिक तत्त्व से कुछ-न-कुछ संबंध आरंभ से ही रहा है। वैदिक काल में छंद को (आच्छादन कर) मृत्यु से रक्षा करनेवाला कहा गया।[3] छंदःशास्त्र के आदि आचार्य पिंगल को कभी मुनि, कभी आचार्य और कभी नाग कहा गया और गरुडजी से उनकी रहस्यमय भेंट की चर्चा की गई।[4] वार्णिक गणों के नामकरण और उनके अंतर्गत वर्णसंख्या-स्वरूप-निर्धारण का प्रसंग भी अलौकिक तत्त्व से रहित नही।[5] संस्कृत-लक्षणग्रंथों में गणों का देवताओं से संबंध तथा उनके शुभाशुभ फल का विचार पिंगलकृत छंदःशास्त्र, जयदेवच्छंदस्, वृत्तरत्नाकर और हेमचंद्र के छंदोऽनुशासन में नहीं है। जयकीर्त्ति के छंदोऽनुशासन में गणदेवता निर्दिष्ट है,[6] किंतु गणों का फलाफल-विचार नहीं है। गणदेवता तथा फलाफल-विचार पूर्ण विकसित रूप में प्राकृत-पैंगलम् में दिखाई देता है।[7]

हिंदी के छंदोग्रंथों ने अधिकांशतः प्राकृतपैंगलम् से प्रेरणा ग्रहण की, अतएव प्रायः सभी प्रमुख छंदो-लक्षणग्रंथों में गणदेवता, फलाफल-विचार आदि समाविष्ट हो गये हैं। उदाहरण के रूप में ये ग्रंथ उल्लेख्य हैं—छंदोहृदयप्रकाश,[8] वृंदावनदास-कृत छंदसार,[9] छंदोर्णवपिंगल,[10] छंदपयोनिधि-भाषा,[11] तथा छंदःप्रभाकर।[12]

---

१. वृ० जा० स० ।४।५२।
२. वृं० छं०। पूर्वार्द्ध। पृ० ८, १५, १६। उत्तरार्द्ध २० और आगे (प्रतिलिपि)।
३. छांदोग्य उपनिषद् ।४।१।२।
४. पिं०। हलायुधवृत्ति। १।४।; प्रा० पैं० ।१। तथा टीका। पृ० २०।;
छं० हृ० प्र०। पृ० ४क।; छं० पिं०।१।३।
५. दे० अ० १। गण।
६. जकी० ।१।८-९
७. प्रा० पैं ।१।३४-३६।
८. छं० हृ० प्र०। पृ० ४ क।
९. वृं० छं०। पूर्वार्द्ध।२९-३२।
१०. छं० पिं० ।२।२२-२६।
११. छं० प० भा०। पृ० ७४-७८।
१२. छं० प्र०। पृ० १०५-११६।

छद शास्त्रीय विकास के मील-स्तभ

स्वतत्र ग्रथरूप मे छद शास्त्रीय विवेचन की परपरा का प्रवर्त्तन पिगल के छद शास्त्र द्वारा हुआ, जिसमे वैदिक, वार्णिक ओर मात्रिक तीनो प्रकार के छद विवेचित हुए। साथ ही प्रत्यय-वर्णन ओर वर्ण-वृत्तो के समार्द्धसमविषम वर्गो मे विभाजन की प्रवृत्तियाँ भी इस ग्रथ मे प्रथमबार व्यवस्थित रूप मे देखने को मिली। जयदेव, जयकीर्त्ति, केदार आदि सस्कृत लक्षणकारो ने ही नही प्राकृत ओर हिदी के कतिपय लक्षणकारो ने भी अपने छदो-विवेचन के कार्य मे पिगल से प्रकाश ग्रहण किया हे।

कालिदास का श्रुतबोध भी, वृत्तरत्नाकर, वृत्तजातिसमुच्चय, छद कोश, छद सार (वृदावनदास), काव्यरसायन और छद प्रभाकर की लक्ष्य-लक्षण-तादात्म्य शैली को पूर्वाभासित करने की दृष्टि से, इस प्रसग मे उल्लेखनीय है। साथ ही पिगल के बाद प्रथम बार श्रुतबोध मे हम सूत्र-शैली से भिन्न श्लोक-शैली का प्रयोग देखते है। छदो के लक्षण-निर्देश के लिए गण-निर्देश का सहारा इसमे नही लिया गया।

क्षेमेन्द्र के सुवृत्ततिलक मे छद का सबध काव्यवस्तु, रस आदि मे स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। विशिष्ट कवियो की विशेष छदो के प्रति रुचि का उल्लेख भी है। छद का सबध काव्यवस्तु, रस, कवि के व्यक्तित्व आदि से क्या है, इसकी खोज करने की दिशा मे अबतक सुवृत्ततिलक प्रथम और अतिम उल्लेख्य प्रयत्न प्रतीत होता है।

लोक के बीच उत्पन्न मात्रिक छदो के प्रथम तथा सर्वाधिक उल्लेख की दृष्टि से क्रमश वृत्तजातिसमुच्चय तथा छदोऽनुशासन (हेमचद्र) का नाम लिया जा सकता है। छदोऽनुशासन मे मात्रिक छदो का सर्वाधिक उल्लेख हुआ अवश्य है, किंतु उसमे प्रचलित-अप्रचलित सभी छदो का नामोल्लेख किया गया हे। सिद्धातवादी हेमचद्र को वास्तविक काव्य-व्यवहार की उतनी चिंता नही थी, जितना अपने वर्ण्य विषय की शास्त्रीय पूर्णता का ध्यान था। इसीसे वर्गीकरण की शास्त्रीय प्रवृत्ति भी हेमचद्र मे सर्वाधिक है।

वर्गीकरण के नये आधार की दृष्टि से हेमचद्र के ग्रथ के अतिरिक्त कविदर्पण और वृदावनदास का छदसार भी उल्लेख्य है। प्रथम मे हेमचद्र की तरह पाद-सख्या के आधार पर मात्रिक छदो का विशद वर्गीकरण हुआ हे, दूसरे मे लघुगुरु-वर्णो के नियतानियत होने के आधार पर। किंतु दोनो ग्रथो मे वर्गीकरण को जिस सीमा तक ले जाया गया है, उसका वास्तविक छदोव्यवहार से विशेष सबध न होकर मात्र सैद्धातिक महत्त्व है।

लोक के बीच वास्तविक छद प्रयोग का यथार्थ परिचायक प्राकृतपैगलम् तथा छद कोश है। प्राकृत-पैगलम् ने परवर्त्ती हिदी-लक्षणकारो के लिए मार्ग-प्रदर्शक का काम किया है। छदोहृदयप्रकाश प्रभृति कुछ ग्रथो में तो छदोलक्षण ही नही, विवेचन का क्रम भी प्राकृत-पैगलम् के अनुसार रखा गया है। वर्ण-गणो का देवता फलाफलादि-विचार तथा मात्रिक प्रस्तारादि भी परवर्त्ती ग्रथो मे प्राकृतपैगलम् से बहुत कुछ प्रभावित है। बाद के ग्रथो मे विवेच्य छदो की सूची मे परिवर्त्तन बहुत हुए हें और लक्षणादि भी कही-कही भिन्न हे अथवा भिन्न पद्धति पर दिये गये हैं, किंतु जहाँतक मात्रिक छदो का प्रश्न है, इनमें से अधिकाश ग्रथो ने प्राकृतपैगलम् से ही प्रेरणा पाई है।

छंदोहृदयप्रकाश यद्यपि प्राकृतपैगलम् पर बहुत कुछ आधृत है, फिर भी, हिंदी में प्राचीनतम उपलब्ध होने के कारण इस प्रसंग मे उल्लेख्य है।

हिंदी के छदोलक्षणग्रथो मे सर्वाधिक व्यवस्थित और विशद छदोविवेचन छद प्रभाकर का है। इसमे छदोलय पर विशेष ध्यान दिया गया है तथा उर्दू-छदो की लय से मुख्य मात्रिक छदो की लय की तुलना की गई है।

अध्याय ३

प्रकरण १

छंद का जन्म और उसका प्रवर्त्तन

कहा जाता है कि छदो का जन्म तभी हुआ होगा, जब, प्रागैतिहासिक युग मे, आदि मानव ने बोलना सीखा होगा। सभवत, गद्य के पहले पद्य का ही प्रयोग मानव ने किया होगा, क्योकि प्रारभ मे भाषा का प्रयोग उसने अपने तीव्रतम मनोवेगो की अभिव्यक्ति के लिये, निसर्ग-प्रेरित रूप मे, किया होगा। चितन की प्रक्रिया सभ्यता के परवर्त्ती विकास की देन है। आरभ मे तो भावावेश द्वारा ही वाणी फूट निकली होगी। और, भावावेश की दशा मे प्रयुक्त भाषा मे नैसर्गिक लयात्मकता रही होगी, इसमे सदेह नही।[1] "इसी निसर्गसिद्ध लय से छदो का जन्म हुआ होगा। उपर्युक्त धारणा मे तथ्याश कितना है, इसके निर्णय का आज कोई आधार नही रह गया है।

किंतु, यह अनुमान सर्वथा निराधार नही कि छदोबद्ध भाषा या पद्य गद्य से अधिक प्राचीन है तथा गद्य का प्रयोग छदो के जन्म के बहुत बाद मे हुआ। इस अनुमान की पुष्टि इस बात से भी होती है कि मानवजाति का प्राचीनतम साहित्य ऋग्वेद मे छदोबद्धता है। ऋग्वेद मे प्रयुक्त छदो को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि वे छादस रचना की पर्याप्त विकसितावस्था के द्योतक है, अतएव छदो का प्रयोग सभवत ऋग्वेद से भी पुराना है।[2] अन्य वेद भी प्राय छदोबद्ध है तथा लौकिक सस्कृत मे भी साहित्य के ही नही, व्याकरण, कोश, ज्यौतिष, धर्मशास्त्र, दर्शन, राजनीति, इतिहास आदि के ग्रथ भी अधिकाशत छदो से रचित है। इससे ज्ञात होता है कि प्राग्वैदिक युग से ही, चाहे दैन-दिन व्यवहार मे हो या न हो, कम-से-कम कलात्मक एव बौद्धिक प्रयत्नो के लिए छदोबद्ध रचना की परपरा अवश्य थी। कम-से-कम वैदिक रचना के आरभ के साथ ही छदो का आरभ हुआ, यह तो नि सदेह कहा जा सकता है।

अथर्ववेद मे वेदो को 'काव्य'-सज्ञा दी गई है—

देवस्य पश्य काव्यम्।
न ममार न जीर्यति॥[3]

यजुर्वेद मे परमात्मा को कवि कहा गया है—

कविर्मनीषी परिभू स्वयंभू:
यथातऽयतोऽर्थान् व्यदधात्
शाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥[4]

कहा गया है कि छन्द वेद के चरण है—'छद पादौ तु वेदस्य।" अर्थात्, वैदिक रचना

१ **Ghate : Vedic Metre** (Chap. 1.)

२ रघुनंदन शास्त्री—हिंदी छंद-प्रकाश, पृ० ४

३ अथर्ववेद। (उद्धरण: परमानंद—श्रीपिंगलपीयूष, पृ० क)

४ यजुर्वेद। (उद्धरण: वही, पृ० ग)

का आधार छंद हैं।[1] अतएव छंदों का आरंभ भी, निश्चय ही, कम-से-कम, वैदिक रचना के आरंभ के साथ ही हुआ होगा। तैत्तिरीय संहिता में उल्लेख है कि सृष्टिकर्त्ता ने प्रारंभ में ही छंदों की रचना की।[2]

उस सुदूर अतीत काल में जब लिखने के साधनों की अल्पता या अपेक्षाकृत अभाव के कारण मानव की ज्ञानराशि के संरक्षण के लिए बहुत कुछ स्मरण-शक्ति पर निर्भर रहना अनिवार्य रहा होगा, छंदों की उपयोगिता और भी रही होगी; क्योंकि छंदोवद्ध भाषा याद रखने में गद्य की अपेक्षा अधिक सुखद और सुगम है। अंतर्निहित नैसर्गिक मधुरता के कारण भी छंदों ने तद्युगीन मानव-हृदय को आकृष्ट किया होगा। इसके अतिरिक्त छंद विचारों के संयत वाहन हैं, छंदोबद्ध भाषा में प्रायः कम शब्दों में अधिक विचार नियोजित रहते हैं; भाषा में स्थायित्व और परिपक्वता भी छंदों द्वारा आती है; क्योंकि पद्य में भाषा का रूप बहुत कुछ स्थिर है और शब्दों के सूक्ष्म अर्थ की चेतना विकसित होती है। कहा जाता है कि वैदिक पाठ के बहुत कुछ सुरक्षित रहने का कारण छंदोबद्धता है।[3] इन कारणों से आदियुगीन मानव ने छंदों के प्रति सहज आकर्षण का अनुभव किया होगा।

---

१. परमानंद—श्री पिंगलपीयूष, भूमिका, पृ० ख।

२. तैत्तिरीय संहिता ७।१।४।

३. "The credit of preserving without serious corruption the vedic texts may be largely due to the fact they are in a fixed metrical form."

—Ghate : Vedic Metre; p. 182

प्रकरण २
छंद का विकास

छंद का विकास

प्राग्वैदिक छंदों के अध्ययन के लिए आज सामग्री उपलब्ध नही, अतएव छंदों के विकास-क्रम का अध्ययन हम ऋग्वेद-काल से ही आरंभ कर सकते हैं।

छंदोगत ध्वनि-सामंजस्य प्रारंभिक प्राकृतावस्था में स्वतःप्रसूत रहा होगा। बाद में मनुष्य की बुद्धि ने इस सामंजस्य का विश्लेषण किया होगा तथा कृत्रिम रूप से अपनी भाषा में अपेक्षित सामंजस्य-सृष्टि की चेष्टा की होगी। प्राकृतावस्था में छंद स्वतःप्रसूत रहे होंगे, इसका संकेत ब्राह्मण-ग्रंथों की एक निरुक्ति से मिलता है। निरुक्ति 'गायत्री' शब्द की है, जो इस प्रकार है—"गायत्री मुखादुदपतत्" अर्थात् गाते हुए आदि मानव (या ब्रह्मा?) के मुख से अपने आप निकल पड़ी (गायत्री)।[1]

वैदिक अक्षरवृत्त या स्वरवृत्त

छंदों के प्राचीनतम उपलब्ध उदाहरण ऋग्वेद में मिलते हैं। ऋग्वेद तथा अन्य वेदों में जो छंद आये हैं, उनमें ध्वनि-संतुलन का आधार बहुत सूक्ष्म नहीं है। ध्वनियों की माप के लिए स्थूल रूप से छंद के प्रत्येक खंड (या पाद) के अक्षरों की संख्या को गिन लेना या उनका निश्चित हिसाब रखना ही प्रायः पर्याप्त था। वैदिक छंदों के, जिन्हें 'अक्षर-वृत्त' कहा गया है,[2] मुख्य प्रतिनिधि गायत्री अनुष्टुप्, त्रिष्टुप् और जगती हैं। इनके प्रत्येक पाद में क्रमशः ८, ११ तथा १२ अक्षर होते हैं। गायत्री की पाद-संख्या तीन ही हैं, किंतु अनुष्टुप्, त्रिष्टुप् और जगती में चार पाद होते हैं। इन सभी छंदों में छंदोगत या पादगत केवल अक्षर-संख्या की गिनती होती है, अक्षरों के लघुगुरु-स्वरूप का विचार नहीं होता।

वैदिक छंदों में संगीत-सृष्टि के लिए उदात्त, अनुदात्त और स्वरित ध्वनि-प्रकारों या स्वरों का आधार ग्रहण किया गया। वैदिक छंदःसंगीत में काल-तत्त्व का कोई योग नहीं, अक्षरों के लघुगुरु-स्वरूप या मात्राओं की क्रमिक योजना में जो सूक्ष्म संगीत निहित है, उसका कोई आधार नहीं लिया गया है; केवल अक्षरों की, चाहे वे लघु हों या गुरु, निश्चित संख्या के साथ-साथ स्वरों की समंजस योजना द्वारा संगीत-सृष्टि की गई है। छंदःसंगीत के लिए स्वरों का आधार ग्रहण करने के कारण ये वैदिक छंद स्वर-वृत्त भी कहे जाते हैं।[3]

स्पष्टतया वैदिक छंदों में गायत्री प्राचीनतम है। गायत्री में चौबीस वर्ण तीन पादों

---

१. रघनंदन शास्त्री—हिंदी छंद-प्रकाश। पृ० ५ (पादटिप्पणी)।

२. एच० डी० वेलंकर—जयदामन (भूमिका), पृ० ७।

३. **Dr. Mahesh—The Historical Development of Medieval Hindi Procody. Ch. 3**

मे विभक्त होते हैं, अतएव प्रतिपाद मे आठ वर्ण हुए। अष्टाक्षरपादी गायत्री को चतुष्पादीय बनाने की चेष्टा द्वारा अनुष्टुप् का सूत्रपात हुआ, जिसमें आठ अक्षरों के चार पाद होते है। प्रति पाद मे अक्षर-संख्या की वृद्धि के द्वारा त्रिष्टुप् और जगती छंद सामने आये। त्रिष्टुप् के पाद मे ११ अक्षर होते है, इसमे एक अक्षर जोड़कर द्वादशाक्षरपादी जगती की सृष्टि हुई। द्वादशाक्षरपादी इस छंद की सृष्टि का उद्देश्य गायत्री से इसका मेल उपस्थित करना भी हो सकता है; क्योंकि गायत्री के पाद से इसके पाद की लंबाई का अनुपात सीधे २ : ३ है।[1] जगती की अपेक्षाकृत लंबी पंक्तियों ने, उच्चारण-सौकर्य की आवश्यकता की दृष्टि से, यति के लिए भी मार्ग प्रशस्त किया होगा।

इसी प्रकार अन्य छंदों का आविर्भाव भी हुआ। नये छंद पुराने छंदो की पादगत अक्षर-संख्या के परिवर्द्धन द्वारा तथा कई छंदों के परस्पर मिश्रण द्वारा भी बने। गायत्री और जगती के पादों के मिश्रण द्वारा बृहती तथा सताबृहती (जो त्रिष्टुप् की तरह चतुष्पादीय है) और उष्णिक्, ककुभ तथा पुरौष्णिक (जो गायत्री के समान त्रिपादीय हैं) सामने आये। ये सचेष्ट मिश्रण के परिणाम थे। दूसरी ओर अनायास मिश्रण के फल-स्वरूप ११ और १२ अक्षरों की पंक्तियों के मिश्रित अनुच्छेद देखने को मिले। ये शब्द-संकट या रचनागत असुविधा के परिणाम भी हो सकते हैं।[2]

अनुक्रमणीकारों के मतानुसार ऋग्वेद मे सात मुख्य छंद आये हैं—गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती। इनमें गायत्री और उष्णिक के तीन-तीन पाद होते हैं, पंक्ति के पाँच और शेष के चार पाद होते हैं। इनके अलावा ऋग्वेद के सातवे मंडल में एक और छंद आया है, जिसे विराज् कहा गया है। इसके दो ही पाद होते हैं तथा प्रत्येक पाद की अक्षर-संख्या १० होती है। एक पाद का छंद भी ऋग्वेद में है। सामान्यतया त्रिष्टुप् के चार पाद होते हैं, किन्तु पंचपादी त्रिष्टुप् का प्रयोग भी, प्रायः सूक्तों के अंतिम मंत्र में हुआ है। पंचम पाद को अलग एकपादी त्रिष्टुप् भी कहा गया है।[3] ऐसे एकपादी त्रिष्टुप् का प्रयोग ऋग्वेद मे कई स्थलों पर है।[4]

अनुक्रमणीकारों के नामकरण के आधार पर मैकडॉनल्ड ने ऋग्वेद में कुल १८ छंदों का प्रयोग स्वीकार किया है—

गायत्री, अनुष्टुप्, पंक्ति, महापंक्ति, शक्वरी, त्रिष्टुप्, जगती, द्विपदा, विराज्, उष्णिक्, पुर उष्णिक्, ककुप्, बृहती, सतोबृहती, अतिशक्वरी, अत्यष्टि, प्रगाथ, ककुप्-प्रगाथ तथा बार्हत-प्रगाथ।[5]

इन सभी वैदिक छंदों मे पादगत अक्षर-संख्या की निश्चित योजना नियम है। किन्तु कहीं-कहीं अपवाद भी दिखाई देते हैं। उदाहरणतः प्रसिद्ध गायत्री मंत्र—

(ॐ भूः भुवः स्वः)

१—तत्सवितुर्वरेण्यम् .... ७ अक्षर।

---

१. एच० डी० वेलंकर—जयदामन (भूमिका) पृ० ७ तथा ८।

२. वेलंकर—जयदामन (भूमिका)। पृ० ८।

३. Macdonell—Vedic Grammar, p. 411.

४. ऋग्वेद ।५।४१।२०। तथा ।६।६३।११।

५. Macdonell—Vide Grammar.

२—भर्गोदेवस्य धीमहि .... ८ अक्षर।
३—धियो यो नः प्रचोदयात्। .... ८ अक्षर।

—के प्रथम पाद में आठ की जगह सात ही अक्षर हैं। इसी प्रकार कहीं-कहीं एक अक्षर अधिक भी हो जाता है। जिस छंद के किसी पाद में एक अक्षर कम हो, उसे निवृत (= एकाक्षरन्यून) तथा दो अक्षर कम हो, तो उसे विराड् (= द्व्यक्षरन्यून) कहते हैं। न्यूनाक्षर छंद 'विच्छंद' तथा अधिकाक्षर छंद 'अतिच्छंद' कहे गये हैं। इस न्यूनाधिक्य का कारण यह है कि संहितापाठ मे प्रयुक्त शब्द तो व्याकरणानुसार शुद्ध रूप में लिखे जाते हैं और उनका छंदोगत उच्चारण छंद के हिसाब से शुद्ध रूप मे किया जाता है; दोनों में जहाँ व्यवधान होता है, वहाँ लिखित और उच्चरित रूपों में भिन्नता की छूट रहने दी गई है। जैसे गायत्री के उपर्युक्त उदाहरण में व्याकर-णसम्मत लिखित रूप है 'वरेण्यम्' जब कि छंदःसम्मत उच्चरित रूप है 'वरेणियम्'। इस तरह, एक दूसरे मंत्र में 'इन्द्र' को 'इन्दर' पढ़ने का विधान है।[1] इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि वैदिक छंद कठोर नियमों की शृंखलाओं में जकड़े नहीं थे। उनमे पर्याप्त लचीलापन था। उनके नियमों के साथ अपवाद भी घुले-मिले थे। इसीसे बाद के वैयाकरणो ने 'छांदस प्रयोग' का अर्थ ही 'नियम-शैथिल्य' ग्रहण किया है। "ये नियम-शैथिल्य वस्तुतः छंदों के निर्माण में नये-नये प्रयोगों की दिशा में की जानेवाली सतत चेष्टाओं के स्वाभाविक परिणाम हैं। इन्हीं तथाकथित अपवादों की तह में पीछे के अनेक छंदों के बीज विद्यमान हैं। पीछे के आचार्यों ने यहीं से प्रतीक लेकर अनेक नये छंद गढ़े हैं और वेद के गायत्री आदि छंद क्रमशः विकसित होकर पीछे संस्कृत में केवल 'छंद' न रहकर 'छंदोजातियाँ' बन गये हैं, जिनसे प्रस्तार की रीति से सैकड़ों नूतन छंदों की सृष्टि हुई है।"[2]

---

१ ऋग्वेद ।७।१९।२।

२ रघुनंदन शास्त्री—हिंदी छंदप्रकाश, पृ० ८।

प्रकरण ३
वर्णवृत्त की उद्भावना और उसका विकास

वर्णवृत्त का जन्म—

वैदिक छदों मे, कहा जा चुका है, दो तत्त्व थे—१ स्वर या ध्वनियों के उतार-चढाव का नियमन तथा २ पादगत अथवा छदोगत केवल अक्षर-संख्या की निश्चित योजना। वैदिक छदो का संगीत-तत्त्व स्वरो के उतार-चढाव (स्वरित, उदात्त, अनुदात्त उच्चरणो) पर निर्भर था। धीरे-धीरे इस प्रकारात्मक सगीत का स्थान एक दूसरे ढंग के सगीत ने ले लिया—यह था काल-परिमाणात्मक संगीत, जो वर्णो के लघु-गुरु उच्चारण की विशिष्ट योजना द्वारा चरितार्थ था। वर्णो के लघु और गुरु-स्वरूपो के संगीतात्मक अतर का उपयोग वैदिक छंदो मे नही हुआ था।

बहुत संभव है कि त्रिष्टुप् की पंक्ति को जगती की पंक्ति के रूप में परिवर्द्धित करने की प्रक्रिया में इस लघुगुरुमात्रा संगीत की ओर ध्यान आकृष्ट हुआ। जगती का पादगत अंतिम अक्षर प्राय: सदैव लघु होता है, जबकि त्रिष्टुप् के पाद का अंतिम अक्षर अक्सर गुरु होता है। जगती के पादांत मे लघुगुरु के अंतर की संगीतात्मक चेतना के प्रभावस्वरूप बाद में त्रिष्टुप् और जगती के पादो के अंतिम ४-५ अक्षर लघुगुरु क्रम की निश्चित योजना के साँचे में अनायास ढल गये। त्रिष्टुप् और जगती के पादांत ४-५ अक्षरों का क्रम क्रमशः इस प्रकार हुआ (।ऽ।ऽ) तथा (।ऽ।ऽ।)। यही प्रवृत्ति गायत्री और अनुष्टुप् के विशिष्ट पादो मे भी दिखाई दी।[1] ऋग्वेद मे भी लघुगुरु वर्णों के आनुक्रमिक (Alternate) प्रयोग के उदाहरण कई गायत्री-पादों में मिल जाते हैं।[2]

इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि वैदिक काल मे ही स्वर-संगीत से भिन्न लघुगुरुमात्रा-संगीत या उच्चारणकाल-संगीत के प्रति कविगण सजग हो रहे थे। संहिता-काल का प्राय: अंत आते-आते स्वरों पर आधारित प्रकारात्मक संगीत छंदों में लगभग परित्यक्त हो गया और लघुगुरु वर्णों के उच्चारणकाल पर आधारित यह नवीन संगीत अंगीकृत हुआ। प्रथम प्रकार के संगीत का विकास छंद:शास्त्र की भूमि के बाहर स्वतंत्र रूप से होता रहा, जिसका संबंध सामवेद तथा विभिन्न रागरागिनियों की उद्भावना मे है। हाँ, कवियो ने अपनी रचना में इस प्रकारात्मक संगीत को नहीं अपनाया और वर्णोच्चारणकाल पर आधारित नवीन संगीत के प्रति वे आकृष्ट हुए।[3] ब्राह्मण ग्रंथों मे कहीं-कही जो "गाथा" कहे जाने वाले पद्य मिलते हैं, और जो निश्चय ही गाये जाने के लिए बने होंगे, जैसा नाम से ही स्पष्ट है, उनमें स्वरों के उतार-चढाव या प्रकारात्मक उच्चारण के संकेत नहीं मिलते, जैसे वैदिक ऋचाओं में मिलते हैं। ये गाथाएँ इन तीन प्रधानतया वैदिक छंदों मे—अनुष्टुप्, त्रिष्टुप् और जगती में—मिलती हैं, किंतु इनकी बनावट बहुत कुछ समान परिमाण

---

१. वेलंकर: जयदामन (भूमिका), पृ० ९।

२. **Arnold—Vedic Metre; Section 197, 198.**

३. एच० डी० वेलंकर: जयदामन (भूमिका), पृ० ११।

के लौकिक वर्णवृत्तों-जैसी है। त्रिष्टुप्-जगती के पादों का उत्तरांश ही संहिताओं में लघु-गुरु-अनुशासन द्वारा नियमित हो गया था। ब्राह्मण-ग्रंथों की गाथाओ मे अधिक नियमन देखने को मिले। बाद मे, लौकिक कवि इन्हे अंगीकार कर पूर्ण नियमन में लाये और या पूरे वर्णवृत्त बन गये, फिर भी त्रिष्टुप् और जगती-वर्ग के प्रमुख प्रतिनिधि इंद्रवज्रा-उपेंद्रवज्र तथा वंशस्थ-इंद्रवंश छंदोयुग्मो में पादगत प्रथम वर्ण के गुरुलघु रूप (ऽ) या (।) संबंधी छूट बाद में भी बनी रही, जो मानो इनकी वेदकालीन स्वच्छंदता का प्रतीक है। इस छूट के व्यापक प्रयोग के कारण इन छदों को उपजाति-नाम देना पडा; क्योकि अक्सर इनके अलग-अलग नाम पूरे छंद मे चरितार्थ नही होते थे।

इंद्रवज्रा के आरंभ में गुरुवर्ण तथा उपेंद्रवज्रा के आरंभ में लघुवर्ण होता है। शेष पाद समान होते हैं। किंतु कवियो ने इन विशुद्ध रूपों की उपेक्षा कर इनके मिश्रित रूप 'उपजाति' को ही अधिक अपनाया है। वंशस्थ और इंद्रवंश के पादों में अंतर यह होता है कि प्रथम के आरंभ में लघुवर्ण होता है, दूसरे के आरंभ मे गुरु। दोनों के मिश्रण को उपजाति के अलावा वंशमाला भी कहते हैं। इस मिश्रण का उपयोग कम हुआ है और संभवतः १००० ई० के बाद का ही मिलता है।[1]

इस प्रकार के दो अन्य मिश्रण या उपजाति जयकीर्त्ति द्वारा उल्लिखित हैं। ये हैं सिहप्लुत तथा प्रकीर्णक।[2] एक और छंद रमा है, जिसके पाद में एक वर्ण का लघु-गुरु विकल्प कवि के ऊपर छोड़ा गया है।[3] जयकीर्ति ने 'उपजाति' शब्द को जातिवाचक संज्ञा के रूप में ही प्रयुक्त किया है, अर्थात् किसी भी मिश्रित छंद को ये उपजाति कहते हैं।[4] अन्य छंदःशास्त्रकारों ने भी ऐसा माना है।[5]

अनुष्टुप्, पुराणकारों और महाकाव्यकारो के बीच व्यापक रूप से लोकप्रिय हुआ और अपनी व्यापक लोकप्रियता के कारण वह अर्द्धनियमित रूप में ही परिनिष्ठित हो गया तथा लौकिक कवियों के हाथों अधिक या पूर्ण नियमन से बच गया। अनुष्टुप् में, इसी से आज भी लघुगुरु-क्रम की छूट अन्य वेदांगत छंदों की अपेक्षा अधिक है। किंतु अनुष्टुप् ने भी वैदिक स्वर-संगीत को त्याग कर एक नये संगीत को अपनाया, जिसमें पादगत विशिष्ट स्थानों पर लघु-गुरु वर्णो के विभिन्नात्मक प्रयोगो का सहारा लिया गया था। इसीसे तो भवभूति ने अनुष्टुप् को वैदिक छंदों से भिन्न प्रकार के छंद का अवतारात्मक प्रतीत माना है।[6] त्रिष्टुप्-जगती, जिनके उत्तरांश के ४-५ वर्णों का लघुगुरु क्रम व्यवस्थित हो चुका था तथा पूर्वांश में लघुगुरुक्रम की वेदकालीन स्वच्छंदता बनी थी, अपेक्षाकृत कम समर्थ एवं लोकप्रिय कवियों के हाथों पड़ने के कारण अपने इस अर्द्धानुशासित रूप को सुरक्षित नही रख सके और शीघ्र ही लघुगुरुक्रमवाले नवीन संगीत के आलोक में रूपांतरित हुए, अर्थात्

---

१. एच० डी० वेलंकर : जयदामन, भूमिका, पृ० १४।
२. जयकीर्ति : छंदोऽनुशासन।२।१४८।१६५।
३. वही।६।३१।
४. वही।२।११७, १४५, १४८।
५. केदार : वृत्त-रत्नाकर।३।८१।
हेमचंद्र : छंदोऽनुशासन।२।१५६, १५७।
६ भवभूति : उत्तररामचरित।२।५।१

प्रकरण ३
वर्णवृत्त की उद्भावना और उसका विकास

वर्णवृत्त का जन्म—

वैदिक छंदों में, कहा जा चुका है, दो तत्त्व थे—१. स्वर या ध्वनियों के उतार-चढ़ाव का नियमन तथा २. पादगत अथवा छंदोगत केवल अक्षर-संख्या की निश्चित योजना। वैदिक छंदों का संगीत-तत्त्व स्वरों के उतार-चढ़ाव (स्वरित, उदात्त, अनुदात्त उच्चरणों) पर निर्भर था। धीरे-धीरे इस प्रकारात्मक संगीत का स्थान एक दूसरे ढंग के संगीत ने ले लिया—यह था काल-परिमाणात्मक संगीत, जो वर्णों के लघु-गुरु उच्चारण की विशिष्ट योजना द्वारा चरितार्थ था। वर्णों के लघु और गुरु-स्वरूपों के संगीतात्मक अंतर का उपयोग वैदिक छंदों में नहीं हुआ था।

बहुत संभव है कि त्रिष्टुप् की पंक्ति को जगती की पंक्ति के रूप में परिवर्द्धित करने की प्रक्रिया में इस लघुगुरुमात्रा संगीत की ओर ध्यान आकृष्ट हुआ। जगती का पादगत अंतिम अक्षर प्रायः सदैव लघु होता है, जबकि त्रिष्टुप् के पाद का अंतिम अक्षर अक्सर गुरु होता है। जगती के पादांत में लघुगुरु के अंतर की संगीतात्मक चेतना के प्रभावस्वरूप बाद में त्रिष्टुप् और जगती के पादों के अंतिम ४-५ अक्षर लघुगुरु क्रम की निश्चित योजना के साँचे में अनायास ढल गये। त्रिष्टुप् और जगती के पादांत ४-५ अक्षरों का क्रम क्रमशः इस प्रकार हुआ (।ऽ।ऽ) तथा (।ऽ।ऽ।)। यही प्रवृत्ति गायत्री और अनुष्टुप् के विशिष्ट पादों में भी दिखाई दी।[1] ऋग्वेद में भी लघुगुरु वर्णों के आनुक्रमिक (Alternate) प्रयोग के उदाहरण कई गायत्री-पादों में मिल जाते हैं।[2]

इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि वैदिक काल में ही स्वर-संगीत से भिन्न लघुगुरुमात्रा-संगीत या उच्चारणकाल-संगीत के प्रति कविगण सजग हो रहे थे। संहिता-काल का प्रायः अंत आते-आते स्वरों पर आधारित प्रकारात्मक संगीत छंदों में लगभग परित्यक्त हो गया और लघुगुरु वर्णों के उच्चारणकाल पर आधारित यह नवीन संगीत अंगीकृत हुआ। प्रथम प्रकार के संगीत का विकास छंदःशास्त्र की भूमि के बाहर स्वतंत्र रूप से होता रहा, जिसका संबंध सामवेद तथा विभिन्न रागरागिनियों की उद्भावना से है। हाँ, कवियों ने अपनी रचना में इस प्रकारात्मक संगीत को नहीं अपनाया और वर्णोच्चारणकाल पर आधारित नवीन संगीत के प्रति वे आकृष्ट हुए।[3] ब्राह्मण ग्रंथों में कहीं-कहीं जो "गाथा" कहे जाने वाले पद्य मिलते हैं, और जो निश्चय ही गाये जाने के लिए बने होंगे, जैसा नाम से ही स्पष्ट है, उनमें स्वरों के उतार-चढ़ाव या प्रकारात्मक उच्चारण के संकेत नहीं मिलते, जैसे वैदिक ऋचाओं में मिलते हैं। ये गाथाएँ इन तीन प्रधानतया वैदिक छंदों में—अनुष्टुप्, त्रिष्टुप् और जगती में—मिलती हैं, किंतु इनकी बनावट बहुत कुछ समान परिमाण

---

१. **वेलंकर : जयदामन (भूमिका), पृ० ९।**
२. **Arnold—Vedic Metre; Section 197, 198.**
३. **एच० डी० वेलंकर : जयदामन (भूमिका), पृ० ११।**

के लौकिक वर्णवृत्तों-जैसी है। त्रिष्टुप्-जगती के पादों का उत्तरांश ही संहिताओं में लघु-गुरु-अनुशासन द्वारा नियमित हो गया था। ब्राह्मण-ग्रंथों की गाथाओं में अधिक नियमन देखने को मिले। बाद में, लौकिक कवि इन्हें अंगीकार कर पूर्ण नियमन में लाये और या पूरे वर्णवृत्त बन गये, फिर भी त्रिष्टुप् और जगती-वर्ग के प्रमुख प्रतिनिधि इंद्रवज्रा-उपेंद्रवज्रा तथा वंशस्थ-इंद्रवंश छंदोयुग्मों में पादगत प्रथम वर्ण के गुरुलघु रूप (ऽ) या (।) संबंधी छूट बाद में भी बनी रही, जो मानों इनकी वेदकालीन स्वच्छंदता का प्रतीक है। इस छूट के व्यापक प्रयोग के कारण इन छंदों को उपजाति-नाम देना पड़ा; क्योंकि अक्सर इनके अलग-अलग नाम पूरे छंद में चरितार्थ नहीं होते थे।

इंद्रवज्रा के आरंभ में गुरुवर्ण तथा उपेंद्रवज्रा के आरंभ में लघुवर्ण होता है। शेष पाद समान होते हैं। किंतु कवियों ने इन विशुद्ध रूपों की उपेक्षा कर इनके मिश्रित रूप 'उपजाति' को ही अधिक अपनाया है। वंशस्थ और इंद्रवंश के पादों में अंतर यह होता है कि प्रथम के आरंभ में लघुवर्ण होता है, दूसरे के आरंभ में गुरु। दोनों के मिश्रण को उपजाति के अलावा वंशमाला भी कहते हैं। इस मिश्रण का उपयोग कम हुआ है और संभवतः १००० ई० के बाद का ही मिलता है।[१]

इस प्रकार के दो अन्य मिश्रण या उपजाति जयकीर्त्ति द्वारा उल्लिखित हैं। ये हैं सिंहप्लुत तथा प्रकीर्णक।[२] एक और छंद रमा है, जिसके पाद में एक वर्ण का लघु-गुरु विकल्प कवि के ऊपर छोड़ा गया है।[३] जयकीर्त्ति ने 'उपजाति' शब्द को जातिवाचक संज्ञा के रूप में ही प्रयुक्त किया है, अर्थात् किसी भी मिश्रित छंद को ये उपजाति कहते हैं।[४] अन्य छंदःशास्त्रकारों ने भी ऐसा माना है।[५]

अनुष्टुप्, पुराणकारों और महाकाव्यकारों के बीच व्यापक रूप से लोकप्रिय हुआ और अपनी व्यापक लोकप्रियता के कारण वह अर्द्धनियमित रूप में ही परिनिष्ठित हो गया तथा लौकिक कवियों के हाथों अधिक या पूर्ण नियमन से बच गया। अनुष्टुप् में, इसी से आज भी लघुगुरु-क्रम की छूट अन्य वेदांगत छंदों की अपेक्षा अधिक है। किंतु अनुष्टुप् ने भी वैदिक स्वर-संगीत को त्याग कर एक नये संगीत को अपनाया, जिसमें पादगत विशिष्ट स्थानों पर लघु-गुरु वर्णों के विभिन्नात्मक प्रयोगों का सहारा लिया गया था। इसीसे तो भवभूति ने अनुष्टुप् को वैदिक छंदों से भिन्न प्रकार के छंद का अवतारात्मक प्रतीत माना है।[६] त्रिष्टुप्-जगती, जिनके उत्तरांश के ४-५ वर्णों का लघुगुरु क्रम व्यवस्थित हो चुका था तथा पूर्वांश में लघुगुरुक्रम की वेदकालीन स्वच्छंदता बनी थी, अपेक्षाकृत कम समर्थ एवं लोकप्रिय कवियों के हाथों पड़ने के कारण अपने इस अर्द्धानुशासित रूप को सुरक्षित नहीं रख सके और शीघ्र ही लघुगुरुक्रमवाले नवीन संगीत के आलोक में रूपांतरित हुए, अर्थात्

---

१. एच० डी० वेलंकर : जयदामन, भूमिका, पृ० १४।

२. जयकीर्ति : छंदोऽनुशासन।२।१४८।१६५।

३. वही।६।३१।

४. वही।२।११७, १४५, १४८।

५. केदार : वृत्त-रत्नाकर।३।८१।
   हेमचंद्र : छंदोऽनुशासन।२।१५६, १५७।

६ भवभूति : उत्तररामचरित।२।५।१

उनके पूर्वांश का लघुगुरु वर्णमात्रा-क्रम भी व्यवस्थित हो गया। इस प्रकार वर्णवृत्तों की परंपरा प्रवर्तित हुई। किंतु इन छंदों के अर्द्धानुशासित रूप सर्वथा समाप्त नहीं हो गये, वरन् अपने सीमित क्षेत्र मे एक ओर तो चार समान पादों के अर्द्धव्यवस्थित छंदों के रूप में जीवित रहे, दूसरी ओर, उन्होंने, प्राकृत काव्य के प्रभाव से, अर्द्धसम छंदों को जन्म दिया जिनमें दो असमान पादों को मिलाकर अनुच्छेद की एक अर्द्धाली बनती है। इस वर्ग का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रतिनिधि वैतालीय छंद है, जो जैसा नाम से (वि+ताल) प्रकट है, चारण गायकों के बीच लोकप्रिय रहा, विशेषकर मगध के गायकों के बीच। क्योंकि वैतालीय का दूसरा नाम मागधिका भी है। 'वैतालिक' और 'मागध' शब्द सामान्य 'चारण' या 'गायक' अर्थ मे भी प्रयुक्त है। बहुत संभव है कि वैतालीय और इस वर्ग के अन्य छंद आरंभ में विशुद्ध प्राकृत के छंद थे और बाद में संस्कृत में अपनाये गये।[1] पिंगल के 'छंदःशास्त्र' में ये छंद परिभाषित हुए है,[2] इससे कहा जा सकता है कि संस्कृत में ये काफी पूर्व अपना लिये गये। वैतालीय प्रभृति छंद संभवतः मगध के उन पंडितों द्वारा प्रयुक्त हुए, जो जैन हो चुके थे और जिनकी रचना धार्मिक आवश्यकतावश प्राकृत में हुई थी। उनपर आंशिक रूप से वैदिक कवियो का, जो छंदःपादों के उत्तरांश को लघुगुरु-वर्णक्रम संगीत के आलोक में नियोजित करने लगे थे, लेकिन जिन्हें ताल का ज्ञान नही था, तथा आंशिक रूप से प्राकृत कवियों का, जो अपने छंदों की अर्द्धालियों को दो असमान लंबाई के पादों मे विभक्त किया करते थे, किंतु जो सदैव अपनी रचना को किसी प्रकार के ताल के, प्रायः चातुर्मात्रिक ताल के, आलोक में गठित करते थे,—इन दोनों का—प्रभाव पड़ा। धीरे-धीरे इस वर्ग के छंद वैदिक छंदों की तरह तालविहीन, किंतु उत्तरांश-मात्राक्रमव्यवस्थित-पादी बने और साथ ही प्राकृत कवियों के छंदों की तरह अर्द्धसम वृत्त के रूप में विकसित हुए। जैनों के 'उत्तराध्ययन सूत्र' का एक पूरा अध्याय इस प्रकार के छंद में निबद्ध है। इसका लेखक संभवतः एक संस्कृत पंडित था, जो जैन हो गया था।[3] पंडितों के हाथों किस प्रकार ताल-वृत्त सर्वथा तालविहीन बन जाता है, इसका उदाहरण मराठी का 'ओवी' छंद भी है।[4] इस प्रकार, अर्द्धव्यवस्थित अनुष्टुप् तथा वैतालीय छंद वैदिक स्वच्छंद छंदों तथा लौकिक संस्कृत के पूर्ण व्यवस्थित वर्णवृत्तों के बीच की महत्त्वपूर्ण संयोजक कड़ी है।

वैदिक साहित्य ने तीन छंद दिये—अनुष्टुप्, त्रिष्टुप् और जगती। लघुगुरु वर्ण संगीत की सहायता से, वर्णगत लघुगुरु उच्चारण की विभिन्न निश्चित योजनाओं के हमारे वेदोत्तर कवियों ने इनसे अनेकानेक छंद बना लिये। आरंभ में लौकिक वर्णवृत्त इन्हीं तीन अष्टाक्षर, एकादशाक्षर और द्वादशाक्षर पादवाले वैदिक छंदों के विशिष्ट लघुगुरु वर्ण-संयोग के सहारे बने। बाद में इनसे कम या अधिक लंबाई के पादों को भी वर्णवृत्त के इस नवीन संगीत के साँचे में ढाला गया। प्रातिशाख्यों में गायत्री से उत्कृति तक के वैदिक छंदों के विभिन्न नामोल्लेख द्वारा इसकी संभावना पूर्व ही निर्दिष्ट हो चुकी थी। प्रातिशाख्यों में

---

१. एच० डी० वेलंकर—जयदामन, भूमिका, पृ० १२।
२. पिंगल—छंदःशास्त्र।४।३२-३९।
३. एच० डी० वेलंकर—जयदामन, भूमिका, पृ० १३।
४. **H. D. Velankar—Apabhramsa and Marathi metres; New Indian Antiquery; Vol. I (July 1928), p. 215:**

पादगत वर्णसंख्या के आधार पर नहीं, वरन् पूरे छंद की वर्ण-संख्या के आधार पर ही छंद:जाति का नाम दिया गया था, पादों का स्वरूप चाहे सम हो या विषम, उनकी संख्या ३ हो या ४ या अधिक।[1] पादों की लंबाई सदैव समान नहीं होती थी। १३-१४ अक्षरों से अधिक लंबे पादवाले छंद वेदों में सामान्यतः नहीं मिलेते फिर भी विभिन्न लंबाई के पादों के संयोग के कारण ५६ या अधिक अक्षरों के लंबे अनुच्छेदों की उद्भावना हुई। दूसरी ओर लौकिक संस्कृत के कवियों ने अपने समय के युगव्यापी नियमानुशासन, व्यवस्था, विधिमूलकता और वर्गीकरण की प्रवृत्ति के कारण जिसने तद्युगीन बौद्धिक वर्ग को अभिभूत कर लिया था, चार समान पादोंवाले छंद:-प्रयोग का नियम-सा बना लिया था। इन कवियों ने विभिन्न लंबाई के अनुच्छेदोंवाले छंदों के नाम तो प्रातिशाख्यों से लिये, किंतु इन अनुच्छेदों को प्रायः सदैव चार समान पादों में विभक्त किया। इस प्रकार, गायत्री (तीन पादवाला छंद) के २४ अक्षरों को चार पादों में विभक्त कर षडक्षरीय पाद बनाया गया। इन चारों पादों में अक्षर-संख्या की समानता के साथ लघुगुरु-क्रम की समानता भी अपेक्षित होती थी। इस प्रकार २४ अक्षरा गायत्री जाति के अंतर्गत लघुगुरु क्रमभेद से कई वार्णिक छंद (जैसे विद्युल्लेखा,[2] सोमराजी,[3] तिलका,[4] विमोहा,[4] मालती,[5] शशिवदना,[3] मोहन,[6] तनुमध्या,[4] वसुमती,[4] मन्थान[4] आदि) उद्भूत हुए। इसी तरह और भी वैदिक छंदों की कुल अक्षर-संख्या के चतुर्थांश को पाद मानकर लघुगुरुक्रम भेद से अनेक छंदों-जातियों की उद्भावना हुई और थोड़े से वैदिक छंदों से असंख्य वर्ण-वृत्त उद्भूत हुए। द्रष्टव्य है कि संस्कृत लक्षणकारों ने छंद की एक पंक्ति के लिये 'पाद' (=एक चौथाई) शब्द का प्रयोग साभिप्राय किया है। वार्णिक छंदों की निम्नांकित २६ जातियाँ मानी जाती हैं। इनमें एक से पाँच वर्ण के पादवाले छंद नियमानुशासन की प्रवृत्ति के कारण निरूपित हैं। वस्तुतः, इनका व्यावहारिक उपयोग बहुत नहीं हुआ है।

पादगत अक्षरसंख्या	छंदोजाति	पादगत अक्षरसंख्या	छंदोजाति
१—	उक्ता	८—	अनुष्टुप्
२—	अत्युक्ता	९—	बृहती
३—	मध्या	१०—	पंक्ति
४—	प्रतिष्ठा	११—	त्रिष्टुप्
५—	सुप्रतिष्ठा	१२—	जगती
६—	गायत्री	१३—	अतिजगती
७—	उष्णिक्	१४—	शक्वरी

१. ऋक् प्रातिशाख्य। पटल १८।१-६०। (विशेषरूप से १७-१८)
२. कालिदास : श्रुतबोध।८।
३. गंगादास : छंदोमंजरी।२।६।३-४।
४. केदार : वृत्तरत्नाकर।३।६।
५. परमानंद : पिंगलपीयूष, पृ० ६१-६३।
६. रघुनंदन शास्त्री : हिंदी छंद-प्रकाश, पृ० ९३-९५।

१५—	अतिशक्वरी	२१—	प्रकृति
१६—	अष्टि	२२—	आकृति
१७—	अत्यष्टि	२३—	विकृति
१८—	धृति	२४—	सस्कृति
१९—	अतिधृति	२५—	अतिकृति
२०—	कृति	२६—	उत्कृति

इनमे उक्ता से लेकर प्रकृति जाति (१ से २१ वर्णो तक) के छद साधारण जातिक छद है। आकृति मे उत्कृति (२२-२६ वर्ण तक) के छद मवैया और २६ वर्ण से अधिक के छद दडक कहे जाते है।[1]

वदिक परपरा के अनुमरण के रूप मे लौकिक सस्कृत कवियो ने तथा प्रारभिक छद-शास्त्रकारो ने[2] गायत्री को लघुतम तथा उत्कृति को महत्तम छदोऽनुच्छेद माना है। गायत्री के सबध मे अतर यह हुआ कि पादगत अक्षरमख्या ८ के बजाय ६ मानी गई तथा पाद-मख्या ३ के बजाय ४। पिगल, भरत ओर जयदेव ने तनुमध्या (६ अक्षर) से आरभ कर भुजगप्रयात अथवा अपवाह (२६ अक्षर) पर समाप्त किया हे। २६ अक्षर मे अधिक के पादवाले छदो के लिए सामान्य नाम 'दडक' प्रयुक्त हुआ है। ६ अक्षरो से कम के पादवाले छद बाद मे स्वीकृत हुए। पिगल-जयदेव उनकी चर्चा तक नही करते। भरत उन्हे 'ध्रुव' के अतर्गत रखते है, जो प्राकृत गीतो मे प्रयुक्त होते थे कविताओं मे नही। केदार,[3] जयकीर्त्ति[4] तथा हेमचद्र[5] ने उनका नियमपूर्वक उल्लेख किया है। इनके कुछ पूर्व विरहाक ने भी इनका उल्लेख किया हे।[6] हेमचद्र और जयकीर्त्ति ने तो २६ अक्षरो से अधिक के पादवाले छदो को विशिष्ट नाम भी दिया हे जैमे लहरिका, जिसमे १० नगण और एक गुरु = ३१ अक्षरो के पाद होने है।[7]

दडको के प्रयोग सस्कृत मे अत्यत विरल है। भवभूति ने दो-एक स्थल पर प्रयोग किया है। अन्य सस्कृत कवियो मे बहुत ही कम प्रयोग मिलते है। फिर भी, यह नि-सदेह कहा जा सकता हे कि सस्कृत-काल मे छदो की सख्यावृद्धि के साथ ही साथ छद-पाद की लबाई भी बढी हे। वैदिक वाङमय मे महत्तम पाद की लंबाई १२-१३ अक्षर थी, जबकि पिगल के पूर्व ही २६-२७ अक्षर के पादवाले छंदो का आविर्भाव हो गया होगा; क्योकि पिगल ने ऐसे छद वर्णित किये है। २७ अक्षर के पादवाले छद को पिंगल ने दंडक कहा है।[8] जयकीर्ति, हेमचद्र और केदार ने तो, कहा जा चुका है कि, कई दडको

---

१. गंगादास : छंदोमंजरी ।२।
२. पिंगल, भरत, जयदेव।
३ वृ० र० ।२।
४. जकी० ।२।
५. हे० छं० ।२।
६. एच० डी० वेलंकर : जयदामन, भमिका, पृ० १९।
७. जकी० ।२।२७२।
८. पिं० ।७।३३-३६।

(२६ से अधिक अक्षरो के पादवाले छदो) का वर्णन किया है।[1] निश्चय ही ऐसे दडको का प्रयोग इन आचार्यो के रचनाकाल के पहले से होता आ रहा होगा।

वर्ण-वृत्त मे गण-प्रयोग

वर्णवृत्तो के लक्षणनिर्देश की सुविधा के लिए गणो का उपयोग हुआ। वार्णिक गणो के विकास के कारण और प्रक्रिया की विशद चर्चा हम इसी प्रबध मे पहले कर चुके हे[2] और हमने देखा हे कि किस प्रकार आठ गणो के उपयोग द्वारा वर्ण-वृत्तो के लक्षण-निर्देश मे सक्षेप तथा सुगमता हुई है। वर्ण-गणो मे तीनो वर्णो के लघुगुरु क्रम निश्चय रहने के कारण इन गणो के कथनमात्र से ही न केवल पादगत वर्ण-सख्या तथा मात्रा-सख्या का बोध होता हे, वरन् पादगत लघुगुरु क्रम का भी निश्चित बोध हो जाता है। उदाहरणत:, द्रुतविलबित छद के लक्षण के लिए 'न भ भ र'—ये चार अक्षर पर्याप्त है, क्योकि इनसे पाद की पूरी बनावट ध्वनित होती हे, जो इस प्रकार हे—

। । ।	ऽ । ।	ऽ । ।	ऽ । ऽ	१२ अक्षर
नगण	भगण	भगण	रगण	१६ मात्राएँ

सूत्रशैली मे रचित छदोलक्षण-ग्रथो के लिए लक्षण-निर्देश के निमित्त गणोल्लेख विशेष सुविधाजनक सिद्ध हुआ। पिगल, जयदेव, जयकीर्त्ति, हेमचद्र आदि आचार्यो ने गण-कथन द्वारा वर्णवृत्तो के लक्षण-निर्देश किये हे।[3] छद पादो का गणो के रूप मे विभाजन, गणो का नामकरण अथवा छद-परिचय के लिए गणो का उपयोग, स्पष्ट हे कि, कवियो ने नही, लक्षणकारो ने किया होगा। इसीसे, इस प्रबध के अतर्गत गणो के विकास और प्रयोग के सबध मे विस्तृत चर्चा यहाँ न की जाकर, प्रथम तथा दूसरे अध्यायो मे की गई है।

वर्णवृत्तों मे यति का प्रयोग

वैदिक त्रिष्टुप् और जगती छदो मे भी पढते समय कही-कही यति या ठहराव हम पाते हे, किंतु इन छंदो मे केवल उच्चारण या पाठ की सुविधा के लिए यति (या ठहराव) का उपयोग होता है और यह उपयोग अत्यत अनियमित है। लौकिक वर्णवृत्तो मे यति का उपयोग नियमपूर्वक होने लगा। यति का जन्म पाठ की सुविधा के विचार मे ही हुआ अवश्य होगा, किंतु, बाद मे यह एक रूढि या प्रथा-पालन बन गई। हेमचद्र ने यति को 'श्रव्य विराम' कहा है।[4] जयदेव इसे केवल 'विराम' कहते हे।[5] माडव्य, भरत, काश्यप और सैवत अपेक्षाकृत प्राचीन लेखको ने विराम को वैकल्पिक माना है, किंतु पिगल

---

१. जको ।२।२६५-२७५।
हे० छं० ।२।३८७-४०१।
वृ० र० ।३।१०७-१०९।

२. इस प्रबंध का प्रथम अध्याय, पृ० ३६-४२।

३. दे० इस प्रबंध का अध्याय २। पृ० ५७ : ६२; १७६; ८१।

४. हे० छं० ।१।१५।

५. जय० ।१।९।

और जयदेव ने इसे अनिवार्य माना है।[1] कविदर्पण का अज्ञात लेखक भी वर्ण-वृत्त में यति की अनिवार्यता स्वीकार करता है, यद्यपि वृत्त-जाति-समुच्चयकार विरहांक, स्वयंभू तथा कविदर्पण के भाष्यकार ने उसे वैकल्पिक ही माना है।[2] यति को संस्कृत-वृत्तों में अनिवार्य मानने की प्रवृत्ति कालांतर में बढ़ती गई। द्रष्टव्य है कि यति के समावेश द्वारा विभिन्न लंबाई की छांदस-संगीतिक इकाइयाँ (—लय-खंड) सामने आई, जिनका संगीत कभी-कभी बहुत लोकप्रिय हुआ। ये इकाइयाँ गण-रूप लक्षणों को देखने से नहीं पहचानी जा सकतीं; किंतु छंदों के वास्तविक पाठ द्वारा आसानी से अलग की जा सकती हैं। उदाहरणत: स्रग्धरा छंद में ये तीन लयखंड या इकाइयाँ हैं—

म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्त्तितेयम्।[3]

स्रग्धरा छंद में ही रचित उपर्युक्त लक्षण-निर्देशक पाद मे ७-७ वर्णों पर यति या विराम है। इन विरामस्थलों पर पाद के लयखंड समाप्त होते हैं। प्रथम लयखंड में म र ग है, द्वितीय में न न ग है और तृतीय में र र ग है। प्रथम लयखंड (म र ग) कई अन्य छंदों में आता है। जैसे, चंद्रलेखा छंद में। चंद्रलेखा छंद की परिभाषा उसी छंद के एक पाद में देखिए—

म्रौ म्यौ यांतौ भवेनां सप्ताष्टकैश्चन्द्रलेखा।[4]

इसमें ७-८ वर्णों पर यति या विराम से दो लयखंड बनते हैं। प्रथम लयखंड में यहाँ भी म र ग है जो स्रग्धरा के प्रथम लयखंड से सर्वथा समान है। यह लयखंड सुवदना छंद में भी मिलता है। सुवदना छंद का परिभाषामूलक पाद देखिये—

ज्ञेया सप्ताश्वषड्भिर्मरभनययुता भ्लौ गः सुवदना।[5]

इसमें ७-७-६ वर्णों पर यति है। प्रथम लयखंड यहाँ भी म र ग है। इसी तरह चंद्रशाला, लक्ष्मी, ज्योत्स्ना, जया और चित्रमाला छंदों में भी यह लयखंड आता है।

स्रग्धरा छंद का दूसरा लयखंड भी ३० से अधिक और तीसरा लयखंड लगभग १८ छंदों में आता है।[6]

यति द्वारा निर्णीत इस प्रकार के लयखंड अन्य छंदों में भी खोजे जा सकते हैं। इन लयखंडों के विशिष्ट संगीत की स्वीकृति द्वारा धीरे-धीरे लघुगुरुक्रम संगीत से पृथक् लय-संगीत का छंदों में समावेश हुआ और वार्णिक वृत्त मात्रिक छंदों में रूपांतरित हुए, यह हम आगे देखेंगे।

सम, विषम और अर्द्धसम वृत्त

लौकिक संस्कृत में चतुष्पादीय समवृत्तों का प्राधान्य रहा। फिर भी, विषम और अर्द्धसम वृत्त भी कालांतर में विकसित हुए।

---

१. स्वयं० ।१।१४४। [JBBRAS n. s. Vol. II 1935; p. 45]

२. वेलंकर: 'कविदर्पणम्' की भूमिका। [ABORI, Vol. XVI, 1934-35; p. 47]

३. वृ० र० ।३।९९।

४. वृ० र० ।३।८४।

५. वही ।३।९७।

६. एच० डी० वेलंकर: जयदामन (भूमिका) पृ० २०।

'छंदःशास्त्र' के पाँचवें अध्याय मे पिगल ने वृत्त के तीन भेद माने है—सम, अर्द्धसम और विषम।[1] इसका तात्पर्य यह हुआ कि पिगल के पूर्व अर्द्धसम और विषम वृत्त-भेद उल्लेख्यरूप से विकसित हो चुके थे।

अर्द्धसम छंद वेदों में भी मिलते है, जैसे सतोबृहती। किंतु, वैदिक अर्द्धसम छंद ही लौकिक संस्कृत के अर्द्धसम छंदों के रूप में विकसित हुए है, ऐसा कहने का आधार नहीं मिलता। दूसरी ओर यह अधिक संभव दिखाई देता है कि अर्द्धसम छंद संस्कृत में प्राकृत से आये है; क्योंकि प्राकृत छंदों में एक पंक्ति को दो असमान भागों में विभक्त करने की प्रवृत्ति अत्यंत स्पष्ट है। संस्कृत कवियो ने प्राकृत की इस प्रवृत्ति को अधिक व्यवस्थित रूप दिया।

अर्द्धसम वृत्त की संख्या समवृत्त की संख्या को उतने से ही गुणा करने से निकलती है।[2] विषम वृत्त की संख्या अर्द्धसम वृत्त की संख्या को उतने से ही गुणा करने से निकलती है।[3] किंतु, इन गुणनफल-रूपी संख्याओं मे मूलराशि संख्या घटा लेने से वास्तविक अर्द्धसम और विषम वृत्त-संख्याएँ निकलेंगी।[4] अश्वघोष (दूसरी शती ई०) ने दो अर्द्धसम वृत्तो का—वियोगिनी और मालभारिणी का—प्रयोग किया है।[5] पिंगल ने इन अर्द्धसम छंदों का उल्लेख किया है—उपचित्रक, द्रुतमध्या, वेगवगी, भद्रविराट्, केतुमती, आख्यानिकी, विपरीताख्यानिकी, हरिणप्लुता, अपरवक्त्र, पुष्पिताग्रा, यवमती।[6] जयदेव ने उपचित्रक, द्रुतमध्या, वेगवती, भद्रविराट्, केतुमती, आख्यानिका, विपरीताख्यानिका, हरिणप्लुता, अपरवक्त्र, पुष्पिताग्रा तथा यवध्वनि छंदों का उल्लेख किया है।[7] जयकीर्त्ति ने भी इन छंदों का उल्लेख किया है।[8] साथ ही इस वर्ग के कुछ अन्य छंद भी उनके ग्रंथ में आये है।[9]

हेमचंद्र ने अर्द्धसमवृत्तों का सर्वाधिक उल्लेख किया है। पिंगल द्वारा उल्लिखित छंदों के अतिरिक्त भी कई छंद आये है।[10]

विषमवृत्तों का उल्लेख पिंगल ने चार वर्गों में किया है—वक्त्र,[11] पदचतुरूर्ध्व,[12] उद्गता[13] और उपस्थित प्रचुपित।[14] ये छंद अपने प्रथम पाद की अक्षरसंख्या के वर्द्धमान क्रम से उल्लिखित है। वक्त्र छंदों के प्रथम पाद में आठ अक्षर होते है। इस वर्ग को अनु-

१. पिं० ।५।२।
२. पिं० ।५।३।
३. वही ।५।४।
४. वही ।५।५।
५. एच० डी० वेलंकर: जयदामन (भूमिका) पृ० २३।
६. पिं० ।५।३२-४४।
७. जय० ।५।२७-३९।
८. जकी० ।छं०। ३।२-१३।
९. वही ।३।१४-२५।
१०. हे० छं० ।३।१-३२।
११. पिं० ।५।९-१९।
१२. वही ।५।२०-२४।
१३. वही ।५।२५-२७।
१४. वही ।५।२८-३०।

ष्टुप् वक्त् का वर्ग कहा है और इसके कई भेद पथ्या, चपला, विपुला आदि कथित है। पदचतुरूर्ध्व वर्ग में भी प्रथम पाद में आठ अक्षर होते हैं किंतु उत्तरोत्तर पादों में ४-४ अक्षर बढ़ते जाते हैं। इन छंदों में अक्षरों के ह्रस्व-दीर्घ का कोई नियम नहीं है।[1] इसके भेद आपीड, प्रत्यापीड, मञ्जरी, लवली, अमृतधारा आदि कथित हैं। उद्गता के प्रथम पाद में १० अक्षर होते हैं। इसके भेद सौरभक और ललित हैं। उपस्थित प्रचुपित वर्ग के प्रथम पाद में १४ अक्षर होते हैं और उसके भेद वर्द्धमान और शुद्धविराड्ऋषभ कथित हैं।[2] पिंगल ने अनुष्टुप् वृत्तों के तीन भेद किये हैं: १—समानी, जिसमें गुरुलघु वर्णक्रम क्रम से आते हैं, २—प्रमाणी, जिसमें लघुगुरु वर्णक्रम क्रम से आते हैं, और ३—वितान, जिसमें लघुगुरु या गुरुलघु वर्णों का क्रम ऊपर लिखे हिसाब से नहीं होता। इस तीसरे वर्ग के भी दो भेद हो सकते हैं: १—जिसमें चारों पादों का लघुगुरुक्रम समान हो, २—जिसमें चारों पादों का लघुगुरुक्रम असमान हो। इस अंतिम भेद से ही विषम वृत्त की उद्भावना हो सकती है और इन्हीं से वक्त्र वर्ग के छंद उद्भूत हुए भी हे।[3] पिंगल के अनुसार जयदेव ने भी वक्त् वर्ग के छंदों को वितान के बाद ही रख कर मानों उसी से उनका उद्भव संकिकेत किया है।[4] जयकीर्ति ने विपम वृत्तों के तीन भेद माने हैं—समानाक्षर, ऊनाक्षर, अधिकाक्षर। समानाक्षर वक्त् वर्ग ही है। ऊनाक्षर में उद्गता और उपस्थित प्रचुपित वर्ग के कुछ छंद है तथा अधिकाक्षर पदचतुरूर्ध्व वर्ग है।[5] पिंगल, जयदेव आदि के ही अनुसार हेमचंद्र ने भी वक्त्र वर्ग के छंदों का वर्णन विपम वृत्त के आरंभ के रूप में किया है।[6] केदार ने वक्त्र वर्ग को मात्रिक छंदों के बीच स्थान दिया है।[7] पदचतुरूर्ध्व वर्ग के छंदों की विशेषताएँ ये हैं कि इनमें एक तो पादों की अक्षर-संख्याएँ विषम होती हुई भी चार से विभाज्य होती हैं—यह वैदिक गायत्री का प्रभाव हो सकता है; और दूसरे पादांतर्गत लघुगुरुक्रम का बंधन है ही नहीं—यह बात भी वैदिक प्रभाव सूचित करती है।

इस वर्ग के छंदों का वर्णन जयदेव,[8] जयकीर्त्ति,[9] हेमचंद्र,[10] और केदार[11] ने भी किया है।

उद्गता वर्ग के छंदों के चार पादों में अक्षर-संख्याएँ असमान, जैसे १०, १०, ११, १३ होती हैं, किंतु पादांतर्गत लघुगुरु क्रम निश्चित होता है, यद्यपि यह क्रम विभिन्न पादों में भिन्न-भिन्न हो सकता है। तीसरे पाद की लंबाई और बनावट में परिवर्त्तन द्वारा इस

---

१. हे० छं० ।५।२०।
२. वही ।५।३० तक।
३. एच० डी० वेलंकर: जयदामन (भूमिका)। पृ० २१।
४. जय० ।५।१-५, तथा ६-१५।
५. जकी० ।४।३-१५।
६. हे०—छं० ।३।३३-३९।
७. वृ० र० ।२।२१-३०।
८. जय० ।५।१६-२०।
९. जकी—४। १६-२८।
१०. हे०—छं०। ३। ४०-४४
११. वृ०र०। ५। १-५।

वर्ग के अन्य छंद प्रस्तुत होते हैं। एक भेद में तो केवल चौथे पाद में अक्षर-संख्या १३ के बजाय १० रखी जाती है, जिसमें अंतिम के सिवा सभी लघु वर्ण होते हैं। इस भेद का उल्लेख लक्षणकारों ने नही किया है, किंतु वह साहित्य में प्रयुक्त हुआ है।[१] उद्‌गता के अन्य भेद भी अश्वघोष (दूसरी शती ई०), भारवि, माघ, धनञ्जय, वीरनन्दिन्, पद्‌मगुप्त आदि द्वारा प्रयुक्त हुए हैं।[२] उद्‌गता वर्ग के छंदों का वर्णन पिंगल के अतिरिक्त जयदेव,[३] जयकीर्त्ति,[४] हेमचंद्र,[५] और केदार[६] ने भी किया है।

उपस्थित प्रचुपित के चार पादों में अक्षर-संख्याएँ क्रमशः १४, १३, ९ और १५ होती हैं, जो निश्चित लघुगुरु-योजना में निबद्ध होती हैं। उद्‌गता के समान इस वर्ग के इस प्रधान छंद में भी तीसरे पाद के परिवर्त्तन से इसके अन्य भेद मिलते हैं। पिंगल के अतिरिक्त जयदेव,[७] जयकीर्त्ति,[८] हेमचंद्र[९] और केदार[१०] ने इनका वर्णन किया है।

इन चार वर्गों से स्वतंत्र भी वार्णिक विषम वृत्तों का उपयोग लौकिक संस्कृत में हुआ है, जैसे वराहमिहिर के ग्रंथ 'बृहत्संहिता' में।[११] जयदामन में साहित्य में प्रयुक्त ऐसे छंदों का उल्लेख है।[१२]

विषम वृत्तों में वक्त्र तथा पदचतुरूर्ध्व वर्ग के छंदों पर वैदिक प्रभाव दिखाई देता है। शेष विषम वृत्तों की संभवतः स्वतंत्र उद्‌भावना हुई है।

वर्ण-वृत्तों के नामकरण का आधार

प्रस्तार-विधि से संभव सम, अर्द्धसम और विषम वर्ण-वृत्तों की संख्या अनंत है। इनमें से सभी छंदों का न तो कभी प्रयोग हो सकता था, न नाम-लक्षण-निरूपण। इनमें थोड़े, से छंद, जो कवियों को रुचिकर प्रतीत हुए, वास्तविक काव्य-प्रयोग में आये, और इन प्रयुक्त छंदों में से जो छंद लक्षणकारों को अपेक्षाकृत अधिक लोकप्रिय या महत्त्वपूर्ण जान पड़े, उन्हें उन्होंने छंदोलक्षण-ग्रंथों में स्थान दिया। इन्हीं छंदों के नाम और लक्षण बताये गये।

पिंगल, जयदेव, जयकीर्ति, हेमचंद्र, केदार आदि लक्षणकारों ने वर्णवृत्तों के जो नाम बताये हैं, वे मुख्यतः तीन प्रकार के हैं—

---

१. मंदारमंदरचम्पू।२३।६। (काव्यमाला-सीरीज; सं० ५२; १८९५।)
२. एच० डी० वेलंकर: जयदामन, भूमिका, पृ० २२।
३. जय० ।५।२१-२३।
४. जकी० ।४।३३-३६।
५. हे० : छं० ।३।४५-४७।
६. वृ० र० ।५।६-८।
७. जय० । ५।२४-२६।
८. जकी० ।४।३७-३९।
९. हे० : छं० ।३।४८-५०।
१०. वृ० र० ।५।९-११।
११. वरामिहिर: बृहत्संहिता ।१०३।
१२. वेलंकर: जयदामन।४।२६, २७, ३३, ३४।

(१) आधिक्य ऐसे नामो का है जिनके सूचक शब्द कामिनी के अंगों के उपमान के रूप में भी व्याख्येय अथवा उसकी महिलोचित विशेषताओं के व्यंजक हैं। उदाहरण— चंचलाक्षिका,[1] तनुमध्या,[2] विलासनी,[3] कांतोत्पीड,[4] सुवदना,[5] चलनेत्रिका,[6] सुमुखी[7] कामलतिका,[8] मदिराक्षी,[9] प्रमुदितवदना,[10] पद्ममुखी,[11] प्रियंवदा,[12] इन्दुवदना,[13] विधुवक्त्रा,[14] मृगचपला,[15] कमलदलाक्षी।[16]

इस वर्ग मे छंदों के वे नाम भी अंतर्भुक्त समझने चाहिए, जिनके बोधक शब्द प्राकृतिक दृश्य-व्यापारो मे संबद्ध तथा शृंगारिक वातावरण के व्यंजक या उसके अनुकूल हैं। जैसे, रतिलीला,[17] कामक्रीडा,[18] कुसुमितलतावेल्लि,[19] मदनसायक,[20] विपरीतभामा,[21] पुष्पविचित्रा,[22] कुसुमबाण,[23] वसंतश्री,[24] भ्रमरविलास,[25] कुसुमितकेतकीहस्त,[26] अशोक-पल्लवच्छाया,[27] अनंगलल्तिता,[28] मन्मथविलसित[29] आदि।

इस वर्ग के छंदों के नाम संभवत: उन शृंगारिक गीति-कवियों के प्रभाव की देन है जो अनुमानत: पिंगलाचार्य के युग में तथा कुछ पूर्व से नये-नये छंदों के विविध प्रयोग कर रहे थे।[30] किसी विशेष छंद के नाम का सूचक शब्द, हो सकता है, उसी छंद में रचित

---

१. पिं० ।६।३६।
२. पिं० ।६।२।
३. पिं० ।६।२६।
४. पिं० ।६।४०।
५. पिं० ।७।२३।
६. जय० ।६।४६।
७. जकी ।२।२२।
८. जकी० ।२।४५।
९. जकी ।२।८८।
१०. जकी ।२।१३०।
११. जकी ।२।१९९।
१२. वृ० र० ।३।५५।
१३. वृ० र० ।३।७६।
१४. हे० छं० ।२।६०।
१५. हे० छं० ।२।१२२।
१६. हे० छं० ।२।१५०।
१७. हे० छं० ।२।३२६।
१८. हे० छं० ।२।२६२।
१९. पिं० ।७।२१।
२०. जकी० ।२।२४७।
२१. जकी० ।३।२४।
२२. जय० ।६।४५।
२३. हे०—छं० ।६।२०।
२४. से २२ तक। वही।
२५. **Keith—A History of Sanskrit Literature; p. 48.**

काव्यानुच्छेद या पद्य मे प्रेम या शृंगार-वर्णन के प्रसंग में प्रमुख रूप से आया हो और बाद में लक्षणकार द्वारा उस छंदो-विशेष के नाम के रूप में स्वीकार कर लिया गया हो।

(२) वर्ण-वृत्तों के ऐसे नाम भी अनल्प हैं, जिनका संबंध शृंगारेतर प्रकृति-व्यापार, पशुपक्षी आदि से है। जैसे, जलोद्धतगति,[1] मत्तमयूर,[2] भुजंगप्रयात,[3] शार्दूलविक्रीडित,[4] वंशपत्रपतित,[5] भुजंगविजृंभित,[6] चंडवृष्टिप्रपात,[7] आदि।

छंदों के नाम के रूप में इस वर्ग में जो शब्द आते हैं वे एक ओर प्राकृतिक दृश्य-व्यापारों के सूचक हैं, दूसरी ओर उन छंदों की विशेष गति-भंगिमा या लक्ष्य-वैशिष्ट्य के व्यंजक भी। निम्नोद्धृत जलोद्धत गति नामक छंद की पंक्तियों की गति-लय जल के उद्धत प्रवाह से तुलनीय है—

जलोद्धतगतिर्यथैव मकस्तरङ्गनिकरं करेण परितः ॥[8]

इसी तरह भुजंगप्रयात छंद की गति-लय का साम्य भुजंग की चाल से है, तथा शार्दूलविक्रीडित छंद की गतिलय का साम्य सिंह की क्रीडायुक्त चाल से है। वंशपत्रपतित छंद के पाठ से वैसी ही क्षिप्र और द्रुत ध्वनि होती है, जैसी बाँस के पत्तों के गिरने से—

दिङ्मुनि वंशपत्रपतितं भरनभनल्गैः।[9]

इस वर्ग के अंतर्गत छंदों के नामकरण लक्षणकारों ने छंदों की गति-लय से तुलनीय प्राकृतिक उपकरणों, पशुपक्षियों आदि के आधार पर इस दृष्टि से किया होगा कि छंदों के नाम से ही उनकी गति-लय की यथासंभव व्यंजना भी हो सके।

(३) तीसरे वर्ग में वे नाम आते हैं, जिनका संबंध न तो शृंगार-काव्य में वर्णित नायिका की अंगछवि से अथवा प्रेमचर्या से है और न शृंगारेतर प्राकृतिक दृश्य-व्यापारादि से, किंतु जो छंदोगत सांगीतिकता, गतिलय अथवा रचना-वैशिष्ट्य के व्यंजक हैं। जैसे, द्रुतविलंबित,[10] मंदाक्रांता,[11] वितान,[12] पदचतुरूर्ध्व,[13] त्रिभंगी[14] आदि। द्रुतविलंबित छंद के चरण में वर्णोच्चारण पहले द्रुत गति से, फिर विलंबित गति से होता है—

---

१. पिं० ।६।३३।
२. पिं० ।७।३।
३. पिं० ।६।३७।
४. पिं० ।७।२२।
५. जय ।७।१५।
६. जय ।७।३०।
७. जय ।७।३३।
८. पिंगल : 'छंदःशास्त्र', पृ० १४०। काव्यमाला ९१। निर्णयसागर प्रेस, १९३८।
९. जय ।७।१५।
१०. पिं० ।६।३०।
११. पिं० ।७।१९।
१२. पिं० ।५।८।
१३. पिं० ।५।२०।
१४. जकी ।२।२६८।

द्रुतविलंबितमाहनभौभरौ।[1]
।।।ऽ।।ऽ।।ऽ।ऽ

प्रथम तीन मात्रा-काल में तीन वर्ण उच्चरित हो जाते हैं। अंतिम तीन वर्णों के उच्चारण के लिए पाँच मात्राकाल की अवधि अपेक्षित होती है। इसी प्रकार, मंदाक्रांता की वर्णोच्चारण-गति पहले मन्द और फिर तेज होती है—

मंदाक्रान्ता जलधिपडगैर्म्भौ ननौ ताद्गुरू चेत्।[2]
ऽऽऽऽ ।।।।।ऽऽ ।ऽ ऽ।ऽ ऽ

मंदाक्रांता के उद्धृत चरण में प्रथम चार वर्णों के उच्चारण में आठ मात्राकाल व्यतीत होते हैं, जबकि इसके बाद के चार वर्णों का उच्चारण केवल चार मात्राकाल में अपेक्षित होता है। पदचतुरूर्ध्व नाम द्वारा छंद के चार पादों में वर्णसंख्या का न्यूनताधिक्य व्यंजित है और त्रिभंगी में पादांतर्गत विराम और यमक के कारण त्रिविध भंगिमा की ओर संकेत है।

इस वर्ग में आनेवाले छंदों के नाम स्पष्ट ही छंदों की किसी न किसी विशेषता का उद्घाटन करनेवाले और उसी पर आधृत हैं। ये नाम निश्चय ही लक्षणकारों की सूक्ष्म उद्भावना-शक्ति के परिचायक हैं।

वर्णवृत्तों मे अधिकांश के नाम ऐसे हैं, जो उपरिनिर्दिष्ट तीन वर्गों मे से किसी एक में अंतर्भुक्त किये जा सकते हैं। थोड़े छंद ही ऐसे होंगे, जिनके नाम के आधार इनसे भिन्न तथा विशिष्ट परिस्थिति-सापेक्ष हों।

---

१. वृ० र० ।३।४८।
२. वृ० र० ।३।९१।

प्रकरण ४

संस्कृत और प्राकृत की छंदःपरंपराएँ

भारत में अत्यंत प्राचीन काल से स्पष्टतया दो भिन्न छंदःपरंपराएं व्यवहार में रही हैं। (१) एक के अंतर्गत वैदिक अक्षर (या स्वर) वृत्त तथा उसी से विकसित संस्कृत काव्यादि में प्रयुक्त वर्णवृत्त हैं। संस्कृत की इन दोनों छंदः-प्रणालियों में अक्षर या वर्ण लघुतम इकाई है। इन प्रणालियों के छंद प्रायः परिनिष्ठित साहित्य में प्रयुक्त होते आये हैं।

(२) दूसरी परंपरा के अंतर्गत प्राकृत के छंद हैं, जिनमें अक्षर (या वर्ण) नहीं, वरन् मात्रा लघुतम इकाई है। इन छंदों का व्यवहार आरंभ में दीर्घकाल तक जनसाधारण के बीच लोकगीतनृत्यादि में होता रहा है। ये छंद सामान्य, व्यावहारिक लोक-जीवन की उपज हैं, और आरंभ में ही अत्यंत गीतात्मक रहे हैं।

अक्षर और वर्णवृत्त

संस्कृत के छंदों की चर्चा ऊपर विस्तृत रूप से की गई है। हमने देखा है किस प्रकार वेदों का अक्षरवृत्त, जिसमें प्रायः अक्षरों की स्थूल गिनती पर्याप्त थी, परिनिष्ठित संस्कृत के वर्णवृत्त के रूप में विकसित हुआ। वर्णवृत्त में अनुच्छेदगत या पादगत अक्षर-संख्या के अतिरिक्त वर्णों का लघुगुरु-क्रम भी प्रायः निश्चित होता है तथा छंदः-सांगीतिकता का प्रधान आधार होता है। वैदिक छंदों के स्वर-संगीत का स्थान वर्णवृत्त के इस लघु-गुरुवर्ण-संगीत ने ले लिया है। वर्णवृत्त में वर्णसंख्या तथा क्रम-संबंधी प्रतिबंध कठोर थे। परिनिष्ठित छंदःपरंपरा के छंदों में वेदकालीन स्वच्छंदता नहीं रह गई थी; अतएव इन छंदों का व्यवहार शिक्षित रचयिताओं के बीच ही सीमित रहा, जन-साधारण इन्हें नहीं अपना सका।

तालवृत्त

इधर लोकजीवन में एक सर्वथा भिन्न छंदःप्रणाली व्यवहृत थी, जिसमें मात्रा लघुतम इकाई थी। इन मात्रामूलक छंदों में केवल मात्राओं की संख्या निश्चित रहती है, वर्णों का लघुगुरु होना रचयिता की स्वेच्छा पर निर्भर होता है। (१) इस विकल्प के कारण इन छंदों में शब्द-चयन आदि की अधिक स्वच्छंदता है। (२) इसके अतिरिक्त मात्रा-मूलक छंद अधिक गेय अथवा गीतोपयोगी हैं। गाने में निश्चित काल का हिसाब बहुत आवश्यक है। काल का हिसाब मात्राओं के सहारे रखा जा सकता है, वर्णों के सहारे नहीं; क्योंकि एक मात्रा की कालावधि निश्चित है, किंतु एक वर्ण की अनिश्चित—वह एक मात्रा के बराबर भी हो सकती है, दो मात्राओं के बराबर भी। संभवतः, इन्हीं दो कारणों से प्राकृत कवियों के बीच, जो प्राकृत काव्य के प्रारंभिक दिनों में जनसाधारण के बीच से आये थे, ये मात्रामूलक छंद ही लोकप्रिय रहे। गीत लोकप्रिय कला है और प्रारंभिक प्राकृत छंदोरचनाओं में लोकप्रिय गीतादि का प्रचुर प्रभाव पड़ा होगा। संस्कृत-नाटकों से स्पष्ट है कि मात्रिक छंदों में सर्वाधिक प्राचीन छंद आर्या या गाथा का उपयोग नाटकों के

आरंभ में नटी द्वारा गाये जाने के लिए होता था। आरंभ में नाटक-मंडलियों के साथ चारण आदि कुछ प्राकृत लोक-कवि रहा करते थे, जो ऐसे गीतों की रचना करते थे। इससे स्पष्ट है कि अशिक्षित जनसामान्य द्वारा लोकरंजन के लिए व्यवहृत इन लोकछंदों में गीतात्मकता आरंभ से ही रही है और इस गीतात्मकता के लिए जो कालपरिमाण की निश्चित योजना अपेक्षित है, उसकी रक्षा छंद में मात्रामूलकता द्वारा ही संभव है।

प्रारंभिक प्राकृत में प्रयुक्त इन छंदों का विकास सदैव शिक्षित-वर्ग के प्रभाव से मुक्त रूप में लोक के बीच होता रहा, ऐसा नहीं कहा जा सकता। कालांतर में शिक्षित-वर्ग भी लोकछंदों से प्रभावित हुआ और उसने लोकछंदों को प्रभावित किया। इस परस्पर प्रभावप्रेषणीयता के कारण मात्रामूलक छंदों की दो प्रणालियाँ बन गई, जिन्हें हम मात्रा-वृत्त और तालवृत्त कह सकते हैं। परंपरागत लोकछंद ताल-प्रधान थे। मात्राओं की निश्चित योजना उन में ताल की रक्षा के लिए होती थी। शिक्षित रचयिताओं ने जब ताल-छंदों की दिशा में हाथ आजमाया, तब परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा एक सर्वथा नवीन छंदःप्रणाली उद्भूत हुई, जिसे हम मात्रावृत्त कहते हैं। मात्रावृत्त में न तो पादगत वर्णों की निश्चित संख्या या निश्चित क्रम अनिवार्य है, न ताल-तत्त्व ही। इन छंदों में पादगत मात्राओं की निश्चित संख्या के साथ लयवैशिष्ट्य-मात्र अपेक्षित हुआ। इस लयवैशिष्ट्य की रक्षा का विधान विशिष्ट स्थानों पर गुरु-वर्णों के निषेध द्वारा अथवा मात्रिक गणों के निर्देश द्वारा किया जाता है।

तालवृत्त आरंभिक प्राकृत युग में लोक-जीवन के बीच व्यवहृत प्राचीन, परंपरागत छंदः-प्रणाली है। मात्रा-वृत्त उसके प्रभाव से उद्भूत वर्णवृत्त के संस्कारों से अभिषिक्त शिक्षित या अभिजात वर्ग द्वारा प्रयुक्त, परिनिष्ठित प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य के बीच विकसित छंदःप्रणाली है। ये दोनों प्रणालियाँ प्राकृत छंदःपरंपरा के अंतर्गत समझी जा सकती हैं; क्योंकि दोनों के बीच एक समान तत्त्व है, मात्रामूलकता।

मात्रावृत्त का उद्भव शिक्षितों की वर्णमूलक छंदःपरंपरा के ऊपर तालमूलक लोकछंदों के प्रभाव या प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप हुआ, इस मान्यता की पुष्टि अगले प्रकरण में युक्तियों और उदाहरणों के सहारे की जायगी। यहाँ पर इस संबंध में इतना ही कह देना अभीष्ट है कि एकमात्र छंद संबंधी प्राचीनतम लक्षणग्रंथ पिंगलाचार्य के 'छंदःशास्त्रम्' के चतुर्थ अध्याय में, जहाँ आर्या, वैतालीय और मात्रासमक वर्ग के मात्रिक छंदों का सभेद विवेचन है, इन मात्रिक छंदों को लौकिक कहा है—'अत्र लौकिकम्'.[1] जिससे यह ध्वनि निकलती है कि ये छंद लोक (=जनसाधारण) के बीच प्रयुक्त होते थे; अतएव इनका मूल भी लोक के बीच ही खोजना चाहिए।

---

१. पिं० छं०।४।८।

प्रकरण ५
मात्रावृत्त

मात्रावृत्त की उत्पत्ति

मात्रावृत्त की उत्पत्ति क्यों हुई ? किन परिस्थितियो ने इसकी पीठिका प्रस्तुत की तथा किन तत्त्वों या प्रवृत्तियों ने इसमें योगदान किया ? वर्णवृत्तों से पृथक् मात्रिक छंदों की प्रणाली क्यों प्रवर्तित हुई और इस प्रणाली को अपेक्षाकृत अधिक लोकप्रियता क्यो प्राप्त हुई ? ये प्रश्न प्रस्तुत प्रसंग में विचारणीय है।

तालवृत्त और उसका प्रभाव

ऊपर संकेत किया गया है कि अपभ्रंश-हिंदी में प्रयुक्त मात्रिक छंद संस्कृत वर्णवृत्त और तालवृत्त की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया का परिणाम है। तालवृत्त लोक के बीच उत्पन्न हुआ होगा और प्राकृत-युग के लोकगीतनृत्यादि में इसका प्रयोग होता होगा, ऐसा अनुमान निराधार नहीं। बात यह है कि संगीत के दो अनिवार्य तत्त्वों—स्वर और ताल—में शिक्षित-वर्ग ने स्वर को जो महत्त्व दिया, वह लोकगीतनृत्यादि में जनसामान्य ने नही दिया। इन्होंने ताल को ही महत्ता प्रदान की। स्वर की अपेक्षाकृत सूक्ष्मता और ताल की सापेक्ष्य स्थूलता की दृष्टि से यह स्वाभाविक भी था। आज भी प्राचीन लोकजीवन के प्रतीक या अवशेष रूप में जो आदिम जातियाँ बची हैं, उनके छंदों में सांगीतिकता का प्रधान आधार ताल ही है। सुदूर अतीत में ही लोकछंदों की सांगीतिक शक्ति से आकृष्ट होकर तथा वर्ण-वृत्त की अपेक्षा इनमें शब्द-चयन की अधिक स्वच्छंदता देखकर प्राकृत-अपभ्रंश के शिक्षित छंदोरचयिताओं ने, जिनपर वर्णवृत्तों के विशिष्ट संगीत के संस्कार वर्त्तमान थे, लोकछंदों की रचना का प्रयास बहुत पुराने जमाने में किया होगा। इस प्रयास में उन्हें जो कठिनाई अनुभूत हुई होगी, उसकी व्याख्या नीचे की जा रही है।

इस कठिनाई को समझने के लिए तालवृत्त की प्रकृति को अच्छी तरह समझ लेना आवश्यक है।

तालवृत्त में सांगीतिक माधुर्य का प्रधान आधार तालगणों की बलाघातपूर्ण नियमित आवृत्ति है। स्वर-संगीत, जिसमें स्वरों के आरोह-अवरोह (Pitch) का नियम रहता है, इसमें नगण्य है। इसी प्रकार वर्णों के लघुगुरुक्रम-विशेष द्वारा उत्पन्न संगीत भी, जैसा वर्णवृत्त में हम पाते हैं, इसमें महत्त्व का नहीं। संगीत के ये प्रकार ताल-संगीत के साथ रह सकते तथा उसकी सहायता कर सकते हैं, और कभी-कभी करते भी हैं, किंतु ये ताल-वृत्त की न तो प्रमुख विशेषताओं में से हैं और न उसके लिए अनिवार्य हैं। वर्ण-संगीत शिक्षित-वर्ग की देन है, स्वर-संगीत भी आत्यंतिक सूक्ष्मता से युक्त होने के कारण समुदायविशेष की वस्तु रहा है। लोक, अर्थात् जनसाधारण के बीच लोकप्रियता ताल-संगीत की ही रही है; क्योंकि वह अशिक्षित व्यक्तियों के लिए भी स्वर अथवा वर्ण-संगीत की तुलना में सहज-ग्राह्य है।

ताल-संगीत पर्याप्त प्राचीन है। अद्यापि, अवशिष्ट आदिम जातियों के, जिनकी संस्कृति पर परिवर्त्तनशील काल के प्रभाव-चिह्न अपेक्षाकृत कम दृष्टिगत हैं, नृत्यगीतादि में ताल-

संगीत का प्राधान्य है। हम अनुमान कर सकते है कि ताल-संगीत का उद्भव लोक के बीच नृत्य के अंतर्गत नियमित अंग-संचालन की प्रक्रिया में या उसकी आवश्यकता के फलस्वरूप हुआ होगा। नृत्य के अतिरिक्त साधारण लोकगीतों में भी तालयुक्त अंग-संचालन सामान्य जनमन के लिए अत्यंत आकर्षक होता है। लोककवि इस आकर्षण के समावेश के लिए अंग-संचालन में निहित तालात्मकता के स्थान पर स्वाभाविक रूप से ध्वनि या मौलिक उच्चारण की तालबद्धता को स्थान देने लगे होंगे और इस प्रकार तालवृत्त का सूत्रपात हुआ होगा।

तालवृत्त में वर्णवृत्त अथवा मात्रावृत्त से भिन्न प्रकार का संगीत निहित होता है, जिसकी सृष्टि समान तालगणों के बलाघातपूर्ण (अर्थात् बलात्मक स्वराघात[1] से युक्त) आवर्त्तन द्वारा होती है। तालवृत्त में बलाघात प्रायः नियमपूर्वक कालगत समान अंतर पर होता है; क्योंकि प्रत्येक तालगण में बलाघात एक बार निश्चित स्थान पर होता है। अक्सर यह बलाघात प्रत्येक गण की प्रथम मात्रा पर होता है, किंतु कभी-कभी तृतीय मात्रा पर भी बलाघात देखा जाता है।

तालवृत्त की एक पंक्ति कई तालगणों में विभक्त होती है। एक तालगण में कई वर्ण हो सकते हैं, जिनके उच्चारण मे व्यतीत समय का परिमाण (काल-मात्राओं की संख्या) निश्चित होता है। उदाहरण के लिए सप्तमात्रिक ताल गण में वर्ण चार, पाँच, छ या सात हो सकते है किंतु उनकी लघुगुरु-योजना ऐसी होगी कि कुल मिला कर उनके उच्चारण का मान सात मात्राओं के बराबर होगा। प्रत्येक तालगण दूसरे तालगण से पृथक् रखा जाता है, अर्थात् पूर्ववर्त्ती तालगण की अंतिम मात्रा परवर्त्ती तालगण की प्रथम मात्रा से मिल कर गुरु वर्ण के रूप में नहीं रह सकती।

'मात्रा' शब्द से सामान्यतः 'वर्णमात्रा' अर्थ लिया जाता है, किंतु तालवृत्त के प्रसंग में इसका अर्थ 'काल-मात्रा' लेना चाहिए। कालमात्रा और वर्णमात्रा में अंतर है।[2] एक लघु वर्ण के उच्चारण में जितना समय (Time) लगता है उसे काल-मात्रा कहते हैं; एक लघु वर्ण के उच्चारण में जो ध्वनि (Content) होती है, उसके परिमाण को वर्णमात्रा कहते हैं। वर्णमात्रा की दृष्टि से वर्ण का रूढ़, विशुद्ध, शास्त्रीय रूप में उच्चरित होना जरूरी है। कालमात्रा की दृष्टि से वर्ण का रूढ़, विशुद्ध उच्चारण अनिवार्य नहीं। उदाहरण के लिये 'पंकज' शब्द को लें, जिसके प्रथम वर्ण में वर्णमात्राओं की संख्या दो तथा दूसरे-तीसरे में एक-एक है। वर्णमात्राओं की संख्या सर्वथा निश्चित है, किंतु तालवृत्त के अनुशासन में बाँधने के लिए हो सकता है कि दीर्घ 'पं' का ह्रस्व अथवा प्लुत[3] उच्चारण करना पड़े तथा ह्रस्व 'का' या 'ज' का दीर्घ अथवा प्लुत उच्चारण करना पड़े। ऐसी दशा में उक्त वर्ण की कालमात्राओं की संख्या वर्णमात्राओं की संख्या से निश्चय ही भिन्न हो सकती है।

तालगण में कालमात्राओं की निश्चित संख्या होती है, मात्रिक गण में वर्णमात्राओं की निश्चित संख्या होती है। तालगण में सभी वर्ण उच्चरित हों, यह भी जरूरी नहीं। ताल-

---

१. दे० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा : हिंदी भाषा का इतिहास, पृ० २१६-२२१।
२. दे० प्रथम अध्याय। 'ताल'।
३. दे० प्रथम अध्याय। 'मात्रा'।

छंद का गायक मौन या विराम द्वारा भी अपेक्षित समय की पूर्त्ति कर लेता है। अक्सर तालगण के अंदर वर्णमात्राओं तथा कालमात्राओं के अंतर की पूर्त्ति के लिए वर्णों के रूढ लघुगुरुस्वरूप में स्वेच्छापूर्वक परिवर्त्तन तथा प्लुत उच्चारण का सहारा लिया जाता है। मात्रिक गण में वर्णमात्राओं का हिसाब रहता है, इसलिए सभी वर्णों का रूढ, शास्त्रसम्मत शुद्ध उच्चारण अथवा उनके रूढ, लघुगुरुस्वरूप की तद्वत् स्वीकृति आवश्यक है।

यह बात दोहा छंद के उदाहरण से स्पष्टतर हो जायगी। दोहा अर्द्धसम मात्रिक छंद कहा गया है, जिसके प्रथम तथा तीसरे पादों में १३-१३ और दूसरे तथा चौथे पादों में ११-११ मात्राएँ होती हैं।[1] कुल मात्रा-संख्या ४८ होती है। मात्रिक गणों की दृष्टि से इसके पादों की बनावट दो प्रकार की हो सकती है[2]—

विषम पाद—(१) ३+३+२+३+२ =१३ मात्राएँ

(२) ४+४+३+२ =१३ मात्राएँ

सम पाद —(१) ३+३+२+३ =११ मात्राएँ

(२) ४+४+३ =११ मात्राएँ

अथवा, गणस्वरूप इस प्रकार भी हो सकते हैं[3]—

विषम पाद—६+४+३ =१३ मात्राएं

सम पाद —६+४+१ =११ मात्राएं

किसी भी दशा में किसी पाद-विशेष में सभी मात्रिक गणों के स्वरूप एक समान नहीं हैं। ऊपर के विकल्पों में कोई ऐसा पाद नहीं है, जिसमें एक ही मात्रिक गण आरंभ से अंत तक प्रयुक्त हो। द्वैमात्रिक, त्रैमात्रिक, चातुर्मात्रिक और षाण्मात्रिक गणों में से एकाधिक गण का प्रयोग प्रत्येक पाद में द्रष्टव्य है। यह मात्रिक छंद की विशेषता है।

तालवृत्त में ऐसा नहीं होता। उसमें एक ही तालगण आरंभ से अंत तक रखना अनिवार्य है। दोहा जब तालमात्राओं द्वारा अनुशासित होकर गाया जाता है, तब वह तालवृत्त के रूप में उपस्थित होता है। ताल-वृत्त के रूप में दोहा के प्रत्येक पाद में अष्टमात्रिक दो तालगणों की योजना अपेक्षित है—

८+८; ८+८ ।

८+८; ८+८ ॥

अर्थात् दोहे की कुल मात्रा-संख्या ६४ होगी। वर्णमात्राओं की कुल संख्या ४८ होकर भी तालमात्राओं (या कालमात्राओं) की कुल संख्या ६४ हो सके, इसके लिए १६ कालमात्राओं की कमी की पूर्त्ति विराम (मौन) अथवा विशिष्ट वर्णों के प्लुत उच्चारण द्वारा की जाती है।

उदाहरण के लिए तुलसी का निम्नोद्धृत दोहा देखें, जिसका विश्लेषण हमने तालवृत्त के रूप में किया है—

---

१. प्रा० पैं० ।१।७८।

२. भा० छं० प्र० । पृ० ८४।

३. भू० छं० हृ० प्र० (हस्तलिपि) । पृ० ३३क।

राम नाम मणि-। दीप धरु × × × ।

जीह देहरी। द्वा × × × × × र।

तुलसी भीतर। बाहिरहु × × × ।

जो चाहसि उजि। या × × × × × र।।[1]

प्रत्येक (×) एक मात्रा का सूचक है। जिस मात्रा पर बलाघात अपेक्षित है, उसके ऊपर (/) चिह्न लगाया गया है। प्रत्येक बलाघात द्वारा नये तालगण के आरंभ की सूचना मिलती है। गाने में इन स्थलों पर हथेली, मँजीरे या तबले के सहारे ताल देते हैं।

गेय रूप में इस दोहे के प्रत्येक पाद में दो अष्टमात्रिक तालगण रहते हैं। प्रथम, तृतीय, पंचम और सप्तम तालगण-रूपी इकाइयों में वर्णमात्राओं और कालमात्राओं की संख्या समान है। इनमें से प्रत्येक में वर्णमात्राएँ भी आठ हैं और कालमात्राएँ भी आठ हैं। किंतु दूसरी तथा छठी इकाइयों (तालगणों) में से प्रत्येक में वर्णमात्राओं की संख्या ५ है और ताल-मात्राओं की संख्या ८। तीन तालमात्राओं की कमी की पूर्त्ति विराम या प्लुत उच्चारण के द्वारा की जाती है। दूसरे ताल-गण में 'धरु' का 'रु' वर्णमात्रा की दृष्टि से ह्रस्व है, किंतु तालपूर्त्ति के उद्देश्य से अक्सर इसका प्लुत उच्चारण किया जाता है, जिसका परिमाण चार मात्राएँ है। अर्थात्, तीन मात्राओं की कमी की पूर्त्ति ऐकमात्रिक वर्ण के चातुर्मात्रिक उच्चारण द्वारा होती है। चूंकि 'रु' शब्दांत में है, इसलिये उसके चातुर्मात्रिक उच्चारण के बजाय ऐकमात्रिक उच्चारण कर शेष तीन मात्राओं की पूर्त्ति विराम द्वारा कर लेने का विकल्प भी गायक को प्राप्य है। चौथी और आठवीं इकाइयों में विराम का विकल्प नहीं; क्योंकि गाने में प्लुत उच्चारण शब्दांतेतर वर्ण 'द्वा' और 'या' का होता है। 'द्वा' अथवा 'या' गुरु या द्वैमात्रिक वर्ण है, किंतु उसका उच्चारण प्लुत रूप में सात मात्राकाल तक होता है। इस प्रकार तालगणांतर्गत पाँच मात्राओं की कमी पूरी हो जाती है।

प्लुत उच्चारण का सहारा तालवृत्त में ताल की (अर्थात् तालगणों के स्वरूप की) रक्षा के लिए अनिवार्यतः लेना पड़ता है। लिखित रूप से लघु और गुरु की तरह प्लुत-रूप में उच्चरित वर्णों के लिए अलग लिपिचिह्न या संकेत निर्द्धारित नहीं है। उदाहरणतः 'क' लघुवर्ण है, 'का' दीर्घ—आकार की मात्रा द्वारा दीर्घत्व सूचित है; किंतु जब 'का' का उच्चारण ३, ४ या ५ मात्राकाल तक किया जाता है, जैसा संगीत में या तालछंद में अक्सर किया जाता है, तो उसे लिखित रूप में सूचित करने का कोई निश्चित और सुगम साधन नहीं। इसीलिए लिखित साहित्य में प्लुत उच्चारण की उपेक्षा हुई, और शिक्षित-वर्ग के कवियों का ध्यान लघु और गुरु तक ही सीमित रहा। किंतु, अलिखित लोक-काव्य में, जहाँ वर्णों का उच्चरित या मौखिक स्वरूप ही प्रधान होता है, लिपि में प्लुत-चिन्ह के

---

१. तुलसीदास: रामचरितमानस।१।२१। (गीता प्रेस, गोरखपुर)

अभाव के बावजूद तालयोजना के लिए प्लुत उच्चारण का उपयोग होता रहा और ताल-वृत्त-विधान में कोई बाधा नहीं उपस्थित हुई। लोककाव्य में तालरक्षा के लिए जो वर्ण लिखितरूप में ऐकमात्रिक (लघु) हैं उनका द्वैमात्रिक (गुरु) या बहुमात्रिक (प्लुत) उच्चारण तथा इसी प्रकार जो वर्ण लिखित रूप में द्वैमात्रिक (गुरु) हैं, उनका ऐकमात्रिक (लघु) या बहुमात्रिक (प्लुत) उच्चारण की स्वच्छंदता बनी रही। कारण यह है कि अशिक्षित जनसाधारण वर्णों के इन रूढ लिखित स्वरूपों से प्राय: अपरिचित होता है और छंद:-प्रयोग में उन वर्णों के वर्णमात्रिक स्वरूप की अपेक्षा कालमात्रिक स्वरूप के प्रति ही सचेत रहा करता है। लोक-व्यवहार से वर्ण का यह कालमात्रिक स्वरूप ताल की आवश्यकता के अनुसार लघु, गुरु या प्लुत हो सकता है। वर्णों के लिखित स्वरूप अथवा उनके मात्रिक मूल्यों से इस प्रकार अपरिचित और उनके प्रति उपेक्षाशील होने के कारण लोक-कवि समान कालखंडों के अंतर पर ताल या बलाघात द्वारा ही छंदोगत लय-माधुर्य का समावेश करता है। वह एक तालगण में आनेवाली कुल कालमात्राओं की पूर्त्ति के लिए सुविधापूर्वक चाहे जितने वर्ण रख लेता है।

किंतु शिक्षित कविगण, परिनिष्ठित काव्य में वर्णों के लिखित मात्रिक स्वरूप की अव-हेलना नहीं कर सकते। वे पादांतर्गत प्रत्येक गण में आये हुए वर्णों के लिखित मात्रिक स्वरूप का ही हिसाब करेंगे। इस दशा में गण के अंदर न तो प्लुत के लिए अवकाश होगा, न विराम के लिए। गण में जितने भी वर्ण आयेंगे, उनमें से प्रत्येक की उतनी ही मात्रा मानी जायगी, जितनी उसके लिखित रूप में संभव है तथा, उसके उच्चारण में भी लिखित स्वरूप के अनुसार ही मात्राकाल व्यतीत होगा। अर्थात्, शिक्षित कविजन शास्त्रा-भ्यास-जनित संस्कारों के कारण वर्णों के रूढ, लिखित मात्रिक स्वरूप में तालगत उच्चारण की आवश्यकता के अनुसार परिवर्त्तन नहीं कर पाते और न विराम या प्लुत के सहारे तालगणों की कमी की पूर्त्ति करते हैं। इनका प्रयत्न होता है कि प्रत्येक तालगण में सभी मात्राएँ लिखित रूप में उच्चरित हों और उनका लघुगुरु स्वरूप व्याकरण अथवा शास्त्र-परंपरा की दृष्टि से शुद्ध हो। इस आग्रह के कारण, विशेषकर एक लंबे कथा-काव्य में किसी विशिष्ट ताल-गण की लगातार योजना में जो भयानक कठिनाई हो सकती है, उसे वही समझ सकता है, जिसने कभी इसका प्रयास किया हो। जिसके कान ताल के प्रति अभ्यस्त नहीं हों और जो वर्णोच्चारण की शुद्धता का आग्रह छोड़ने को तैयार न हो, वह तालछंद की रचना बहुत दूर तक नहीं कर सकेगा। प्रत्येक तालगण में कालमात्राओं और वर्णमात्राओं के तादात्म्य के आग्रह के कारण शिक्षित रचयिताओं द्वारा अनुभूत इसी कठिनाई से मात्रिक गण का जन्म हुआ होगा। किसी छंद की एक पंक्ति में जब समान मात्राओंवाली इकाइयों (ताल गणों) की योजना में कठिनाई जान पड़ी होगी, तब असमान मात्राओं की विभिन्न इकाइयों (मात्रिक गणों) को स्थान देना पड़ा होगा। इस प्रकार, एक ही पंक्ति में एकाधिक मात्राओंवाले गण रखने पड़े होंगे और एक नई छंद:प्रणाली का जन्म हुआ होगा, जिसमें न तो वार्णिक गणों की सांगीतिकता थी, और न ताल-गणों की। उसमें इन दोनों से भिन्न प्रकार का सांगीतिक माधुर्य था, जिसका आधार वर्ण का लघुगुरु उच्चारण अथवा स्वराघातपूर्ण तालबद्धता न होकर समस्त पाद की विशिट लयात्मकता के साथ मात्रासंख्या की निश्चित योजना था। इस नये मात्रावृत्त ने तालवृत्त के अनुकरण पर वर्णवृत्तों के लघुगुरुक्रम-विधान की पाबंदी से मुक्ति पा ली और फिर तालयोजना में अनुभूत कठिनाइयों के कारण तालबद्धता से भी छुटकारा पा लिया। अतएव, मात्रावृत्त वर्णवृत्त

तथा तालवृत्त दोनों की सांगीतिकता से रहित है। इसका संगीत अपना है, जो प्रायः लय और पादगत मात्रा-संख्या पर आधृत है। लय-विधान के लिए मात्रिक गण की कल्पना हुई। तालगण से भिन्न इस मात्रिक गण में कालमात्राओं की अपेक्षा वर्णमात्राओं को महत्ता दी गई। वर्णमात्राओं की संख्या ही मात्रिक गण की विधायिका हुई। यह स्पष्ट हो गया होगा कि वर्णमात्राओं में वर्ण के लिखित और मौखिक लघुगुरु स्वरूपों का एकीकरण निहित है और इस एकीकरण की प्रवृत्ति शिक्षितसमुदाय के बीच ही संभाव्य है। अतएव, यह अनुमान सकारण है कि मात्रिक छंद वर्णवृत्त के संस्कारों से अभिषिक्त उन शिक्षित, अभिजात रचयिताओं द्वारा प्रवर्त्तित हुआ होगा, जिन्होंने लोकछंद (तालवृत्त) के सहज संगीत-माधुर्य तथा उसके अंतर्गत वर्णवृत्त की अपेक्षा शब्द-चयन की सुविधा से आकृष्ट होकर तालवृत्त लिखने का प्रयास किया होगा, किंतु लघुगुरु वर्णों के परंपरागत मात्राबोध की शुद्धता के आग्रह से कठिनाइयों का अनुभव कर पादांतर्गत विभिन्न इकाइयों में मात्रा-संख्या की समानता का आग्रह छोड़ दिया होगा और अनायास ही मात्रिक छंदः-प्रणाली का सूत्रपात कर दिया होगा। द्रष्टव्य है कि कुछ ऐसे ही कारणों के फलस्वरूप मराठी छंदःप्रणाली के अंतर्गत भी ओवी नामक एक नये छंदःप्रकार का जन्म हुआ है।[1]

मात्रिक छंद तालबद्ध लोकछंदों के प्रभाव की देन है, इस मंतव्य की पुष्टि इससे भी होती है कि बहुत-से मात्रिक छंदों में न्यूनाधिक अंशों में ताल-तत्त्व वर्त्तमान है। उदाहरण के लिए पादाकुलक और पज्झटिका (पद्धरि) को लें। ये दोनों मात्रिक छंद अष्ट-मात्रिक तालगणों के अनुशासन में बद्ध हैं। प्रथम में स्वराघात प्रत्येक-गण की प्रथम मात्रा पर, तथा दूसरे में वह प्रत्येक गण की तृतीय मात्रा पर पड़ता है।

अपभ्रंश में तालवृत्त का प्रयोग—

तालवृत्त द्विपदी, चतुष्पदी या षट्पदी हो सकता है। अक्सर इस छंद का प्रयोग चारण कवियों के द्वारा लंबे आख्यान या चरित के वर्णन में, द्विपदी रूप में ही हुआ है। दो अंत्यानुप्रासपूर्ण पंक्तियों के ढाँचे की आवृत्ति द्वारा कड़वक-विधान किया गया है। कभी-कभी अनुप्रासविहीन अकेली पंक्ति भी बीच-बीच में आ गई है। किंतु, पूरे कड़वक में एक ही प्रकार के तालगण का प्रयोग हुआ है। कड़वकांत पर घत्ता के लिए कभी द्विपदी, कभी षट्पदी का प्रयोग है। घत्ता की पंक्तियाँ जब द्विपदी रूप में आती हैं, तब अक्सर उनमें तालबद्धता नहीं दिखाई देती। ऐसा प्रतीत होता है, ये गद्यवत् पंक्तियाँ कड़वकांत पर वैविध्य के अतिरिक्त गायक को किंचित् विश्राम देने के लिए तथा अगले कड़वक में तालगण-स्वरूप-परिवर्त्तन की तैयारी के रूप में नियोजित की जाती हैं। जब घत्ता के लिए षट्पदी का व्यवहार होता था, तब सामान्यतः घत्ता भी कड़वक के समान ताल में ही निबद्ध होता था। उदाहरण के लिए पुष्पदंत-कृत 'जसहर-चरिउ' को लीजिए।[2] उसके एक कड़वक में अष्टमात्रिक तालगण का प्रयोग हुआ है, और अगले दो कड़वकों में पंचमात्रिक तालगण प्रयुक्त हैं। इनमें प्रत्येक कड़वक के अंत में षट्पदी घत्ता आया है, जिसके प्रत्येक अर्द्धभाग का मात्राविधान ६+६+१२ है। पहली-दूसरी, चौथी-पाँचवीं तथा तीसरी-

१. **H. D. Valankar: Apabhamsa and Marathi Metres (New India Antiquary, Vol IV), para 10.**

२. **पुष्पदंत: जसहरचरिउ ।२।१५-१७।**

छठी पंक्तियाँ अंत्यानुप्रासयुक्त हैं। घत्ता तालवृत्त में नहीं है और उससे परंपराभुक्त द्विपदी घत्ता के समान ही उद्देश्य की पूर्त्ति होती है। इन कड़वकों में घत्ता कड़वकांत में है, आरंभ में नहीं। इसी काव्य में अन्यत्र (तीसरी संधि में) एक कड़वक पंचमात्रिक तालगण में निबद्ध है, उसका अगला कड़वक अष्टमात्रिक तालगण में उसके आगे दो कड़वक पाण्मात्रिक तालगण में तथा पुनः अगला कड़वक अष्टमात्रिक ताल-गण में।[1] इस संधि में द्विपदी घत्ता का प्रयोग हुआ है, कड़वकांत में ही नहीं, कड़वकारंभ में भी। किंतु घत्ता तालबद्ध नहीं है।

अपभ्रंश के कवियों ने तालवृत्त का प्रचुर प्रयोग किया है। कभी-कभी अपभ्रंश के कवि ऐसे छंदों का प्रयोग करते दिखाई देते हैं जो ऊपरी तौर पर वर्णवृत्त-से प्रतीत होते हैं। किंतु यदि उनका सूक्ष्म विश्लेषण किया जाय, तो यह स्पष्ट हो जायगा कि वे सभी तालगणों के अनुशासन में बँधे हैं। जसहर चरिउ में ही प्रथम संधि में एक छंद प्रयुक्त है[2] जिस में भ स ल ग प्रत्येक पाद में आये हैं, और जिसे वितान कहा गया है।[3] अन्यत्र पंक्तिका (र य ज ग)[4] वर्णवृत्त आया है,[5] भुजंगप्रयात (४ य) का प्रयोग है,[6] चित्रा वर्णवृत्त (र ज र ज र ग)[7] प्रयुक्त है,[8] स्रग्विणी (४ र)[9] नामक छंद आया है[10] तथा विभावरी (ज र ज र)[11] नामक वर्ण-वृत्त आया है।[12] किंतु ये सभी वर्णवृत्त ताल के अनुशासन में बद्ध हैं। वितान षाण्मात्रिक तालगणों में निबद्ध किया जा सकता है—

भ	स	ल ग
ऽ।।	।।ऽ	। ऽ

प्रत्येक पंक्ति में दो षाण्मात्रिक तालगण होंगे, दूसरे गण की अंतिम मात्रा अनुच्चरित (विश्राम के रूप में) रहेगी। स्वराघात नियम-पूर्वक गण की प्रथम मात्रा पर पड़ेगा। पंक्तियाँ देखिए—

---

१. पुष्पदंत: जसहर-चरिउ ।३।१३-१७।
२. वही ।१।१०।
३. हे० : छं० ।२।८७।
४. हे० : छं० ।२।१०८।
५. पु० : जस० ।१।१३।
६. पु० : जस० ।१।१८। तथा ४।१७।
७. हे० : छं० ।२।२७९। के-वृ० ।३।८६।५।
८. पु० : जस० ।३।२ और १५।
९. १२ अगले पृष्ठ पर।
९. हे० : छं० ।२।१७१।
के० : वृ० ।३।५४।
पिं० : छं० ।६।३८।
१०. पु० : जस० ।३।३।
११. हे० : छं० २।१८४।
के० : वृ० ।३।६४।४।
१२. पु० : जस० ।३।६४।४।

छेलमिहुण/सूपरा×।
रोझहरिण/कुंजरा×।।
वालवसह/रासहा ×।
मेसमहिस/रोसहा×।।[1]

पंक्तिका की पंक्तियाँ अष्टमात्रिक तालगणों में गेय हैं—

र	य	ज	ग
ऽ । ऽ	। ऽ ऽ	। ऽ ।	ऽ

पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

पक्खिपक्खल क्खेहि छाइयं।
किलिकिलंतणिसि यरणिणाइयं।।[2]

यहाँ कवि ने एक गुरु के बजाय दो लघु (किलि, निसि, यर) रखने की स्वच्छंदता दिखलाई है। यह इस बात का सूचक है कि इस पद्य का तालानुशासित रूप ही कवि के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण था, वर्णवृत्त का ढाचा गौण था। भुजंगप्रयात को स्पष्टतः पंचमात्रिक तालगणों में बाँधा जा सकता है। चित्रा छंद पाण्मात्रिक तालगणों के अनुशासन में चलता है, किंतु पादांत गुरु का, तालरक्षा के लिए, लघूच्चारण अपेक्षित है—

'र	ज'	र	ज	र'	ग
ऽ । ऽ ।	ऽ ।	ऽ ।	ऽ । ऽ ।	) ।)	) ।

उज्जलंमि कोमलंमि तत्थ सच्छविच्छुलंमि।
संचरंतु हं तरंतु मणिमण्ड लं गिलंतु।।[3]

स्रग्विणी छंद भुजंगप्रयात के समान ही पांचमात्रिक तालगण में निबद्ध किया जा सकता है। विभावरी छंद षाण्मात्रिक तालगणों के सहारे गाया जा सकता है—

भरंत सच्छ विच्छुलंम कंदरं।
भ रंतरुंद कुंडकूव कंदरं।
ल लंतवेल्लि पल्लवोह कोमलं।।[4]

किंतु इन पंक्तियों की विशेषता यह है कि स्वराघात प्रत्येक तालगण की तीसरी मात्रा पर पड़ता है।

इस प्रकार, यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि अपभ्रंश के कवि प्रायः उन्हीं वर्ण-वृत्तों का उपयोग करते थे, जो तालवृत्त के रूप में भी गेय हों। मात्रिक छंदों में भी अपभ्रंश

१. पु० : जस० ।१।१०।
२. पु० : जस० ।१।१३।
३. पु० : जस० । ३।२ या १५।
४. वही । ३ । १६ ।

चरित-काव्यों में दो छंदों का व्यापक रूप से उपयोग हुआ। वे हैं पादाकुलक और पज्झटिका।[1] ये दोनों मूलतः ताल-वृत्त हैं। दोनों अष्टमात्रिक तालगणों में गाये जाते हैं। जैसा कहा जा चुका है, दोनों में अंतर यह है कि पादाकुलक के प्रत्येक तालगण में स्वराघात प्रथम मात्रा पर होता है और पज्झटिका के प्रत्येक तालगण में स्वराघात तृतीय मात्रा पर होता है।

जैसा ऊपर कहा गया है, अपभ्रंश कवियों ने प्रायः ऐसे ही वर्णवृत्त अपनाये हैं, जो ताल के अनुशासन में बाँधे जा सके हैं; किंतु मात्रावृत्त के संबंध में यह सत्य नहीं। अपभ्रंश काव्य में एक ओर पज्झटिका, पादाकुलक के समान अन्य मात्रिक छंद भी हैं, जो साथ ही तालवृत्त भी कहे जा सकते हैं, दूसरी ओर ऐसे छंद का भी अत्यंत बाहुल्य है, जो न तो वर्ण-वृत्त के समान लघुगुरु-वर्णक्रम के अनुशासन में बँधे हैं, न ताल के। ये विशुद्ध मात्रिक छद हैं, जिनका सांगीतिक आधार वर्ण-क्रम या ताल न होकर पादगत मात्रा-संख्या की निश्चित योजना तथा लय-वैशिष्ट्य मात्र है। इनकी पादयोजना के लक्षण छदःशास्त्रकारों ने दो प्रकार से निर्दिष्ट किय हैं। कहीं-कहीं पादगत लयविधान के निर्देश के लिए मात्रिक गणो का उपयोग हुआ है। ये मात्रिक गण कई प्रकार के होते हैं, जिनमे दो से छह तक मात्राएँ हो सकती हैं।[2] कभी-कभी पूरे पाद की मात्रासख्या का निर्देश ही पर्याप्त समझा जाता है, गणों का उपयोग नहीं होता। किंतु, ऐसी स्थिति में पादांतर्गत किसी विशेष स्थान पर वर्ण के लघु अथवा गुरु-प्रयोग की पाबंदी भी होती है। कभी-कभी पाद मे किसी खास स्थान पर गुरुवर्ण का निषेध पर्याप्त समझा जाता है। ऐसे स्थलों पर गुरु वर्ण के निषेध से प्रायः वही काम चल जाता है, जो मात्रिक गणो के स्पष्ट निर्देश से चल सकता है। क्योंकि, दो मात्रिक गणों के पार्थक्य के लिए मात्र यह आवश्यक है कि पूर्ववर्त्ती गण की अंतिम मात्रा तथा परवर्त्ती गण की प्रथम मात्रा मिलकर गुरु रूप में उपस्थित न हों। मात्रिक गण के अंदर वर्ण का लघुगुरु होने का महत्त्व नहीं। अतएव, विशिष्ट स्थलों पर गुरु वर्णो के निषेध-मात्र द्वारा अपेक्षित गण-पार्थक्य अपने-आप घटित हो जाता है। पादलक्षण मे यदि गण अथवा लघुगुरु-निर्देश में से किसी का उपयोग न किया जाय, तो पादगत समान मात्रासंख्यावाले दो छंदों में जो लयभेद होता है, उसका बोध लिखित रूप में प्रायः असंभव हो जायगा और मात्रिक छंद का ढाँचा ही बिगड़ जायगा। इसे समझने के लिए आर्या छंद की ओर हम ध्यान दें। आर्या छंद के लक्षण के लिए यह बता देना ही काफी नहीं कि उसके प्रथम पाद मे १२+१८=३० तथा अंतिम पाद में १२+१५=२७ मात्राएँ होती हैं तथा उसके पूर्वार्द्ध में २१वीं और २४वीं मात्राएँ एवं उत्तरार्द्ध में २१वी मात्रा लघु होती है। उसमें यह कथन भी आवश्यक है कि पूर्वार्द्ध में सात चतुर्मात्रिक गण के उपरांत एक गुरुरूप द्विमात्रिक गण अपेक्षित है। उत्तरार्द्ध में इस विधान से अंतर यह है कि उसके षष्ठ गण के स्थान पर एक लघु होता है। इस प्रकार आर्या के प्रत्येक अर्द्धभाग में आठ गण होते हैं, जो परस्पर पृथक् रखे जाते हैं। इस पार्थक्य के लिए जरूरी है कि पूर्वार्द्ध में ४थी-५वीं, ८वीं-९वीं, १२वीं-१३वीं, १६वीं-१७वीं, २०वीं-२१वीं, २४वी-२५वीं, २८वीं-२९वीं मात्राएँ तथा उत्तरार्द्ध

---

१. (=पद्धरि)
२. दे० प्रथम अध्याय। 'गण'। पृ० ३९।

में ४थी-५वीं, ८वीं-९वीं, १२वीं-१३वीं, १६वीं-१७वीं, २०वीं-२१वीं, २१वीं-२२वीं, और २५वीं-२६वीं मात्राएँ गुरु रूप में संयुक्त नहीं की जा सकतीं। ऐसा करने से छंद का ढाँचा बिगड़ जायगा। गुरु वर्ण के विशिष्ट स्थलों पर निषेध के कारण यह कहा जा सकता है कि ऐसे मात्रिक छंदों में लघुगुरु-वर्ण-क्रम की सांगीतिकता का भी निषेधात्मक (Negative) रूप वर्त्तमान रहता है अवश्य। यह लय की अनिवार्यता के साथ वर्ण-संगीत से संस्काराभिषिक्त अभिजात या शिक्षित वर्ग की मनोवृत्ति का प्रतिफलन है। इस वर्ग ने प्राकृत काल मे इन छंदों का व्यापक प्रयोग चरित-काव्यों और सूक्तियों की रचना के लिए ही नहीं, वरन् विभिन्न शास्त्रीय ग्रंथों के निर्माण के लिए भी किया। परंपरागत अनुष्टुप् की अपेक्षा इस नये छंद में वर्ण्य वस्तु के लिए अधिक अवकाश था तथा इसकी रचना भी आसान थी। इसके अतिरिक्त यह अपनी विशिष्ट सांगीतिकता के कारण अधिक रमणीय और आकर्षक भी था। इस छंद पर आधारित अन्य छंदों की बहुलता द्वारा यह ध्वनित है कि इस काल में संस्कृत और प्राकृत कवियों के बीच इसे दीर्घकालीन लोकप्रियता प्राप्त हुई।

हाँ, तालसंगीत के आकर्षण की ओर अधिक झुके हुए अपभ्रंश कवियों का प्यारा छंद यह नहीं था, वरन् दोहा था। ऊपर कहा जा चुका है कि दोहा मूलत: ताल-वृत्त है, जो अष्टमात्रिक इकाइयों की आवृत्ति पर आधारित है। इसका मात्रिक रूप, जिसमें १३+११ मात्राओं की २ अर्द्धालियाँ होनी हैं, शिक्षित रचयिताओं के प्रभाव-स्वरूप परवर्त्ती विकास का फल है, किंतु तालवृत्त के रूप में यह छंद लोक-जीवन में पर्याप्त प्राचीन है। प्राचीनता और लोकप्रियना की दृष्टि से विशुद्ध मात्रिक छंदों में गाथा (आर्या) के बाद 'मात्रा' नामक छंद आता है, जो प्राकृत-अपभ्रंश में धार्मिक, उपदेशात्मक या गीतात्मक रचनाओं में प्रयुक्त हुआ है।

मात्रिक छंदों के बीच यद्यपि ऐसे बहुत-से छंद हैं, जो अपने मूलरूप में लोक के बीच तालवृत्त ही थे और मात्रिक रूप में शिक्षितों द्वारा अपना लिये गये हैं, फिर भी अधिकांश छंद ऐसे ही हैं, जिनका कोई ताल-वृत्तात्मक अतीत नहीं और जिन्होंने विशुद्ध मात्रिक रूप में ही जन्म-ग्रहण किया है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मात्रिक छंद शिक्षित वर्ग के ऊपर तालबद्ध लोक-संगीत के प्रभाव का फल है। फिर भी, इसे एकांत और आत्यंतिक सत्य के रूप में ग्रहण करना सदैव व्यवहार्य नहीं। जैसे शिक्षित-वर्ग तालसंगीत की ओर आकृष्ट हुआ, उसी प्रकार कुछ अधिक संस्कृत रुचि-सम्पन्न, किंतु ताल-संगीत के अपेक्षाकृत अनभ्यासी लोक-रचयिताओं ने भी मात्रिक छंदों की रचना की दिशा में, अपवाद रूप में ही सही, हाथ आजमाया होगा अवश्य।

भाषा-परिवर्त्तन का प्रभाव

मात्रिक छंदों की लोकप्रियता का एक कारण भाषा की प्रकृति का कालांतर में परिवर्त्तित हो जाना है। संस्कृत भाषा में वार्णिक गण-प्रधान वर्ण-वृत्त का प्रयोग सामान्य रूप से होता था। गण-बंधन में गठित वर्ण-वृत्तों में पादगत मात्रा-संख्या और वर्ण-संख्या की समान या निश्चित योजना के साथ-साथ लघुगुरु वर्ण-क्रम भी निश्चित हुआ करता था। मात्राछंदों में अपेक्षाकृत स्वच्छंदता अधिक है। संस्कृत भाषा की प्रकृति संश्लेषणात्मक है। उसमें विभक्तियाँ शब्दों के साथ अनिवार्यत: मिलाकर

लिखी जाती हैं, तथा विभिन्न कालों, पुरुषों, वचनों आदि में प्रयुक्त क्रियापदों के लिए पृथक् प्रयोग निश्चित हैं, जो समस्त रूप में लिखे जाते है, इस कारण उसमें उपसर्गों तथा प्रत्ययों के सहारे ऐसी क्षमता है कि एक छोटे-से पद से अधिक-से-अधिक अर्थ की अभिव्यक्ति सहज ही हो जाय। जैसे 'जिगमिष्यामि' पद कह देने से ही जो अर्थ व्यक्त हो जाता है, उसके लिए हिंदी में कई पृथक् पदों का प्रयोग आवश्यक होगा— 'मैं जाने की इच्छा करता हूँ।'—जिन्हें प्राय: इसी क्रम से रखना होगा। संस्कृत भाषा में वाक्यांतर्गत शब्दों के क्रम-परिवर्त्तन से अर्थ में कोई अन्तर नहीं आ जाता। संस्कृत में 'पिता पुत्रं ताडयति' के बजाय हम 'पुत्रं पिता ताडयति' अथवा 'ताडयति पुत्रं पिता' भी कह सकते हैं, किंतु हिंदी में यह सुविधा नहीं। 'पिता पुत्र को मारता है', कहने के बजाय 'पुत्र पिता को मारता है' कहें तो भीषण अनर्थ होगा। हिंदी की इस विश्लेषणात्मक प्रकृति के विकास की प्रक्रिया का आरंभ सुदूर अतीत में प्राकृत-काल में ही हो चुका होगा; क्योंकि हिंदी की पूर्ववर्त्ती भाषा अपभ्रंश में भी पर्याप्त विश्लेषणात्मकता है। इस विश्लेषणात्मकता के कारण प्राकृत में ही वर्ण-वृत्तों के कठोर नियमों के निर्वाह में कठिनाई का अनुभव होने लगा होगा। अपभ्रंश में इस कठिनाई की वृद्धि के कारण अधिक सुविधाजनक और भाषा-प्रकृति के अधिक अनुकूल छंद:प्रणाली के उपयोग की आवश्यकता अधोरेखांकित हो गई और मात्रिक छंद:-समूह लोकप्रिय हुए। बाद की हिंदी में हरिऔध जैसे कवियों द्वारा वर्णवृत्तों का जो प्रयोग हुआ है, उसे देखने से अपभ्रंश-हिंदी जैसी विश्लेपणात्मक भाषाओं के लिए मात्रिक छंदों की उपयोगिता और उपयुक्तता स्वत:सिद्ध हो जाती है। वर्णवृत्तों के इस्पाती साँचे में ढालने के लिए हिंदी के सर्वस्वीकृत शब्द-स्वरूपों को विकृत करने की आवश्यकता पड़ी। द्रुतविलंबित छंद के पाद में निबद्ध हिंदी भाषा का उदाहरण देखिए—

'यक पयोमुख बालक के लिये'

यहाँ 'एक' को सिकुड़-सिमिटकर 'यक' हो जाना पड़ा है, जिसमें नगण का रूप (।।।) सुरक्षित रहे।

खड़ी बोली हिंदी में दीर्घ वर्ण को दीर्घ रूप में लिखकर उसे लघुरूप में पढ़ने की परिपाटी नहीं है; मात्रा की दृष्टि से वर्ण जिस रूप में लिखे जाते हैं, उसी रूप में उन्हें पढ़ना भी पड़ता है। कभी-कभी अवधी व्रजभाषा में अवश्य दीर्घ वर्ण का लघु रूप में उच्चारण छंद की आवश्यकता के आग्रह से किया जाता है। तुलसी के प्रसिद्ध सवैये के इस पाद में इसका उदाहरण मिलता है—

अवधेस के द्वारे सकारे गई सुत गोद के भूपति ले निकसे।
।।ऽ। । ऽ। ।ऽ। ।ऽ ।। ऽ। । ऽ।। ऽ ।।ऽ

इसमें आठ सगण (।।ऽ) अपेक्षित हैं। सगण की स्वरूप-रक्षा के लिए इस पंक्ति में अधोरेखांकित के, रे, रे तथा के को लघुरूप में पढ़ना जरूरी है, यद्यपि वे वर्ण लिखित रूप में दीर्घ हैं। उर्दू के पठित या गेय रूप में भी इस प्रकार की छूट है; क्योंकि उर्दू में वजन का ही विचार होता है, लिखित रूप में ह्रस्वदीर्घ-विचार की परिपाटी नहीं। फिर भी, अपभ्रंश या हिंदी का शिक्षित कवि ऐसी स्थिति से बचना चाहता था, जब उसे छन्दस्त्व-रक्षा के लिए वर्ण के लिखित मात्रिक स्वरूप की अवहेलना करनी पड़े। वर्णवृत्त के अंदर लघुगुरुक्रम-निर्वाह करते हुए ऐसी स्थिति से बचना बहुत

संभव नहीं था, यह वर्णगण-प्रधान ऊपर के सवैये के उदाहरण से भी स्पष्ट है। ध्यातव्य है कि अवधी-व्रजभाषा के कवियों ने भी अधिकतर ऐसे ही वर्णवृत्त अपनाये, जो तालवत्त के अनुशासन में भी बाँधे जा सके हैं। उदाहरणत:, ऊपर के सवैये के पाद में आठ चतुर्मात्रिक तालगण सगण के रूप में आये हैं।

मात्रिक छंदों में पादगत मात्रासंख्या की समानता और लय-वैशिष्ट्य ही छंदस्त्व-विधायक तत्त्व हैं, वर्णों के लघुगुरु-क्रम का समान या निश्चित प्रयोग अनपेक्षित है। मात्रिक छंदों की इस स्वच्छंदता के कारण, जैसे-जैसे भाषा संस्कृत से आगे बढ़ती गई और विश्लेषणात्मक होती गई, वैसे-वैसे मात्रिक छंदों की उपयोगिता और आवश्यकता बढ़ती गई। अपभ्रंश-काल में भाषा इतनी बदल चुकी थी कि मात्रिक छंदों का व्यापक प्रयोग अनिवार्य हो गया। इस युग का शिक्षित वर्ग, जो न तो वर्णवृत्त के कठोर नियमों का अब अपभ्रंश जैसी विश्लेषणात्मक भाषा में निर्वाह ही कर सकता था, और न ताल-इकाइयों की रक्षा के लिए वर्णों के रूढ, लिखित लघुगुरु-स्वरूप की अवहेलना करने को तैयार था, स्वभावत: मात्रावृत्त को अपनाकर चला; क्योंकि इसमें संस्कृत छंदों के कठोर गणबंधन तथा लोकछंदों के लिए अनिवार्य ताल की पाबंदी—इन दोनों से छुटकारा मिल सकता था।

मात्रिक छंदों की लोकप्रियता के अन्य कारण

मात्रिक छंदों की लोकप्रियता का एक और कारण मानव-मन के सहज वैविध्य-प्रेम में निहित है। वर्ण-वृत्त का लघुगुरु-वर्णक्रम संगीत आरंभ में वैदिक स्वरसंगीत से भिन्न होने के कारण रुचिकर प्रतीत हुआ, किंतु कालांतर में इसमें भयानक एक-रसता का अनुभव अवश्य हुआ होगा; क्योंकि वर्णवृत्त में पादगत लघुगुरु-क्रम की निश्चित योजना के नियम के कारण वैविध्य के लिए अवकाश नहीं के बराबर है। वर्णनात्मक प्रसंगों में, जहाँ एक ही छंद का प्रयोग लगातार बहुत दूर तक होता चलता है, वर्ण-वृत्त के संगीत में यह जी उबानेवाली एकरसता खटकने लगी होगी। संभवत:, अप-भ्रंश के चरित-काव्यों में विशेष रूप से अधिक लचीले छंदों की आवश्यकता प्रतीत हुई होगी, जिनके समान लंबाईवाले पादों में भी संगीतगत साम्य के बावजूद वैविध्य निहित हो। इस आवश्यकता की पूर्त्ति के रूप में मात्रिक छंद अपनाये गये, जिनमें विभिन्न पादों में लय-साम्य होते हुए भी वर्ण-क्रम-भेद हुआ करता है और इस कारण लयगत सांगीतिक समानता के बावजूद वर्ण-क्रम संगीत का वैविध्य निहित होता है। इस वैविध्य को समझने के लिए एक वर्णवृत्त तथा एक मात्रिक छंद के पादों के लघुगुरु-स्वरूप यहाँ उपस्थित किये जाते हैं—

द्रुतविलंबित छंद

दिवस का अवसान समीप था।	।।। ऽ ।। ऽ। । ऽ।ऽ	सभी पंक्तियों में समान लय तथा समान वर्णक्रम-संगीत है।
गगन था कुछ लोहित हो चला।	।।। ऽ।। ऽ।। ऽ।।	
तरुशिखा पर थी अब राजती।	।।। ऽ।। ऽ।। ऽ।।	

कमलिनी-कुलवल्लभ की प्रभा॥[1]
।।। ऽ।। ऽ।। ऽ।ऽ

चौपाई छंद

काम कोटि छवि स्याम सरीरा। ऽ। ऽ। ।। ऽ। ।ऽऽ नील कंज बारिद गंभीरा॥ ऽ। ऽ। ऽ।। ऽऽऽ अरुन चरन पंकज नख-जोती। ।।। ।।। ऽ।। ।। ऽऽ कमल - दलन्हि बैठे जनु मोती॥[2] ।।। ।।। ऽऽ ।। ऽऽ	सभी पंक्तियों में लय तो समान है, किंतु पंक्तियों के वर्णक्रम-संगीत में वैविध्य है।

प्रस्तुत चौपाई में वर्णक्रम-संगीत का यह वैविध्य वर्ण्य विषय की सौंदर्य-भंगिमा के अनुकूल नियोजित है। प्रथम पंक्ति में दो बार क्रमशः गुरु-लघु आये हैं, जिनके उच्चारण से राम के सौंदर्य की अनंतता-अपरिमेयता ध्वनित है। तीसरी-चौथी पंक्तियों में शिशु के छोटे-छोटे कोमल चरणों की शोभा-व्यंजना के अनुकूल ही आरंभ में लगातार ६ लघुवर्ण आये हैं। लगातार चलते हुए एक छंद के अंदर यह प्रसंग-सापेक्ष वर्णक्रम-वैविध्य वर्णवृत्त में संभव नहीं।

छंद:-संगीत और काव्य-विषय के सघन संबंध की ओर संस्कृत-काल में ही कवियों का ही नहीं, छंदःशास्त्र-प्रणेताओं का ध्यान भी आकृष्ट हो चुका था। विशेष छंद विशेष रसों या प्रसंगों के लिए अपेक्षाकृत अधिक अनुकूल है, इसका निर्देश क्षेमेंद्र ने किया है।[3] कुछ उदाहरण देखिए—

वसंत तिलकं भाति सङ्करे वीररौद्रयोः।
कुर्यात्सर्गस्य पर्यन्ते मालिनीं द्रुततालवत्॥[4]
साक्षेपक्रोधधिक्कारे परं पृथ्वी भरक्षमा।
प्रावृट्प्रवासव्यसने मन्दाक्रान्ता विराजते॥[5]
शौर्यस्तवे नृपादीनां शार्दूल (वि) क्रीडितं मतम्।
सावेगपवनादीनां वर्णने स्रग्धरा मता॥[6]

इससे यह विदित होता है कि विभिन्न रसों या प्रसंगों के लिए विभिन्न विशिष्ट छंदों के उपयोग की आवश्यकता बहुत पहले अनुभूत हो चुकी थी। संस्कृत-काल के प्रबंधकाव्यों में, जहाँ दृश्य, घटनाएँ, परिस्थितियाँ और चरित्रों का वैविध्य होता है,

---

१. अ० सिं० उ० 'हरिऔध'—प्रियप्रवास।१।१।
२. तुलसीदास: रामचरितमानस।१।१९९। (गीता प्रेस २००१ वि०)
३. क्षेमेन्द्र: सुवृत्ततिलक, तृतीय विन्यास।
४. वही, ३।१९।
५. वही, ३।२१।
६. वही, ३।२२।

अनेक प्रकार के छंदों का प्रयोग उनकी सांगीतिक प्रसंगोपयुक्तता की दृष्टि से करना पड़ता होगा; क्योंकि किसी एक ही छंद द्वारा काव्यगत विविध रसों और प्रसंगों को उपयुक्त सांगीतिक स्वर प्रदान करने की क्षमता वर्ण-वृत्त-प्रणाली में संभव नहीं थी। कालांतर में ऐसी छंदःप्रणाली जब मिल गई, जिसमें एक ही छंद द्वारा विविध भावों, रसों या प्रसंगों के अनुकूल सांगीतिकता की सृष्टि संभव हुई, तब वह प्रणाली सहज ही लोकप्रिय हो उठी। यह प्रणाली थी मात्रिक छंदःप्रणाली। किसी वर्णवृत्त में सभी पादों का लघुगुरुक्रम एक-सा होता है, जैसा हम देख चुके हैं, किंतु मात्रिक छंदों में प्रायः पादगत मात्रासंख्या के साथ लयसमानता मात्र अपेक्षित है। मात्रिक छंदों के पाद की बनावट में, इसीलिए, लचीलापन रहता है। किसी एक मात्रिक छंद में लय की रक्षा करते हुए हम उसमें स्वेच्छानुसार लघुगुरु-क्रम रख सकते हैं और इसमें विविध प्रसंगोचित सांगीतिक प्रभाव उत्पन्न कर सकते हैं। कुशल कलाकार इस स्वच्छंदता का उपयोग विशिष्ट प्रसंगों की अनुकूलता की दृष्टि से करता है। उदाहरण के लिए दोहा छंद ही लीजिए। आरंभ से ही दोहा का प्रयोग जितने विविध भावों, रसों या प्रसंगों के लिए हुआ है, वे उसकी विशेष विस्तृत सांगीतिक क्षमता के सूचक हैं। यही बात चौपाई, शृंगार, सखी आदि छंदों के संबंध में भी हम कह सकते हैं। चौपाई छंद को ही कितने भिन्न-भिन्न प्रकार से गाया जाता है, यह सामान्यतः सभी जानते हैं। चौपाई में विभिन्न प्रसंगों के अनुकूल विभिन्न सांगीतिक विशेषताओं के समावेश के लिए पर्याप्त अवकाश है।

वर्ण-वृत्तों की तरह पादगत वर्णों का लघुगुरुक्रम निश्चित न होने के कारण ही, वर्ण-संगीत की स्वच्छंद योजना की गुंजाइश के कारण यह अवकाश मात्रिक छंदों में संभव हुआ, जिससे काव्यों में कोई एक ही छंद व्यापक रूप से विभिन्न प्रसंगों के लिए प्रयुक्त हो सकता है और अपभ्रंश में तथा हिंदी में हुआ भी है। अपभ्रंश में पद्धड़िया बंध के अंतर्गत पद्धरी, अरिल्ल आदि तथा हिंदी में चौपाई, चौपई, चौबोला, शृंगार आदि छंद इस रूप में प्रयुक्त हुए हैं। हाँ, कड़वकबद्ध रचनाओं में बीच-बीच में घत्ता देने के लिए कोई दूसरा छंद भी आया है।

मात्रिक छंदों की सांगीतिक क्षमता भी अपभ्रंश और हिंदी-काव्यों में उनकी लोकप्रियता का एक महत्त्वपूर्ण कारण है।

कभी-कभी वर्णवृत्त प्रयत्न-शैथिल्य अथवा कवि की सामर्थ्य-सीमा के कारण भी मात्रावृत्त का रूप ले लेते हैं। वर्ण-गणों की योजना में कठिनाई का अनुभव होने पर कवि गणांतर्गत एक गुरु के स्थान में दो लघु का तथा दो लघु के स्थान में एक गुरु का व्यवहार जाने-अनजाने करते हैं, जिसके परिणामस्वरूप वार्णिक गण मात्रिक गण का रूप धारण करने लगते हैं। इसका उदाहरण हेमचंद्र के कुमारपालचरित का एक पद्य[1] है जिसके चार पादों का मात्रा-चित्र नीचे दिया जाता है—

	म	ज	त	ज	ज	र	
१—SSS	ISI	SSI	ISI	ISI	SIS	२८ मात्राएँ, १८ वर्ण
२—II IIS	ISI	SSI	ISI	ISI	SIS	२८ मात्राएँ, २० वर्ण

१. हेमचंद्र: कुमारपालचरित, ३।९०।

३—SSS	ISI	IISI	ISI	ISI	SIS	२८ मात्राएँ, १९ वर्ण
४—SSS	ISI	IISI	ISI	ISI	SIS	२८ मात्राएँ, १९ वर्ण

प्रथम पाद में छह वार्णिक गण हैं—मगण, जगण, तगण, जगण, जगण, रगण। कुल १८ वर्ण हैं, जिसके कारण यह धृति जाति का, वर्ण-वृत्त का पाद कहा जायगा।[1] किंतु शेष पादों में कुछ गणस्वरूपों में परिवर्त्तन मिलते हैं। प्रथम पाद का मगण दूसरे पाद में मात्रिक षट्कल बन गया है; क्योंकि मात्राएँ छह होते हुए भी उनकी पूर्त्ति के लिए ५ वर्णों (४ ल १ग) का प्रयोग हुआ है, ३ वर्णो का नही, जैसा वर्णगण में चाहिए। जगण और रगण के सभी रूप सुरक्षित हैं। तृतीय गण तगण तीसरे पाद में मात्रिक पंचकल बन गया है; क्योंकि तीन वर्णो के स्थान पर चार वर्णों द्वारा ५ मात्राओं की पूर्त्ति की गई है। इस प्रकार कवि-सुविधा की दृष्टि से वर्ण-गणों का मात्रिक गणों में परिवर्त्तन मात्रिक छंदों के विकास की एक विशिष्ट प्रक्रिया का द्योतक है। वर्णगण जब मात्रिक गण के रूप में बदल जाते हैं तब पादगत मात्रासंख्या के सुरक्षित रहते हुए भी पादगत वर्णसंख्या प्रतिपाद में भिन्न हो सकती है, जैसा ऊपर के उदाहरण में हम देखते हैं। पादगत अन्य वर्णगणों के प्रतिबंध शिथिल होने पर यही छंद मात्रिक दुवई (द्विपदी)[2] बन जाता है।

हिंदी के मात्रिक छंदों में ऐसे कई हैं, जो ताल-संगीत की देन नहीं, वरन् सीधे संस्कृत वर्णवृत्त के, प्रयत्न-शैथिल्य अथवा कवि-सुविधा के उपयोग के परिणामस्वरूप, रूपांतर हैं।

---

१. वृ० र०।३।९०।
२. प्रा० पैं०।१।१५४।

अध्याय ४

प्रकरण १

संस्कृत के छंदोलक्षण-ग्रंथों में उल्लिखित मात्रिक छंद

मात्रिक छंदों के तीन वर्ग

संस्कृत के छंदोलक्षणकारों ने तीन प्रकार के मात्रिक छंदों की चर्चा की है— द्विपदी, चतुष्पदी और अर्द्धसम चतुष्पदी। प्रथम का प्रतिनिधि आर्या छंद है, जिसका प्राकृत रूप गाथा है। दूसरे का प्रतिनिधित्व मात्रासमक करता है तथा तीसरे का वैतालीय। गाथा और वैतालीय छंदों का कभी-कभी भ्रमवश वैदिक छंदों से संबंध जोड़ा जाता है और यह कहा जाता है कि वैदिक अनुष्टुप् छंद ही प्रयोग-शैथिल्य के कारण गाथा में रूपांतरित हो गया तथा त्रिष्टुप्‌जगती के रूपांतरण द्वारा वैतालीय छंद की उद्‌भावना हुई। यह भी कहा गया है कि 'ब्राह्मण-ग्रंथों का अनुष्टुप् वैदिक स्वरों से नियंत्रित न होकर ताल-संगीत के अनुशासन' में बद्ध है। गाये जाने के कारण इसे गाथा कहते हैं। यही गाथा छंद पीछे कालमात्रा से नियंत्रित होकर संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में आर्या कहलाया है। हिंदी में पहुँचकर यही दोहा बन गया है। इसी का विपरीत रूप सोरठा है।'[१]

किंतु स्मरण रखना चाहिए कि मात्रिक छंदों और वैदिक स्वर-वृत्त अथवा संस्कृत वर्ण-वृत्त में मौलिक भेद है।[२] मात्रिक छंदों का संगीत-स्वरों के उतार-चढ़ाव पर (वैदिक छंदों की तरह) निर्भर नहीं और न वह लघुगुरु वर्णों के उच्चारण-भेद पर (वर्ण-वृत्त की तरह) निर्भर है। मात्रिक छंद लय-प्रधान है। मात्रिक छंदों में पादगत वर्णों की न तो स्थूल गिनती पर्याप्त है, न लघुगुरु वर्णो के एक समान समूहों का पादगत क्रमिक प्रयोग (वार्णिक गणों का प्रयोग) संभव या आवश्यक है। मात्रिक छंदों की इकाई अनिवार्यतः गण नहीं है। वह इकाई है मात्रा, अर्थात् एक लघु वर्ण के उच्चारण में व्यतीत काल। यह काल-मात्रा ताल और लय से संबद्ध है, जिनपर प्राकृत छंद आधारित हैं। मात्रिक छंदों की उद्‌भावना व्यापक और सामान्य रूप से प्राकृत-प्रभाव के फलस्वरूप हुई है। इसीसे उनमें अनिवार्य रूप से गणों का हिसाब नहीं रहता, वरन् मात्राओं का हिसाब रहता है तथा लयसाम्य या लय-भेद से छंद का ऐक्य निर्दिष्ट होता है।

हाँ, संस्कृत छंदोग्रंथों में उल्लिखित मात्रिक छंदों के संबंध में यह अवश्य कहा जा सकता है कि वे दो विभिन्न जातियों के छंदों के मेल से बने हैं; वे न तो प्राकृत छंदों की तरह ताल-संगीत को अपनाकर चले हैं, न संस्कृत छंदों की तरह लघुगुरुवर्ण-संगीत को। उनके पादों का विभाजन मात्रिक गणों में किया गया है। किंतु, संस्कृत छंदःशास्त्रियों ने मात्रिक छंदों के विवेचन के लिए केवल चतुर्मात्रिक गणस्वरूपों (ऽऽ,

---

१. रघुनंदन शास्त्री: हिंदी छंद-प्रकाश, पृ० ९।

२. दे० अ० ३।

SII, IIS, ISI, IIII) का ही प्रयोग किया है।[1] हेमचंद्र ने दो से छह मात्राओं तक के गण स्वीकार किये हैं[2], किंतु संस्कृत-परंपरा से प्राप्त इन मात्रिक छंदों (आर्या, मात्रासमक) के विवेचन के लिए चतुर्मात्रिक गणो का ही उपयोग किया है।[3] अन्य मात्रिक गणों का उपयोग प्राकृत-अपभ्रंश के छंदों के लिए हुआ है।[4]

संस्कृत-लक्षणकारों में, मात्रिक छंदों की चर्चा, पिंगल,[5] जयदेव,[6] जयकीर्त्ति,[7] हेमचंद्र,[8] केदार,[9] गंगादास,[10] आदि ने की है।

संस्कृत लक्षणकारों द्वारा उल्लिखित मात्रिक छंदों के तीन वर्ग

गाथा (आर्या) वर्ग—संस्कृत छंदोलक्षण-ग्रंथ-परंपरा से प्राप्त मात्रिक छंदों के जो तीन वर्ग ऊपर[11] कहे गये, हैं उनमें प्रथम है द्विपदी का वर्ग, जिसका प्रतिनिधि छंद आर्या या गाथा है।

आर्या छंद[12] में असमान लंबाईवाली दो पंक्तियाँ होती हैं। प्रथम पंक्ति का परिमाण साढ़े सात चतुर्मात्रिक गण है, जबकि दूसरी पंक्ति में पाँच चतुर्मात्रिक गणों के पश्चात् एक लघु और फिर १$\frac{1}{2}$ चतुर्मात्रिक गण होते हैं।[13] अत: प्रथम पंक्ति में ३० और द्वितीय में २७ मात्राएं हुईं। प्रत्येक पंक्ति की १२वी मात्रा के बाद यति होती है, अर्थात् पंक्तियों में मात्रासंख्याएँ क्रमश: १२+१८; १२+१५ होती हैं। इसीसे आर्या को कभी-कभी चार पादों का छंद भी माना जाता है, जिसमें प्रथम और तृतीय पादों में से प्रत्येक में १२ मात्राएँ, द्वितीय में १८ मात्राएँ और चतुर्थ में १५ मात्राएँ मानी जाती हैं। इसके प्राकृत रूप गाथा का लक्षण प्राकृतपैंगलम् में चतुष्पदी के रूप में ही दिया गया है।[13] रत्नशेखर ने वेरालु छंद का लक्षण यह दिया है कि उसमें

---

१. पिं० ४।१२-१३; जय० ४।६; जकी० ५।१; वृ० र० १।८।
२. हे० छं० १।२।
३. वही, ४।
४. वही, ५।
५. छंदःशास्त्र, ४।१४-४७।
६. जयदेवच्छंदस्, ४।६-२९।
७. छंदोऽनुशासन, ५।१-३२। तथा ६।१-२६।
८. छंदोऽनुशासन, ३।५३-७३।
९. वृत्तरत्नाकर, २।१-२०।
१०. छंदोमंजरी, ५।
११. दे०इस अध्याय का प्रथम अंश, पृ० २६७।
१२. पिं० ४।१४-२१; जय० ४।६; जकी० ५।१-३; हे० छं० ४।१-२; वृ० र० २।१-२; वृ० जा० स० ४।१-२; गंगादासकृत छंदोमंजरी ५।१-२; प्रा० पैं० १।५४-६१।
(पिंगल, जयदेव, जयकीर्त्ति तथा केदार ने इस छंद का 'आर्या' नाम प्रयुक्त किया है, हेमचंद्र ने 'आर्या' के साथ 'गाथा' नाम का भी प्रयोग किया है; वृत्तजातिसमुच्चय, प्राकृतपैंगलम् तथा छंदःकोश में इसका 'गाथा' नाम आया है।)
१३. प्रा० पैं० १।४९।

प्रथम तीन पाद दोहा के प्रथम तीन पाद के समान होते हैं और उसका चतुर्थ पाद गाथा के १५ मात्राओंवाले चौथे पाद के समान होता है।[१] इससे भी गाथा का चतुष्पदी होना ही ध्वनित है। किंतु, गाथा (=आर्या) छंद के अंतिम चौथाई अंश पर ध्यान से विचार करने पर उसे द्विपदी मानना भी असंगत नहीं प्रतीत होता। गाथा के मात्राविधान—१२+१८; १२+१५—को ध्यान में रखते हुए हम देखते हैं कि अंतिम चौथाई द्वितीय चौथाई के समान नही। इसलिए, गाथा को अर्द्धसम चतुष्पदी नही कह सकते। इसे विषम चतुष्पदी कहना भी बहुत उचित नही जान पड़ता; क्योंकि इसकी प्रथम और तृतीय चौथाइयाँ सर्वथा समान हैं। इस दृष्टि से इस छंद को संस्कृत लक्षण-कारों की परिपाटी के आधार पर द्विपदी मानना ही सुखद है। यह भी द्रष्टव्य है कि पिंगल, जयदेव, जयकीर्त्ति, हेमचंद्र, केदार आदि ने उसे द्विपदी माना है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस छंद का चतुष्पदी के रूप में प्रयोग बाद में होने लगा होगा, जो प्राकृत-पैंगलम् और छंदःकोश में चतुष्पदी के रूप में इसके उल्लेख द्वारा ध्वनित है। किंतु, प्रारंभ में गाथा (आर्या) छंद अवश्य ही विषम द्विपदी रहा होगा, जैसे शिखा[२] और माला[३] छंद हैं। इस छंद के एक भेद विपुला[४] द्वारा भी इसका द्विपदी होना द्योतित होता है; क्योंकि इस भेद में गाथा के पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध में से प्रत्येक में १२ मात्राओं के उपरांत यति नहीं होती, अर्थात् प्रथम-तृतीय चतुर्थांश के अंत में शब्द-समाप्ति नही होकर क्रमशः द्वितीय-चतुर्थ चतुर्थांश में शब्द-संक्रमण होता है। अतएव, अन्य भेदों में पाद की १२वी मात्रा पर यति पादांत का सूचक नहीं।

आर्या छंद के कई भेद संस्कृत लक्षण-ग्रंथों में निर्दिष्ट हैं। पिंगल ने पथ्या, विपुला (आदिविपुला, अंत्यविपुला, उभयविपुला), चपला (मुखचपला, जघनचपला, महाचपला), गीति, उद्गीति, उपगीति और आर्यागीति नामक भेदों का उल्लेख किया है।[५] श्रुतबोध में आर्या के दो भेद, गीति और उपगीति, उल्लिखित हैं।[६] जयदेव ने प्रायः पिंगलोक्त सभी भेदों का कथन किया है।[७] जयकीर्त्ति ने पिंगलोक्त भेदों का प्रायः उल्लेख किया है, किंतु महाचपला के स्थान पर सर्वचपला का कथन किया है तथा आर्यागीति के स्थान पर उसका प्राकृत नाम स्कंध (=स्कंधक) का प्रयोग किया है, जिसके उपभेद, उपस्कंध, उत्स्कंध, अवस्कंध बताये हैं।[८] गाथांतर्गत गीति के रूपांतर रिपुच्छंद, ललिता, भद्रिका, विचित्रा, ध्रुवक और मालागाथा हैं।[९] केदारभट्ट ने पिंगलोक्त भेदों में से केवल पथ्या, विपुला, चपला, मुखचपला, जघनचपला, गीति, उद्गीति, उपगीति और

---

१. छं० को० ३३।
२. प्रा० पैं० १।१६१-१६३।
३. प्रा० पैं० १।१६४-१६६।
४. पिं० ४।२३।
५. पिं० ४।१४-३१।
६. श्रु० ४-६।
७. जय० ४।६-१४।
८. जकी० ५।१-१८।
९. वही ५।१९-२४।

आर्यागीति का उल्लेख किया है।[1] इन भेदों में पथ्या से जघनचपला तक आर्या-प्रकरण में और गीति से आर्यागीति तक गीति-प्रकरण में रख कर केदार ने स्पष्ट ही आर्या-छंदोभेदों के दो उपवर्गों का निर्देश किया है। हेमचंद्र ने आर्या या गाथा छंद के अंतर्गत पथ्या, विपुला, चपला, गीति, उपगीति, उद्‌गीति, रिपुच्छंद, ललिता, भद्रिका, विचित्रा, स्कंधक, गीतिस्कंध (संकीर्ण), माला गाथा आदि जयकीर्त्ति द्वारा उल्लिखित भेदों के अतिरिक्त जातीफल से लेकर गाथिनी तक के भेदों को स्थान दिया।[2]

आर्या-भेद-लक्षण के संबंध में प्राय: मतैक्य है। आर्या छंद के प्रत्यर्द्ध में जब १२वीं मात्रा के उपरांत यति (अथवा, यदि आर्या को चतुष्पदी माना जाय, पादसमाप्ति) हो, तो इस भेद को पथ्या कहते हैं।[3] यदि प्रथमार्द्ध, उत्तरार्द्ध या उभयार्द्ध में इस प्रकार यति (या पादसमाप्ति) नहीं हो, तो इस भेद को विपुला कहते हैं, जिसके तीन उपभेद आदि, अंत्य और उभय विपुला हैं।[4] यति आर्या के अर्द्धांश के द्वितीय-चतुर्थ चतुर्मात्रिक गण जगण हों तथा दो गुरु वर्णों के मध्यगत हों तो इस भेद को चपला कहते हैं।[5] चपला के उपभेद हैं मुखचपला (पूर्वार्द्ध में चपला), जघनचपला (उत्तरार्द्ध में चपला) तथा महाचपला (उभयार्द्ध में चपला)।[6] जब आर्या छंद का उत्तरार्द्ध भी पूर्वार्द्ध के समान हो तो इस भेद को गीति कहते हैं, अर्थात् गीति में पादगत मात्रा-संख्या-विधान १२+१८, १२+१८ होता है।[7] आर्या छंद का उत्तरार्द्ध यदि पूर्वार्द्ध तथा पूर्वार्द्ध यदि उत्तरार्द्ध के रूप में हों तो इस भेद को उद्‌गीति कहते हैं।[8] यदि आर्या का पूर्वार्द्ध भी उत्तरार्द्ध के ही समान हो, तो उसे उपगीति कहते हैं।[9] जब आर्या का पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दोनों में ८-८ चतुर्मात्रिक गण हों, अर्थात् प्रत्यर्द्ध में ३२ मात्राएँ हों, तो इसे आर्यागीति कहते हैं।[10] द्रष्टव्य है कि यह छंद, जिसे प्राकृत में स्कंध (खंधा) भी कहा गया है,[11] गीति का ही प्रत्यर्द्ध में दो मात्राओं द्वारा परिवर्द्धन है। स्कंधक के उभयार्द्ध में षष्ठगण 'ल' (एक लघुमात्र) होने से उसे उपस्कंध, पूर्वार्द्ध में षष्ठ-गण 'ल' होने से उसे उत्स्कंध तथा उत्तरार्द्ध में षष्ठगण 'ल' होने से उसे अवस्कंध कहेंगे।[12]

गीति के प्रति पाद में सप्तम चतुष्कल के स्थान में पंचकल (विशेषत: रगण ऽ।ऽ) होने से उसे रिपुच्छंद[13] कहते हैं, तृतीय चतुष्कल के स्थान में पंचकल होने से

---

१. वृ० र० २।१-११।
२. हे० छं० ४।१-२४।
३. पिं० ४।२२।
४. पिं० ४।२३।
५. पिं० ४।२४।; वृ० र० २।६।
६. पिं० ४।२५-२७।
७. पिं० ४।२८। (इसे प्रा० पैं० १।६८। में उग्गाहा कहा है।)
८. पिं० ४।२९। (इसे प्रा० पैं० १।६६। में विग्गाहा कहा है।)
९. पिं० ४।३०। (इसे प्रा० पैं० १।५२। में गाहू कहा है।)
१०. पिं० ४।३१। (इसे प्रा० पैं० १।७३। में खंधा कहा है।)
११. प्रा० पैं० १।७३-७४। जकी० ५।१३-१८। हे० छं० ।४।१३।
१२. जकी० ५।१८।; हे० छं० ४।१४-१६।
१३. हे० छं० ४।९।

ललिता[1] कहते हैं, पूर्वोक्त दोनों स्थानों में पंचकल होने से उसे भद्रिका[2] कहते हैं। यदि गीति के किसी भी चतुष्कल के स्थान पर पंचकल रखने की छूट हो, तो उसे विचित्रा[3] कहते हैं। यति गीति और स्कंधक के अर्द्ध-अर्द्ध भाग का एक साथ प्रयोग हो, तो उस छंद को संकीर्ण स्कंधक[4] कहते हैं। गाथा के प्रथमार्द्ध में अंतिम गुरु के पूर्व १, २, ४, ६, ८, १०, १२ अथवा १४ चतुष्कल जोड़ने से क्रमशः जातीफल, गाथ, उद्गाथ, विगाथ, अवगाथ, संगाथ, उपगाथ और गाथिनी छंद बनते हैं।[5] यदि १४ से अधिक चतुष्कल इसी प्रकार जोड़े जायें, तो उस छंद को मालागाथा[6] कहते हैं। इसी प्रकार, जातीफल के पूर्वार्द्ध के अंतिम गुरु के पूर्व २, ४, ६, ८, १०, १२ या १३ और अधिक चतुष्कल जोड़ने से दाम, उद्दाम, विदाम, अवदाम, संदाम, उपदाम तथा मालादाम भेद बनते हैं।[7]

प्राकृत-अपभ्रंश लक्षणकारों में स्वयंभू ने गाथा छंद की चर्चा ही नहीं की। उपर्युक्त भेदों में से विरहांक ने गाथा के केवल तीन भेद कथित किये हैं—गीति, उपगीति और स्कंधक।[8] जिस 'गाथ' छंद का उल्लेख विरहांक ने किया है[9] वह १३ मात्राओं के पाद का सर्वसम चतुष्पदी छंद है और उसका गाथा-भेद से कोई संबंध नहीं है। नंदिताढ्य ने उपर्युक्त भेदों में से कई का उल्लेख भिन्न नामों के अंतर्गत किया है; उन्होंने गीति, उपगीति और उद्गीति को क्रमशः उद्गाथ, गाथ और विगाथ कहा है; संकीर्ण स्कंधक को उन्होंने गाथिनी कहा है।[10] रत्नशेखर ने विगाथ (उद्गीति), गीति, उपगीति और गाथिनी (संकीर्ण स्कंधक) की चर्चा की है।[11] द्रष्टव्य है कि उन्होंने नंदिताढ्य के दो नाम स्वीकृत किये हैं। संभवतः, नंदिताढ्य के दिये गये भेद-नाम अपेक्षाकृत अधिक पुराने हैं। कविदर्पणकार ने तथा उसके वृत्तिकार ने मिलकर प्रायः उपर्युक्त सभी भेदों का उल्लेख कर दिया है।[12]

लघुगुरु वर्णों के न्यूनाधिक्य पर आधारित, गाथा छंद के २७ भेद बताये गये हैं। गाथा में लघु वर्णों की न्यूनतम संख्या ३ हो सकती है और तब उस भेद को लक्ष्मी या कमला कहते हैं, तथा लघुवर्णों की अधिकतम संख्या ५५ हो सकती है और तब उसे हंसवधू कहा जाता है।[13]

---

१. हे० छं० ४।१०।
२. हे० छं० ४।११।
३. हे० छं० ४।१२।
४. हे० छं० ४।१७।
५. हे० छं० ४।१८-२१।
६. हे० छं० ४।२२।
७. हे० छं० ४।२३।
८. वृ० जा० स० ४।९-१४।
९. वही ४।५७।
१०. गाथालक्षण ६३-६५।
११. छं० को० ६७-७०।
१२. क० द० २।१०-१३।
१३. वृ० जा० स० ४।५-८; प्रा० पै० १।६०-६१।

आर्या-वर्ग के छंदों में विशिष्ट गण-स्थानों को छोड़कर अन्य गण-स्थानों में कोई भी चतुर्मात्रिक आदि गण-स्वरूप प्रयुक्त हो सकता है अर्थात् गण-योजना में लघुगुरुक्रम का प्रतिबंध इन गणों में सामान्यतः नही रहता। मात्रिक छंदों की मूलभूत इस स्वच्छंदता और सुगमता के कारण आर्या छंद और उसके भेद प्राकृत-अपभ्रंश के कवियों के बीच विशेष लोकप्रिय हुए।

गाथा या आर्या का मूल अनिश्चित है। हो सकता है यह अनुष्टुप् से, द्वितीय-चतुर्थ पादों में अनियमित अक्षर-संख्या-वृद्धि के फलस्वरूप, विकसित हुआ हो, यद्यपि दोनों छंदों की प्रकृतियों के वैभिन्न्य को देखते हुए यह निश्चयपूर्वक कह सकना मुश्किल है। अनुष्टुप में अक्षर ही इकाई है, आर्या में वर्णमात्रा इकाई है तथा चतुर्मात्रिक गणों का प्रयोग हुआ है (अक्षरों का महत्त्व गौण है)। इसके अतिरिक्त आर्या को यदि चतुष्पदी मानें, तो उसके पाद की लंबाई द्वितीय पाद से कम होनी है—इसका कारण समझ में नहीं आता; क्योंकि अनुष्टुप् में ऐसा नहीं है। संभव है, अनुष्टुप् छंद पर प्राकृत छंदःसंगीत का प्रभाव पड़ा हो, जिसमें लय और ताल का प्राधान्य था, और इसी प्रभाव की परिणति आर्या छंद के रूप में हुई हो। 'गाथा' और 'गीति' शब्द भी इस दिशा में सोचने को बाध्य करते हैं।

अपेक्षाकृत पूववर्त्ती लक्षणकारों की परंपरा के अनुसार जो छंदःशास्त्रोक्त नियमों के सर्वथा अनुकूल नही और नियमबद्ध छंदों के बीच अंतर्भुक्त नही किये जा सकते, उन्हें गाथा कहा गया है।[1] वैदिक साहित्य में 'गाथा' शब्द का प्रयोग किसी भी नियम-वाह्य या नियमेतर छंद के लिए हुआ है।[2] गाथा कही जानेवाली ये वैदिक रचनाएँ निम्न श्रेणी के रचयिताओं (सूत, मागध और चारण कवियों) की देन है। ये लोक-कवि संस्कृत वर्णवृत्त के नियमों की पाबंदी में कठोर नही थे; क्योंकि इनका ध्यान छंदोनियमों की अपेक्षा वर्ण्य वस्तु पर अधिक था, फलतः इनकी रचनाओं में, जो गाये जाने के लिए निर्मित हुई और इसीलिए 'गाथा' कही गई, वर्ण-वृत्त के नियमों की शिथिलता बहुत अधिक दिखाई दी। इसी नियम-शैथिल्य की अधिकता के फलस्वरूप अनुष्टुप् छंद ने अनुष्टुप्-गाथा का रूप धारण किया, जो शास्त्रोक्त अनुष्टुप् छंद से नितांत भिन्न था। अनुष्टुप्-गाथा अनुष्टुप् और गाथा (वर्त्तमान रूप में) के बीच की कड़ी है। अनुष्टुप्-गाथा को गाथा के वर्त्तमान रूप में रूपांतर संभवतः संस्कृत के शास्त्र-प्रणेताओं का काम है, जिन्होंने अपने पद्यबद्ध शास्त्रग्रंथों के लिए 'गाथा' छंद का व्यापक प्रयोग किया है। किंतु पांडित्यपूर्ण शास्त्र-ग्रंथों में व्यापक प्रयोग के कारण यह न समझना चाहिए कि गाथा छंद सदा से पंडितों की वस्तु रही है और उनका सांगीतिक इतिहास नहीं है। सच तो यह है कि 'गाथा' नाम ही इस छंद का इसलिए पड़ा कि सूतों, मागधों और चारणों द्वारा आरंभ में इसका पूर्वज छंद गाये जाने के के लिए प्रयुक्त होता था। 'अभिज्ञानशाकुंतलम्' की प्रस्तावना में नटी का गीत[3]

---

१. अत्रानुक्तं गाथा।—पिं० ८।१।
   गाथात्रानुक्तम्।—हे० छं० ७।७३।

२. उ० वै०—ऐतरेय ब्राह्मण के हरिश्चन्द्र-प्रसंग में प्रयुक्त 'गाथा'।

३. कालिदासः अभिज्ञानशाकुंतलम्, प्रस्तावना।

गाथा छंद में है, यह बात उपर्युक्त मंतव्य-पुष्टि में सहायक है। पादगत चतुर्मात्रिक इकाइयों की अधिकता भी गाथा छंद के पूर्ववर्त्ती ताल-सांगीतिक इतिहास का व्यंजक है। बौद्ध और जैन रचयिताओं द्वारा अपनाया जाना भी इस छंद का लोक से और फलतः गीतात्मकता से संबंध द्योतित करता है; क्योंकि इन रचयिताओं की प्रवृत्ति बहुत कुछ लोकोन्मुखी थी।

संक्षेप में, अनुष्टुप् छंद ने ही नियम-शैथिल्य के कारण सूतों, मागधों और चारणों के हाथों में पड़कर गेय अनुष्टुप्-गाथा का रूप धारण किया और फिर वह संस्कृत-पंडितों के प्रभाव से मात्रिक गाथा छंद के रूप में परिणत हुआ।

वैतालीय वर्ग—संस्कृत लक्षणग्रंथों में निर्दिष्ट अर्द्धसम मात्रिक छंदों में वैतालीय[1] प्रधान है। यह मिश्रित प्रकृति का छंद है, जिसमें आंशिक रूप से मात्राओ और आंशिक रूप से वार्णिक त्रिकों का उपयोग होता है। प्रथम पक्ति में आरंभ में छह मात्राएँ होती हैं—द्वितीय, चतुर्थ और षष्ठ मात्राएँ आगेवाली मात्राओं से मिलकर गुरु वर्ण का रूप नहीं धारण कर सकतीं—तथा इसके उपरांत एक रगण, एक लघु और एक गुरु वर्ण (ऽ।ऽ।ऽ) होते हैं। द्वितीय प्रंक्ति इसी के समान होती है, किंतु आरंभ में दो मात्राएँ और जोड़ दी जाती है। तृतीय और चतुर्थ पंक्तियाँ प्रथम और द्वितीय के समान होती हैं।

इस छंद के पाद के उत्तरवर्त्ती अंश को देखते हुए इसका संबंध वैदिक छंदों से अनुमित किया जा सकता है, जबकि पूर्ववर्त्ती पादांश द्वारा यह ध्वनित होता है कि इस छंद का मूल स्रोत लोक के बीच ढूँढ़ना उचित होगा; क्योंकि इसका संबंध लोक-संगीत से कभी अवश्य रहा होगा। प्रारंभिक पादांशों में द्वैमात्रिक इकाइयों की आवृत्ति द्वारा ताल की सृष्टि अर्थ-पूर्ण है। इसके नाम (वैतालीय) से भी यह व्यंजित है कि इस छंद का संबंध ताल-संगीत से मुक्त (वि+ताल) है जिसका अर्थ यह हुआ कि कभी ताल-संगीत से युक्त भी अवश्य था। द्वै-मात्रिक इकाइयों की तालपूर्ण आवृत्ति प्रारंभिक पादांशों में आज भी वर्त्तमान है, यह विशेष ध्यातव्य है।

वैतालीय छंद (६+रलग; ८+रलग) एक वर्ग का प्रतिनिधि है जिसमें कई अन्य छंद हैं — औपच्छंदसक,[2] आपातलिका,[3] प्राच्यवृत्ति,[4] उदीच्यवृत्ति,[5] प्रवृत्तक,[6]

---

१. पिं० ४।३२; जय० ४।१५; जकी० ६।२; हे० छं० ३।५३; वृ० जा० स० ४।४८; वृ० र० २।१२।

२. पिं० ४।३८; जकी० ६।३; जय० ४।१६ हे० छं० ३।५४; वृ० जा० स० ४।४८; वृ० र० २।१३।

३. पिं० ४।३४; जय० ४।१७; जकी० ६।४; हे०-छं० ३।५५; वृ० जा० स० ४।५०; वृ० र० २।१४।

४. पिं० ४।३७; जय० ४।१८; जकी० ६।११; हे०-छं० ३।५६; वृ० र० २।१७।

५. पिं० ४।३८; जय० ४।१९; जकी० ६।१२; हे०-छं० ३।५७; वृ० र० २।१६।

६. पिं० ४।३९; जय० ४।२०; जकी० ६।१८; हे०-छं० ३।५८; वृ० र० २।१८।

अपरांतिका,[1] चारुहासिनी,[2] दक्षिणांतिका,[3] मागधी,[4] पश्चिमांतिका,[5] उपहासिनी,[6] विचित्रपाद।[7]

वैतालीय वर्ग के इन छंदोभेदों में पिंगल ने केवल प्रथम सात का उल्लेख किया। जयदेव ने भी पिंगलोक्त भेदों की ही चर्चा की। जयकीर्त्ति ने इनके अतिरिक्त मागधी और विचित्रचारु का उल्लेख किया तथा कुछ अन्य उपभेदों का कथन भी किया, जैसे, वैतालीय, औपच्छंदसक तथा आपातलिका में से प्रत्येक के सम और विषम उपभेद;[8] औपच्छंदसक-जनित अथवा आपातलिका-जनित प्राच्यवृत्ति, प्रवर्त्तक और चारुहासिनी।[9] केदार ने पिंगलोक्त भेदों के अतिरिक्त दक्षिणातिका का उल्लेख किया है तथा हेमचंद्र ने दक्षिणांतिका, पश्चिमांतिका और उपहासिनी का।

विरहांक के अनुसार स्वयं वैतालीय छंद को, जब वह मागधी भाषा में लिखा जाता है तब, मागधिका कहते हैं।[10] जयकीर्त्ति[11] और हेमचंद्र[12] का विचार है कि मागधिका या मागधी (८+ल+२+ल+ग; १०+ल+२+ल+ग) में वैतालीय छंद के पादांतर्गत आनेवाले रगण के गुरु वर्णो के बदले विकल्प से दो-दो लघु वर्ण रखे जा सकते हे तथा पादारंभ की द्वैमात्रिक इकाइयों का नियम नही भी माना जा सकता है। हेमचंद्र का कथन है कि यदि यह स्वच्छंदता केवल सम या केवल विषम पादों में उपयोग मे लाई जाय, तो मागधिका को क्रमशः -उपहासिनी (१०+ल+२+ल+ग) और पश्चिमांतिका (८+ल २+ल+ग) कहेंगे। वैतालीय की प्रत्येक पंक्ति के अंत मे एक गुरु जोड़ देने से औपच्छंदसक (६+र+य; ८+र+य) बनता है। वैतालीय के पादांत र+ल+ग के बदले भ+ग+ग रखने से आपातलिका (६+भगग; ८+भगग) बनता है। वैतालीय के केवल सम पादों में चतुर्थ और पंचम मात्राओं के स्थान पर गुरु हो, तो प्राच्यवृत्ति (६+२+ल+ग; ३+ग+३+र+ल+ग) नामक छंद होता है। वैतालीय के केवल विषम पादों में दूसरी-तीसरी मात्राओं के स्थान पर गुरु रखा जाय, तो उदीच्यवृत्ति (ल+ग+३+रलग; ८+रलग) छंद होता है। किंतु दूसरी-तीसरी मात्राओं के स्थान पर गुरु सभी पादों में रखे जायँ, तो छंद को दक्षिणांतिका कहते हैं, चाहे पाद का शेष स्वरूप उपरिलिखित किसी छंद से मिलता-जुलता हो। प्राच्यवृत्ति और उदीच्यवृत्ति के मिश्रण को प्रवृत्तक या प्रवर्त्तक कहते हैं। जब वैतालीय के केवल विषम पादों के समान ही चारों

---

१. पिं० ४।४१; जय० ४।२१; जकी० ६।१४, १९, २४; हे० छं० ३।५९; वृ० र० २।१९

२. पिं० ४।४०; जय० ४।२२; जकी० ६।१५, २०, २५; हे० छं० ३।६० वृ० र० २।२०।

३. हे०-छं० ३।६१; वृ० र० २।१५।

४. जकी० ६।२२; हे० छं० ३।६२; वृ० जा० स० ४।२८।

५. हे०-छं० ३।६३।

६. हे०-छं० ३।६४।

७. जकी० ६।३।

८. जकी० ६।५-१०।

९. जकी० ६।१६-२५।

१०. वृ० जा० स० ४।२८ (JBBRAS, 1929, p. 58)

११. जकी० ६।२६।

१२. हे० छं० ३।६२-६४।

पाद हों तो छंद को चारुहासिनी कहते हैं। इसी प्रकार वैतालीय के चार सम पादों से बने हुए छंद को अपरांतिका कहते हैं। द्रष्टव्य है कि ये अंतिम दोनो अर्द्धसम वृत्त नहीं रह जाते हैं और सम चतुष्पदी के समान बन जाते हैं।

मात्रासमक वर्ग—संस्कृत लक्षणकारों द्वारा उल्लिखित सम मात्रिक चतुष्पदी छंदो का प्रतिनिधित्व 'मात्रासमक' करता है। पिंगल ने मात्रासमक[1] तथा उसके इन भेदों का उल्लेख किया है—वानवासिका, विश्लोक, चित्रा, उपचित्रा, तथा पादाकुलक।[2] इनके अतिरिक्त १६ मात्राओं के पादवाले सम मात्रिक छंदो के अंतर्गत गीत्यार्या तथा उसके भेदोपभेद शिखा, ज्योतिःशिखा और सौम्या-शिखा की चर्चा की है।[3] जयदेव और जयकीर्त्ति ने गीत्यार्या को अचलधृति तथा शिखा या सौम्या-शिखा को ही अनंग-क्रीड़ा नाम दिया है।[4] जयकीर्त्ति ने पादाकुलक का एक उपभेद पिंगलपादाकुलक नामक कथित किया है।[5] हेमचंद्र ने नटचरण, नृत्तगति और पद्धति नामक तीन छंद इस वर्ग में और रखे हैं।[6]

'मात्रासमक'[7] नाम अर्थपूर्ण है। इससे यह बोध होता है कि इस छंद की पंक्तियाँ मात्राओं की दृष्टि से समान हैं, यद्यपि वर्णो की दृष्टि से नही। मात्रासमक के प्रत्येक पाद में १६ मात्राएँ होती है, जो चार चतुर्मात्रिक इकाइयों के रूप में विभक्त होती हैं। ये चतुर्मात्रिक इकाइयों (गण) लघुगुरु वर्णो के क्रम-भेद से पाँच प्रकार की हो सकती हैं। किंतु, मात्रासमक के पाद में विशिष्ट स्थलों पर लघुगुरु वर्णो के प्रयोग के संबंध में कुछ बंधन रखे गये हैं। पादगत नवीं मात्रा पृथक् लघु के रूप में रहनी चाहिए तथा अंतिम दो मात्राएँ गुरु के रूप में। पादारंभ में, मात्रासमक में ही नहीं, बल्कि उसके भेदों में भी, जगण का प्रयोग वर्जित है, अर्थात् दूसरी और तीसरी मात्राएँ गुरु के रूप में संयुक्त नहीं की जा सकतीं (हेमचंद्र)।[8] हेमचंद्र के अनुसार मात्रासमक के पाद का दूसरा चतुर्मात्रिक गण केवल तीन प्रकार का हो सकता है; क्योंकि उसके मध्यगुरु और सर्वलघु-भेद विश्लोक[9] में आते हैं। तीसरा चतुर्मात्रिक गण भी केवल एक प्रकार का हो सकता है; क्योंकि मध्यगुरु और सर्वलघु वानवासिका[10] में आते हैं।

---

१. पिं० ४।४२।
२. पिं० ४।४३-४७।
३. पिं० ४।४८-५१।
४. जय० ४।२३ तथा ३०।; जकी० ५।२५ तथा ३३।
५. जकी० ५।३२।
६. हे०छं० ३।७१-७३।
७. पिं० ४।४२; हे० छं० ३।६५; क० द० २।१९।
८. हे० छं० ३।६५।
९. पिं० ४।४४।
हे० छं० ३।६७।
वृ० र० २।३३; क० द० २।१९।
१०. पिं० ।४।४८।
हे० छं० ३।६९।
वृ० र० २।३४; क० द० २।२०।

चौथा चतुर्मात्रिक गण भी केवल दो प्रकार का संभव है; क्योंकि अंतगुरुवाले स्वरूप दो ही होते हैं। यदि मात्रासमक के सभी पादों में ९वी और १०वी मात्राएं गुरु के रूप में हों, तो उसे उपचित्रा[1] कहते है। यदि सभी पादों मे ५वी और ८वी मात्राएँ पृथक् लघु रूप में हों तो उसे विश्लोक कहते है। यदि ९वीं और १०२वी मात्राएँ पृथक् लघुरूप में हों तो उसे वानवासिका कहते है। यदि ५वी, ८वी और ९वी मात्राएँ पृथक् लघुरूप में हों, तो उसे चित्रा[2] कहते हैं। यदि मात्रासमक के इन सभी भेदों की पंक्तियों का मिला-जुला (वैकल्पिक) प्रयोग होता है, तो उसे पादाकुलक कहते हैं।[3] इसमें गणों का प्रतिबंध नही होता। हेमचंद्र ने इस वर्ग के तीन और छंदो का उल्लेख किया है। वे हैं—नटचरण, नृत्तगति और पद्धति।

नटचरण[4] में किसी प्रकार के एक चतुर्मात्रिक गण के उपरात ४ गुरु रखे जाते हैं। यति ८वीं मात्रा के बाद आती है। नृत्तगति[5] में दो चतुर्मात्रिक गणों के बाद दो गुरु, फिर एक चतुर्मात्रिक गण के बाद दो गुरु—इस क्रम मे आते हैं। गण-स्वरूप किसी प्रकार का हो सकता है और यति १२वी मात्रा के बाद आती है। पद्धति[6] के प्रत्येक पाद में चार चतुर्मात्रिक गण आते हैं, जिनमें विषम गण जगण नही होने चाहिए तथा अंतिम गण या तो जगण हो या सर्वलघु। पादांत अनुप्रासयुक्त हो। यह पद्धति (पद्धरी) छंद अपभ्रंश के पद्धडिका (पज्झटिका)[7] छंद से, जिसका उल्लेख हेमचंद्र ने पृथक् किया है, भिन्न है। पज्झटिका के चतुर्मात्रिक गणो में जगण का निषेध है। पादांत गुरु अपेक्षित है।[8]

अन्य छंद

उपरिकथित छंदों के अतिरिक्त शिखा, खंजा और चूलिका (-रुचिरा) नामक तीन अन्य मात्रिक छंद भी संस्कृत लक्षण-ग्रंथों में उल्लिखित हैं।

शिखा नामक जिस छंद का उल्लेख केदार[9] ने किया है वह पिंगलोक्त[10] शिखा छंद से भिन्न है। पिंगल के अनुसार शिखा छंद के एक अर्द्ध भाग में ३२ लघु वर्ण और दूसरे में १६ गुरु वर्ण होते हैं; इसके दो भेद हैं, ज्योति और सौम्या। ज्योति

---

१. पिं० ४।४६; जकी० ५।२७; जय० ४।२५; हे० छं० ३।६६; वृ० र० २।३६; क० द० २।२०।
२. पिं० ४।४५; जय० ४।२८; जकी० ५।३०; हे० छं० ३।६८; वृ० र० २।३५; क० द० २।२०।
३. पिं० ४।४७; जय० ४।२९; जकी० ५।३१; वृ० र० २।३७; हे० छं० ३।७०; प्रा० पै० १।१२९। (जकी० ५।३२ में पिंगलपादाकुलक नामक इस छंद के एक भेद का उल्लेख है।)
४. हे० छं० ३।७१; रत्नमंजूषा ३।२४-२७।
५. हे० छं० ३।७२; रत्नमंजूषा ३।२०-२३।
६. हे० छं० ३।७३।
७. हे० छं० ६।३१।
८. छं० प्र०। ०५०।
९. वृ० र० ३।३९।
१०. पिं० ४।४९-५१।

के पूर्वार्द्ध में ३२ ल तथा उत्तरार्द्ध में १६ ग एवं सौम्या के पूर्वार्द्ध मे १६ ग तथा उत्तरार्द्ध में ३२ ल होते हैं। केदार ने सौम्या के लिए अनंगक्रीडा नाम प्रयुक्त किया है,[1] तथा शिखा नामक छंद के पूर्वार्द्ध में (२८ ल+ग) तथा उत्तरार्द्ध में (३० ल+ग) का विधान स्वीकार किया है।[2] केदार ने खंजा छंद शिखा का उल्टा माना है; अर्थात् खंजा के पूर्वार्द्ध में (३० ल+ग) और उत्तरार्द्ध में (२८ ल+ग) का विधान स्वीकार किया है।[3] प्राकृतपैंगलम् में ४१ मात्राओं के पाद के सम द्विपदी छंद को खंजा कहा गया है जिसका पादगत गण-विधान नौ सर्वलघु चतुष्कल (=द्विज) के उपरांत एक रगण (ऽ।ऽ) रखने से चरितार्थ होता है।[4] स्पष्ट ही यह एक भिन्न छंद है। शिखा नामक एक छंद भी प्राकृतपैंगलम् में आया है, किंतु उसकी परिभाषा भी वृत्त-रत्नाकर में दिये गये लक्षण से भिन्न है—शिखा में प्राकृतपैंगलम् ने पूर्वार्द्ध में ६ सर्व-लघु चतुष्कलों के उपरांत एक जगण तथा उत्तरार्द्ध मे सात उर्वलघु चतुष्कलों के उप-रांत एक जगण का निर्देश किया है।[5]

चूलिका छंद का उल्लेख पिंगल ने भी किया है।[6] इसके प्रथम भाग में (२७ ल+ग) तथा शेष भाग में (२९ ल+ग) का विधान होता है। जयदेव और जयकीर्त्ति ने इसे अतिरुचिरा कहा है।[7] केदार ने इसे रुचिरा कहा है।[8]

हेमचंद्र के सिवा संस्कृत के अन्य लक्षणकारों ने इन्ही मात्रिक छंदों का उल्लेख किया है, जिनका विश्लेषणात्मक और तुलनात्मक अध्ययन हमने ऊपर प्रस्तुत किया। हेमचंद्र ने उपरिकथित छंदों के अतिरिक्त कई अन्य ऐसे मात्रिक छंदों की चर्चा की है, जो संस्कृत छंदोलक्षण-परंपरा के अंदर नहीं आते; क्योंकि उनका उल्लेख पिंगल, जयदेव, जयकीर्त्ति, केदार आदि संस्कृत के लक्षणकारों ने नही किया है। हेमचंद्र द्वारा उल्लिखित इन मात्रिक छंदों में से कई प्राकृत-अपभ्रंश के छंदोलक्षणग्रंथों में अवश्य मिलते हैं। हेमचंद्र के छंदोऽनुशासन में ऐसे छंदों के चार स्पष्ट वर्ग दिखाई देते हैं, जिन्हें गलितक, खंजक, शीर्षक और उत्साहादि वर्ग कह सकते हैं।[9] अंतिम वर्ग के छंद संभवत: अधिकतर अपभ्रंश में ही प्रयुक्त होते थे, अतएव इनके विवेचन के पूर्व हेमचंद्र ने 'अथप्रायोऽपभ्रंशे'—इन शब्दों का प्रयोग किया है।[10] षट्पदी, चतुष्पदी, द्विपदी विधानों के अंतर्गत भी अनेक अन्य मात्रिक छंदों का उल्लेख हुआ है। चूँकि इन छंदों का अपेक्षाकृत अधिक निकट संबंध प्राकृत-अपभ्रंश के छंदोलक्षणग्रंथों से है, इसलिये इनका अध्ययन हम इस प्रकरण में न कर अगले प्रकरण में प्राकृत-अपभ्रंश लक्षण-परंपरा के छंदों के प्रसंग में कर रहे हैं।

---

१. वृ० र० २।४१।
२. वृ० र० २।३९।
३. वृ० र० २।४०।
४. प्रा० पैं० १।१५८-१६०।
५. प्रा० पैं० १।१६०-१६३।
६. पिं० ४।५२।
७. जय० ४।३१।; जकी० ।५।३४।
८. वृ० र० २।४२।
९. हे० छं०। अ० ४ और ५।
१०. हे० छं० ५।१।

प्रकरण २

प्राकृत-अपभ्रंश के छंदोलक्षणग्रंथों में उल्लिखित मात्रिक छंद

मात्रिक छंद-पद्धति के विकास के प्रसंग में हम देख चुके है कि मात्रिक छंद दो प्रकार से उद्भूत और विकसित हुए—(१) कुछ छंद संस्कृत वर्ण-वृत्त और तालसंगीत की क्रिया-प्रतिक्रिया के फलस्वरूप सामने आये, (२) किंतु बहुत अधिक छंद लोक के बीच ताल-संगीत के सहारे स्वत: विकसित हुए और बाद में पंडितों या परिनिष्ठित काव्य-रचयिताओं द्वारा अपना लिये जाने पर मात्रिक बन गये। प्रथम प्रकार के छंद संस्कृत-लक्षणकारो (मुख्यत: पिंगल, जयदेव, जयकीर्त्ति, केदार, हेमचंद्र) द्वारा अपनाये गये। किंतु, दूसरे प्रकार के अधिकांश छंद, जो लोककाव्य से लोकभाषाओं (प्राकृत-अपभ्रंश) के परिनिष्ठित काव्य में भी यथावसर संक्रमित हुए और होते रहे हैं, विशेषत: प्राकृत-अपभ्रंश के छंदोग्रंथों में ही स्थान पा सके हैं। अतएव, मात्रिक छंदों के अध्ययन की दृष्टि से इन ग्रंथों का अवलोकन उपादेय है।

प्रस्तुत प्रकरण में प्राकृत-अपभ्रंश के छंदोलक्षणग्रंथों के आधार पर उन मात्रिक छंदों का वर्गीकरण, विश्लेषण तथा तुलनात्मक अध्ययन करेंगे, जिनकी चर्चा हेमचंद्र के सिवा पिंगलादि अन्य संस्कृत आचार्यों ने नहीं की। स्मरणीय है कि हेमचंद्र ने संस्कृत लक्षण-परंपरा के मात्रिक छंदो के अतिरिक्त प्राकृत-अपभ्रंश के छंदों की चर्चा भी की है। किंतु, हेमचंद्र का छंदोविवेचन वास्तविक व्यवहार से बहुत अधिक संबंध नही रखता और अधिकतर वह सैद्धांतिक-सा है। हेमचंद्र में सभी प्राप्त या ज्ञात छंदों के वर्गीकरण और नामोल्लेख की प्रवृत्ति थी, चाहे वे छंद उनके युग में व्यवहार मे वर्त्त-मान हों या व्यवहार से उठ गये हों। व्यावहारिकता से अधिक शास्त्रीयता उन्हें प्रिय थी। अतएव, उनके विवेचन से इसका अंदाज नही मिलता कि कौन-से मात्रिक छंद तद्युगीन काव्य में व्यापक रूप से प्रयुक्त होते थे और कौन-से नहीं।

इस विषय का पता हमें प्राकृत-अपभ्रंश के लक्षणग्रंथों के सहारे ही चल सकता है जिनका विवेचन मात्र सैद्धांतिक न होकर वास्तविक प्रयोग के अपेक्षाकृत अधिक निकट है।

प्राकृत-अपभ्रंश-परंपरा के छंदोग्रंथ

प्राकृत-अपभ्रंश के छंदोलक्षण-ग्रंथ, जिनके आधार पर प्रस्तुत प्रकरण में हम मात्रिक छंदों का अध्ययन करेंगे, मुख्यत: पाँच हैं—१. स्वयंभूच्छंदस् (स्वयं), २. वृत्तजातिसमुच्चय (वृ० जा० स०), ३. कविदर्पणम् (क० द०), ४. प्राकृतपैंगलम् (प्रा० पैं०) तथा ५. छंद:कोश (छं० को०)। भाषा की दृष्टि से यद्यपि गाथा-लक्षण भी इसी कोटि का ग्रंथ है, फिर भी उसका मुख्य विषय गाथा छंद, जिसका विचार हम विगत प्रकरण में कर चुके हैं, होने के कारण प्रस्तुत प्रकरण की दृष्टि से उसका विशेष महत्त्व नहीं।

उपर्युक्त पाँच ग्रंथों में भी प्राकृतपैंगलम् तथा छंद:कोश का विवेचन वास्तविक प्रयोग के अधिक निकट है। ये दोनों ग्रंथ अपेक्षाकृत बाद के हैं और लगभग ८वीं

शती से १४वीं शती तक अपभ्रंश काव्य के अवलोकन के उपरांत रचित हैं। अतएव, इनमें उन छंदों को ही विशेष महत्त्व मिला है, जो इस युग के काव्य मे न्यूनाधिक अंशो में लोकप्रिय कहे जा सकते हैं। इस मान्यता की पुष्टि इस बात से भी होती है कि इन दोनों ग्रंथों में लक्षणोदाहरणादि के लिए अपभ्रंश भाषा का बहुत अधिक प्रयोग हुआ है।[१] यों विरहांक का वृत्तजातिसमुच्चय तो संपूर्णतया अपभ्रंश में ही रचित है, किंतु इसकी रचना ९वीं शती के लगभग हुई और यह काल नये मात्रिक छंदों के प्रयोग का काल था। कविगण छंद-पर-छंद आविष्कृत या निर्मित करते जाते थे और आचार्य के लिए यह निर्णय करना अभी कठिन था कि महाकाल के प्रवाह-निकष पर कौन-से छंद खरे उतरेंगे और स्थायी हो सकेंगे। स्वयंभूच्छंदस् का रचना-काल भी इससे बहुत भिन्न नहीं। अतएव, इन दोनों ग्रंथो में जो छद आये हैं, उनमे ऐसे छंदों की भी कमी नही है, जो आगे चलकर अपभ्रश अथवा उसकी परवर्त्ती भाषाओं में प्रयोग से प्रायः उठ गये या कम-से-कम बहुत लोकप्रिय नही रहे। हेमचंद्र कुछ परवर्त्ती थे, किंतु कहा जा चुका है कि उनके छंदोग्रंथ में व्यवहारपक्ष को महत्ता नहीं मिली। कविदर्पण की स्थिति वृत्तजातिसमुच्चय-स्वयंभूच्छंदस्-छंदोऽनुशासन (हेमचंद्र) तथा प्राकृतपैंगलम्-छंदःकोश के बीच की प्रतीत होती है। अपभ्रंश के लोकप्रिय छंदों के विवेचन की दृष्टि से, अतएव, प्राकृतपैंगलम् और छंदःकोश ही विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

छंदोग्रंथों में मात्रिक छंदों का वर्गीकरण—

मात्रिक छंदों का वर्गीकरण, हम देख चुके हैं,[२] प्राकृत-अपभ्रंश-काल में पादसंख्या के आधार पर ही हुआ है। पादगत मात्रासंख्या के आधार पर अलग-अलग जातियों में छंदों को रखने की प्रवृत्ति हिंदी-लक्षणग्रंथों में भी बहुत बाद मे भानु के छंदःप्रभाकर में दीख पड़ती है। हेमचंद्र ने मात्रिक छंदों के द्विपदी, चतुष्पदी और षट्पदी वर्गों का उल्लेख किया है।[३] इससे पंचपदी, सप्तपदी आदि अन्य वर्गों की संभावना भी ध्वनित है।

कविदर्पणकार ने भी मात्रिक छंदों का वर्गीकरण पादसंख्या के आधार पर और हेमचंद्र से अधिक व्यापक ढंग से, किया है।[४] कविदर्पण में मात्रिक छंदों के ग्यारह वर्ग कथित हैं—१. द्विपदी, २. चतुष्पदी, ३. पंचपदी, ४. षट्पदी, और ५. अष्टपदी में से प्रत्येक वर्ग के छंद में अकेले एक ही अनुच्छेद (Stanza) होता है; तथा ६. सप्तपदी, ७. नवपदी, ८. दशपदी, ९. एकादशपदी, १०. द्वादशपदी और ११. षोडशपदी में से प्रत्येक वर्ग के छंद विभिन्न छंदों के दो या तीन विभिन्न अनुच्छेदों (Stanzas) के योग से बने होते हैं। ऐसे संयुक्त छंदों को प्रगाथ (Strophe) कहते हैं। अपभ्रंश काव्य में ऐसे प्रगाथ छंद बहुत मिलते हैं।[५]

---

१. **Velankar : JBBRAS, Vol. 2; 1933; p. 34**

२. हे० अ० ३।

३. हे० छं० ६-७।

४. क० द० २।

५. प्रसंगतः परवर्त्ती उर्दू काव्य में भी विभिन्न पाद-संख्याओं के छंद मिलते हैं। उर्दू में इकाई रूप एक पद को मिसरा, २ पदों को बैत या शेर, ३ पदों को सुलसा, ४ पदों को रुबाई या किता, ५ पदों को मुखम्मस और ६ पदों को मुसद्दस कहते हैं।

स्वयंभूच्छंदस्, वृत्तजातिसमुच्चय, छंदोऽनुशासन (हेमचंद्र) कविदर्पणम्, प्राकृतपैंगलम् तथा छंदःकोश के आधार पर मात्रिक छंदों के अध्ययन विश्लेषण के सिलसिले में हम भी वर्गीकरण को इसी पद्धति का सहारा लेंगे।

समद्विपदी मात्रिक छंद

हम द्विपदी वर्ग के सम छंदों से आरंभ करें। स्वयंभू, विरहांक, हेमचंद्र तथा कवि-दर्पणकार ने कुल मिलाकर ७६ द्विपदी छंदों का वर्णन किया है, जिनमें १६ छोटे, १४ मध्यम तथा ४६ बड़े पादवाले हैं, यदि १२ मात्राओं तक के पाद को हम छोटा, १३ से ३० मात्राओं तक के पाद को मध्यम तथा ३० मात्राओं मे ऊपर के पाद को बड़ा मान लें। सबसे छोटा द्विपदी छंद विजया[1] है, जिसके प्रतिपाद में ४ मात्राएँ होती हैं; इसके बाद रेवका[2] और गण-द्विपदी[3] आते हैं, जिनके प्रतिपाद में क्रमशः ५ तथा ६ मात्राएँ होती हैं; फिर ७ मात्राओं के पादवाले दो छंद आते हैं—एक है स्वर-द्विपदी,[4] जिसमें ७ मात्राओं की पूर्त्ति चतुष्कल और त्रिकल (४+३) द्वारा होती है, तथा दूसरा है अप्सरा,[5] जिसके पाद में पंचकल के बाद द्विकल (५+२) प्रयुक्त होता है।[6] अष्टमात्रिक-पादी द्विपदी पाँच हैं; वसुद्विपदी[7] में मात्रिक गणो का प्रतिबंध नहीं; करि-मरभुजा[8] के पाद में किसी प्रकार के दो चतुष्कल होते हैं (४+४); चंद्रलेखा[9] के पाद में भी दो चतुष्कल होते हैं (४+४) किंतु दूसरा चतुष्कल सदैव पयोधर (।ऽ।) या विप्र (।।।।) होता है; मदनविलसिता[10] (=मंगलावती) के पाद में पंचकल और त्रिकल होते हैं (५+३); मलयविकसित[11] के पाद में षट्कल तथा द्विकल होते हैं (६+२)। ९ मात्राओं के पादवाले द्विपदी छंद दो आये हैं—जम्भेट्टिका[12] और लवली।[13] लवली के पाद में पंचकल के बाद चतुष्कल प्रयुक्त होता है (५+४) तथा जम्भेट्टिका के पाद में पहले चतुष्कल और तब पंचकल का प्रयोग होता है (४+५)। १० मात्राओं के पादवाले छंद हैं—अमरपुरसुन्दरी[14] (७+२+१=मात्राएँ), कंचनलेखा[15] (६+४) तथा

---

१. हे० छं० ७।५८।
२. वही ७।५९।
३. वही ८।६०।
४. वही ८।६१।
५. हे० छं० ७।६२।
६. स्वयं० ७।६-७।
७. हे० छं० ७।६३।
८. हे० छं० ७।६४; स्वयं० ७।९।
९. हे० छं० ७।६५।
१०. हे० छं० ७।६६; स्वयं० ७।८।
११. स्वयं० ७।१०।
१२. हे० छं० ७।६७; स्वयं० ७।११।
१३. हे० छं० ७।६८। स्वयं० ७।११।
१४. हे० छं० ७।६९; स्वयं० ७।१२।
१५. हे० छं० ७।७०; स्वयं० ७।१२।

चारु या ललतक[१] (५+५)।[२] १२ मात्राओं के पाद पुष्पमाला[३] (३+६+३) में होते हैं। ये छोटी लंबाई के पादवाले द्विपदी कहे जा सकते हैं। १३ से ३० मात्राओं के पादवाले द्विपदी भी हैं, जिनका संकेत हेमचंद्र और स्वयंभू ने किया है,[४] लेकिन जिनका विशद विवेचन प्रायः नही किया; क्योंकि ये उतने प्रचलित नही थे, जितने छोटे द्विपदी। अक्सर ऐसे छंद अर्द्धसम चतुष्पदी रूप मे मान्य थे। फिर भी, इन्होंने तथा अन्य आचार्यों ने कुछ ऐसे द्विपदी छंदो का वर्णन भी किया है।

वृत्तजातिसमुच्चय में ऐसा द्विपदी है—विच्छिति[५] (२+४+४+४+४+४=२२ मात्राएँ), जिसके चतुष्कलों मे नरेन्द्र (।ऽ।) वर्जित हैं; तथा उत्फुल्लक[६] (४+४+४+४+४ ऽऽ =२४ मात्राएँ) और द्विपथक[७] (४+४+४+ऽ; ४+४+ऽऽ=२६ मात्राएँ) को वृ० जा० स० के संपादक ने द्विपदी माना है, किंतु उसे अर्द्धसम चतुष्पदी के अंदर रखना अधिक समीचीन होगा; क्योंकि विरहांक के दिये लक्षण मे उसका द्विपदी होना प्रमाणित नही होता।[८] उत्फुल्लक और द्विपथक परवर्त्ती दोहा छंद के दो भेदों से संबंध रखते हैं। दोहा शब्द की व्युत्पत्ति भी 'द्विपथक' से मानी जा सकती है। 'द्विपथक' के लिए वृत्तजाति-समुच्चय में अपभ्रंश 'दुवहअ' या 'दुवहउ' शब्द का प्रयोग हुआ है,[९] जिसका परवर्त्ती रूप दूहा या दोहा हो गया। विच्छिति, उत्फुल्लक और द्विपथक—ये तीनों तालवृत्त भी कहे जा सकते हैं और अष्टमात्रिक तालगणों के सहारे गेय हैं। सम द्विपदी उल्लालक[१०] महत्त्वपूर्ण छंद है और इसका अत्यंत सामान्य रूप से प्रयोग अपभ्रंश चारणो द्वारा होता था। कविदर्पण[११] तथा हेमचंद्र के छदोऽनुशासन[१२] मे इसके दो मुख्य भेद बताये गये हैं—कुंकुम और कर्पूर। प्रथम छंद मे, दोनों पादों मे से प्रत्येक में २७ और दूसरे छंद में दोनों पादों मे से प्रत्येक में २८ मात्राएँ होती हैं। दोनों में यति १५वीं मात्रा के बाद आती है जो पाद को दो भागों मे विभक्त करती है। कुंकुम के पाद के पूर्वार्द्ध में १५ और उत्तरार्द्ध में १२ मात्राएँ तथा कर्पूर के पाद के पूर्वार्द्ध में १५ और उत्तरार्द्ध में १३ मात्राएँ होती हैं। छंदःकोश में उल्लालक का दो बार उल्लेख है, दो प्रगाथिका छंदों—षट्पद (छप्पय)[१३] तथा रासाकुल[१४] के प्रसंगों में

---

१. हे० छं० ७।७१; स्वयं० ७।१२।
२. कोष्ठकों में पादगत मात्रिक गण विधान निर्दिष्ट है।
३. हे० छं० ७।७२।
४. हे० छं० ७।७३; स्वयं० ७।२।
५. वृ० जा० स० ४।९१।
६. वही, ४।६३।
७. वही, ४।२७।
८. आगे अर्द्धसम चतुष्पदी के प्रसंग में देखिए।
९. वही, २।५; ४।२७; ४।३१।
१०. प्रा० पैं० १।११८।
११. क० द० २।२।
१२. हे० छं० ७।२-३।
१३. छं० को० १२।
१४. वही, २९।

किंतु इसका स्वतंत्र विवेचन नहीं हुआ है। प्राकृतपैंगलम् में भी इसका लक्षणोल्लेख प्रगाथिका वृत्त षट्पद (छप्पय) के उत्तरांश के रूप में हुआ है।[1] ११८वें श्लोक में भी, जहाँ इसका लक्षण 'उल्लाल' शीर्षक के अंतर्गत दिया गया है, इस छंद के भेदों का निर्देश नही है। जो उदाहरण दिया गया है, वह कर्पूर (पादगत २८ मात्राएँ) का है। पाद के पूर्वार्द्ध में तीन चतुष्कल तथा एक त्रिकल (४+४+४+३) है तथा उत्तरांश मे एक षट्कल, एक चतुष्कल तथा एक त्रिकल (६+४+३) है। १५वीं मात्रा के बाद यति का उल्लेख प्राकृत-पैंगलम् ने नही किया है, यद्यपि हेमचंद्र[2] तथा कविदर्पणकार[3] ने उसका स्पष्ट उल्लेख किया है। छंदःकोश में भी उल्लाल के उल्लेख कर्पूर-संबंधी ही है, कुंकुम-संबंधी नही। इससे विदित होता है कि कर्पूर ही उल्लाल का सामान्य रूप था और कुंकुम उसका एक रूपांतर। कविदर्पण के अनुसार कर्पूर के २५ भेद हैं; क्योंकि उसके अनुच्छेद मे आठ से लेकर छप्पन तक लघु हो सकते हैं। प्रथम भेद 'बाह' मे आठ लघु होते हैं, शेष २४ भेदों मे क्रमशः एक-एक गुरु के स्थान में दो-दो लघु बढ़ते जाते हैं।[4] हेमचंद्र ने इन भेदों को महत्त्व नही दिया।

हिंदी लक्षण-ग्रंथ छंदःप्रभाकर में भानु ने इस छंद को अर्द्धसम चतुष्पदी माना है तथा उल्लाल नामक १३ मात्राओं के पाद के एक सम चतुष्पदी छंद का उल्लेख भी किया है।[5]

२८ मात्राओं के पादवाले अन्य द्विपदी छंद हैं लय[6] (४+४+४+४+४+४+४=२८ मात्राएँ), जिसके पाद में यति नहीं होती; भ्रमरपद[7] (४+४+२+२+४+४+४+४=२८ मात्राएँ), जिसके पाद में १०वी मात्रा के बाद यति आती है; तथा उपभ्रमरपद[8] (६+४+४+४+४+४+२=२८ मात्राएँ)। ये तीनों तालवृत्त है और अष्टमात्रिक तालगणों के सहारे गेय हैं। लय नामक छंद में बलाघात प्रत्येक तालगण की प्रथम मात्रा पर तथा शेष दोनों छंदों में बलाघात तालगण की तृतीय मात्रा पर होता है।

२९ मात्राओं के पादवाले सम द्विपदी हैं गरुडपद[9] (४+४+४+४+४+४+५) और उपगरुडपद[10] (६+४+४+४+४+४+३)। ये दोनों भी तालवृत्त है और अष्टमात्रिक तालगण में गेय हैं। प्रथम में बलाघात प्रत्येक तालगण की प्रथम मात्रा पर और दूसरे में बलाघात तालगण की तृतीय मात्रा पर होता है। पादांत में ३ मात्राओं की कमी की, जो तालमात्राओं (३२) तथा वर्णमात्राओं (२९) के अंतर के कारण घटित होती है, पूर्त्ति विराम या प्लुत उच्चारण के सहारे की जाती है।

---

१. प्रा० पैं० १।१०५। तथा ११८।
२. हे० छं० ५।२-३।
३. छं० को० १२।
४. क० द० २।२-३।
५. छं० प्र०। पृ० ४६।
६. स्वयं० ६।१६३; हे० छं० ७।४।
७. स्वयं० ६।१६४; हे० छं० ७।५।
८. स्वयं० ६।१६५; हे० छं० ७।६। वृ० छं० को० ३५।
९. स्वयं० ६।१६६; हे० छं० ७।७।
१०. स्वयं० ६।१६७; हे० छं० ७।८।

३० मात्राओं के पादवाले सम द्विपदी है–हरिणीकुल[1] (४+४+४; +४+४; +४+४+२), जिसमें यति १२वीं तथा २०वीं मात्राओं पर आती है; गीतिसम[2] (४+४+४+४+२; +२+४+४+२), जिसमे यति १०वी तथा १८वी मात्राओं पर आती है; भ्रमरद्रुत या भ्रमररुत[3] (६+४; +२+६; +६+६), जिसमें यति १०वी और १८वीं मात्राओं पर होती है; तथा हरिणीपद[4] (६+४+४+४+४+४+४), जिसमें यति ८वी मात्रा पर होती है, यद्यपि यह स्पष्टोक्त नही।

३० से अधिक मात्राओं के पादवाले द्विपदी भी इन आचार्यो ने उल्लिखित किये है।

३१ मात्राओं के पादवाले छंद है—कमलाकर[5] (६+६+६+६+४+३), कुंकुमतिलकावली[6] (४+४+४+४+४+४+४+३); रत्नकंठिका[7] (६+४+४+४+४+४+५), जिसमें यति १२वी और २०वी मात्राओं के बाद होती है; शिखा[8] और छड्डणिका।[9] रत्नकंठिका का जो मात्रिक गणविधान कोष्ठकों में दिया गया है, वह स्वयंभू के आधार पर है। हेमचंद्र इस छंद का पूर्वकथित दो छंदों से अंतर यति-स्थान पर आद्धृत मानते हैं। स्वयंभू का रत्नकठिका छंद हेमचंद्र के शिखा छंद के समान है। हेमचंद्र के अनुसार छड्डणिका का पादगत मात्रिक गणविधान कुंकुमतिलकावली के समान होता है, लेकिन यति १०वीं और १८वीं मात्राओ के बाद आती है। किंतु, स्वयंभू ने छड्डणिका को षट्पदी छंद माना है।[10] शिखा छंद को भी स्वयंभू ने [illegible]पदी के बजाय अर्द्धसम चतुष्पदी माना है।[11]

३२ मात्राओं के पादवाले सम द्विपदी छंद है—स्कंधकसम[12] (गंधराम), मौक्तिकदाम[13] तथा नवकदलीपत्र।[14] प्रत्येक का पाद आठ चतुष्कलों से बना होता है। इनका अंतर यति को लेकर है। प्रथम मे १०वी तथा १८वी, द्वितीय में १२वी तथा २०वी, और तृतीय में १४वी तथा २२वी मात्राओं के बाद यति आती है। यदि आठ चतुष्कलों के बजाय इनका पादगत गठन इस प्रकार हो—

६+४+४+४+४+४+४+२

---

१. हे० छं० ७।९; स्वयं० ६।१६८।

२. हे० छं० ७।१०; स्वयं० ६।१६९।

३. हे० छं० ७।११; स्वयं० ६।१७०।

४. हे० छं० ७।१२। स्वयंभू ने हेमचंद्र के हरिणीकुल को ही हरिणीपद कहा है और इस छंद का अलग वर्णन नहीं किया है।

५. हे० छं० ७।१३।

६. हे० छं० ७।१४; स्वयं० ६।१७२।

७. हे० छं० ७।१५; स्वयं० ।६।१७३।

८. हे० छं० ७।१६।

९. हे० छं० ७।१७।

१०. स्वयं० ८।२०।

११. स्वयं० २।२५।

१२. हे० छं० ७।१८; स्वयं० ६।१७४।

१३. हे० छं० ७।१९; स्वयं ६।१७५; क० द० २।३।

१४. हे० छं० ७।२०; स्वयं० ६।१७६।

—तो इन तीनों छंदों को स्त्रीलिंग नाम (अर्थात् स्कंधकसमा, मौक्तिकदामा तथा नव-कदलीपत्रा) प्राप्त हो जाते हैं।[1] ये छंद अष्टमात्रिक तालगणों में गेय हैं।

३३ मात्राओं के पादवाला द्विपदी आयामक[2] (४+४+४+४+४+४+४+५) है। यति-स्थान का उल्लेख नहीं है। यह भी तालवृत्त है, और प्रथम मात्रा पर बलाघात से युक्त अष्टमात्रिक तालगणों में गेय है। अतएव यति ८ मात्राओं के बाद मानी जा सकती है। जबकि बलाघात तृतीय, पंचम अथवा सप्तम मात्राओं पर पड़ता है और इस कारण यति को ८वीं मात्रा पर से १०वीं, १२वीं अथवा १४वीं मात्राओं पर स्थानांतरित कर दिया जाता है, तब ऐसे आयामक छंद को क्रमशः कञ्चीदाम,[3] रसना-दाम[4] अथवा चूडामणि[5] कहते हैं। यदि इन चार छंदों के पाद इस प्रकार गठित हों—

६+८+४+४+४+४+४+३

—तो इनके नाम के आगे 'उप' उपसर्ग लग जाता है।[6]

३४ मात्राओं के पाद का द्विपदी स्वप्नक[7] (८ चतुष्कल+द्विकल) है, जिसमें यति-स्थान निर्दिष्ट नहीं। तात्पर्य यह कि यति ८वीं मात्रा के बाद है; क्योंकि यह अष्ट-मात्रिक तालगण में गेय है। जब यति ८वीं मात्रा पर से १०वीं, १६वीं या १८वीं मात्रा पर स्थानांतरित कर दी जाती है, तो ऐसे स्वप्नक को क्रमशः अप्सरकुसुम,[8] भुजगविक्रांत,[9] ताराध्रुवक[10] तथा नवरंगक[11] कहते हैं। स्वयंभू का ताराध्रुवक छंद हेमचंद्र के कुमुद नामक छंद के बराबर है, किंतु यति १४वीं तथा २२वीं मात्राओं पर होती है, १०वीं-१८वीं पर नहीं। ३४ मात्राओं के पाद के अन्य द्विपदी हैं स्थविरासनक[12] (६+६+६+४+४+४+४=३४ मात्राएँ), जिसकी यति १६वीं और २४वीं मात्राओं के उपरांत होती है, सुभग[13] (४+४+४+४+४+४+४+६=३४ मात्राएँ), जिसकी यति स्थविरासन के समान ही होती है, कुमुद[14] (६+४+४+६+४+४+४+२=३४ मात्राएँ), जिसकी यति १०वीं और १८वीं मात्राओं के बाद होती है, तथा भाराक्रांत[15] (मात्रागणविधान

---

१. स्वयं० ६।१७७; हे० छं० ७।२१।
२. स्वयं० ६।१७८; हे० छं० ७।७।२२।
३. हे० छं० ७।२३; स्वयं० ६।१७९।
४. हे० छं० ७।२४; स्वयं० ६।१८०।
५. हे० छं० ७।२५; स्वयं० ६।१८१।
६. हे० छं० ७।२६; स्वयं० ६।१८२।
७. हे० छं० ७।२७; स्वयं० ६।१८३। (स्वयंभू ने इसे 'द्रोघणअ' कहा है)
८. स्वयं० ६।१८४। (हेमचंद्र ने इसका उल्लेख नहीं किया)।
९. हे० छं० ७।२८; स्वयं० ६।१८५।
१०. हे० छं० ७।७।२९; स्वयं० ६।१८६।
११. हे० छं० ७।३०; स्वयं० ६।१८७।
१२. हे० छं० ७।३१।
१३. हे० छं० ७।३२।
१४. हे० छं० ७।३४।
१५. हे० छं० ७।३५।

कुमुद-जैसा), जब यति १२वी और १८वी मात्राओ पर होती है। ये चारो छद स्वयभू द्वारा उल्लिखित नही है। इनके अतिरिक्त ३४ मात्राओ के पाद का एक और द्विपदी है पवनध्रुवक[1] (६+४+४+४+४+६+४+२=३४), जिसमे यति १४वी और ३२वी मात्राओ पर होती है।

३५ मात्राओ के पाद के द्विपदी है—नीर्यानिन[2] (४+४+४+४+४+४+४+४+३=३५), जिसमे यति-स्थान निर्दिष्ट नही, कदोट्ट[3] (मात्रागणविधान वही), जिसमे यति १४वी तथा २२वी मात्राओ पर होती है, भ्रमरद्रुत[4] (६+६+४+४+४+४+४+३=३५), जिसमे यति १०वी-१८वी मात्राओ के बाद आती है, सुरक्रीडित[5] (गणविधान वही), जिसमे यति १२वी-२०वी मात्राओ पर आती है, सिहविक्रात[6] (गणविधान वही), जिसकी यति १४वी-२२वी मात्राओ पर आती है, कुकुमकेसर[7] (गणविधान वही), जिसमे यति १६वी-२४वी मात्राओ पर आती है, तथा प्रसूता[8] (२+३+५+४+४+४+४+४+५=३५), जिसके चतुष्कालो मे द्वितीय और पचम नरेन्द्र (।ऽ।) होते है।

३६ मात्राओ के पादवाले द्विपदी है—बालभुजगमललित[9] (९ चतुष्कल), जिसमे यतिस्थान-निर्देश नही है, उपगधर्व[10] (६+६+६+४+४+४+४+४=३६), जिसमे १२वी तथा २०वी मात्राओ पर यति होती है, सगीत[11] (गणविधान वही), जिसमे यति १४वी-२२वी मात्राओ पर होती है, तथा उपगीत या उपसगीत[12] (गणविधान वही), जिसमे यति १६वी-२४वी मात्राओ पर होती है।

३७ मात्राओ के पादवाले द्विपदी है—गोन्दल[13] (८ चतुष्कल, १ पचकल), जिसमे यति-स्थान निर्दिष्ट नही, रथ्यावर्णक[14] (६+४+४+४+४+४+४+४+५=३७), जिसमे यति १२वी-२०वी मात्राओ पर होती है, चच्चरी[15] (मात्रागणविधान वही), जिसमे

---

१. स्वयं० ६।१८६; हे० छं० ७।३३।
२. स्वयं० ६।१८८। इसे हेमचंद्र ने कदोट्ट कहा है। हे० छं० ७।३६।
३. स्वयं० ६।१८९।
४. स्वयं० ६।१९०; हे० छं० ७।३७।
५. स्वयं० ६।१९१; हे० छं० ७।३८।
६. हे० छं० ७।३९।
(स्वयंभू ने इस भेद का उल्लेख नही किया।)
७. हे० छं० ७।४०। (स्वयंभू ने इस भेद का उल्लेख भी नहीं किया।)
८. वृ० जा० स० ४।९२। (इसका उल्लेख हेमचंद्र और स्वयंभू ने नहीं किया है।)
९. हे० छं० ७।४१। (इसका उल्लेख स्वयंभू ने नही किया।)
१०. हे० छं० ७।४२। (इसका उल्लेख भी स्वयंभू ने नहीं किया है।)
११. हे० छं० ७।४३; स्वयं० ६।१९२।
१२. हे० छं० ७।४४; स्वयं० ६।१९३।
१३. हे० छं० ७।४५; स्वयं० ६।१९४।
१४. हे० छं० ७।४६; स्वयं० ६।१९५।
१५. हे० छं० ७।४७; स्वयं० ६।१९६।

यति १४वी-२२वीं मात्राओं पर होती है; अभिनव[1] (गणविधान वही), जबकि यति १६वी-२४वी मात्राओं पर होती है; तथा चपल[2] (४+४+४+४+४+४+६+४+३=३७), जिसमें यति १६वी-२४वी मात्राओं पर होती है।

३८ मात्राओं के पादवाले द्विपदी हैं—अमृत[3] (४+४+४+४+४+४+६+४+४), जिसमें यति १६वी-२४वी मात्राओं पर होती है; सिंहपद[4] (९ चतुष्कल, १ द्विकल), जिसमें यति अमृत के समान होती है; दीर्घक[5] या रविरमणप्रिय[6] (गणविधान वही), जिसमें यति १४वीं-२२वी मात्राओं पर होती है (इस छंद को हेमचद्र ने दीर्घक और स्वयंभू ने रतिरमणप्रिय कहा है); कलकंठीरुत[7] (१ षट्कल, ८ चतुष्कल), जिसमें यति दीर्घक के समान होती है; तथा शतपत्र[8] (६+६+४+४+४+४+४+४+२), जिसमे यति दीर्घक के समान ही होती है।

३९ मात्राओं के पादवाले द्विपदी हैं—अतिदीर्घक[9] (९ चतुष्कल, १ त्रिकल), जिसमें यति १४वीं-२२वीं मात्राओं पर होती है; तथा मत्तमातंगक[10] या मत्तमातगविजृंभित[11] (६+६+४+४+४+४+४+४+३), जिसमे यति-विधान वही है (इस छद को हेमचंद्र ने मत्तमातंगविजृंभित तथा स्वयंभू ने मत्तमातगक कहा है)।

४० मात्राओं तथा इससे अधिक के पादवाले द्विपदी छंदों को हेमचंद्र तथा स्वयंभू ने मालाध्रुवक[12] कहा है। ४४ मात्राओं के एक द्विपदी छंद को विरहांक ने विशाला[13] नाम दिया है। इस छंद का पाद चतुष्कलों द्वारा गठित होता है; विषम चतुष्कलो में (ऽऽ) वर्जित है तथा सम चतुष्कलों के आरंभ और अंत में लघुवर्ण का विधान है; यति-निर्देश नहीं।

हेमचंद्र, स्वयंभू, विरहांक और कविदर्पणकार द्वारा उल्लिखित द्विपदी छंदों का परिचय ऊपर दिया गया। अब हम प्राकृतपैंगलम् और छंदःकोश में दिये गये द्विपदी छंदों पर दृष्टि डालें। प्राकृतपैंगलम् में ४१ मात्राओं के पादवाले एक सम द्विपदी छंद

---

१. हे० छं० ७।४८; स्वयं० ६।१९७।
२. हे० छं० ७।५०; स्वयं० ६।१९७।
३. हे० छं० ७।५०; स्वयं० ६।२००।
४. हे० छं० ७।५१; स्वयं० ६।२००।
५. हे० छं० ७।५२।
६. स्वयं० ६।१९८।
७. हे० छं० ७।५३; स्वयं० ६।१९९।
८. हे० छं० ७।५४; स्वयं० ३।१९९। (स्वयंभू ने इस छंद को 'वंसवअवत्तम्' कहा है, हेमचंद्र ने शतपत्र।)
९. हे० छं० ७।५५; स्वयं० ६।२०१।
१०. स्वयं० ६।२०२।
११. हे० चं० ७।५६।
१२. हे० छं० ७।५७; स्वयं० ६।२०३।
१३. वृ० जा० स० ४।९०।

को 'खंजा'[1] कहा है, जिसके प्रति पाद में नौ सर्वलघु चतुष्कल के उपरांत एक रगण का विधान है। इस छंद के पाद में वर्णो के लघुगुरु-स्वरूप निश्चित होने के कारण हम इस छंद को विशुद्ध मात्रिक छद नही कह सकते; इसकी प्रकृति वर्णवृत्त-जैसी है।

इन द्विपदी छंदों के अतिरिक्त 'द्विपदी' नाम का ही एक छंद भी है, जिसकी चर्चा विरहांक के सिवा अन्य सभी लक्षणकारों ने की है।[2] 'द्विपदी' नामक यह सम छंद द्विपदी है, जैसा नाम से ही ध्वनित है, चतुष्पदी नहीं। वेलंकर ने इसे छंदःकोश[3] के आधार पर चतुष्पदी माना है।[4] यों, स्वयंभूच्छदस् में भी 'द्विपदी' छंद को चार-पादवाला माना गया है।[5] किंतु, प्राकृत-पैंगलम् में इसके लक्षण और उदाहरण[6] दोनों से विदित होता है कि यह द्विपदी छंद है, जैसा इसका नाम व्यंजित करता है। प्राकृत-पैंगलम्, कहा जा चुका है, स्वयंभूच्छंदस् या छंदःकोश की अपेक्षा वास्तविक व्यवहार के अधिक निकट है। इस छंद का व्यावहारिक प्रयोग भी द्विपदी रूप में 'भविसयत्तकहा' में हुआ है।[7] 'भविसयत्तकहा' के संपादकों (दलाल और गुणे) ने भी भूमिका में इस छंद को द्विपदी (दो पादवाला) माना है।[8] उपरिलिखित कारणों से 'द्विपदी' नामक छंद को सम द्विपदी (दो पादवाला) मात्रिक वृत्त के अंतर्गत रखना ही उचित है।[9] 'द्विपदी' नामक छंद का सामान्य मात्रिक गणविधान प्राकृतपैंगलम् के अनुसार पूरे अनुच्छेद में इस प्रकार है[10]—

६+४+४+४+४+६ (=२८)
६+४+४+४+४+६ (=२८)

पादांत छः मात्राएँ गण-रूप में इस प्रकार भी नियोजित हो सकती हैं[11]—

४+गुरु (ऽ)

---

१. प्रा० पैं० १।१५८-१६०।
२. प्रा० पैं० १।१५२; छं० को० ३५; हे० छं० ४।६४। स्वयं० ८।३७; क० द० २।२४; गाथालक्षण ८१।
३. छं० को०।३५।
४. H. D. Velankar : A. M.; JUB II-iii, p. 39.
५. स्वयं० ८।३७।
६. प्रा० पैं० १।१५२-१५५।
७. धपवाल : भविसयत्तकहा। (संधियाँ १२, १३, १४ के प्रत्येक कड़वक तथा संधि १५ के प्रथम तीन कड़वक के आरंभ में तथा संधि १२ के पंचक कड़वक का संपूर्ण द्विपदी है।)
८. दलाल और गुणे—'भविसयत्तकहा' की भूमिका, पृ० ३०-३१।
९. 'द्विपदी' नामक एक अन्य छंद भी है, किंतु उसमें दो पाद नहीं, बहुत पाद होते हैं, क्योंकि वह प्रगाथ (Strophic) छंद है। (दे० वृ० जा० स० २।१)
१०. प्रा० पैं० १।१५२।
११. प्रा० पैं० १।१५४; क० द० २।२४; छं० को० ३५। तु० उपभ्रमरपद; स्वयं ६।१६५; हे० छं० ७।६।

हेमचंद्र[1] तथा कविदर्पणकार[2] के अनुसार द्विपदी के पाद में उपर्युक्त मात्रिक गणों मे से प्रथम और अंतिम चतुष्काल का जगण (।ऽ।) या सर्वलघु (।।।।) होना चाहिए। छंदःकोश[3] या प्राकृतपैंगलम्[4] में इस प्रकार की शर्त्त का उल्लेख नही।

चार पादवाले 'द्विपदी' छंदों की चर्चा विरहांक[5] ने की है। किंतु द्रष्टव्य है कि प्रस्तुत द्विपदी छंद (पादविधान–६+४+४+४+४+६–२८) का उल्लेख तक उन्होंने नहीं किया है। विरहांक द्वारा कथित मात्रागणसम द्विपदी छदों में एक २८ मात्राओं का छंद 'रचिता' भी है; किंतु उसका पादगत गणविधान सर्वथा भिन्न है।[6]

वेलंकर ने कई अन्य मात्रिक द्विपदी छंदों को चतुष्पदी या षट्पदी तथा कई चतुष्पदी छंदों को षट्पदी या द्वादशपदी माना है। इसके लिए कही (१) कविदर्पण का आधार लिया गया है और कही (२) पादांतर्गत दो यति-स्थानों पर परस्पर तुक को पादसमाप्ति का सूचक समझा गया है।[7] कविदर्पण के संबंध में हमारा निवेदन यह है कि उसकी अपेक्षा प्राकृतपैंगलम् को आधार मानना अधिक उचित होगा; क्योंकि यह अपेक्षाकृत काव्य के बीच छंदोव्यवहार की वास्तविकता के अधिक निकट है। वेलंकर की दूसरी युक्ति के संबंध में हम आगे चतुष्पदी छंदों के प्रसंग में विचार करेंगे। हम देखेंगे कि यह युक्ति भी विचार-निकष पर खरी नही उतरती।

इन छंदों के अतिरिक्त घत्ता,[8] घत्तानंद[9] और झुल्लण[10]—ये तीन छंद भी द्विपदी हैं। घत्ता छंद को रत्नशेखर ने चतुष्पदी माना है, जिसके प्रथम और तृतीय पादों में से प्रत्येक १८ मात्राओं का होता है तथा द्वितीय और चतुर्थ पादों में से प्रत्येक १३ मात्राओं का होता है। कविदर्पणकार[11] ने घत्ता के छः भेदों का उल्लेख किया है और प्रत्येक भेद को षट्पदी माना है। इन छः भेदों में वह भी है, जो अभी विचाराधीन है। इसके अर्द्धांश के तीन पादों में मात्राएँ क्रमशः १०, ८ और १३ मानी गई हैं। छः पादों में प्रथम-द्वितीय, चतुर्थ-पंचम तथा तृतीय-षष्ठ पाद परस्पर तुकांत या अंत्यानुप्रासयुक्त हैं। अंत्यानुप्रास की इस विशिष्ट योजना के कारण तथा कविदर्पण को आधार मानते हुए वेलंकर महोदय घत्ता को षट्पदी छंद मानते हैं।[12] किंतु, मेरा विचार है कि छंदःकोश और कविदर्पण का अनुकरण न कर हमें प्राकृत-

---

१. हे० छं० ४।६४।
२. क० द० २।२४।
३. छं० को० ३५।
४. प्रा० पैं० १।१५२।
५. वृ० जा० स० २।९-१६।
६. वही ३।२५।
७. H D. Velankar : A. M. JUB, II-iii, p. 148-49.
८. छं० को० ४३, प्रा० पैं० १।९९; क० द० २।२९-३१।
९. प्रा० पैं० १।१०२।
१०. प्रा० पैं० १।१५६।
११. क० द० २।२९-३१।
१२. H. D. Velankar : A. M., JUB, II-iii, p. 148-46.

पैंगलम् को आधार मानना चाहिए, जिसमें अपभ्रंशकालीन मात्रिक छंदों का विवेचन तद्युगीन वास्तविक, व्यावहारिक प्रयोग पर आधृत कहा जा सकता है। प्राकृत-पैंगलम् में इस छंद को द्विपदी माना है, जिसके प्रत्येक पाद मे ३१ मात्राएँ होती हैं, जो सात चतुर्मात्रिक गणों के उपरांत ३ सर्वलघुरूप मात्राएँ रखने से पूरी होती है। प्रत्येक पाद में यति १०वी और पुनः १८वीं मात्राओं के उपरांत आती है। पादांतर्गत इन दोनों यति-स्थानों पर परस्पर तुक मिलता है। दोनों पादों के अंत में तो तुक मिलता ही है। हिंदीछंदों के लक्षणग्रंथ छंदोहृदयप्रकाश, छंदपयोनिधि और छंदोऽर्णवपिंगल में भी घत्ता को द्विपदी छंद माना गया है।[1]

घत्ता द्विपदी छंद है, चतुष्पदी या षट्पदी नहीं, मेरा यह मंतव्य वास्तविक काव्य-प्रयोग के अवलोकन से भी पुष्ट है। धनपाल के भविसयत्तकहा में जहाँ कहीं भी[2] घत्ता देने के लिए 'घत्ता' नामक छंद प्रयुक्त हुआ है, वह द्विपदी रूप मे है और प्रायः सदैव उसका पादगत मात्राविधान है १०+८+१३। इन सभी स्थलों पर घत्ता दो पक्तियों में निबद्ध है, जिससे उसका द्विपदी होना विदित है। इम ग्रंथ के संपादकों (दलाल और गुणे) ने भी इसे द्विपदी माना है।[3]

कविदर्पण मे घत्ता के जो पाँच अन्य भेद बताये गये हैं,[4] उनके अर्द्धांश के मात्रा-विधान क्रमशः इस प्रकार हैं—१२+८+१३, ८+८+११, १०+८+११, १२+८+११, १२ ८+१२। मेरा विचार है कि इन सब को प्रति पादांतर्गत दो स्थलों पर यति से युक्त द्विपदी छंद माना जा सकता है। कविदर्पण के वृत्तिकार ने घत्ता के अन्य भेदों की संभावना भी ध्वनित की है और छंदःकंडली नामक किमी (अब अप्राप्य) छंदोग्रंथ मे इसकी पुष्टि मे उदाहरण भी दिये हैं।

'घत्ता' शब्द का गाथा से ध्वनिसाम्य के कारण यह भ्रम न होना चाहिए कि घत्ता छंद गाथा से उद्भूत हुआ होगा; क्योंकि दोनों छंदों में कोई साम्य नहीं है। गाथा विषम द्विपदी है, घत्ता सम द्विपदी। गाथा के दो पादों में क्रमशः ३० और २८ मात्राएँ होती है, घत्ता के प्रति पाद में ३१। गाथा में पादांतर्गत एक स्थान पर यति होती है, घत्ता में दो स्थानों पर। और, सबसे बड़ी बात तो है लय-भेद। दोनों छंदों की सांगीतिकता भिन्न प्रकार की है।

घत्ता छंदोवैभिन्न्य द्वारा कड़वकांत को भी कहते हैं। कथा-काव्यों में कड़वक के अंत में, अरिल्ल, पद्धरी, पादाकुलक आदि के पादों के उपरांत, किसी द्विपदी छंद के दो पाद रखने की प्रथा है। इसे घत्ता कहते हैं। संभव है, पहले इस स्थल पर

---

१. छं० हृ० प्र० पृ० ३६ क तथा ख; छं० पिं० ७।१४, १५; छं० प० भा०। ७।३१३। (छं० प्र० पृ० ९२। पर भानु ने भी घत्ता का द्विपदी होना स्वीकार किया है, यद्यपि वे इसे अर्द्धसम चतुष्पदी वर्ग में रखते हैं।)
२. वही, भूमिका, पृ० ३३।
३. धनपाल: भविसयत्तकहा (संधियाँ १२, १३, १४ में सभी कड़वक के अंत में, संधि १५ में प्रथम कड़वक के अंत में तथा इन संधियों के मंगल-पद्यों में)।
४. क० द० २।२९-३३।

घत्ता नामक छंद का ही व्यवहार होता हो, बाद में अन्य किसी भी दो पादवाले छंद की योजना होने लगी हो। घत्तानंद[1] के प्रत्येक अर्द्धांश में ११+७+१३ मात्राएँ होती हैं। झुल्लण[2] के प्रत्येक अर्द्धांश में १०+१०+१७ मात्राएँ होती हैं। दोनों में संयोजकों द्वारा पादांतर्गत यति-स्थान द्योतित हैं। वेलंकर ने इन दोनों छंदों को षट्पदी माना है।[3] किंतु प्राकृतपैंगलम् में इन दोनों को भी द्विपदी के रूप में स्वीकार किया गया। घत्ता को द्विपदी मानने के संबंध में ऊपर जो युक्तियाँ दी गई हैं, वे इन दोनों के संबंध में भी चरितार्थ हैं। अतएव, हम इन्हें भी सम द्विपदी-वर्ग के अंतर्गत रखना ही उचित मानते हैं।

ये तीनों छंद गेय हैं और ८ मात्राओं के धुमाली ताल में गाये जाते हैं। घत्ता छंद में स्वराघात प्रथम पाद की तीसरी, ११वीं, १९वी तथा २७वीं मात्राओं पर होता है। अर्थात्, अष्टमात्रिक प्रत्येक तालगण की तीसरी मात्रा स्वराघातपूर्ण होती है। ठीक उसी प्रकार जैसे पज्झटिका छंद में। पादांत में १ मात्रा का विराम आवश्यक है; क्योंकि चार तालगणों की पूर्त्ति के लिए ३२ मात्राएँ चाहिए जबकि घत्ता के प्रति पाद में ३१ ही होती हैं। घत्ता और पज्झटिका छंद के ताल-विधान के साम्य के कारण ही संभवत: प्राकृत-अपभ्रंश काव्यों में कड़वक की रचना पज्झटिका छंद में होती थी, और कड़वकांत घत्ता 'घत्ता' छंद मे दिया जाता था। पज्झटिका के बाद घत्ता के लिए घत्ता छंद के प्रयोग से कड़वकांत में अपेक्षित वैविध्य का समावेश भी हो जाता था और फिर भी ताल-संगीत की अखंड गति निर्बाध रहती थी।

घत्तानंद (११+७+१३)×२ की तालगति अनियमित मालूम होती है। झुल्लण (१०+१०+१७)×२ झंपा ताल में गाया जाता है, जिसमें पंचमात्रिक तालगणों का प्रयोग होता है। प्रत्येक तालगण की प्रथम मात्रा स्वराघातपूर्ण होती है। छंद के प्रत्येक अर्द्धांश (पाद) के अंत में तीन मात्राओं का विराम अपेक्षित होता है; क्योंकि अर्द्धांश में तालमात्राएँ ८×५=४० चाहिये, जबकि वर्णमात्राएं १०+१०+१७=३७ ही होती हैं। यह छंद अपभ्रंश से मराठी में भी चला आया है। शायद झंपाताल में गाये जाने के प्रभाव से वहाँ इसका नाम ही झंपा छंद पड़ गया। प्राचीन मराठी नाटकों में इसका प्रयोग तीव्र भावावेश या त्वरित अथवा क्रोधपूर्ण चेष्टाएँ व्यक्त करने के लिए हुआ है।[4]

विषम द्विपदी

दो विषम मात्रिक द्विपदी छंद प्राकृतपैंगलम् में आये हैं—शिखा[5] और माला।[6] इन छंदों को विशुद्ध मात्रावृत्त नहीं कहा जा सकता। मात्रावृत्त में केवल विभिन्न मात्रागणों का पार्थक्य अपेक्षित होता है, और इसके लिए पूर्ववर्त्ती गण की अंतिम मात्रा

१. तु० : छं० हु० प्र०, पृ० ३६ ख; छं० प्र०, पृ० ९२।
२. तु० : छं० प्र०, पृ० ७८।
३. H. D. Velankar : A. M. JUB II-iii, p. 47.
४. H. D. Velankar : A. M. JUB II-iii, p. 48.
५. प्रा० पैं० १।१६१-१६३।
६. प्रा० पैं० १।१६४-१६६।

और परवर्त्ती गण की प्रथम मात्रा का गुरुरूप में संयोग वर्जित है। इससे अधिक वर्णों के लघुगुरु-संबंधी वर्ण-संख्या संबंधी प्रतिबंध मात्रावृत्त में नहीं होते। मात्रिक गण के अंदर वर्ण-संख्या या लघुगुरु-क्रम के संबंध में कोई बंधन नहीं। इस दृष्टि से सिक्खा, माला और खंजा विशुद्ध मात्रिक छंद नहीं हैं; क्योंकि इनमें वर्णसंख्या और लघुगुरु-संबंधी काफी बंधन है। सिक्खा में प्रथम पंक्ति में छः सर्वलघु चतुर्मात्रिक गण (द्विज) तथा तदुपरि एक जगण होते हैं। दूसरी पंक्ति में सात सर्वलघु चतुर्मात्रिक गण तथा एक जगण (।ऽ।) होते हैं। माला में प्रथम पंक्ति में नौ सर्वलघु चतुर्मात्रिक गण के बाद एक रगण (ऽ।ऽ) और एक सर्वगु चतुर्मात्रिक गण (वर्ण) आते हैं तथा दूसरी पंक्ति साधारण गाथा छंद की दूसरी पंक्ति के समान होती है।

द्विपदी छंदों के अध्ययन पर आधृत सामान्य निष्कर्ष—

ऊपर जिन द्विपदी छंदों की चर्चा हुई है, उनके विश्लेषण और सूक्ष्म अवलोकन के फलस्वरूप हम निम्नलिखित कुछ सामान्य निष्कर्ष निकाल सकते हैं—

(क) द्विपदी छंदों में साधारणतः चतुर्मात्रिक गण का प्रयोग होता है, यद्यपि वैविध्य के लिए या पादगत मात्रासंख्यापूर्त्ति के लिए षाण्मात्रिक अथवा द्वैमात्रिक गण भी कभी-कभी प्रयुक्त होते हैं। त्रैमात्रिक अथवा पांचमात्रिक गणों का प्रयोग तभी होता है जब पादगत मात्रासंख्या विषम (उ०—१, ३, ५, ७, ९, ११, १३, १५ आदि) होती है; अक्सर त्रिकल या पंचकल को पादांत में ही रखते हैं।

चतुर्मात्रिक गण की व्यापक लोकप्रियता का कारण यह हो सकता है कि ये द्विपदी मात्रिक छंद पहले तालवृत्त के रूप में विकसित हुए होंगे और आज भी—अपने मात्रिक स्वरूप में भी—तालगणों के अनुशासन में बाँधे जाने योग्य हैं, जैसा कई छंदों के प्रसंग में हम ऊपर देख चुके हैं। अक्सर इनके गेय रूप में चतुर्मात्रिक या अष्टमात्रिक तालगण प्रयुक्त होता है।

(ख) पादांतर्गत यति-स्थान से भी इस मंतव्य की पुष्टि होती है। प्रायः सदैव पादांतर्गत दूसरी यति पहली यति से आठ मात्राओं के अंतर पर आती है। पहली यति पाद में १०वीं, १२वीं, १४वीं या १६वीं मात्रा पर होती है। जब यति निर्दिष्ट नहीं होती, तब ८वीं-१६वीं मात्राओं पर हम यति मान सकते हैं। इन बातों का अर्थ यह हुआ कि इन छंदों के पाद अष्टमात्रिक तालगणों में सदैव बाँधे जा सकते हैं, चाहे प्रथम यति पूर्वोक्त किसी स्थान पर आती हो। यतिस्थान और तालगणों का संबंध नीचे दिये सूत्रों से स्पष्टतर होगा—

तालगणविधान		यति-स्थान
०+८/+८/+	—	८, १६ मात्रोपरांत
२+८/+८/+	—	१०, १८ ,,
४+८/+८/+	—	१२, २० ,,
६+८/+८/+	—	१४, २२ ,,
८+८/+८/+	—	१६, २४ ,,

तालगण का परिमाण प्रथम और द्वितीय यतिस्थानों के मात्रिक अंतर (=८ मात्राएँ) के बराबर है।

(ग) प्रारंभिक तथा द्वितीय यति-स्थानो के परिवर्त्तन अथवा सामान्य चतुष्कलो के स्थान पर षट्कल-द्विकल के परिवर्त्तन के फलस्वरूप द्विपदी छंदो के नाम बदल जाते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि ताल-सागीतिकता मे परिवर्त्तन छद-परिवर्त्तन का कारण बनता है। अर्थात् इन छदो मे से अधिकाश मूलत: गेय छद या तालवृत्त है।

वस्तुत: इनमें अधिकांश छद अष्टमात्रिक ताल (धुमाली ताल) मे गेय है।

(घ) उपरिलिखित अधिकांश द्विपदी छदो में जो यति आई है, वह वर्ण-वृत्तो के अंतर्गत प्रयुक्त यति के समान वर्णनात्मक या कथात्मक सुविधा की दृष्टि मे, लबे पादो के बीच मे साँस लेने के अवकाश या विश्राम की आवश्यकता के फलस्वरूप नही आई है। वह तो निश्चय ही सागीतिक यति है, जिसका सामंजस्य या तादात्म्य ताल मे है। इस मंतव्य की पुष्टि आठ मात्राओ के अतर पर यति-योजना के अतिरिक्त इस बात से भी होती है कि यति-स्थानो पर अक्सर पादातर्गत यमक या तुक का प्रयोग होता है। वर्णनात्मक यति मे इसकी आवश्यकता नही होती। मात्रिक छदो मे भी जो वर्णनात्मक छंद है (अर्थात् गेय नही है,) जैसे गाथा, उल्लालक आदि, उनमे यतिस्थानो पर पादातर्गत यमक (तुक) नही होता; द्विपदी में अक्सर होता है। यतिस्थान पर यमक स्पष्टतया सांगीतिक नाद-सृष्टि के उद्देश्य से ही आयोजित होती है।

(ङ) यति-निर्देश अक्सर पादातर्गत दो स्थानो पर आठ मात्राओं के अतर मे किया गया है। इसका अर्थ यह नही कि १०वी, १२वी, १४वी या १६वी मात्राओ पर निर्दिष्ट प्रथम यति के पूर्व यति नही होती तथा द्वितीय यति के बाद यति नही होती। वस्तुत: प्रथम निर्दिष्ट यति के आठ मात्राएँ पूर्व तथा प्रत्येक आठ मात्राओं की इकाई के बाद यति होती है और यह यति ताल से सामंजस्य रखती है। लक्षणकारों ने केवल दो स्थानों पर यति-निर्देश द्वारा यति-युग्मो के बीच का मात्रिक अंतर मात्र ध्वनित किया है।

(च) किसी-किसी गेय द्विपदी में निर्दिष्ट यति-स्थानो के बीच आठ मात्राओं के बजाय ७ या ९ मात्राओं का अंतर भी देखने में आता है।[1] कहा जा सकता था कि इन छंदों की यति सागीतिक नही, वर्णनात्मक है; किंतु, यति-स्थानों पर पादांतर्गत यमक का प्रयोग यति की सांगीतिकता का संकेत करता है। सच तो यह है कि लिखित रूप में दूसरी यति पहली यति के बाद ७ या ९ मात्राओ के अंतर से आती प्रतीत होती है, किंतु जब छंद गाया जाता है, तो यति-योजना ताल का अनुसरण करती हुई आठ मात्राओं के अंतर से ही होती है। लिखित रूप में जो सात मात्राएँ होती हैं, उनको विराम या प्लुत उच्चारण के सहारे उच्चरित रूप मे आठ मात्राकाल तक खींच लिया जाता है। इसी प्रकार, लिखित रूप मे ९ मात्राओ की इकाई दीर्घवर्ण के ह्रस्व उच्चारण के सहारे आठ मात्राकाल में समाविष्ट कर दी जाती है।

द्विपदी छंदों के संबंध मे हम एक और तथ्य का अवलोकन करते हैं, जिससे उनके काव्य-प्रयोग पर प्रकाश पड़ता है। अल्प लंबाई (१२ मात्राओं तक) के पादवाले

१. स्वयं० ५।३-११; क० द० २।३१; प्रा० पै० १।१०२-१०४।

द्विपदी छंदों का उल्लेख स्वयंभू (८वी शती ?) और हेमचंद्र (१२वी शती) ने तो किया है, किंतु कविदर्पणकार (१३वी शती), प्राकृतपिगलकार (१४वी शती) तथा रत्नशेखर (१५वी शती) ने बिलकुल नही किया है। इससे प्रतीत होता है कि ये छद उन काव्यरूपो मे प्रयुक्त नही होते थे, जिनकी परंपरा बाद तक चलती रही, जैसे प्रबंधात्मक चरितकाव्य आदि। ये छोटे द्विपदी संभवतः कहावतो और गीतो के लिए ही आरंभ मे प्रयुक्त होते थे। बाद मे, चरितकाव्यो के विकास के साथ ये छंद प्रयोग से उठते गये और जब देशभाषा काव्य की ओर, उसके परिमाण और उत्कर्ष के कारण परवर्त्ती पंडितो का ध्यान गया, तब उस समय तक ये छंद प्राय: प्रयोग मे उठ चुके थे।[१] मध्यम तथा बृहत् पादवाले द्विपदी छंदो का प्रयोग प्राय: चरितकाव्यो मे कडवक के आरंभ और अंत मे ध्रुवक या घत्ता के रूप मे होता था और क्रमशः अधिक होता गया। यही कारण है कि प्राकृतपैंगलम् और छंदःकोश मे इन्ही दो कोटियों के द्विपदी मिलते हैं।

उपरिलिखित दो पादवाले गेय द्विपदी छंदों के अतिरिक्त लक्षणकारो ने कुछ ऐसे छंदों को 'द्विपदी' कहा है, जो वस्तुत: दो पाद के नही, वरन् ४ या ६ या ८ या अधिक पाद के हैं। विरहांक[२] ने 'द्विपदी' नाम के एक छंद का उल्लेख किया है जो प्रगाथ (Strophic) छंद है, और जो चार वस्तुक (प्रत्येक चार पादो के) तथा चार गीति (भद्रिका) के योग से बनता है; प्रत्येक गीति एक-एक वस्तुक के बाद आती है। विरहांक ने अपने ग्रथ के द्वितीय 'नियम' मे ५७ 'द्विपदी' छंदों के नाम गिनाये हैं[३] और तृतीय 'नियम' में उन्हें परिभाषित किया है। ये सभी छंद वस्तुत: चतुष्पदी हैं, द्विपदी नही। इनमे ३७ छंद मात्रागणसम हैं, ७ गणसम हैं, ८ अर्द्धसम हैं और ५ विषम हैं। मात्रागणसम मे चारों पादों में से प्रत्येक मे ११ से ३१ तक मात्राएँ कही गई हैं, अर्द्धसम में ९ से १६ तक। इन छंदों का उल्लेख स्वयंभू या कविदर्पणकार ने नही किया है, और न प्राकृतपैंगलम् या छंदःकोश में इनकी चर्चा हम पाते हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि कालांतर मे विरहांक द्वारा कथित चार पादों के ये 'द्विपदी' छंद प्रायः प्रयोग मे उठ गये।

विरहांक ने दो से अधिक पादवाले छंदों को द्विपदी क्यों कहा, यह एक रहस्य है। हो सकता है कि ये छंद किसी समय दो पाद के रहे हों, किंतु इससे भी अधिक संभव यह है कि वास्तविक व्यवहार मे ताल-सांगीतिक सुविधा की दृष्टि से कभी-कभी चतुष्पदी छंदों को द्विपदी रूप में गाया जाता रहा होगा और इसी से ऐसे छंद द्विपदी कहे गये होंगे।[४]

चतुष्पदी मात्रिक छंद

प्राकृत-अपभ्रंश लक्षण-ग्रंथों में चतुष्पदी मात्रिक छंद मुख्यत: दो प्रकार के उपलब्ध होते हैं—सर्वसम-मात्रिक[५] चतुष्पदी और अर्द्धसम मात्रिक चतुष्पदी। पहले हम सर्वसम छंदों पर विचार करें।

---

१. Velankar : JUB; Vol. 5; 1936; p. 48.
२. वृ० जा० स० २।१।
३. वही, २।९-१६।
४. Velankar : JUB; Vol. 5; 1936, p. 48.
५. हे० छं० ६।२३।

सममात्रिक चतुष्पदी

विशुद्ध मात्रावृत्त[1] कहे जाने योग्य सम चतुष्पदी छंदों में सबसे छोटा छंद विजयक[2] है, जिसके प्रति पाद में ८ मात्राएँ होती हैं। ध्रुवक[3] के प्रति पाद में ५+४=९ मात्राएँ होती हैं। शशिवदना[4] के प्रति पाद में ४+४+२=१०, तथा एकावली के प्रति-पाद में ५+५=१० मात्राएँ होती हैं। एकावली[5] छंद मदनावतार या कामिनीमोहन के समान है, केवल लंबाई में उससे आधा है। मारकृति[6] छंद में ४+५+२=११ मात्राएँ होती हैं। महानुभाव[7] छंद में ४+४+४ अथवा ६+६ अथवा ६+४+२=१२ मात्राएँ होती हैं। १२ मात्राओं के पादवाले सम चतुष्पदी छंद नटचरण की चर्चा इस अध्याय के प्रथम प्रकरण में हो चुकी है। अप्सरीविलसिता[8] में ६+४+३ या ४+४+५ या ५+५+३=१३ मात्राएँ होती हैं। गंधोदकधारा[9] में ४+४+४+२ या ६+४+४=१४ मात्राएं होती हैं। लघुचतुष्पदी[10] में १०+५=१५ मात्राएँ होती हैं। पारणक[11] में ४+४+४+३ या ६+४+५=१५ मात्राएँ होती हैं। १५ मात्राओं के पादवाले सम चतुष्पदी छंदों में से ऊपर ऐसे छंदों की चर्चा की गई, जिनमें वर्णों के लघुगुरु-स्वरूप के संबंध में, मात्रिक गण-विधान की आवश्यकताओं के अतिरिक्त, कहीं कोई प्रतिबंध नहीं। किंतु, इनके साथ-साथ ऐसे चतुष्पदी सम मात्रिक छंद भी प्रचलित थे, जिनमें मात्रिक गणों की आवश्यकताओं के अतिरिक्त भी पादांतर्गत विशिष्ट स्थानों पर वर्णों के गुरु अथवा लघु होने की पाबंदी मौजूद थी। इस पाबंदी की आवश्यकता इसलिए पड़ी होगी कि वर्णसंगीत के संस्कारों में स्नात शिक्षित कवियों ने जब मात्रावृत्त लिखना आरंभ किया होगा तब उसकी सांगीतिक अनिश्चितता उन्हें अखरी होगी और पादगत निश्चित लय या विशिष्ट नाद-प्रभाव की सृष्टि के लिए उन्होंने वर्ण-संगीत का सहारा पादगत विशिष्ट स्थलों पर लिया होगा। लक्षण-ग्रंथों में ऐसे मात्रिक छंदों की ही बहुत अधिक संख्या, जिनमें वर्णों के लघुगुरु-स्वरूप की पाबंदियाँ मौजूद हैं, इस बात के कारण है कि मात्रिक छंद वर्णसंगीत के संस्कारों से युक्त शिक्षित मन की उपज है।

---

१. जिन छंदों के पादविधान में लघुगुरुवर्ण-क्रम-निर्देश या वार्णिक गण-प्रयोग प्रायः नहीं हो या अत्यल्प हो, उसे विशुद्ध मात्रावृत्त कह सकते हैं। इसके विपरीत होने पर मिश्र मात्रावृत्त कहा जायगा।

२. छं० को० १९।

३. हे० छं० ६।२४।

४. हे० छं० ६।२५।; स्वयं० ६।१५३। (शशांकवदना—हे० छं०)

५. छं० को० ४।४७।

६. हे० छं० ६।२६; स्वयं० ६।१५४।

७. हे० छं० ६।२७; स्वयं० ६।१५६।

८. हे० छं० ६।२८; स्वयं० ६।१५७।

९. स्वयं० ६।१५८; हे० छं० ६।२९। (इस छंद को गीतों में अम्बटक भी कहते हैं,—JUB, V. 1936, p. 55.

१०. छं० को० ४०।

११. स्वयं० ६।१५९। (आरणअ); हे० छं० ६।३०। तु० : चौबोला, छं० प्र०, पृ० ४८।

सम चतुष्पादीय छंदों के वर्ग में ऐसे मात्रिक छंदों में सबसे छोटा मधुभार[1] है, जिसके प्रत्येक चरण में ८ मात्राएँ होती हैं। इसके पाद में प्रयुक्त दो चतुर्मात्रिक गणों में से दूसरा अनिवार्यत: पयोधर (।ऽ।) होता है, जिसमें बीच की दो मात्राएँ गुरु रूप में होती हैं। वस्तुत:, मधुभार का परिणाम पज्झटिका का आधा होता है। इस वर्ग का दूसरा छंद दीपक[2] है, जिसके प्रति पाद में १० मात्राएँ होती हैं (जैसे एकावली में), किंतु पाद-रचना में इसकी पूर्त्ति के लिए एक चतुर्मात्रिक गण, एक पंच मात्रिक गण, तथा एक लघु का विधान है। दीपक और एकावली प्राय: समान हैं और परिमाण में मदनावतार के, जिसका प्रयोग अपभ्रंश कथाकाव्यों में सामान्यत: होता है, अर्द्धभाग के बराबर हैं। मदनावतार का उल्लेख प्राकृतपैंगलम् में नहीं। छंद:कोश में इस छंद का लक्षण कामिनीमोहन[3] नाम से, चांद्रायण और चांद्रायणी प्रागाथिक छंदों के लक्षण बताने के सिलसिले में, दिया गया है। इसके प्रति पाद में, छंद:कोश के अनुसार २० मात्राएँ होती हैं जिनकी पूर्त्ति के लिए ४ पांचमात्रिक गण, जो रगण (ऽ।ऽ) होने चाहिए, आते हैं।[4] मदनावतार को गाथालक्षण में 'चंद्रानना' भी कहा है।[5] इस वर्ग का तीसरा छंद आभीर[6] है, जिसके प्रति पाद में ११ मात्राएँ होती हैं जिनमें अंतिम चार मात्राएँ पयोधर (।ऽ।) के रूप में अनिवार्यत: होती हैं। फिर, हाकलि[7] छंद आता है, जिसके प्रति पाद में १४ मात्राएँ होती हैं, जिसका विधान तीन चतुर्मात्रिक गण तथा अंत्य गुरु द्वारा होता है। ये चतुर्मात्रिक गण पयोधर (।ऽ।) या कर्ण (ऽऽ) के सिवा किसी भी प्रकार के हो सकते हैं।

१५ मात्राओं तक के पादवाले सम मात्रिक चतुष्पदी छंदों में कुछ ऐसे भी हैं, जिनका उल्लेख हेमचंद्र और विरहांक ने प्राकृत छंदों के रूप में किया है, जिनके नाम और पादगत मात्रा-गण-विधान आगे कोष्ठकों में दिये जा रहे हैं—अवलंबक[8] (४+५=९); रक्ता[9] (=खेटक; ऽ।ऽ+-।ऽ।+ऽ=११); मनोवती[10] (४+५+ऽ=११); प्रगीता[11] (४+४+ऽऽ=१२); नाराचक[12] (।ऽ+।ऽ+।ऽ+।ऽ=१२); खंड[13] (४+४+५=१३); संगलिता[14] (४+४+५=१३); पाद-

१. प्रा० पैं० १।१७५।
२. प्रा० पैं १।१८१।
३. छंदकोश १०।
४. छं० को० १०।
५. गाथालक्षण ७८।
६. प्रा० पैं० १।१७७।
७. प्रा० पैं० १।१७२।
८. वृ० जा० स० ४।६८। (यह हेमचंद्र द्वारा निर्दिष्ट अवलंबक छंदों से भिन्न है)।
९. वही, ३।७। तथा ४।७६। (यह वस्तुतः वर्णवृत्त है)।
१०. वही, ३।३।४।
११. वही, ३।६।
१२. वही, ४।५८। (यह वस्तुतः वर्णवृत्त है)।
१३. हे० छं० ४।५३।
१४. हे० छं० ४।२९।

गलिता[1] (४+४+५=१३); सुदरागलिता[2] (५+५+३=१३); ज्योत्स्ना[3] (५+५+।ऽ=१३); उपखंड[4] (६+४+३=१३); उद्दोहक[5] (१३ मात्राएँ); खंडिता (६+४+४=१४); प्रथम निध्यायिका[6] (५+३+३+३=१४); कौमुदी[7] (५+५+।।ऽ=१४); तारा[8] (४+४+।ऽ।-+ऽ=१४); सुमना[9] (४+४+ऽ।। या।ऽ। या ।।।।+ऽ=१४); आनंदित[10] (४+४+४+।ऽ-=१५) तथा पद्मिनी[11] (४+४+५+ऽ=१५)। इनमें खंड, मंगलिता, पदगलिता, सुदरागलिता, ज्योत्स्ना, उपखंड और उद्दोहक—ये पूर्वकथित अप्सरोविलसिता छंद के नामांतर हैं। खंडिता पूर्वोक्त गंधोदकधारा के समान है तथा आनंदिता पूर्वोक्त पारणक के समान। रक्ता या खेटक तो संपूर्णत: वर्णवृत्त है। ऐसे तीन अन्य वर्णवृत्तों को विरहांक ने मात्रावृत्त मानकर परिभाषित किया है—हंसिनी[12] (र+य+लग), मानिनी[13] (र+ज+गग) और गाथ[14] (र+स+गग)।

सममात्रिक चतुष्पदी छंदों के बीच, अपभ्रंश-हिंदी काव्य में, सर्वाधिक लोकप्रिय छंद १६ मात्राओं के पादवाले रहे हैं। इस लोकप्रियता का कारण इनकी तालसांगीतिक उपयुक्तता को हम मान सकते हैं। ये १६ मात्राओं के पादवाले छंद अधिकतर अष्टमात्रिक या चतुर्मात्रिक तालगणों के सहारे गाये जा सकते हैं। इन छंदों में मिश्र प्रकार के ही अधिक हैं, यह ध्यातव्य है। इसे हम संस्कृत-परंपरा में स्नात परिनिष्ठित प्राकृत-अपभ्रंश कवियों और आचार्यों की वर्ण-सांगीतिक रुचि का प्रभाव मान सकते हैं, जैसा इस प्रकरण में पहले कहा जा चुका है। इन मिश्र प्रकार के छंदों में पादगत विशिष्ट स्थानों पर लघुगुरु-स्वरूप-निदश या वर्णगणविधि-निषेध द्वारा तालसंगीत के साथ वर्ण-संगीत का मेल घटित होता है।

१६ मात्राओं के पादवाले छंदों में हम पहले मिश्र प्रकार के छंदों पर ही विचार करेंगे। इस प्रकार के कुछ छंद हैं—पज्झटिका,[15] मालती,[16] अडिल्ल,[17] मडिल्ल,[18]

१. वृ० जा० स० ४।१०२।
२. हे० छं० ४।३६।
३. वृ० जा० स० ३।३।
४. हे० छं० ४।५४।
५. क० द० २।१७।
६. हे० छं० ४।५५।
७. वही, ४।७६।
८. वृ० जा० स० ३।५।
९. वही, ३।२।
१०. वही, ३।१।
११. व० जा० स० ४।२०। तु० : चौबोला, छं० प्र०, पृ० ४८।
१२. वही, ३।१०।
१३. वही, ४।७२।
१४. वही, ३।८।
१५. वही, ४।५७।
१६. प्रा० पैं० १।१२५; छं० को० ३६; हे० छं० ६।३१।
१७. छं० को० ४९।
१८. प्रा० पैं० १।१२७; छं० को० ४।१; वृ० जा० स० ४।३२।
१९. छं० को० ४१।

और सिंहावलोक[1], जिनके प्रति पाद में १६ मात्राएँ होती हैं। हेमचंद्र का पद्धटिका छंद ही प्राकृतपैंगलम् में पज्झटिका नाम से कथित है। पद्धति या पद्धरी एक भिन्न छंद है।[2] पज्झटिका का परिमाण मधुभार का दूना है, जैसा हम ऊपर कह आये हैं। मधुभार के पाद के समान ही पज्झटिका के प्रति पाद में अंतिम चतुर्मात्रिक गण अनिवार्यतः पयोधर (।ऽ।) होता है। शेष तीन गण किसी भी प्रकार के हो सकते हैं। मालती छंद की पादगत १६ मात्राओं की पूर्ति केवल त्रैमात्रिक अथवा केवल पांचमात्रिक गणों तथा स्वभावतया एक लघु द्वारा होती है। अतएव, इसमें कम-से-कम चार लघु वर्ण अवश्य होंगे। इस पाबंदी के कारण ही इसे विशुद्ध मात्रावृत्त नही कहा जा रहा है। अडिल्ल और मडिल्ल में भी, जिनकी पादगत सोलह मात्राएँ पज्झटिका के समान चार चतुर्मात्रिक गणों में विभक्त होती हैं, लघुगुरु संबंधी ऐसे प्रतिबंध हैं। इनमें कोई भी गण पयोधर (।ऽ।) नही होना चाहिए तथा पादांत दो मात्राएँ अनिवार्यतः लघुरूप होनी चाहिए। जब चारों पादों में तुक मिलता है, तब छंद को अडिल्ल कहते हैं, जब प्रथम दो तथा अंतिम दो पादों के तुक अलग-अलग होते हैं, तब छंद मडिल्ल कहा जाता है। सिंहावलोक के पाद में चारों चतुर्मात्रिक गण अनिवार्यतः विप्र (।।।।) अथवा सगण (।।ऽ) होते हैं। इसका अर्थ है कि पाद में चार से अधिक गुरु वर्ण नही हो सकते।

विशेष रूप से प्राकृत में ही प्रयुक्त इस मिश्र कोटि के छंद हैं, अप्सरा[3] (५+५+।ऽ।+ऽ=१६); नंदिनी[4] (।।ऽ+।।ऽ+।।ऽ+।।ऽ); भित्तक[5] (ऽ।।+ऽ।।+ऽ।।+ऽऽ); विलासिनी[6] (५+५+।ऽ।+ऽ), जिसमें दोनों पंचकल गुर्वन्त होते हैं; परिनंदित[7] (ऽ।ऽ+।।+।ऽ।+।ऽऽ) तथा विभूषण[8] (२+।ऽ।+ऽऽ+।ऽ।+ऽ)। इन छंदों में नंदिनी (छित्तक), भित्तक तथा परिनंदित वस्तुतः वर्ण-वृत्त ही हैं। प्रथम दो तो संस्कृत-लक्षणकारों द्वारा क्रमशः तोटक[9] और दोधक[10] कहे भी गये हैं। विरहांक ने भी अन्यत्र इन्हें तोटक-दोधक संज्ञा प्रदान की है।[11]

विशुद्ध और मिश्र प्रकार के १६ मात्राओं के पादवाले कुछ छंदों का उल्लेख पिंगलादि संस्कृत लक्षणकार भी कर चुके हैं। ऐसे छंद हैं—मात्रासमक, विश्लोक, वान-

---

१. प्रा० प १।१८३।
२. हे० छं० ३।७३।
३. वृ० जा० स० ३।१९।
४. वही, ३।२०। (इसे अन्यत्र छित्तक कहा गया है।—वृ० जा० स० ४।५४।)
५. वही, ४।५५।
६. वही, ४।१५।
७. वही, ४।१९।
८. वही, ४।९४।
९. हे० छं० २।१६२; जय० ६।३३; जकी० २।१२१; पिं० ६।३१; वृ० र० । ३।४७।
१०. पिं० ६।१८; जय० ६।१९; जकी० २।९७; हे० छं० २।१३०; वृ० र० । ३।३३।
११. वृ० जा० स०। क्रमशः ५।२७ तथा ५।२४।

वासिका, चित्रा, उपचित्रा, पादाकुलक, गीत्यार्या (अथवा अचलधृति) और पद्धति। इन छंदों की चर्चा हम इस अध्याय के प्रथम प्रकरण मे कर आये है।

विशुद्ध प्रकार के सम मात्रिक छंदो के अंतर्गत १६ मात्राओं के पादवाले अन्य छंद हैं मुक्तावलिका,[१] जिसके प्रतिपाद में चार त्रिकल तथा एक चतुष्कल होता है; वदन,[२] जिसके प्रति पाद में ६+४+४+२ मात्राएँ होती हैं। रासा,[३] जिसके प्रति पाद में इस प्रकार मात्राविधान होता है—(४+४+४+ऽऽ); चंद्रिका,[४] जिसके प्रति पाद में ५+५+४+ऽ होते हैं; द्वितीय विलासिनी,[५] जिसके प्रति पाद में ३+३+४+३+३ मत्राएँ होती हैं; तथा भूषण,[६] जिसके प्रति पाद में ५+५+३+३ मात्राएँ होती हैं।

अब हम १७ तथा अधिक मात्राओं के पादवाले चतुष्पदी छंदों पर विचार करे।

विशुद्ध मात्रिक छंदों मे, जिनमे लघुगुरुवर्ण-स्वरूप-संबंधी प्रतिबंध मात्रिक गणों की आवश्यकता से अधिक नही है, १७ मात्राओं के पादवाले छंद हैं—उपवदनक[७] (६+४+४+३ या ४+३+२+५+३ या ५+५+५+२); रगड़ाध्रुवक[८] (४+४+४×५) तथा उत्थक्क[९] (५+५+५+२)। २१ मात्राओ के पादवाले छंद हैं—दर्दुर[१०] (४+५+५+४+।ऽ); रासावलय[११] (६+४+६+५) तथा प्रथम रासक[१२] (१८+।।।), जिसमें १४वीं मात्रा के बाद यति होती है। २३ मात्राओं के पाद का एक द्विपदी द्वितीय रासक[१३] (४+४+४+४+४+।ऽ) भी है। वस्तुत:, रासक मात्रिक छंदों (जाति) के एक प्रकार का बोधक सामान्य शब्द है, जैसे गलितक और खंजक।[१४] इसी तरह वस्तुक और चतुष्पदी शब्द भी चतुष्पदी छंदों के प्रसंग में सामान्यार्थक-से प्रतीत होते हैं।[१५]

२१ मात्राओं के पाद के दो और छंद अपभ्रंश में प्रयुक्त होते रहे हैं। एक है—प्लवंगम[१६] (६+६+६+३), जिसके पादगत प्रथम षट्कल आदिगुरु तथा अंतिम त्रिकल अंतगुरु होते हैं। लघुगुरु-संबंधी प्रतिबंध इस छंद के पाद में केवल आदि-अंत

---

१. क० द० २।२१; हे० छं०।
२. क० द० २।२१; हे० छं०।
३. वृ० जा० स० ४।८५।
४. वृ० जा० स० ३।१७।
५. हे० छं० ४।६०।
६. हे० छं० ४।३७।
७. स्वयं० ६।१६१; हे० छं० ५।२९।
८. हे० छं० ६।३२।
९. स्वयं० ८।१; हे० छं० ५।३१। (इसे अवस्थितक भी कहते हैं)।
१०. हे० छं० ।५।१०।
११. क० द० २।२५; हे० छं० ५।२६; (इसे 'चतुष्पदी' या वस्तुक भी कहते हैं)।
१२. स्वयं० ८।५०।
१३. क० द० २।२३; हे० छं० ५।३६। और १६।
१४. हे० छं० ४।२५-८३। तथा ५।३।
१५. वृ० जा० स० २।१; हे० छं० ६।२।
१६. प्रा० पैं० १।१८६-१८८।

में है। इस प्रतिबंध के अल्प होने के कारण ही इस छंद को विशुद्ध मात्रिक की कोटि में हमने रखा है। स्मरणीय है कि विशुद्ध और मिश्र कोटि के छंदों का अंतर परस्पर सापेक्ष होता है; क्योंकि विशुद्ध कोटि के मात्रिक छंदों में भी मात्रागणों की स्वरूप-रक्षा के लिए पादगत विशिष्ट स्थानों मे गुरु-वर्णों का निषेध तो होता ही है, लय-विधान के लिए लघुगुरु-निर्देश की आवश्यकता पड़ती है। २१ मात्राओं का उपरि-कथित दूसरा छंद है—आभाणक,[१] जिसके पाद में भी प्लवंगम की तरह २१ मात्राएँ होती हैं, किंतु पाद-योजना पंचमात्रिक गणों को छोड़कर और किसी प्रकार के मात्रिक गणों के सहारे हो सकती है। पादांत वर्ण लघु होता है।

प्राकृतपैंगलम् मे उल्लिखित २४ मात्राओं के पाद का छंद है रोला[२] ('चउबीस मत्त गुरु अंतर जुत्ते'), जो गण-बंधन स्वीकार करने पर काव्य[३] (६+४+४+४+६) कहा गया है, जिसमें मध्य चतुष्कल जगण या सर्वलघु होता है। रत्नशेखर के छंदः-कोश में भी काव्य का लक्षणोदाहरण इससे मिलता-जुलता है।[४] रोला को छंदःकोश[५] में वत्थुय (=वस्तुक) भी कहा गया है, जिसकी लक्षण-सिद्धि छप्पय[६] के उल्लाला को वर्जित करने से होती है। रत्नशेखर ने छप्पय-प्रसंग में प्रथम चार पंक्तियों (वस्तुक) म से प्रत्येक का गण-विधान इस प्रकार निर्दिष्ट किया है—६+४+४+४+४+२=२४ मात्राएँ।[७] यह विधान उपर्युक्त काव्य-लक्षण से प्रायः मिलता है, किंतु इसमें तीसरे गण का जगण या सर्वलघु होना आवश्यक नही माना गया है। देशी भाषा में रचित होने पर यही रोला, काव्य अथवा वस्तुक, रोडक या रासाकुल (रसाउल) कहा गया है।[८] रोला के पाद में कम-से-कम दो और अधिक-से-अधिक ११ गुरु कहे गये हैं।[९]

२५ मात्राओं के पादवाले इस कोटि के छंद हैं वस्तुक द्वितीय[१०] (४+४+३+३+४ +४+३), जिसमें मध्य का प्रत्येक त्रिकल लघ्वंत होता है तथा कोकिल[११] (४+५+५+४ +।ऽ।)। इसी वर्ग का एक छंद गीत[१२] है, जिसे हरिगीत[१३] भी कहते हैं। इसके प्रति पाद में २८ मात्राएँ होती हैं। प्रथम, तृतीय, चतुर्थ और पंचम गण पंचमात्रिक होते हैं, द्वितीय षाण्मात्रिक तथा अंतिम दो मात्राएँ मिलकर गुरु। जैसा नाम से ही ध्वनित है यह गेय छंद है और दीपचंदी ताल में गाया जाता है, जिसमें सात ताल-मात्राओ

---

१. छं० को० १७।
२. प्रा० पैं० १।९१-९२।
३. वही १।१०९। (इसे वस्तुक भी कहा है। प्रा० पैं० १।११५।)
४. छं० को० ३१।
५. छं० को० १३।
६. रोला+उल्लाला।
७. छं० को० १२।
८. वही, १३।
९. प्रा० पैं० १।९१।
१०. हे० छं० ५।२४।
११. हे० छं० ५।९।
१२. छं० को० १८।
१३. प्रा० पैं० १।१९१।

की इकाइयों की आवृत्ति होती है, अर्थात् प्रत्येक सातवीं मात्रा के बाद ताल होता है। इस छंद के एक पाद में, इसीसे, ४ ताल होंगे, जो नियमपूर्वक ७ मात्राओं के बाद आयेंगे। इस वर्ग का अंतिम छंद है दंडक।[१] इसके प्रति पाद में ३२ मात्राएँ होती हैं, जो ८ चतुर्मात्रिक गणों के प्रयोग से पूरी की जाती हैं। वर्णसंबंधी किसी विशेष प्रतिबंध का उल्लेख नहीं हुआ है, किंतु प्रतिबंध रहते अवश्य हैं; क्योंकि दंडक पज्झटिका का दूना तथा मधुभार का चौगुना है और उनके प्रतिबंधों से युक्त है। इसका अर्थ यह हुआ कि पादगत प्रत्येक सम चतुर्मात्रिक गण पयोधर (।ऽ।) होगा। अपभ्रंश में प्रयुक्त विशुद्ध प्रकार के सममात्रिक चतुष्पदी छंदों में सबसे लंबा छंद है 'चतुष्पदी' नामक छंद।[२] छंदःकोश के अनुसार इसके प्रति पाद में ३० मात्राएँ होती हैं जो ७ चतुर्मात्रिक गणों तथा एक द्विमात्रिक गण के रूप मे नियोजित होती हैं।[३] पादांत की दो मात्राएँ गुरु हों, ऐसा टिप्पणीकार का मत है। यह 'चतुष्पदी' छंद चार पादों का है और एक इसी लंबाई के चार पादोंवाले दूसरे छंद से भिन्न है, जिसका वर्णन प्राकृतपैंगलम् में हुआ है,[४] तथा जो प्रति पाद के तीन छोटे खंड होने के कारण वेलंकर महोदय द्वारा द्वादशपदी माना गया है।[५] इस छंद पर आगे हमने विचार किया है।

१७ से अधिक मात्राओं तक के पादवाले विशुद्ध सममात्रिक चतुष्पदी छंदों में कुछ ऐसे भी हैं, जो प्राकृत में प्रयुक्त कहे गये है। ऐसे छंदों मे १७ मात्राओं के पाद के हैं—विद्युत्[६] (४+५+४+४ या ४+४+४+५); सरस्वती[७] (४+५+५+।ऽ); तथा द्वितीय निर्ध्यायिका[८] (४+४+३+३+३)। १८ मात्राओं के पादवाले हैं—सुमंगला (४+४+४+४+ऽ) तथा तृतीय निर्ध्यायिका[९] (५+५+३+३+३)। १९ मात्राओं के पादवाले हैं—रतिवल्लभ[१०] (५+५+५+४) तथा चतुर्थ निर्ध्यायिका[११] (५+५+३+३+३)। २० मात्राओं के पादवाले हैं—पथ्या[१२] (४+४+४+५+।ऽ); प्रथम क्रीडनक[१३] (४+४+४+५+३), जिसमें ८वीं मात्रा पर यति होती है; हंसी[१४] (४+५+४+५+ऽ); सुप्रभा[१५]

१. छंदःकोश, ३०।
२. छं० को० ३७।
३. द्विकलं गुरुरूपम् क्रियते।
४. प्रा० पैं० १।९७।
५. H. D. Velanker—A. M.; JUB; II—iii, p. 39.
६. वृ० जा० स०, ३।११।
७. वही, ३।१३।
८. हे० छं०।
९. वृ० जा० स० ३।१६; हे० छं०।
१०. हे० छं०।
११. हे० छं०।
१२. हे० छं० ४।७६।
१३. वृ० जा० स० ३।२४। (इसे विरहांक ने शालभंजिका भी कहा है। वृ० जा०स० स० ४।७९।)
१४. हे० छं० ४।६९।
१५. वृ० जा० स० ३।२३।

(४+५+४+४+।ऽ); शुभगलितक[1] (६+३+३+३+३+ऽ); हीरावली[2] (५+५+४+६); अरविंदक[3] (६+५+४+३+२) तथा मदनावतार[4] (५+५+५+५)। २१ मात्राओं के पादवाले हैं—सौम्या[5] (रमणीयक या संपिडिता गलिता; ५+५+४+४+।ऽ); अंतरागलितक,[6] जो गलितक के समान है, किंतु जिसका प्रथम या द्वितीय और चतुर्थ पद सतुकांत होते हैं; तथा मंजरी[7] (३+३+४+४+४+३)। २२ मात्राओं का पादवाला छंद है—ललिता[8] (४+४+४+४+४+ऽ)। २३ मात्राओं के पादवाले छंद हैं—विगलिता[9] (५+५+४+४+५), महातोणक[10] (५+४+५+४+५); खंजक[11] (३+३+४ ४+४+३+ऽ)। २४ मात्राओं के पादवाले छंद हैं—ललिता[12] (४+४+५+४+५+२); चंद्रलेखा[13] (६+४+४+४+४+२) और सालभंजिका द्वितीय[14] (३+३+४+४+४+३+३)। २५ मात्राओं के पादवाले छंद हैं—संगलितक[15] ४+५+५+४+४+३); विच्छित्ति[16] (५+४+५+४+५+२), जो इसी नाम के द्विपदी छंद से भिन्न है; कुसुमिता[17] (४+३+३+४+४+४+३); मधुकरी[18] (५+५+५+५+५) तथा मेधा[19] (४+४+४+४+४+५)।

---

१. वही, ३।१४।
२. हे० छं० ४।३०।
३. वही, ४।४८।
४. वही, ४।७०।
५. हे० छं० ४।८३; छं० को० १०; गाथालक्षण, ७८। (**ABORI, Vol. 14, p. 27.**) (रत्नशेखर ने मदनावतार के पाद को ५ रगण द्वारा गठित माना है।)
६. वृ० जा० स० ३।२७, ४।२६, ४।८९ (यह हेमचंद्र और कविदर्पण के गलितक के प्रायः समान है।)—क० द० २३; हे० छं० ४।२५।
७. हे० छं० ४।२७।
८. हे० छं० ४।६१।
९. वृ० जा० स० ४।६०।
१०. हे० छं० ४।२८। (इसका अंतिम पंचकल ।ऽऽ हो, तो इसे श्यामा कहते हैं।—वृ० जा० स० ३।२८।)
११. हे० छं० ४।५१।
१२. हे० छं० ४।५०; क० द० २।२३।
१३. हे० छं० ४।४४; वृ० जा० स० ४।९३। (विरहांक के अनुसार दोनों पंचकल रगण तथा अंत्य द्विकल गुरु होने चाहिए।)
१४. क० द० २।२४; हे० छं० ४।६८।
१५. हे० छं० ४।६२।
१६. हे० छं० ४।३१; (इस छंद के चतुर्थ गण जगण तथा अंतिम गण ।ऽ होने से विरहांक उसे नलिनी छंद कहते हैं।—वृ० जा० स० ४।९९।)
१७. हे० छं० ४।४३।
१८. हे० छं० ४।६३।
१९. हे० छं० ४।८३।

२७ मात्राओं के पादवाले छंद है—कामलेखा[१] (६+४+४+४+४+३+ऽ) तथा मालती[२] (४+४+४+४+४+५+ऽ)। २८ मात्राओ के पाद का छंद है—दीपिका[३] (५+५+४+५+४+५)। ३० मात्राओं के पाद के छद है—नवकोकिल[४] (६ पचकल) तथा आरनाल[५] (द्विपदी का पाद ऽ)। मालागलितक[६] (४+५+४+४+५+४+४+।ऽ) के पाद मे ३३ मात्राएँ; प्रसूता[७] (४+५+५+४+४+४+४+५) तथा कामलीला[८] (७ पंचकल) के पाद मे ३५ मात्राएँ; सुतारा[९] (८ पंचकल) के पाद मे ४० मात्राएँ; तथा वसंतोत्सव[१०] (९ पंचकल) के पाद मे ४५ मात्राएँ होती हैं। १७ मात्राओं से अधिक पादवाले सममात्रिक चतुष्पदी छंदों मे ऊपर जिन छंदो की चर्चा हुई, वे विशुद्ध मात्रिक छंद कहे जा सकते हैं; क्योंकि उनके पाद-विधान मे वार्णिक गणों का निर्देश अथवा लघुगुरुवर्ण-स्वरूपों का, मात्रागणविधान की आवश्यकता से अधिक, निर्देश प्रायः नही है। अब हम ऐसे छंदों की चर्चा करेगे, जो मिश्र प्रकार के है, अर्थात् जिनमें वर्णगण या लघुगुरुवर्ण-स्वरूप संबंधी प्रतिबंध अपेक्षाकृत अधिक है।

मिश्र कोटि मे १७ मात्राओं के पादवाले छंद है—कुसुम[११] (४+५+४+४), जिसमें तीसरा चतुष्कल जगण (।ऽ।) तथा चौथा चतुष्कल द्विगुरु-रूप होते हैं; विभूति[१२] (४+।ऽ।+४+५); चंद्राक्रांता[१३] (४+५+४+।।ऽ); निर्वापिता[१४] (४+४+।ऽ। या ।।।।+५); तिलक[१५] (४+५+।ऽ।+ऽऽ)। मनोरमा[१६] (विजया; ४+४+४+।ऽ।+ऽ) के पाद में १८ मात्राएँ होती हैं। १८ मात्राओं के पाद का छंद विभ्रम[१७] (त+र+य+।ऽ) वस्तुतः वर्णवृत्त है, यद्यपि इसे अपभ्रंश में प्रयुक्त कहा गया है। १९ मात्राओ के पादवाले छंद है—प्रभावती[१८] (।ऽ।+४+।ऽ।+४+।ऽ) तथा वीथी[१९]

१. हे० छं० ४।६७।
२. वृ० जा० स० ३।३५।
३. हे० छं० ४।८१।
४. वही, ४।८३।
५. वही, ४।६६।
६. वही, ४।३८।
७. वही, ४।४१।
८. वही, ४।८३।
९. वही।
१०. वही।
११. हे० छं० ५।१५।
१२. वृ० जा० स० ३।१५।
१३. वही, ३।२२।
१४. वही, ४।१६।
१५. वही, ४।७१।
१६. वही, ३।१८। तथा ४।८२।
१७. हे० छं० ५।१४।
१८. वृ० जा० स० ३।१९।
१९. वही, ४।६७।

४+४+४+ऽ।ऽ+ऽ)। २० मात्राओं के पादवाले हैं—क्रीडनक द्वितीय[1] (४+४+४+ऽ।ऽ या ।।।ऽ+।ऽ); शुभा[2] (२+४+।ऽ।+४+।ऽ।+२); कुमुदक[3] (४+५+५+ऽ।।+ऽ); बाणसिका[4] (४+४+।ऽ। या ।।।।+।।ऽ+ऽऽ); भ्रमरावली[5] (=श्री; पाँच सगण); तरंगक[6] (५ भगण) तथा आवली[7] (६+।ऽ। या ।।।।+४+।ऽ। या ।।।।+२)। २१ मात्राओं के पादवाले छंद हैं—आमोद[8] (४+ऽ।ऽ+।ऽ।+ऽऽऽ+ऽ) तथा उपगलितक[9] (२+।ऽ। या ।।।।+४+४+४+३)। २२ मात्राओ के पादवाले हैं—अश्वाक्रांता[10] (५ भगण+ऽ); वनराजि[11] (४+५+५+।ऽ।+ऽऽ); रत्नमाला[12] (४+५+५+४+।।ऽ) कुमुदिनी[13] (४+४+४+।ऽ।+४+ऽ); अतुल्लक[14] (४+।ऽ।+४+४+४+ऽ); लंबिता-प्रथम[15] (२+४+।ऽ।+४); लबिता[16] द्वितीय (१ द्विकल+५ चतुष्कल), जिसमें तीसरे और पाँचवें चतुष्कल मे प्रथम लबिता के विपरीत जगण निषिद्ध है; प्रथम नर्कुटक[17] (४+५+५+४+ऽऽ), जिसके पाद में द्वितीय-तृतीय पचकल गुर्वन्त होते है; द्वितीय नर्कुटक[18] (६+।ऽ। या ।।।।+४+२+ऽ+।।ऽ); समनर्कुटक[19] (६+।ऽ।+।। ऽ+।।ऽ+।।ऽ); मागवनर्कुटक[20] (६+।ऽ। या ।।।।+४+२ ऽऽऽ); हेला[21] (६+।ऽ। या ।।।।+४+।ऽ। या ।।।।+४ अवतंमक[22] (४+५+।ऽ।+।ऽ।+।ऽऽ) तथा कुंद[23] (४+५+५+।ऽ।+ऽऽ)।

---

१. वही, ४।२१।
२. वही, ४।९७।
३. वही, ४।६२।
४. वही, ४।१७।
५. वही, ३।२१ तथा ४।६१ (यह वस्तुतः वर्णवृत्त है।)
६. वही, ४।२२ (यह भी वर्णवृत्त ही है।)
७. हे० छं०।
८. वही, ५।११।
९. वही, ४।२६।
१०. वृ० जा० स० ३।३२-३३ (यह वर्णवृत्त है।)
११. वही, ३।३७।
१२. वही, ३।३९।
१३. वही, ४।९८।
१४. वही, ४।८३।
१५. वही, ४।९६।
१६. हे० छं० ४।४२।
१७. वृ० जा० स० ४।२४।
१८. हे० छं० ४।७२।
१९. वही, ४।७३।
२०. वही, ४।७१।
२१. वही, ४।५७। (इसमें यमक होने से इसे विलंबिता कहते हैं।—हे० छं० ४।३९।)
२२. वही, ५।५।
२३. वही, ५।६।

२३ मात्राओं के पादवाले छंद हैं—हीर[1] (ऽ।।।।+ऽ।।।।+ऽ।।।।+ऽ।ऽ); तथा ३ प्रकार के पवनोद्धत,[2] जो तरंगक के तीन भेदों में दो-दो मात्राएँ जोड़ने से बनते हैं। २४ मात्राओं के पादवाले छंद हैं—द्रुत[3] (४+४+।ऽ।+४+।ऽ।+४); लक्ष्मी[4] (४+५+५+५+।ऽऽ); उत्साह[5] (६ चतुष्कल), जिसमे तृतीय ओर पंचम गण जगण या सर्वलघु होते हैं और जिसके अन्य गणो मे जगण निषिद्ध है; वस्तुवदनक[6] (६+४+४+४+६), जिसका तीसरा गण जगण या सर्वलघु होता है और जिसके दूसरे-चौथे गणो (चतुष्कलों) में जगण निषिद्ध है; करभक[7] (५+५+४+४+।ऽ।+ऽ) तथा इन्द्रगोप[8] (४+४+५+५+।ऽ।+ऽ) २५ मात्राओं के पाद का एक छंद है गगनाक,[9] जिसकी २५ मात्राएँ अनिवार्यत: २० वर्णो मे पूरी होनी चाहिए। स्वभावतः इमके प्रति पाद में ५ गुरु और १५ लघु होगे। पाद का प्रथम गण चतुर्मात्रिक होगा और अतिम वर्ग गुरु। २५ मात्राओं के पाद का एक अन्य छंद है—अधिकाक्षरा (५ चतुष्कल, १ पंचकल), जिसमे पादगत दूसरा और चौथा चतुष्कल जगण नही होता,[10] तीमरा जगण या सर्वलघु होता है तथा यति १२वी मात्रा के बाद आती है।[11] २६ मात्राओं के पादवाले छंद हैं—मुग्धिका[12] (४+४+४+५+४+५), जिसका दूसरा गण जगण नही होता; तथा चित्रलेखा[13] (५+४+४+४+४+५) जिसमे, द्वितीय-चतुर्थ गणो में जगण निषिद्ध है। वस्तुतः, ये दोनो छंद अधिकाक्षरा के भेद हैं, जो क्रमश. पादगत चतुर्थ और प्रथम चतुष्कला के स्थान पर पंचकल के प्रयोग से बनते हैं। २७ मात्राओ के पाद का एक छंद है मल्लिका[14] (५+५+४+४+४+५; चतुर्थ चतुष्कल मे जगण निषिद्ध)। २८ मात्राओ के पादवाले छंद हैं—विद्रुम[15] (ऽऽऽ+ऽ।ऽ+।ऽ+५+५+।।ऽ); प्रथम रचिता[16] (४+५+५+४+४

---

१. प्रा० पैं०।१।१९९। (यह वस्तुतः वर्णवृत्त है; क्योंकि पाद में प्रत्येक वर्ण का लघु-गुरु-स्वरूप तथा वर्ण-क्रम निश्चित है। किंतु, प्राकृतपैंगलम् में मात्रिक गणों में इसका लक्षण कथित है।)

२. हे० छं० ४।७५।

३. वृ० जा० स० ३।३६।

४. वही, ३।३०।

५. क० द० २।२६; हे० छं० ५।२।

६. क० द० २।२५; हे० छं० ५।२५।

७. हे० छं० ५।७।

८. हे० छं० ५।८।

९. प्रा० प० १।१४९।

१०. हे० छं० ४।७७।

११. वृ० जा० स० ४।२४।

१२. हे० छं० ४।७८।

१३. हे० छं० ४।७९।

१४. हे० छं० ४।८०।

१५. वही, ५।१२।

१६. वृ० जा० स० ३।२५।

।ऽ। या ।।।।+ऽ); द्वितीय रचिता.[1] (६+।।।।+४+४+४+४+ऽ), जिसमें ७वीं मात्रा के बाद यति होती है; तथा कोद्दुंभक[2] (ऽऽ या ऽ।।+ऽ।ऽ+५+।।ऽ+।।ऽ+।ऽ।+ऽ)। २९ मात्राओ के पाद का एक चतुष्पदी है मेघ[3] (१+२+४ म)। ३० मात्राओं के पाद के कई छंद हैं—सामुद्गक[4] (४+५+५+।ऽ।+४+।ऽ।+ऽ।), जिसमे यमक होने से उसे उद्गता गलिता[5] कहते हैं; संगता[6] (७ भगण+ऽ); वंशस्थ[7] (४+५+५+।।ऽ+४+४+।।ऽ) तथा उग्रगलितक[8] (६+४+४+४+४+४+ऽऽ), जिसके समस्थान-वाले चतुष्कल जगण या सर्वलघु होते हैं, तथा विषम स्थानों मे जगण निषिद्ध है। खंडोद्गता[9] (४+५+४+४+४+४+४+५+३४ मात्राएँ) का प्रथम चतुष्कल ।।ऽ या ऽऽ होता है। मुग्धगलिता[10] (६ गुर्वंत पंचकल+१ अष्टकल=३८ मात्राएँ) तथा मालागलितक[11] (१ षट्कल+१० चतुष्कल; समस्थानीय चतुष्कल जगण या सर्वलघु का विधान तथा विषम स्थानों में जगण निषिद्ध=४६ मात्राएँ) इस वर्ग के अन्य छंद हैं।

ताल-संगीत और सममात्रिक चतुष्पदी

शुद्ध और मिश्र प्रकार के अधिकांश चतुष्पदी छंद लघुगुरुवर्ण-संगीत के अतिरिक्त एक दूसरे प्रकार के संगीत से भी युक्त हैं। यह दूसरा संगीत पाद में विशिष्ट स्थानों पर दो क्रमिक मात्राओं के गुरुवर्ण के रूप में संयोग के निषेध द्वारा उद्भूत होता है। उदाहरणतः, मधुभार की पंक्तियों में पादगत दूसरी-तीसरी मात्राएँ गुरुरूप में संयुक्त नहीं होतीं, पज्झटिका में पादगत दूसरी-तीसरी तथा १०वी-११वी मात्राएँ गु रूप में संयुक्त नही होतीं। इस नियम द्वारा इस बात का संकेत मिलता है कि ये छंद नियत काल-परिमाण पर ढोल-मंजीरे के सहारे ताल देकर गाये जाते थे। ताल की सूचना मात्राओं से ही मिल सकती है, वर्णो से नही। एक ही गुरु वर्ण में दूसरी मात्रा पर ताल (या स्वराघात) पड़े और पहली मात्रा तालविहीन हो—यह संभव नहीं; क्योंकि दोनों मात्राओं का उच्चारण एक साथ होता है। अतएव, जरूरी यह है कि जिस मात्रा पर ताल (या स्वराघात) पड़े, उसी से नये वर्ण का आरंभ हो, वर्ण चाहे लघु हो या गुरु, और वह मात्रा पूर्ववर्त्ती मात्रा से गुरु वर्णरूप में संयुक्त न होकर अलग रखी जाय।

गेय चतुष्पदी छंदों में से बहुत अधिक छंद धुमाली ताल में गाये जाते हैं, जिसमें

---

१. हे० छं० ४।६५।
२. वृ० जा० स० ४।५३।
३. हे० छं० ५।१३ (यह वर्णवृत्त है, लेकिन हेमचंद्र ने अपभ्रंश मे इसका प्रयोग कथित किया है।)
४. वृ० जा० स० ४।५६।
५. वही, ४।५२ तथा ९५।
६. वृ० जा० स० ३।३४ (यह वर्णवृत्त है।)
७. वही, ३।३८। (इसी नाम के वर्णवृत्त से भिन्न है।)
८. हे० छं० ४।३५।
९. वही।
१०. वही, ४।३४।
११. वही, ४।३८।

आठ तालमात्राओं की इकाइयाँ होती हैं, जिनकी आवृत्ति द्वारा संगीत की सृष्टि होती है। कुछ अन्य छंद दूसरे तालों में भी गाये जाते हैं। झंपा ताल में पंचमात्रिक इकाइयों या ताल-गणों की, दादरा में षाण्मात्रिक तालगणों की तथा दीपचंदी ताल में सप्तमात्रिक तालगणों की आवृत्ति होती है। इन तालगणों में स्वराघात कहीं प्रथम और कही तृतीय मात्रा पर होता है। किसी छंद के पाद में किसी तालगण की पूर्ति के लिए वर्णमात्राओं की संख्या पर्याप्त नही हो, तो इस कमी की पूर्ति अपेक्षित मात्रा-काल तक विराम द्वारा की जाती है, जिसमें अगला ताल-गण नियत समय में आरंभ हो और ताल-संगीत का क्रम टूटे नही। उदाहरणतः, हाकली छंद, जब अष्टमात्रिक तालगणों के अनुशासन में बाँधकर गाया जाता है, तब प्रथम स्वराघात पादगत प्रथम मात्रा पर और दूसरा नवम मात्रा पर पड़ता है। तीसरा स्वराघात अगले पाद के प्रथम वर्ण पर पड़ना चाहिए। किंतु, इन दूसरे और तीसरे स्वराघातों के बीच वर्ण-मात्राओं की संख्या ६ बचती है। इन ६ मात्राओं के साथ विराम के रूप में दो मात्राएँ और जोड़कर आठ तालमात्राओं की पूर्ति कर ली जाती है, जिसमें तालगण का नियत स्वरूप सुरक्षित रहे; क्योंकि संगीत मे मात्रागणों (जो गणांतर्गत वर्ण-मात्राओं के योग से बनते है) से भिन्न तालगणों (जो गणान्तर्गत ताल-मात्राओ के योग से बनते हैं और जिनमें उच्चरित वर्णो के अभाव मे आवश्यकतानुसार रिक्त स्थान की पूर्ति विराम या प्लुत द्वारा भी की जा सकती है) की नियमित अखंड आवृत्ति अपेक्षित है। तालगणों की स्वरूप-रक्षा के लिए किसी भी तालगण की अंतिम मात्रा का परवर्त्ती ताल-गण की प्रथम मात्रा के साथ संयोग वर्जित है, तथा स्वराघात जिस मात्रा पर पड़े उसके पूर्ववर्त्ती मात्रा के साथ संयोग भी वर्जित है, अर्थात् न तो तालगणों की संधि पर गुरुवर्ण हो और न स्वराघातयुक्त मात्रा पूर्ववर्त्ती मात्रा के साथ मिलकर गुरुवर्ण बन जाय। तालगण के अंदर शेष मात्राएँ चाहे जिस रूप में नियोजित हों। जिन तालगणों मे मात्राओं की संख्या विषम होती हैं, उनमें कम-से-कम एक मात्रा तो लघुवर्णरूप होगी ही। यह लघुवर्ण तालगण मे अक्सर तृतीय मात्रा के स्थान पर होता है, किंतु कभी-कभी पंचम या सप्तम मात्रा के स्थान पर भी हो सकता है। एकावली,[1] दीपक[2] और झूलना[3] पंचमात्रिक तालगण में गाये जाते हैं। प्रथम दो में तालगण के अंदर लघुवर्ण पाँचवीं मात्रा के स्थान पर होता है, तीसरे में तीसरी मात्रा के स्थान पर।

अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित या लोकप्रिय छंदों में से विशुद्ध चतुष्पदी छंदों में विजयक, लघुचतुष्पदी, पादाकुलक और चतुष्पदी ८ मात्राओं के ताल में गाये जाते है, स्वराघात तालगण की प्रथम मात्रा पर होता है। प्रति पादांत में लघुचतुष्पदी में एक मात्रा का तथा चतुष्पदी में दो मात्राओं का विराम होता है। एकावली छंद मदना-वतार की तरह ५ या १० मात्राओं के ताल में गाया जाता है।

मिश्र प्रकार के लोकप्रिय चतुष्पदी छंदों में मधुभार, आभीर, हाकली, पज्झटिका, अडिल्ल, मडिल्ल, मालती, सिंहावलोक, आभाणक, प्लवंगम, रोडक (या काव्य) तथा

---

१. छंद:कोश ४७।
२. प्रा० पैं० १।१८१।
३. प्रा० पैं० १।१५६।

दंडक अष्टमात्रिक ताल में गाये जाते हैं। मधुभार, पज्झटिका, सिंहावलोक और दंडक में स्वराघात तालगण की तीसरी मात्रा पर होता है, शेष में पहली मात्रा पर। आभीर, हाकली, आभाणक तथा प्लवंगम में पादांत में क्रमशः १, २, ३, ३ मात्राओं का विराम होता है। दीपक एकावली के समान पंचमात्रिक ताल में गाया जाता है, हीर षाण्मात्रिक तथा गीत या हरिगीत सप्तमात्रिक ताल में। गगनांक का ताल संदिग्ध है। दो पादवाले द्विपदी छंद का ताल भी इसी प्रकार संदिग्ध है। हीर में स्वराघात तालगण की प्रथम मात्रा पर, किंतु एकावली, दीपक और गीत में तृतीय मात्रा पर होता है।

पादांतर्गत तुकवाले चतुष्पदी

अब कुछ ऐसे सम चतुष्पदी छंदों पर विचार करना है, जिनके पाद कई खंडों में विभक्त-से दिखाई देते हैं, अर्थात् पादांतर्गत एक से अधिक स्थानों पर न केवल यति होती है, वरन् तुक भी मिलते हैं। वेलंकर ने ऐसे प्रत्येक पादखंड को स्वतंत्र पाद ही मान लिया है और इन छंदों को, जिनके प्रति पाद में ३ या ४ खंड हैं, द्वादश-पदी या षोडशपदी माना है।[1] प्राकृत-पैंगलम् और छंदःकोश मिलाकर ऐसे ९ छंद हैं। हम इन छंदों में से प्रत्येक की पृथक् चर्चा करेंगे कि इन्हें द्वादशपदी या षोडश-पदी न मानकर सममात्रिक चतुष्पदी मानना ही अधिक युक्तिसंगत और वास्तविक व्यवहार की दृष्टि से उचित है। इन छंदों में कुछ विशुद्ध मात्रिक हैं और कुछ में वर्णों के लघुरूप स्वरूप-संबंधी प्रतिबंध मौजूद हैं। इनके पाद की बनावट के सादृश्य के कारण विचार की सुविधा के लिए, हमने इनपर एक साथ विचार किया है।

पहले 'चतुष्पदी' नामक छंद को लें। प्राकृतपैंगलम् के प्रथम परिच्छेद की श्लोक-संख्या ९० के अंतर्गत जिस चउपइया (चतुष्पदी) नामक छंद का वर्णन है, उसे छंदः-कोश में हाका[2] कहा गया है। यह छंद भी समचतुष्पदी है, जिसके प्रत्येक पाद में १०,८,१२,३० मात्राएँ होती हैं तथा १०वीं और १८वीं मात्राओं के बाद यति आती है। यह छंद भी घत्ता के समान ही अष्टमात्रिक धुमाली ताल में गेय है। तालरक्षा के लिए प्रति पादांत में २ मात्राओं का विराम रखा जाता है, जिसकी पूर्त्ति प्लुत के सहारे भी हो सकती है; क्योंकि वर्णमात्रा-संख्या ३० है, जबकि ताल की दृष्टि से ३२ मात्राएँ अपेक्षित हैं।[3] वेलंकर ने इसे द्वादशपदी छंद माना है; क्योंकि इसके

---

१. **H. D. Velankar—A. M. JUB III—iii, p. 4849.**

२. छं० को० ४५।

३. स्पष्ट्यर्थ उदाहरण—इस पद्य में अष्टमात्रिक तालगणों तथा पादखंडों का निर्देश खड़ी रेखाओं द्वारा किया गया है। पादांत विराम (या प्लुत) की दो मात्राएँ हैं।

जसु । सीसइ गंगा ।। गोरि अधंगा ।।
गिव पहिरिअ फणि । हारा ।
कं । ठट्ठिअ बीसा ।। पिंधण दीसा ।।
संतारिअ सं । सारा ।

प्रत्येक पाद के अंदर वे तीन पृथक् पाद इसलिए मानते हैं कि १०वीं और १८वीं मात्राओं के यति-स्थान पर तुक मिलते हैं। किंतु, मेरे विचार में केवल पादांतर्गत तुक के कारण ही यति को पादसमाप्ति मान लेना युक्तिसंगत नहीं। पादसमाप्ति के लिए पादांतर्गत यति से अधिक ठहराव चाहिए। पादांत यति और पादांतर्गत यति क्रमशः वाक्यांत-यति या पूर्ण विराम और वाक्यांतर्गत यति या अर्द्ध-विराम के समान हैं। पादांत-यति में ठहराव अधिक देर तक और पादांतर्गत यति में ठहराव कम देर तक होता है। पादांतर्गत यति पर संपूर्ण लय की समाप्ति नहीं हो जाती, वरन् केवल लयखंड की समाप्ति आकांक्षायुक्त होती है। मात्रिक छंदों को तालबद्ध करने में वर्ण-मात्राओं की न्यूनता के कारण अक्सर जिस विराम की योजना होती है, वह पादांत में होती है, जैसा इस छंद में भी हम देखते हैं। इस छंद के पादांत में दो मात्राओं का विराम होता है। दोहा में यह विराम विषम पादों में तीन और सम पादों में पाँच मात्राओं का होता है। इस विराम द्वारा भी छंदगत पादसमाप्ति की सूचना अक्सर मिल जाती है। पादांत विराम के बजाय कभी-कभी प्लुत उच्चारण आदि से भी तालमात्राओं और वर्णमात्राओं के अंतर की पूर्त्ति होती है। जहाँ यह विराम अपेक्षित नहीं, अर्थात् जहाँ वर्णमात्राओं और तालमात्राओं की संख्या समान होती है, जैसे पादाकुलक, पज्झटिका आदि में, वहाँ पादसमाप्ति की सूचना अन्य प्रकार से मिलती है। पादसमाप्ति और यति के भेद के लिए पद्यानुच्छेद को लिखने के ढंग पर भी ध्यान देना चाहिए। अक्सर एक पाद, खास कर जहाँ पाद बहुत लंबा नहीं, एक पंक्ति में लिखा जाता है। कभी-कभी जब दो पादों को एक पंक्ति में लिखते हैं, जैसे चौपाई, पादाकुलक आदि में, तो बीच में पूर्ण विराम (।) जैसा कोई चिह्न रखते हैं, जिसमें दोनों पादों को मिलाकर एक पाद के रूप में नहीं पढ़ा जाय। व्याकरणगत वाक्यसमाप्ति भी पादांत के साथ ज्यादातर होती है, यद्यपि इसके अपवाद भी हैं। जो हो, पादांतर्गत यति को पादसमाप्ति केवल इसीलिए नहीं माना जा सकता कि पादांतर्गत दो यतिस्थानों पर परस्पर तुक मिलता है। क्योंकि, तुक नहीं मिलने पर भी पादसमाप्ति के उदाहरण संस्कृत में ही नहीं अपभ्रंश के छंदों के बीच भी प्रचुर हैं, जैसे दोहा[1] के प्रथम-तृतीय पादों में अथवा सोरठा[2] के द्वितीय-चतुर्थ पादों में परस्पर तुक नहीं होने पर भी पादसमाप्ति मानी जाती है। लंबे पादों में यति का प्रयोग साँस लेने की सुविधा की दृष्टि से होना आरंभ हुआ होगा, ऐसा हम पहले कह आये हैं। ताल-सांगीतिक श्रुति-मधुरता की दृष्टि से इन स्थलों पर बाद में तुक का समावेश भी किया गया होगा।

किर । णावलि कंदा ।। बंदिअ चंदा ।।
णअणहि अणल फु । रंता ।
सो । संपअ दिज्जउ ।। बहु सुख किज्जउ ।।
तुह्म भवाणी । कंता ।

(उ०—प्रा० पैं० १।९८।)

१. प्रा० पैं० ।१।७८-७९।

२. वही, १।१७०-१७१।

अतएव वेलंकर का मत कि यतिस्थान पर तुक के कारण ही यतिस्थान पर पाद-समाप्ति मान लेनी चाहिए, मुझे उपरिनिर्दिष्ट कारणों से सर्वथा असंगत प्रतीत होता होता है।

संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश के छंदोलक्षणकारों की साक्षी भी वेलंकर महोदय की धारणा के विपक्ष में और मेरे पक्ष मे है। इन आचार्यो में पाद-संख्या के आधार पर मात्रिक छंदों का वर्गीकरण हेमचंद्र ने किया है, लेकिन उन्होने केवल द्विपदी, चतुष्पदी ओर षट्पदी—ये तीन वर्ग ही माने हैं, द्वादशपदी और षोडशपदी नही।[1] कविदर्पण मे अवश्य मात्रिक छंदो के ग्यारह वर्ग स्वीकृत हैं और उनमें द्वादशपदी और षोडशपदी भी हैं। किंतु ध्यातव्य है कि इन वर्गों के अंदर प्रगाथ (Strophe) छंद ही आये हैं, जिनमे विभिन्न छंदों के २ या ३ अनुच्छेद (Stanza) संयुक्त हैं। इन वर्गों मे ऐसे छंद नही आये, जिनमें केवल एक अनुच्छेद होता है, जो २ या ३ प्रकार के अनुच्छेदो के योग से नही बनता।[2] वेलंकर ने प्रस्तुत जिन छंदों को द्वादशपदी या षोडशपदी माना है, उनको कविदर्पण में इन वर्गों के अंदर स्थान नहीं मिला है। इन वर्गों मे केवल प्रगाथ छंदों को 'शीर्षक' कहा है।

अतएव, जिन छंदों पर हम अभी विचार कर रहे हैं, उन्हे चतुष्पदी मानना ही युक्तिसंगत है।

मरहट्ठा छंद भी[3] समचतुष्पदी है, जैसा प्राकृतपैंगलम् में माना गया है, अर्द्धसम द्वादशपदी नहीं, जैसा वेलंकर मानते हैं। इसके प्रतिपाद मे १०+८+११=२९ मात्राएँ होती हैं, १० और १८ संख्यक मात्राओं के उपरांत यति होती है। घत्ता के समान ही यह भी अष्टमात्रिक ताल में गेय है, जिसकी पूर्ति के लिए पादांत में ३ मात्राओं का विराम होता है। इस विराम द्वारा पाद-समाप्ति अधोरेखांकित होती है। यह त्रिमात्रिक विराम पूरे छंद मे चार बार आता है। इसे देखते हुए भी कहना होगा कि यह छंद भी पूर्ववर्त्ती छंद की तरह ही द्वादशपदी नही, चतुष्पदी है।

पद्मावती,[4] दंडकला,[5] त्रिभंगी,[6] दुर्मिला,[7] जलहरण[8] और लीलावती[9] प्रायः एक ही छंद के विविध रूपांतर हैं। ये सभी प्राकृतपैंगलम् के अनुसार समचतुष्पदी हैं जिनके प्रति पाद में १०+८+१४=३२ मात्राएँ होती हैं और १०वी तथा १८वीं मात्राओं पर यति आती है। ये सभी अष्टमात्रिक तालगण में गेय हैं। पादगत वर्ण मात्राओ की संख्या आठ से पूर्णतया विभाज्य होने के कारण गाने मे पादांत विराम की आवश्यकता नही।

---

१. हे० छं० ६।२।
२. क० द० २।
३. प्रा० पैं० १।२०८।
४. छं० को० ५०। तथा प्रा० पैं० १।१४४।
५. प्रा० पैं० १।१७९।
६. प्रा० पैं० १।१९४।
७. प्रा० पैं० १।१९६।
८. प्रा० पैं० १।२०२।
९. प्रा० पैं० १।१८९।

अनुच्छेदगत तालगणविधान इस प्रकार होगा—

२+८+८+८+६+
२+८+८+८+६+
२+८+८+८+६+
२+८+८+८+६+

प्रत्येक गण मे प्रथम मात्रा स्वराघातपूर्ण होती है। पाद की अन्तिम षण्मात्रा अगले पाद की प्रथम द्विमात्रा से मिलकर अष्टमात्रिक गण बनाती है।

मात्रिक रूप मे प्रति पाद के तीन-तीन खड होने के कारण वेलकर ने इन छदो को भी अर्द्धसम द्वादशपदी माना है।[1] हम इन्हे प्राकृतपैगलम् के आधार पर तथा उन कारणो से जिनका निर्देश ऊपर चतुष्पदी के प्रसग मे हो चुका है, समचतुष्पदी वर्ग के अन्तर्गत मानते है।

इन छ छदो का अन्तर बहुत ही सूक्ष्म है। पद्मावती मे पादान्तर्गत तुक नही होता किंतु पादगत आठ चतुर्मात्रिक गणो मे सर्वत्र जगण (।ऽ।) का निषेध है। दडकला मे पादान्तर्गत यति का निर्देश नही। त्रिभगी और दुर्मिला मे यति और यमक (तुक) दोनो निर्दिष्ट है। जलहरण मे यति का निर्देश तो है, यमक का नही। लीलावती मे यति या यमक का निर्देश तो नही, किंतु यति स्पष्टतया अभिप्रेत है। जलहरण मे सभी वर्ण लघु होते है, जबकि त्रिभगी मे जगण (।ऽ।) का निषेध है तथा यति तीन स्थलो पर मालूम होती है—१०वी, १८वी तथा २६वी मात्राओ के बाद। अर्थात् प्रति पाद के चार खड होते है, क्रमश १०, ८, ८, और ६ मात्राओं के यह २६वी मात्रा पर अतिरिक्त तुक द्वारा प्रकट है।[2] वेलकर महोदय की युक्ति यदि स्वीकार की जाय, तो इस छद को द्वादशपदी नही, षोडशपदी मानना होगा।

मदनगृह[3] छद भी सम चतुष्पदी है, जिसके प्रति पाद मे १०+८+१४+८= ४० मात्राएँ

---

१. **H. D. Velankar—A. M. JUB II-iii, p, 49**

२. स्पष्ट्यर्थ उदाहरण—

सिर । किज्जिअ गंगं ॥ गोरि अधंगं ॥
हणिअ अणंगं ॥ पुर दहणं ।
किअ । फणिवइ हारं ॥ तिहुअण सारं ॥
बंदिअ छारं ॥ रिउ महणं ।
सुर । सेविअ चरणं ॥ मुणिगण सरणं ॥
भवभअ हरणं ॥ सूलधरं ।
सा । णंदिअ वअणं ॥ सुंदर णअणं ॥
गिरिवर सअणं ॥ णमह हरं ।

(उदाहरण—प्रा० पै० १।१९५।)

३. प्रा० पै० १।२०५।

होती है। पादगत प्रथम-द्वितीय तथा तृतीय-चतुर्थ स्थानो पर तुक मिलते है। वेलकर की युक्ति के आधार पर तो इसे भी त्रिभगी के समान षोडशपदी कहना होगा।

किंतु, जिन कारणों मे हम वेलकर द्वारा निर्दिष्ट अन्य अर्द्धसम द्वादशपदी छदो को समचतुष्पदी मानते है, उन्ही के आधार पर इसे भी समचतुष्पदी ही मानेंगे। उन कारणो का उल्लेख ऊपर एकाधिक बार हो चुका है।

इस विशेष छद मे भी अतिरिक्त तालमात्राओ की पूर्त्ति के उद्देश्य से पादात विराम अनपेक्षित है, क्योकि कुल पादगत मात्रासख्या ४० आठ से पूर्णतया विभाज्य है।

पिछले नौ छदो के सबध मे एक सामान्य विशेषता हम यह देखते है कि उनमें पादातर्गत एक से अधिक स्थान पर, दो या तीन स्थानो पर यति होती है और अक्सर यति-स्थानो पर परस्पर तुक भी मिलते है। पाद की ऐसी बनावट से यह ध्वनित है कि ये छद नृत्यादि मे काम आते होगे, प्रत्येक पादखड नृत्य की एक-एक भगिमा का साथ देता होगा या प्रतिनिधित्व करता होगा और प्रत्येक नवीन पादखड द्वारा नृत्य की गति मे नये मोड की सूचना मिलती होगी। 'त्रिभगी' छद का तो नाम भी इस दृष्टि से विशेष व्यजक है।

अर्द्धसम मात्रिक चतुष्पदी

अर्द्धसम[1] मात्रिक चतुष्पदी छदो की विशिष्टता यह है कि उनके सम और विषम पादो की बनावट भिन्न होती है, अर्थात् उनमें प्रथम-तृतीय पाद परस्पर समान होते है तथा द्वितीय-चतुर्थ पाद परस्पर समान, किंतु प्रथम-तृतीय पादो से भिन्न होते है। ऐसे छदो का अपभ्रश तथा हिंदी काव्य मे महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है, यद्यपि ये सामान्यत गीत और ध्रुपद के लिए ही अधिक प्रयुक्त होते रहे है। इन अर्द्धसम छदो की विचित्रता यह है कि इनके प्रथम-तृतीय पाद परस्पर समान तो होते है, पर इनमें पादात तुक नही होते। इस कारण अक्सर ये द्विपदी (दो पादवाले) छद-से दिखाई देते है। प्राकृत-अपभ्रश के लक्षणकारो ने जहाँ ४ से १२ तक मात्राओ के पादवाले छोटे द्विपदी तथा २७ से ४४ तक मात्राओ के पादवाले बडे द्विपदी बहुत अधिक उल्लिखित किये है, वहाँ १३ से २६ तक मात्राओ के पादवाले मध्यम द्विपदी छदो का बहुत कम उल्लेख किया है। कविप्रयोग इस लबाई के छदो को अर्द्धसम चतुष्पदी मानने के पक्ष मे था।

सभवत द्विपदी और अर्द्धसम चतुष्पदी के बीच भ्राति से बचने के लिए ही लक्षणकारो ने, मुख्यत. हेमचद्र ने, अर्द्धसम चतुष्पदी की लबाई की सीमा निश्चित कर दी है—उसके प्रत्येक विषम पाद में ७ से १६ तक और प्रत्येक सम पाद मे ८ से १७ तक मात्राएँ हो सकती है।[2] किंतु पादगत मात्रासख्या के आधार पर ही द्विपदी-चतुष्पदी का भेद करना निर्भ्रांत नही हो सकता, क्योकि यदि चतुष्पदी के पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध मे से प्रत्येक मे २७ से ३३ तक मात्रा-सख्या हो, जैसा हेमचद्र-कथित सीमा के

१. स्वयंभू और हेमचंद्र ने 'अंतरसम चतुष्पदी' कहना उचित समझा है। हे० छं० ६।१८ तथा २१।

२. हे० छं० ६।१९; क० द० २।२९ (Com.); स्वयं० ६।१।

अंदर संभव है, तो उसे हम भ्रमवश बड़े द्विपदी वर्ग का सदस्य मान ले सकते हैं। द्विपदी-चतुष्पदी का वास्तविक अंतर पादगत यमक (तुक) पर भी निर्भर नहीं, जैसा वेलंकर मानते हैं, वरन् इस बात पर निर्भर है कि छंद के प्रत्येक अर्द्धांश में जो यति या विराम आया है वह पादसमाप्ति का सूचक हो सकता है या नहीं। पादांत यति पादांतर्गत यति से अधिक दीर्घ होती है; साथ ही पादांत यति के साथ अक्सर वाक्यांत या, कम-से-कम, वाक्यांश (clause) का अंत हो जाता है; तथा पादगत वर्ण-मात्रा और तालमात्रा की संख्याओं में अंतर हो, तो इस अंतर की पूर्त्ति के लिए आवश्यकतानुसार आयोजित विराम या प्लुत-दीर्घ उच्चारण अक्सर पादांत का सूचक होता है। इस विषय पर अधिक विचार पादांतर्गत तुकवाले चतुष्पदी छंदों के प्रसंग में कर आये हैं और वेलंकर महोदय की युक्तियों का खंडन करके हमने दिखाया है कि तुक का होना-न-होना वहाँ पादांत होने-न-होने का सूचक नहीं माना जा सकता। अर्द्धसम चतुष्पदी छंदों के विषम पादों के अंत में तुक का अक्सर नहीं होना हमारे उस मंतव्य की पुष्टि करता है।

अब अर्द्धसम छंदोलक्षणों पर विचार करें। विरहांक ने जिस द्विपथक[1] नाम के छंद की चर्चा की है, वह द्विपदी नहीं, अर्द्धसम चतुष्पदी छंद है, जिसके विषम पादों में १४ और सम पादों में १२ मात्राएँ कही गई हैं। गणविधान इन शब्दों में निर्दिष्ट है—

तिण्णि तुरंगा णेउरओ। विप्पाइक्का कण्णु।
दुवहअपच्छद्धेवि तह। वद लक्खणउ ण अण्णु।

अर्थात्, प्रत्यर्द्ध में (४+४+४+ऽ।४।४।ऽऽ) इस प्रकार गण-विधान कथित है। 'णेउरओ' शब्द के बाद, अर्थात् १४वीं मात्रा के उपरांत पूर्ण विराम ग्रंथ में दिया गया है। इससे स्पष्ट है कि १४वीं मात्रा पर यति पाद-समाप्ति का सूचक है। पंक्ति के मध्य में १३वीं-१४वीं मात्रा का गुरु होना भी इसकी पुष्टि करता है। वस्तुतः, द्विपथक अर्द्धसम चतुष्पदी है, जिसका प्रत्येक पाद गुर्वंत होता है। उत्फुल्लक छंद[2] के पादविधान से इसकी तुलना करने से यह बात और अधिक स्पष्ट होगी। उत्फुल्लक का प्रयोग द्विपदी के रूप में होता होगा, किंतु द्विपथक का अर्द्धसम चतुष्पदी के रूप में, क्योंकि उत्फुल्लक में अर्द्धांश के अंत में ही गुरु वर्णों का विधान है, द्विपथक के समान मध्य में गुरु वर्ण अनिवार्यतः नहीं आता। द्विपथक की १३वीं-१४वीं मात्राओं के गुरु-रूप में संयोग द्वारा, १४वीं मात्राओं के उपरांत यति पादसमाप्ति की सूचना के लिए पर्याप्त दीर्घकालीन बन जाती है।

संस्कृत 'द्विपथक' शब्द से ही कालांतर में उसका अपभ्रंश रूप 'दुवहअ' बना, जिसका प्रयोग विरहांक और स्वयंभू दोनों ने किया है। अप० 'दुवहअ' से हिं० 'दूहा' और उससे 'दोहा' शब्द क्रमशः विकसित हुए। 'दूहा' रूप 'दोहा' से अधिक पुराना है।

---

१. वृ० जा० स० ४।२७।
२. वही, ४।६३ (पाद-विधान—४+४+४+४+४+ऽऽ)।

'दोहक' शब्द का प्रयोग हेमचंद्र ने किया है। निश्चय ही, यह 'दोधक'[1] का विकसित रूप नहीं, वरन् दोहा का कृत्रिम संस्कृत या संस्कृतीकृत रूप है, जो शास्त्र-सिद्धांत-प्रेमी आचार्य हेमचंद्र का उसी उद्देश्य से गढ़ा हुआ है, जिस उद्देश्य से उन्होंने अन्य अधिकांश प्राकृत-अपभ्रंश छंदों के इन भाषाओं में प्रचलित नामों के बदले, उनके संस्कृतप्राय रूप प्रयुक्त किये हैं। संस्कृत शब्द-स्वरूपों के अधिकाधिक प्रयोग की प्रवृत्ति १०वीं से १४वीं शताब्दियों तक विकास पर थी, ऐसा साहित्येतिहास के पंडित कहते हैं।[2]

अपभ्रंश मे प्रयोगाधिक्य के कारण, अपभ्रंश भाषा की प्रकृति और उसके व्याकरण की अपेक्षाकृत उदारता के प्रभाव-स्वरूप, द्विपथक के सम पादांत गुरु का कालांतर में लघु हो गया तथा विषम पादांत तृतीय चतुष्कल के बदले त्रिकल का प्रयोग हुआ। और इस प्रकार १३ मात्राओं के विषम पाद तथा ११ मात्राओं के सम पादवाले दोहा छंद का सूत्रपात हुआ।

शास्त्रीय उल्लेख और वास्तविक व्यवहार, दोनों दृष्टियों मे अर्द्धसम चतुष्पदी छंदों में दोहा[3] सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। यह अपभ्रंश के प्राचीनतम तथा सर्वाधिक लोकप्रिय छंदों में से है। दोहा के लक्षण के प्रथमोल्लेख का श्रेय प्राकृतपैंगलम् को दिया जा सकता है, यदि विरहांक के द्विपथक का इनमे तादात्म्य न मानकर उसे इसका पूर्व रूप या पूर्वज छंद मान लें। द्विपथक में १४, १२, १४, १२ के क्रमशः चार चरण माने जा सकते हैं और दोहा में १३, ११, १३, ११ के क्रमशः चार चरण प्रा० पैं० में स्वीकृत हुए हैं। लघुगुरुवर्णसंख्याभेद के आधार पर दोहा के ये २३ भेद प्राकृत-पैंगलम् में कथित हैं—भ्रमर, भ्रामर, शरभ, सरबाण (श्येन), मंडूक, मकट, करभ, नरं, मराल, मदकल, पयोधर, बल, वानर, त्रिकल, कच्छप, मत्स्य, शार्दूल, अहिवर, व्याघ्र, विराल, शुनक, उंदूर, सर्प।[4] भ्रमर में २६ वर्ण (२२ गुरु+चार लघु) होते हैं। एक-एक गुरु के स्थान में दो लघु बढ़ाकर रखते जाने से क्रमशः अन्य भेद बनते हैं। प्राकृतपैंगलम् में दोहा के छंद के ब्राह्मणादि चार वर्ण या जाति माने गये हैं। दोहा में १२ तक लघु वर्ण हों, तो उसे विप्र (ब्राह्मण), १३ से २२ तक लघु वर्ण हो, तो उसे क्षत्रिय, २३ से ३२ तक लघु वर्ण हों, तो उसे वैश्य तथा ३२ से अधिक लघु वर्ण हों, तो उसे शूद्र वर्ण का कहेंगे।[5] दोहा-दोष के संबंध में प्राकृतपैंगलम् का मत है

---

१. (क) ध्यातव्य है कि 'दोधक' समचतुष्पदी वर्ण-वृत्त है, अर्द्धसम मात्रावृत्त नहीं।—हे० छं० २।१३०; जय० ६।१९; जकी० २।९७; पिं० ६।१८; प्रा० पैं० २।१०४; वृ० र० ३।३३।

(ख) 'दोहा' के लिए कविदर्पण में 'दोहअ' शब्द प्रयुक्त है, जिसका संस्कृत रूप वृत्तिकार ने 'दोहक' दिया है।—क० द० २।१५।

२. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी: हिंदी साहित्य—उसका उद्भव और विकास, पृ० ९८।

३. प्रा० पैं० १।७८-७९; छं० को० २१; हे० छं० ६।२०; छं० हृ० प्र०, पृ० ३३ ख; छं० पिं० ७।२-३; छं० प्र०, पृ० ८४; छं० प्र० भा०, पृ० ८०।

४. प्रा० पैं० १।८०-८१।

५. प्रा० पैं० १।८३।

कि उसके प्रथम और तीसरे चरणों में जगण नहीं होना चाहिए, यदि रहे तो उस दोहे को चंडालिनी कहेंगे।[1] दोहा का मात्रिक गणविधान प्राकृतपैंगलम् में इस प्रकार निर्दिष्ट है—[2]

(विषम—६+४+३; सम—६+४+१)।

कविदर्पण में दोहा के लिए 'दोहअ' शब्द आया है (जिसका संस्कृत रूप वृत्तिकार ने 'दोहक' दिया है) और लक्षण के संबंध में यह कहा गया है कि दोहा के प्रत्येक सम पाद के अंत में गुरु लघु (ऽ।) होना चाहिए।[3] दोहा के सम पाद अंत्यानुप्रासयुक्त होते हैं।

दोहा के सम पादों में ५-५ मात्राएँ जोड़ने से चुलियाला[4] या चूलिका छंद होता है तथा १०-१० मात्राएँ और जोड़ने से उपचूलिका[5] छंद होता है। इस तरह दोहा के विषमपाद में २ मात्राएँ और जोड़ी जायें, तो दोहा को उद्गाथक[6] कहते हैं। हेमचंद्र ने इसे मदनविलास[7] तथा कविदर्पणकार ने मंदोहक[8] कहा है। दोहा का उलटा सोरठा[9] है, अर्थात् उसके विषम पाद में ११ और सम पाद में १३ मात्राएँ होती हैं, तथा तुक विषम पादों के अंत में मिलता है। कभी-कभी सोरठा में प्रथम-तृतीय के साथ द्वितीय-चतुर्थ पाद भी परस्पर अंत्यानुप्रासयुक्त होते हैं। इसके नाम से ध्वनित होता है कि इस छंद का उद्भव सौराष्ट्र (सोरठ) में हुआ अथवा उस भूमि-भाग का साहित्यिक या सांगीतिक प्रभाव इसपर पड़ा है। अगला छंद है बेसर[10], जो पूर्वोक्त पाँच छंदों से कुछ भिन्न है। पूर्वोक्त पाँचों में प्रथम पाद तृतीय के समान तथा द्वितीय पाद चतुर्थ के समान होता है, किंतु इस छंद में प्रथम पाद द्वितीय के समान तथा तृतीय पाद चतुर्थ के समान होता है। प्रथम दो पादों में से प्रत्येक में १६ तथा अंतिम दो पादों में से प्रत्येक में १५ मात्राएँ होती हैं।

कविदर्पणकार तथा हेमचंद्र द्वारा निर्दिष्ट इस कोटि के अन्य छंद अथवा छंदनाम हैं—अवदोहक,[11] जिसके विषम पादों में ११ और सम पादों में १३ मात्राएँ होती हैं और सोरठा से जिसका अंतर इतना ही है कि तुक इस छंद के द्वितीय-चतुर्थ पादों में

१. वही, १।८४।
२. वही, १।८५।
३. क० द०।२।१५।
४. प्रा० पैं० १।१६७; छं० को० २६ (तु०—पिं० ४।५२ में निर्दिष्ट चूलिका छंद से)। (इसे क० द० २।१७ में चडाल दोहक कहा है।)
५. छं० को० २७।
६. छं० को० २८।
७. हे० छं० ६।२०।
८. क० द० २।१६।
९. प्रा० पैं० १।१७०; छं० को० २५।
१०. छंदःकोश २०।
११. क० द० २।१५ (इसके अर्द्धांश को पाद मानकर चार पाद रखने से रोला छंद बनता है)।

मिलते हैं, सोरठा के समान प्रथम-तृतीय में नहीं; उपदोहक,[1] जिसके विषम और सम पादों में क्रमशः १२ और ११ मात्राएँ होती हैं; उद्दोहक,[2] जिसके विषम तथा सम सभी पादों में १३ मात्राएँ होती हैं; चूड़ालदोहक,[3] जिसके विषम पादों में १३ और सम में १६ मात्राएँ होती हैं; रास[4] (७, १३, ७, १३);[5] पंचाननललिता[6] (१०, १२, १०, १२); मलयमारुत[7] (९, १०, ९, १०); मुखगलिता[8] (७, २५, ७, २५); गुण-धवल[9] (१४, १६, १४, १६); भ्रमरधवल[10] (१३, १०, १३, १०) तथा अमरधवल[11] (१३, १४, १३, १४)। विरहांक ने १६ अर्द्धसम चतुष्पदी छंदों का उल्लेख किया है। इनमें निम्नोक्त ७ छंदों के विषम पाद १४ तथा सम पाद १६ मात्राओं के होते हैं; इनकी पाद-रचना के स्वरूप में अंतर है—वैतालीय[12] (पादांत में ऽ।ऽ।ऽ); मागधिका[13] (मागधी भाषा में रचित वैतालीय); आचालित[14] (पादांत में ऽ।।ऽऽ) बिंदुतिलक[15] (विषम—४+४+४+ऽ, सम—४+४+५+।ऽ); विषमगलिता[16] (विषम—४+।ऽ।+४+ऽ; सम—४+५+।ऽऽऽ); सारसिका[17] (विषम—।।ऽ+।।ऽ+।।ऽ+ऽ, सम—ऽ।।+ऽ।।+ऽ।।+ऽऽ); तथा प्रसन्ना[18] (विषम—३ भगण+ऽ, सम—४ सगण)। विरहांक द्वारा उल्लिखित शेष नौ छंद ये हैं—औपच्छंदसिक[19] (वैतालीय के प्रति पाद में गुरु जोड़ने से बनता है); खंजक[20] (९, ११, ९, ११); चंद्रोद्योतक[21] (१२, १४,

---

१. क० द० २।१६; हे० छं० ६।२०।
२. क० द० २।१७ (यह वस्तुतः सर्वसम चतुष्पदी है, किंतु दोहक या दोहा से संबंध होने के कारण सुविधा के लिए इसे यहाँ स्थान दिया गया है)।
३. क० द० २।१७ (यह प्रा० पैं० १।१६७ का चुलियाला छंद ही है)।
४. क० द० २।१४; हे० चं०।
५. कोष्ठकों के चार अंक क्रमशः चारों पादों की मात्रा-संख्याओं के निर्देशक है।
६. क० द० २।१४।
७. वही।
८. हे० छं० ४।३२।
९. हे० छं० ५।३६।
१०. हे० छं० ५।३७।
११. हे० छं० ५।३८।
१२. वृ० जा० स० ४।४८ (वैतालीय, मागधी तथा औपच्छंदसिक पर हम संस्कृत मात्रावृत्त के प्रसंग में विचार कर आये हैं।)
१३. वही, ४।२८।
१४. वही, ४।५०।
१५. वही, ६६।
१६. वृ० जा० स० ४।१०४।
१७. वही, ४।५० (वस्तुतः यह वर्णवृत्त है)।
१८. वही, ३।५२ (यह भी वर्णवृत्त ही है)।
१९. वही, ४।४९।
२०. वही, ४।१८ (यह हेमचंद्र ४।५० द्वारा निर्दिष्ट समचतुष्पदी खंजक से भिन्न है)।
२१. वही, ४।८४।

१२, १४); विपुला[1] (विषम—।।ऽ।ऽऽ, सम—४+।।ऽ+।ऽऽ, अर्थात् ९, १३, ९, १३); सुमुखी[2] (विषम—४+४+ऽ=१०, सम—४+४+।ऽऽ १३); भामिनी[3] (विषम—३ सगण १२, सम—३ भगण ऽ १४); नंदा[4] (विषम—४+५+४=१३, सम—४+४+।ऽ।+।ऽ=१५); श्वेता[5] (विषम—४+५+।ऽ=१२, सम—४+४+।ऽ।+ऽ=१४); धवला[6] (विषम—४+।ऽ।+ऽ=१०, सम—४+५+।ऽ=१२)। विरहांक का उद्गीतक[7] मात्रासंख्या की दृष्टि से सर्वसम चतुष्पदी है, किंतु मात्रिक गणविधान की दृष्टि से अर्द्धसम चतुष्पदी। उसका पादविधान इस प्रकार है—

विषम—४+४+४+४+ऽ।ऽ=२१ मात्राएँ,

सम—४+५+५+।।ऽ+।ऽ=२१ मात्राएँ।

चौबोला[8] छंद को भी प्राकृतपैंगलम् में अर्द्धसम चतुष्पदी माना गया है, जिसके विषम पादों में १६-१६ और सम पादों में १४-१४ मात्राएँ होती हैं। विषम पादों में ८ मात्राओं के उपरांत यति होती है। कविदर्पण के टिप्पणीकार के आधार पर वेलंकर ने चौबोला को षट्पदी छंद माना है, जिसके अर्द्धांश के तीन पादों में मात्रा-संख्या-क्रम इस प्रकार माना है—८, ८, १४।[9] किंतु मेरी सम्मति में इसे प्राकृतपैंगलम् के आधार पर चतुष्पदी मानना ही उचित है; क्योंकि जैसा पहले भी कहा जा चुका है, कविदर्पण की अपेक्षा प्राकृतपैंगलम् तद्युगीन काव्य में छंदोव्यवहार की वास्तविकता के अधिक है।

चौबोला उसी ताल में गाया जाता है, जिसमें पज्झटिका और घत्ता गाये जाते हैं, अर्थात् अष्टमात्रिक धुमाली-ताल में, किंतु स्वराघात प्रत्येक तालगण की तीसरी मात्रा के बजाय पहली मात्रा पर पड़ता है। प्रत्येक अर्द्धांश के उपरांत दो मात्राओं का विराम आवश्यक हो जाता है, क्योंकि अर्द्धांश की कुल वर्णमात्राएँ ३० होती हैं, जबकि तालमात्राएँ ३२ चाहिए। दोहा के ताल-विधान की चर्चा सोदाहरण हम तीसरे अध्याय में कर आये हैं।[10]

हिंदी में चौबोला नामक एक अन्य छंद 'भानु' ने स्वीकार किया है, जिसका पाद-परिमाण प्राकृतपैंगलम् के इस छंद से विशेष तुलनीय है। क्योंकि उसमें १६, १४, १६, १४ की जगह ८+७, ८+७, ८+७, ८+७ मात्राएँ होती हैं। इस प्रकार वह सम चतुष्पदी है जिसके पादों में ८ मात्राओं पर यति होती है।

---

१. वही, ३।४७।
२. वही, ३।४९।
३. वही, ३।५१।
४. वही, ५३।
५. वही, ३।५४।
६. वही, ३।४८।
७. वृ० जा० स० ४।८०।
८. प्रा० पैं० १।१३१-१३२।
९. **H. D. Velankar: A. M. JUB II-iii, p. 47.**
१०. दे० इस प्रबंध का अ० ३, पृ० २२८।
११. भानु: छंदःप्रभाकर, पृ० ४८।

विषम मात्रिक चतुष्पदी

अपभ्रंश-काव्य मे सर्वविषम छंद नही के बराबर हैं। केवल विरहांक ने इस प्रकार का एक छंद उल्लिखित किया है—'चतुष्पद',[1] जिसके प्रथम पाद मे ऽ।ऽ+ऽ।ऽ +ऽऽ, द्वितीय पाद मे ।।।+।।+।+।।ऽ, तृतीय तथा चतुर्थ पादों में से प्रत्येक में ५ +ऽ।ऽ का विधान है। यह छंद प्राकृतपैंगलम् के चतुष्पदी छंद[2] से सर्वथा भिन्न है।

विरहांक ने सात ऐसे 'द्विपदी' कहे जानेवाले छंदों का उल्लेख किया है, जिनके चार पाद होते हैं।[3] विरहांक ने इन्हे गणसम ि पदी कहा है; क्योंकि इनके पादों मे गण-संख्या समान होती है, किंतु गण-स्वरूप अथवा उनके मात्रिक परिमाण की दृष्टि से सभी पाद समान नही होते और इसीलिए पादगत मात्रा-संख्याएँ सभी पादों की भिन्न हो सकती हैं। चतुर्मात्रिक गण के बदले पंचमात्रिक गण के वैकल्पिक, स्वेच्छा-पूर्वक प्रयोग के कारण गणसंख्या समान होते हुए भी पादगत मात्रासंख्याएँ भिन्न हो जाया करती हैं। ये गणसम (और मात्रा विषम) द्विपदी कहे जानेवाले चतुष्पदी छंद हैं— चित्रा[4] (पादगत २५ या २६ मात्राएँ; २+४+।ऽ। या ।।।।+४ या ५+४+५+ऽ); सिद्धि[5] (४ या ५+४ या ५+४ या ५+।ऽ=१५ से १८ तक मात्राएँ प्रति पाद में); भद्रा[6] (४ या ५+।ऽ।+५+।ऽ।+४+५=२६ या २७ मात्राएँ प्रति पाद में); गंधारी[7] (४ या ५+४ या ५+।ऽ। या ।।।।+५=१७ से १९ मात्राओं तक प्रति पाद में); मालिनी[8] (७ चतुष्कल या पंचकल ऽ ३० से ३७ मात्राएँ प्रति पाद में) कद्रु[9] (४ या ५+४+५=१३ या १४ मात्राएँ प्रति पाद में); तथा ललिता[10] (४ या ५+४+५ +४+५+ऽ=२४ या २५ मात्राएँ प्रति पाद में)।

ंचपदी मात्रिक छंद

पंचपदी वृत्त के वर्ग में 'मात्रा' नामक छंद आता है, जो अत्यंत प्राचीन है, शायद गाथा और दोहा से भी प्राचीन, और इसीलिए जिसके कई नाम और भेद हैं। ऐसा लगता है, इस छंद के प्रयोग में काफी स्वच्छंदता रही है। इस छंद की प्राचीनता इस बात से सूचित है कि इसका विवेचन विरहांक के वृत्तजातिसमुच्चय में मिलता है।[11] विरहांक का काल नवम शताब्दी या इसके पूर्व माना जा सकता है।[12]

१. वृ० जा० स० ६९।
२. प्रा० पैं० १।९७।
३. वृ० जा० स० ३।४०-४६।
४. वही, ३।४०।
५. वृ० जा० स० ३।४१।
६. वृ० जा० स० ३।४२।
७. वृ० जा० स० ३।४३।
८. वृ० जा० स० ३।४४।
९. वृ० जा० स० ३।४५।
१०. वृ० जा० स० ३।४६; हे० छं० ४।४४।
११. वृ० जा० स० ४।२९-३०; JBBRAS, V p. 59 and p. 87.
१२. H. D. Velankar: 'Vrittajati Samuchchaya of Vuiranka'— JBBRAS, Vol. V., p. 34.

विरहांक ने 'मात्रा' छंद के चार भेदों का उल्लेख किया है—करही, मादनिका, चारुनेत्री और राहुसेनी। इन भेदों के विषम पादों में क्रमशः १३, १४, १५, और १६ मात्राएँ तथा सम पादों में क्रमशः ११, १२, १३ और १४ मात्राएँ होती हैं। किंतु हेमचंद्र का लक्षण इससे भिन्न है। हेमचंद्र ने मुख्य मात्रा छंद[1] के विषम पादों में १६ तथा सम पादों में १२ मात्राएँ स्वीकार की हैं। उन्होंने मात्रा से बने पाँच छंदों का कथन किया है, यद्यपि वे इन्हें उसका भेद नहीं मानते। ये छंद हैं—मत्त-बालिका, मत्तमधुकरी, मत्तविलासिनी, मत्तकरिणी और बहुरूपा।[2] इनके विषम पादों में १४, १६, या १७ तथा सम पादों में ११, १२ या १३ मात्राएँ होती हैं। इस प्रकार विरहांक और हेमचंद्र के अनुसार 'मात्रा' छंद अर्द्धसम पंचपदी है। प्राकृतपैंगलम् में इस मात्रा छंद की चर्चा 'रड्डा' शीर्षक के अंतर्गत है।[3] वहाँ इसके ७ भेद कथित हैं—करहा, नंदा, मोहिनी, चारुसेनी, भद्रा, राजसेना, तालंकिनी। इनके विषम पादों मे क्रमशः १३, १४, १९, १५, १५, १५ और १६ मात्राएँ होती हैं। सम पादों में मात्रासंख्या सर्वत्र समान नहीं। करही, नंदा, मोहिनी और चारुसेनी के सम पादों मे ११-११ मात्राएँ होती है, भद्रा के सम पादों मे १२-१२। किंतु राजसेना और तालंकिनी दोनों के सम पादों में से एक मे १२ तथा दूसरे मे ११ मात्राएँ होती हैं। इस प्रकार ये दो भेद अर्द्धसम नहीं, विषम पंचपदी के अंतर्गत रखे जाने चाहिए। छंदःकोश में भी रड्डा (या वस्तु) के अंतर्गत 'मात्रा' छंद का उल्लेख है।[4] वहाँ इसका केवल एक भेद, जिसे पिंगल ने चारुसेनी कहा है, लक्षित है। इस छंद को रत्नशेखर 'मात्रा' नहीं, 'राढउ' (या 'राढक') कहते हैं। कविदर्पण में भी मात्राछंद की चर्चा है।[5] उसके वृत्तिकार ने मात्रा के सभी भेदों का उल्लेख किया तथा उनके उदाहरण 'छंदःकण्डली' नामक किसी (अब अनुपलब्ध) छंदोग्रंथ से दिये हैं।

विभिन्न आचार्यो में 'मात्रा' छंद संबंधी इस मतभेद से यह ध्वनित होता है कि इस छंद के संबंध में वास्तविक प्रयोग के क्षेत्र में बड़ी स्वच्छंदता रही होगी। प्राचीन-काल में संभवतः यह अपभ्रंश का लोकप्रिय छंद था, जिसका महत्त्व गाथा और दोहा के प्रयोग में आने से समाप्त हो गया। संभवतः पंचपदी होने के कारण भी कथा-काव्यों के लिए यह छंद असुविधाजनक था और इसलिए गाथा, दोहा, पज्झटिका आदि की ओर अधिक रुचि बढ़ी।

षट्पदी मात्रिक छंद

षट्पदी छंदों के प्रसंग में कविदर्पणकार ने सर्वप्रथम घत्ता (तथा उसके भेद) फिर कीर्त्तिधवल और तदुपरांत काव्य या सार्द्धच्छंदस् का उल्लेख किया है।[6] घत्ता और

१. हे० छं० ।५।१७।

२. वही, ५।१८-२२।

३. प्रा० पैं० १।१३३-१४३।

४. छं० को० ३४।

५. क० द० २।२०-२८।

६. क० द० २।२९-३३।

उसके भेदों के संबंध में हम पीछे देख आये हैं[1] कि ये द्विपदी छंद हैं और इन्हें षट्पदी मानना (जैसा वेलंकर महोदय मानते हैं) युक्तिसंगत नहीं। कीर्त्तिधवल[2] अवश्य षट्पदी कहा जा सकता है। इसके प्रत्यर्द्ध में तीन पाद होते हैं, जिनके मात्राविधान क्रमश: इस प्रकार होते हैं—६+६+२+१४, ४+४+८, ६+६+४ (या ५)=१६ (या १७)। काव्य या सार्द्धच्छंदस् कोई एक, विशुद्ध षट्पदी छंद नही, वरन् दो छंदों के अनुच्छेद-संयोग से बना हुआ प्रगाथ (Strophe) छंद है, जिसपर हम आगे यथास्थान विचार करेंगे। विशुद्ध षट्पदी उस छंद को ही मानना चाहिए, जिसके अपने एक ही अनुच्छेद में छ: पाद हों और जो छ: से कम पादवाले दो छंदों के योग से नहीं बना हो।

६ पादों के अन्य छंदों में ८ षट्पदी जाति, ८ उपजाति तथा ८ अवजाति का उल्लेख हेमचंद्र[3] ने किया है। इन सभी के तृतीय-षष्ठ पाद समान होते हैं और इनमें मात्राओं की संख्या १० से १७ तक होती है। षट्पदजातियों के शेष पाद ७ मात्राओं के, उपजातियों के शेष पाद ८ मात्राओं के, अवजातियों के शेष पाद ९ मात्राओं के होते हैं।

ये सभी षट्पदी छंद अंतरसम या अर्द्धसम कहे जा सकते हैं। सर्वसम षट्पदी छंद एक ही है, जिसका उल्लेख प्राकृतपैंगलम् में हुआ है। वह है रसिका,[4] जिसके प्रति पाद में ११ मात्राएँ सर्वलघु रूप में रहती हैं। वर्ण-स्वरूप संबंधी प्रतिबंध के कारण इसे मात्रावृत्त नहीं कहकर वर्णवृत्त कहना अधिक उचित होता; किंतु, प्राकृतपैंगलम् में इसका लक्षण मात्रिक छंदों के प्रसंग में और मात्रावृत्त की तरह, वर्ण-गणों के प्रयोग के बगैर, दिया गया है।

अष्टपदी मात्रिक छंद

आठ पादवाले मात्रिक छंद दो ही हैं—श्रीधवल[5] (विषम—४+४+२=१०, सम—४+४=मात्राएँ; ८ पाद दो समान अर्द्धांश में विभक्त) और यशोधवल[6] (प्रथम-तृतीय पादों में १४-१४, द्वितीय-चतुर्थ पादों में १२-१२, पंचम-सप्तम पादों में ११-११ तथा षष्ठ-अष्टम पादों में १०-१० मात्राएँ)।

प्रगाथ छंदों में से कुछ ८ पादवाले भी हैं, जिनपर हम आगे यथास्थान विचार करेंगे।

प्रगाथ मात्रिक छंद

(षट्पदी, सप्तपदी, अष्टपदी, दशपदी, एकादशपदी, द्वादशपदी तथा षोडशपदी मात्रिक छंद)—

१. दे० इसी प्रकरण में 'द्विपदी' के अंतर्गत, पृ० २८०।
२. तु० हे० छं० ५।३५।
३. हे० छं० ६।१५-१७; तु० स्वयं० ५।२-१०; क० द० २।३१ (वृत्ति)।
४. प्रा० पैं० १।८६-८७। (दूसरा नाम—उक्कच्छा)
५. हे० छं० ५।३३; क० द० २।३४।
६. हे० छं० ५।३४।

सात, नौ, दस, ग्यारह, बारह तथा सोलह पादवाले मात्रिक छंद, कहा जा चुका है, प्रगाथ रूप में ही प्राकृत-अपभ्रंश लक्षण-ग्रंथों मे वर्णित मिलते हैं, स्वतंत्र रूप से नहीं। कोई एक भी ऐसा छंद नहीं, जो दो-तीन भिन्न छंदों के अनुच्छेदों (Stanzas) के संयोग से नहीं बना हो और फिर भी उनकी पादसंख्या ७, ८, १०, ११, १२ या १६ हो।

प्रगाथ छंद

प्रगाथ (Strophe) उन छंदों को कहते है जिनके अनुच्छेद (Stanzas) दो भिन्न छंदों के अनुच्छेदों को मिलाकर बनते हैं। ऐसे छंद वेदों में भी उपलब्ध हैं। संस्कृत काव्यादि में दो भिन्न छंदों के अनुच्छेद तो नहीं, किंतु किसी एक ही छंद के दो अनुच्छेद मिलाकर एक अनुच्छेद बनाने की प्रवृत्ति अवश्य थी। ऐसे अनुच्छेद को युग्मक, कुलक या विशेपक कहते थे।[1] प्राकृत-अपभ्रंश में दो भिन्न छंदों के अनुच्छेदों को मिलाकर एक अनुच्छेद बनाने की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती प्रतीत होती है। वैदिक और प्राकृत प्रगाथों में एक अंतर अवश्य दिखाई देता है। वैदिक प्रगाथों में दो छंदों के अनुच्छेद मिलकर एक छांदस इकाई तो बनते थे, वाक्यरचनागत इकाई नहीं। प्राकृत प्रगाथों में ये दो भिन्न छंदों के अनुच्छेद मिलकर वाक्यरचनागत इकाई भी बन जाते थे, अर्थात् वाक्य प्रथम अनुच्छेद में समाप्त न होकर द्वितीय के अंत तक चलता था। इससे दोनों अनुच्छेदों का संबंध अधिक घनिष्ठ होता था। इससे विदित होता है कि प्रगाथों का जन्म लंबे वाक्यों तथा प्रसंगों को एक अनुच्छेद में समाप्त करने की इच्छा या आवश्यकता के फलस्वरूप हुआ होगा, केवल वैविध्य या शोभा के विचार से नहीं। विरहांक द्वारा उल्लिखित अधिकाक्षर-शीर्षक प्रगाथ[2] इसका उदाहरण है। प्रगाथ-रचना की प्रवृत्ति प्राकृत और (विशेष कर) अपभ्रंश काव्य में खूब दिखाई देती है। अपभ्रंश कवियों ने काव्य रचना में जिस स्वच्छंदता का उपयोग किया है, यह प्रवृत्ति उसके सर्वथा अनुकूल ही है।

कविदर्पणकार ने ऐसे प्रगाथों का, पादसंख्या के अनुसार, वर्गीकृत उल्लेख किया है। हेमचंद्र ने प्रगाथों को शीर्षक कहा है। कविदर्पण की वर्गीकरण-पद्धति पर हम अब प्रगाथ-छंदोलक्षणों का विश्लेषण करेंगे।

षट्पदी प्रगाथ

छः पादवाले प्रगाथ द्विपदी और चतुष्पदी छंदों के अनुच्छेद-योग से बनते है। ऐसे प्रगाथों में सर्वाधिक प्रसिद्ध है पट्पद या छप्पय,[3] जो काव्य (रोला या वस्तुक) और उल्लाला के अनुच्छेदों के योग से बनता है। गाथा और काव्य के अनुच्छेदों के योग से उद्भूत कुंडलिनी,[4] छंद; गाथा और कामिनीमोहन (मदनावतार) के अनु-

---

१. **H. D. Velankar: M. A., JUB. II-iii, p. 49.**

२. वृ० जा० स० ४।४१-४२।

३. छं० को० १२; प्रा० पैं० १।१०५।

४. छं० को० ३८।

च्छेदयोग से उद्भूत चंडायणी[1] छंद तथा आभाणक या प्लवंगम और उल्लाला के अनुच्छेदयोग से बने रासाकुल[2] छंद भी छः पादवाले प्रगाथ हैं। अन्य छः पादवाले प्रगाथ हैं—मालाशीर्षक[3] (४५ मात्राओं के पाद का चतुष्पदी गीति); अधिकाक्षर-शीर्षक[4] (अधिकाक्षर गीति); संगतक[5] (चतुष्पदी—भ भ म स स—पादी+गाथा); सोपानक[6] (अश्वाक्रांता+गाथा); तथा खंडहडक[7] (भ्रमरावली+गाथा)।

सप्तपदी प्रगाथ

सप्तपदी प्रगाथ एक ही है—फुल्ल,[8] जो पंचपदी मात्रा तथा द्विपदी उल्लालक के अनुच्छेद-योग से बनता है। इस प्रगाथ का उल्लेख द्विभंगी शीर्षक छंदों के बीच हेमचंद्र कर सकते थे, पर किया नहीं है। अपभ्रंश के छंदों के योग से बना यह प्रगाथ अपभ्रंश भाषा में ही अवश्य लोकप्रिय रहा होगा।

अष्टपदी प्रगाथ

आठ पादवाले प्रगाथ छंद, जो लक्षण-ग्रंथों में उल्लिखित हुए हैं, ये हैं—तरल[9] जो दोहक और संदोहक के अनुच्छेद-योग से बनता है; कुंडलिका[10] (कुंडलिया) जो दोहा और काव्य के अनुच्छेद-योग से बनता है; तथा चंडायण,[11] जो दोहा और कामिनी-मोहन (नदनावतार) के मेल से बनता है। किन्हीं भी दो भिन्न चतुष्पदी छंदों के अनुच्छेद-योग से अष्टपदी प्रगाथ के जन्म की संभावना संकेतित है; ऐसे प्रगाथ को द्विभंगी कहा जा सकता है,[12] यद्यपि हेमचंद्र ने द्विपदी और गीति के अनुच्छेदयोग को द्विभंगिका नाम दिया है।[13] कविदर्पण में द्विपदी गीति अथवा दोहा घत्ता अथवा घत्ता अथवा वस्तुवदन+दोहा को भी द्विभंगी के सामान्य नाम से ही कथित किया है। कविदर्पण में अष्टपदी त्रिभंगी का उल्लेख भी है, जिसमें द्विपदी (२ पाद), खंड (४ पाद) तथा गीति (२ पाद) के अनुच्छेद संयुक्त रहते हैं।[14]

---

१. छं० को० ३९।
२. छं० को० २९।
३. वृ० जा० स० ।४।३९-४०।
४. वही, ४।४३-४५।
५. वही, ४।६४-६५।
६. वही, ४।७७-७८।
७. वही, ४।७४-७५।
८. क० द० २।३३।
९. क० द० २।३४।
१०. प्रा० पैं० १।१४६; छं० को० ३१।
११. छं० को० ३२।
१२. वेलंकर : ABORI, Vol. XVI, 1934-35, p. 51-52.
१३. हे० छं० ४।८६।
१४. क० द० २।३५-३७।

नवपदी प्रगाथ

नौ पादों का प्रगाथ छंद एक ही मिलता है—वस्तु या रड्डा,[1] जिसमें मात्रा और दोहा के अनुच्छेदों का योग रहता है। दोहा के बजाय उसका कोई भेद भी प्रयुक्त हो सकता है।[2]

रड्डा के ये सात भेद प्राकृतपैंगलम् में उल्लिखित हैं—करभी[3] (१३, ११, १३, ११, १३+दोहा), नंदा[4] (१४, ११, १४, ११, १४+दोहा), मोहिनी[5] (१९, ११, १९, ११, १९+दोहा), चारुसेनी[6] १५, ११, १५, ११, १५+दोहा), भद्रा[7] (१५, १२, १५, १२, १५+दोहा), राजसेना[8] (१५, १२, १५, २१, १५+दोहा) तथा तालंकिनी[9] (१६, १२, १६, ११, १६+दोहा)। पूर्ववर्त्ती विरहांक ने इन भेदों का उल्लेख नहीं किया। परवर्त्ती हिंदी के छंदोलक्षणकार जानी बिहारीलाल ने अवश्य अपने (हस्तलिखित) ग्रंथ छंदप्रभाकरपिंगल में करभी के सिवा अन्य छः भेदों का उल्लेख किया है।[10]

दशपदी प्रगाथ

कविदर्पणकार ने दोहक और घत्ता के अनुच्छेदयोग से बने द्विभंगी प्रगाथ को दशपदी माना है; क्योंकि वे घत्ता को षट्पदी मानते हैं।[11] किंतु, हमने देखा है कि घत्ता को द्विपदी छंद मानना अपेक्षाकृत अधिक युक्तिसंगत है। अतएव, यह प्रगाथ षट्पदी कहा जाना चाहिए। चतुष्पदी खंड या अवलंबक के दो अनुच्छेदों तथा द्विपदी गीति के एक अनुच्छेद के योग से द्विपदी खंड नामक दशपदी प्रगाथ बन सकता है।[12] कविदर्पण में इस प्रगाथ का जो उदाहरण श्रीहर्ष रत्नावली से दिया गया है, उससे प्रतीत होता है कि यह छंद प्राकृत में प्रगाथ-रूप से प्रयुक्त होता रहा होगा। द्विपदी खंड को त्रिभंगी कहा जा सकता है। एक और दशपदी त्रिभंगी है त्रिकलक,[13] जिसमें अधिकाक्षरा, निर्वापिता[14] और गीति के एक-एक अनुच्छेद का संयोग होता है।

---

१. वृ० जा० स० ४।३१; प्रा० पैं० १।१३३-१३५; क० द० २।३५।
२. हे० छं० ५।२३। ('दोहकादि' से यह ध्वनित है।)
३. प्रा० पैं० १।१३७।
४. प्रा० पैं० १।१३८।
५. प्रा० पैं० १।१३९।
६. प्रा० पैं० १।१४०।
७. प्रा० पैं० १।१४१।
८. प्रा० पैं० १।१४२।
९. प्रा० पैं० १।१४३।
१०. जा० छं० २।४।२२ तथा आगे।
११. क० द० २।३६।
१२. हे० छं० ४।८५; क० द० २।३६।
१३. वृ० जा० स० ४।४३-४५।
१४. वही, ४।१६ (सर्वसम चतुष्पदी; पादविधान—४+४+।ऽ। या ।।।।+५)।

एकादशपदी प्रगाथ

यह एक त्रिभंगी[1] प्रगाथ है, जिसमें उल्लालक (२ पाद), मात्रा (५ पाद) तथा दोहक (४ पाद) के अनुच्छेदों का योग रहता है।[2]

द्वादशपदी प्रगाथ

कविदर्पणकार[3] ने १२ पादवाले त्रिभंगी प्रगाथों की चर्चा की है, जिनमें २ खंड और एक गीति, अथवा एक द्विपदी, एक खंड और एक गीति होते हैं। एक द्विभंगी प्रगाथ भी उल्लिखित है, जो दो घत्ता के मेल से बनता है। स्मरणीय है कि कविदर्पण में गीति और द्विपदी को चार पादों के तथा घत्ता को छः पादों का छंद माना गया है। इस संबंध में हम अपनी मान्यता पहले कह आये हैं। तदनुसार ये त्रिभंगी-द्विभंगी द्वादशपदी न होकर क्रमशः १०, ८ और ४ पादवाले प्रगाथ होंगे। द्वादशपदी प्रगाथ तल[4] है, जिसमें गाथा और त्रिकलक (दशपदी प्रगाथ) का अनुच्छेद-योग होता है।

चतुष्पदी प्रगाथ

कविदर्पणकार ने चतुष्पदी छंदों की चर्चा नहीं की है। किंतु विरहांक ने ताल्वृत्त[5] नामक एक प्रगाथ का उल्लेख किया है, जिसमें हमारे हिसाब से १४ पाद होने चाहिए। इस छंद में एक गाथा (=२ पाद), एक त्रिकलक (=१० पाद) तथा पुनः एक गाथा (२ पाद) का अनुच्छेद-योग होता है, अर्थात् कुल १४ पाद होते हैं।

षोडशपदी प्रगाथ

कडवक, जिसमें पज्झटिका या इसी प्रकार के किसी और छंद के ४ अनुच्छेद, अर्थात् १६ पाद होते हैं, षोडशपदी प्रगाथ कहा जा सकता है।[6] अपभ्रंश कवियों ने व्यवहार में कडवक के अंदर १६ पादवाले नियम के पालन में स्वच्छंदता से ही अधिक काम लिया है, और इच्छानुसार पाद-युग्मों की (पाद-चतुष्टयों की नहीं) संख्या रखी है।[7]

हेमचंद्र ने प्रगाथ छंदों के अलग-अलग नाम नहीं दिये हैं और उन्हें सामान्य नाम शीर्षक के अंतर्गत रखा है। दो अनुच्छेदवाले प्रगाथों को द्विभंगी और ३ अनुच्छेदवाले को भंगी कहा है। जिन विशिष्ट अनुच्छेद-संयोगों का उल्लेख हेमचंद्र ने किया है वे हैं—द्विपदी गीति; वस्तुवदनक उल्लाला; रासावलय उल्लाला; वदन उल्लाला; द्विपदी अवलंबक गीति; तथा दो अवलंबक गीति (द्विपदी खंड)।[8]

स्वयंभू ने किसी भी प्रगाथ छंद का उल्लेख अपने छंदोग्रंथ में नहीं किया है।

---

१. जिसमें तीन भंगिमाएँ हों, अर्थात् तीन भिन्न छंदों के पाद-संयोग हों।
२. क० द० २।३६।
३. क० द० २।३६-३७।
४. वृ० जा० स० ४।८०।
५. वृ० जा० स० ४।८०।
६. क० द० २।३७।
७. वेलंकर : ABORI, Vol. XVI, 1934-35, p. 52.
८. हे० छं० ४।८४-९१।

प्रकरण ३

प्राकृत-अपभ्रंश के छंदोलक्षण-ग्रंथों में उल्लिखित मात्रिक छंद-संबंधी सामान्य निष्कर्ष

(१) प्राकृत-अपभ्रंश के छंदोग्रंथों में उल्लिखित मात्रिक छंद दो प्रकार के हैं—(क) विशुद्ध, जिनमें मात्रिक गणों की आवश्यकता से अधिक लघुगुरुवर्ण-स्वरूप-संबंधी प्राय: नही होते हैं, तथा (ख) मिश्रित, जिनमें ये विधि-निषेध पर्याप्त स्पष्ट होते हैं तथा कभी-कभी वर्णगणों का प्रयोग भी होता है। प्रथम प्रकार के मात्रिक छंद लोक के बीच दीर्घकाल से प्रचलित ताल-संगीत की देन हैं और अधिकांशत: मात्रिक रूप में भी तालानुशासन में बाँधे जाने योग्य हैं। दूसरे प्रकार के छंदों पर संस्कृत वर्ण-संगीत के संस्कारों से युक्त कवियों और पंडितों का प्रभाव परिलक्षित है; फिर भी अधिकांश छंदों में यह वर्ण-संगीत ताल-संगीत का विरोधी नही, उसका सहायक या पूरक है।

(२) तालगण और मात्रागण दो पृथक् वस्तुएँ हैं। प्रत्येक दशा में गणस्वरूप की रक्षा के लिए पूर्ववर्त्ती गण की अंतिम मात्रा परवर्त्ती गण की प्रथम मात्रा से अलग-अलग रहे—दोनों मिलकर गुरु-रूप न हो जायं—इसका विधान है। मात्रिक छंदों में तालगण और मात्रागण पादांतर्गत तदात्म रहें, यह आवश्यक नही, यद्यपि यति-स्थानों पर अक्सर तालगण-समाप्ति भी होती है (पर सदैव नही)।

(३) अपभ्रंश में प्रयुक्त उपरिलिखित अधिकांश छंद लोक के बीच दीर्घकाल से प्रचलित ताल-संगीत की देन हैं। मात्रिक रूप में भी ये छंद ताल-सांगीतिक विशेषताओं से रहित नहीं। अक्सर ये चतुर्मात्रिक या अष्टमात्रिक ताल में गेय हैं। पाद-गत तालमात्राओं और वर्णमात्राओं की संख्याओं में जहाँ अंतर है, वहाँ इस व्यवधान की पूर्त्ति पादांत विराम, पादांत अथवा पादांत-प्राय प्लुत उच्चारण द्वारा की जाती है। दोहा, सोरठा प्रभृति अर्द्धसम चतुष्पदी छंदों में अथवा प्लवंगम, आभीर आदि उन सम छंदों में जिसकी पादगत वर्णमात्रा-संख्या ८ या ४ (तालगण की मात्रासंख्या) से विभाज्य नहीं, ताल की रक्षा के लिए पादांत में या उसके आसपास प्लुत, विराम आदि का उपयोग अनिवार्यत: होता है। किसी-किसी छंद में पंचमात्रिक, षण्मात्रिक या सप्त-मात्रिक ताल भी प्रयुक्त होता है।

(४) इस ताल-सांगीतिकता के प्रभाव-स्वरूप कुछ छंदों की पाद-रचना में परिवर्त्तन आ गये-से दीखते हैं। कुछ चतुष्पदी छंदों में पादांतर्गत यति दो स्थानों पर है, तथा दूसरी यति के बाद आनेवाला (तीसरा) पादखंड अपेक्षाकृत लंबा है, अक्सर यह देखा गया है कि ताल के अनुशासन के फलस्वरूप यह तीसरा पादखंड भी दो पादखंडों में विभक्त कर दिया गया है और यति पादांतर्गत तीन स्थानों पर रखी जाने लगी है। पाद के अंदर इस तीसरी यति का स्थान ताल की आवश्यकता के अनुसार निर्णीत होता है। उदाहरण त्रिभंगी छंद है, जिसका पाद-विधान १०+८+८+६ हो जाता है। प्राकृतपैंगलम् में दिये गये उदाहरण में तृतीय यतिस्थान पर यमक या तुक के प्रयोग से इस मंतव्य की पुष्टि होती है—

सिर किज्जिअ गंगं गोरि अधंगं
।। ऽ।। ऽऽ ऽ। ।ऽऽ

हृणिअ अणंगं पुर दह्णा।[1]
।।। ।ऽऽ ।। ।।ऽ

(५) इस प्रकार के छंदों के, जिनके पाद तीन या चार खंडो मे विभाज्य हैं, अर्द्धांश का उपयोग अपभ्रंश के ऐसे गीतों में हुआ है, जो रास या गरबानृत्य के साथ या भक्तिपूर्ण भजन-नृत्य या किसी अन्य नृत्य के साथ गाये जाने के लिए रचित हुए। मराठी का प्रसिद्ध टिपरी गीत[2] इसी प्रकार के अर्द्धांश से बना है। मराठी छंद ओवी और अभंग इसी प्रकार के अर्द्धांश मे उदभूत हुए। ये सभी अष्टमात्रिक धुमाली ताल मे गेय हैं।[3] विशिष्ट मात्रिक छंदों के नृत्य से इस संबंध के द्वारा इस बात की व्याख्या हो जाती है कि संगीत के दो प्रमुख तत्त्व स्वर और ताल में ताल ही लोकछंदों में और उसके प्रभाव-स्वरूप मात्रिक छंदों मे क्यों अपनाये गये, स्वर को वह प्राधान्य क्यों नही मिला। स्पष्ट ही नृत्य में स्वर से अधिक पताल नियमित लययुक्त अंग-संचालन के लिए अपेक्षित है।

(६) प्राकृत-अपभ्रंग लक्षण-ग्रंथो में उल्लिखित अधिकांश छंद द्विपदी, चतुष्पदी या षट्पदी हैं, एक पंचपदी है और दो अष्टपदी। शेष छंद प्रगाथ हैं। लक्षणकारों के बीच विशिष्ट छंदों के द्विपदी या चतुष्पदी या षट्पदी होने के संबंध में मतभेद कम नही। उदाहरणतः, गाथा (आर्या) छंद को पिंगल, जयदेव, जयकीर्त्ति, हेमचंद्र, केदार, विरहांक आदि ने द्विपदी माना है, किंतु प्राकृतपैंगलम् और छंदःकोश में इसे चतुष्पदी कहा गया है। इसी तरह घत्ता को प्राकृतपैंगलम् में द्विपदी, छंदःकोश में चतुष्पदी और कविदर्पण मे षट्पदी माना गया है। 'द्विपदी' नामक छंद भी प्राकृत-पैंगलम् के अनुसार द्विपदी (दो पादों का), किंतु स्वयंभूच्छंदस् तथा छंदःकोश मे चतु-ष्पदी माना गया है। पिछले पृष्ठों में किये गये छंद-लक्षणों के तुलनात्मक और विश्लेष-णात्मक अध्ययन के परिणामस्वरूप ऐसा प्रतीत होता है कि छंदों के लंबे पादों को यतिस्थान पर से दो भागों में विभक्त कर देने की प्रवृत्ति अपेक्षाकृत परवर्ती लक्षणकारों के बीच अधिक लोकप्रिय हुई। फिर भी, ऐसे बहुत अधिक छंद हैं जिनके पाद यति-स्थान से तोड़े नहीं गये हैं और वे सामान्य रूप से पादांतर्गत यति-युक्त रह गये हैं।

द्विपदी-चतुष्पदी-षट्पदी आदि की पहचान के लिए आधारभूत नियम क्या रहे हैं या हो सकते हैं, यह छंदःशास्त्र और काव्यगत छंदःप्रयोग के अध्येता के लिए विचारणीय विषय हैं। वेलंकर महोदय ने इस संबंध में कुछ सामान्य नियम प्रस्तुत किये हैं। हम पिछले पृष्ठों में देख आये हैं कि विशिष्ट छंदों के प्रसंग में उनके तत्संबंधी विचार युक्तिसंगत नहीं है। यहाँ उनपर हम सामान्य विचार कर लें। वेलंकर की मान्यताएँ निम्नोद्धृत हैं—

(१) ४ से १४ मात्राओं तक का पाद सामान्यतः अविभाज्य इकाई (एक पाद,) माना जाना चाहिए, चाहे वह पाद द्विपदी का हो या चतुष्पदी का।

(२) १५ से २३ मात्राओं तक का द्विपदी का पाद, यदि उसमें ७वीं मात्रा के बाद

---

१. प्रा० पैं० १।१९४-१९५।

२. एक टिपरिस थे। दुसरिस मार गे। तिसरी थेउनी। चवथी दे।...

३. **H. D. Velankar : A. M II. JUB. V, 1936, p. 68.**

कहीं भी यति हो तो, दो भागों में विभक्त कर देना चाहिए, किंतु यदि यति अनियमित हो अथवा दोनों पादों में नहीं हो, तब नहीं।

(३) २४ से ३३ मात्राओं के पाद को विभक्त कर देना चाहिए—

(क) दो भागों में यदि यति पादगत ७वी और १७वीं मात्राओं के बीच किसी विषय मात्रा के बाद स्पष्ट हो। [सामान्यत: द्विपदी छंदों में यति विषम मात्रा के बाद नहीं, सम मात्रा के बाद आती है। उल्लाला (१५+१३) अपवाद है।]

(ख) तीन भागों में यदि पाद के अंदर यति ७वीं, ८वीं या ९वीं मात्रा के बाद दो बार आये, चाहे वह यमकयुक्त हो या नही।

(४) ३४ से अधिक मात्राओं के पाद को तीन भागों में विभक्त कर देना चाहिए— (क) यदि पाद के अन्दर यति दो बार आती है और यमकयुक्त है। (ख) किंतु, इसे विभक्त नहीं करना चाहिए यदि यति बहुत स्पष्ट नही हो, या यति एक ही बार, हो, या यमकयुक्त नही हो।[1]

अपनी इन्हीं मान्यताओं के आधार पर वेलंकर ने प्रगाथेतर (=एक ही छंद के पादों से बने) द्वादशपदी, षोडशपदी छंदों की कल्पना की है।[2] चतुष्पदी के प्रसंग में हम वेलंकर की युक्तियों का खंडन करके यह स्थापित कर आये हैं कि—

१—पादांत यति और पादांतर्गत यति का अंतर यमक पर आधारित नहीं हो सकता; क्योंकि दोहादि कई अर्द्धसम मात्रिक छंदों में यमक के अभाव में भी पादांत प्राय: सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ है। ऐसे स्थलों पर यमक पादांत का सूचक नहीं, उसका उद्देश्य होता है यति-स्थान पर ताल के सहायक सांगीतिक नाद की सृष्टि।

२—मात्रासंख्या के आधार पर पाद का विभाजन कृत्रिम और अवैज्ञानिक है। लंबे पाद में यति होने पर उसे दो या तीन पादों में बाँट देना ताल और लय की दृष्टि से अनुचित भी हो सकता है।[3] हमें याद रखना चाहिए कि अधिकांश मात्रिक छंद तालवृत्त से उद्भूत हैं और उनकी पाद-रचना को ताल-संगीत की पीठिका से विच्छिन्न करके देखना निर्भ्रांत नहीं कहा जा सकता।

मात्रिक छंदों में पादांत कहाँ मानना चाहिए, इस संबंध में चर्चा हम ऊपर विशिष्ट छंदों के प्रसंग में कर आये हैं। यहाँ उसी का सारांश सामान्य रूप से दिया जा रहा है।

३—यति के पादांतर्गत या पादांत होने पर निर्णय इस बात के आधार पर वांछनीय है कि यतिस्थान पर ठहराव कितने काल का है। यति वाक्यांत विराम के समान ठहराव पर्याप्त दीर्घकालिक हो, तो उसे पादांत का सूचक मान सकते हैं, अन्यथा वाक्यांतर्गत अर्द्धविराम के समान उसे पादांतर्गत यति मानना उचित होगा।

४—वाक्य-विन्यास में दीर्घकालिक ठहराव (पूर्णविराम) तब होता है, जब वाक्य में आकांक्षा शेष नहीं रह जाती। छंद:पादांत-सूचक यति अधिकतर कहीं पूर्ण-विराम और

---

१. **H. D. Velankar : A. M. II, JUB; V; 1936; para 54; pp. 65-66.**

२. **H. D. Velankar : A. M.; JUB; II; 1933; para 26; pp. 48-49.**

३. उ० दे०—इसी अध्याय में पादांतर्गत यतिवाले छंदों के प्रसंग में, पृ० ३०७।

कही अर्द्धविराम के साथ तदात्म हो जाती है, अर्थात् वाक्य या वाक्यांश की समाप्ति के साथ पादांत घटित होता है, यद्यपि इसके अपवाद भी हैं।

५—पादांत के निर्णय के लिए अधिकांश मात्रिक छंदों में, जो ताल-संगीत के अनुशासन में भी बाँधे जाने योग्य हैं, पादगत तालमात्राओं और वर्णमात्राओं की संख्याओं की संख्याएँ भिन्न होने पर विराम या प्लुत उच्चारण के सहारे समान कर ली जाती हैं। विराम या प्लुत द्वारा इस प्रकार की मात्रापूर्त्ति प्राय: पादांत में होती हैं। जहाँ ऐसी मात्रापूर्त्ति का उपक्रम हो, वहाँ पादांत समझना चाहिए। अर्द्धसम मात्रिक छंदों में इसके उदाहरण पर्याप्त मिलेंगे।[1]

६—प्राय: सममात्रिक छंदों में पादांत यति लय की संपूर्णता का द्योतक है और पादांतर्गत यति को आकांक्षायुक्त समाप्ति का। पाद लय की पूर्ण इकाई है, उसके बीच में यति लय के मोड़ का सूचक है, समाप्ति का नही।[2]

७—अपभ्रंश में छंद:प्रयोग की एक विशेषता द्रष्टव्य है। अपभ्रंश कवियो की प्रवृत्ति, कड़वक-रचना के संबंध में, यह रही है कि वे कड़वक-रचना के लिए किसी भी मात्रिक समचतुष्पदी छंद को ग्रहण करते हैं, किंतु उसका प्रयोग चतुष्पदी के रूप में नहीं करते। वे कड़वकांतर्गत किसी विशिष्ट चतुष्पदी छंद के दो अंत्यानुप्रासयुक्त पादों की इकाई मान लेते हैं और ऐसी इकाइयों की मनचाही संख्या कड़वक में रखते हैं। तुक इन इकाई-रूप पाद-युग्मों के ही मिलते हैं, चार पादों के नही तथा पूरे कड़वक की पादसंख्या चार से अनिवार्यत: विभाज्य नहीं होती। इस प्रकार, चतुष्पदी छंद व्यवहार में द्विपदी के समान हो जाता है। चतुष्पदी छंदों के अर्द्धांश को स्वतंत्र छांदस इकाई मानने की यह प्रवृत्ति अपभ्रंश कवियों में बहुत अधिक दृष्टिगत है। कभी-कभी अर्द्धसम. चतुष्पदी और षट्पदी के अर्द्धांश को भी स्वतंत्र छंद की तरह प्रयोग किया जाता है।[3] हिंदी आदि आधुनिक भाषाओं के गेय पदों मे ध्रुव पाद या स्थायी पाद का मूल नि:संदेह अपभ्रंश के ऐसे ही अर्द्धसम चतुष्पदी छंदों में खोजा जा सकता है। कड़वक-विधान में षट्पदी छंदों के अर्द्धांश को भी स्वतंत्र छांदस इकाई माना गया है।[4]

८—अपभ्रंश छंदों की एक अन्य विशेषता यह है कि किसी भी छंदोनामांत में संलग्न धवल या मंगल पद द्वारा विशेष अर्थ का बोध होता है। जब कोई छंद किसी नायक (धवल) की प्रशस्ति के लिए प्रयुक्त होता है तो उसके नामांत में 'धवल' जोड़ दिया जाता है। उ०—यदि क्रमश: दोहा, हेला, उत्साह आदि में वीर-प्रशस्ति हो तो इनके नाम होंगे, दोहाधवल, हेलाधवल, उत्साहधवल आदि। इसी प्रकार यदि किसी शुभावसर या मांगलिक घटना का वर्णन किसी छंद में हो, तो उस छंद के नाम के आगे 'मंगल' पद जोड़ा जाता है। उ०—हेलामंगल, दोहामंगल, उत्साहमंगल आदि।[5]

---

१. उ० दे०—इसी अध्याय में पादांतर्गत यतिवाले चतुष्पदी छंदों के प्रसंगमें, पृ० ३०७।

२. उ० दे०—इसी अध्याय में सममात्रिक चतुष्पदी प्रसंग में, पृ० २८८।

३. H. D. Velankar : A. M., JUB, V, 1936, p. 67.

४. वही।

५. हे० छं० ५।४०; स्वयं० ४।४१।

९—हमारे आलोच्य काल मे नवीन छंदो तथा उनके भेदो की बहुत बड़ी संख्या अपभ्रंश कवियो की उस स्वच्छंदता का व्यंजक है, जिसका उपयोग कर उन्होंने परंपरा मे भिन्न छादम अभिव्यक्ति के नये रास्ते खोज निकाले। ८वी से १४वी शती तक का काल इस दृष्टि से बहुत उर्वर कहा जा सकता है।

१०—लक्षणकारों द्वारा उल्लिखित सभी छंद वास्तविक परिनिष्ठित काव्य-प्रयोग से नही लिये गये। अधिक छंद तद्युगीन लोककाव्य की तथा कुछ अन्य कल्पना एवं संभावना के आधार पर आचार्यों के मस्तिष्क की देन हैं। थोड़े-से छंद ही ऐसे थे, जो लोक-काव्य में अथवा परिनिष्ठित काव्य में स्थायी लोकप्रियता प्राप्त कर सके। दीर्घकालीन व्यवहार पर आधारित ये छंद प्राकृतपैंगलम् और छंदःकोश में अंतर्भुक्त हैं। हेमचद्र ने व्यापक रूप से प्रयुक्त छंदों के साथ-साथ अपेक्षाकृत अप्रयुक्त छंदों के नाम भी गिनाये। विरहांक, स्वयंभू और हेमचंद्र द्वारा उल्लिखित बहुत-से छंद परवर्त्ती शताब्दियों में संभवत: प्रयोग से उठ गये थे और इसीलिए उनका उल्लेख प्रा० पैं० तथा छं० को० में नही हुआ है। मध्यकालीन हिंदी-काव्य में भी प्राय: ये छंद देखने को नहीं मिलेंगे। हिंदी के छंदों के अध्ययन की दृष्टि से, इसीलिए, प्रा० पैं० और छं० को० में निर्दिष्ट छंद ही विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इस दृष्टि से इन छंदों मे से २५ मुख्य छंद हैं—गाथा, रोला (या काव्य), चउपइया, छप्पय, उल्लाला, पज्झटिका, अडिल्ल, पादाकुलक, चउबोला, रड्डा, कुंडलिया, दुवई, झुल्लण, चुलियाला, सोरठा, हाकलि, अहीर, प्लवंगम, हरिगीता, त्रिभंगी, दुर्मिला, जलहरण, मदनगृह तथा मदनावतार।

प्रकरण ४

हिंदी के छंदोलक्षण-ग्रंथों के आधार पर मात्रिक छंदों का अध्ययन (तुलनात्मक और विश्लेषणात्मक)

हिंदी के अधिकाश छंदोलक्षण-ग्रंथ हमारे विवेच्यकाल की सीमा के अंदर नहीं आते। वे सं० १७०० के बाद लिखे गये। फिर भी, मात्रिक छदों के तुलनात्मक और विश्लेपणात्मक अध्ययन के प्रसंग में हिंदी के प्रमुख छंदोलक्षण-ग्रथों का अवलोकन निम्नलिखित कई दृष्टियों से उपादेय हैं।

(१) हेमचंद्र के बाद लिखे गये संस्कृत के लक्षणग्रंथों में मात्रिक छंदों की विशेष चर्चा नहीं है, कम-से-कम हेमचद्र से आगे का मार्ग उसके सहारे नहीं दिखाई देता। प्राकृत-अपभ्रंश के छंदोलक्षण-ग्रंथ रत्नशेखर (१५वी शती) के बाद के नही मिलते। प्राकृतपैंगलम् और छंद:कोश में १४वीं-१५वी शती तक के काव्य में व्यवहृत मात्रिक छंदो को ही स्थान मिल सकता था। १६वी-१७वीं शताब्दियो में वास्तविक छंद:प्रयोग की प्रवृत्तियों और विशेषताओ का पता इन ग्रथों के आधार पर नही चल सकता। स्मरणीय है कि १६वी-१७वी शताब्दियों में, जिन्हे हिंदी-साहित्य का स्वर्णयुग कहा गया है, मध्यदेश में रचित हिंदी के काव्य-साहित्य का अत्यधिक प्रसारोत्कर्ष घटित हुआ। स्वाभाविक है कि हिंदी-काव्य का यह ऐश्वर्यकाल छंद:प्रयोग की दृष्टि से भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हो। चूंकि प्राय: लक्ष्य-साहित्य (काव्य) की रचना के उपरांत ही तत्संबंधी लक्षण-साहित्य (शास्त्र) का निर्माण होता है, अतएव इस युग में छंद:प्रयोग के मूल्यांकन के लिए इस युग के बाद रचित छंदोलक्षण-ग्रंथों का अवलोकन भी निश्चय ही अर्थपूर्ण और उपादेय है।

(२) संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश के लक्षण-ग्रंथों का जो छंदोविवेचन है, वह विशिष्ट हिंदी-काव्य के छंद:प्रयोग पर आधारित नही, वह तो सामान्यत: संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश भाषाओं में प्रयुक्त छंदों के आधार पर हुआ है। यह ठीक है कि परवर्त्ती हिंदी-काव्य में अपभ्रंश के अधिकांश लोकप्रिय छंद अपना लिये गये, किंतु हिंदी के अपने छंद तथा उसके छंदोविधान की अपनी विशिष्टताएँ भी हो सकती है और हैं, जिनका परिचय मिलना हिंदी के छंदोलक्षण-ग्रंथों के अवलोकन के विना सहज नहीं। १६वीं-१७वीं शताब्दी के हिंदी-काव्य ने मात्रिक छंदों के विकास की दिशा में जो महत्त्वपूर्ण योग-दान किया है, उसका बहुत कुछ पता परवर्त्ती काल के हिंदी छंदोलक्षण-ग्रंथों को देखने से चल सकता है।

(३) विषय की संपूर्णता की दृष्टि से भी हिंदी के लक्षण-ग्रंथ अवलोकनीय हैं। इस अवलोकन से हम यह जान सकेंगे कि १६वीं-१७वीं शताब्दी तक प्रयुक्त कौन-से छंद बाद में स्थायित्व या परिनिष्ठा प्राप्त कर सके और इसलिए छंद:शास्त्र में उल्लेख्य समझे गये तथा हमारे आलोच्य युग के बाद मात्रिक छंदों के क्षेत्र में कितनी कम या अधिक प्रगति हुई।

हिन्दीलक्षण-ग्रंथों में छंदोवर्गीकरण

हिंदी-लक्षणग्रंथों में से प्राय: सभी में छंदों के दो विशद वर्ग स्वीकृत हैं : १—वर्ण-

वृत्त और २–जाति (मात्रिक) छंद।[1] वैदिक स्वरवृत्त और लोकप्रचलित तालवृत्त की पर्याप्त चर्चा प्राय: किसी भी हिंदी-लक्षणकार ने नहीं की है।

मात्रिक छंदों के वर्ग-विभाजन की प्रवृत्ति भी हिंदी-लक्षण-ग्रंथों में आरंभ मे नहीं मिलती। भूपण के छंदोहृदयप्रकाश (हस्तलिपि) में मात्रिक छंदों के वर्गीकरण का प्रयास नहीं है और छंदों को लगभग उसी क्रम से स्थान दिया गया है, जैसे प्राकृत-पैंगलम् में। सुखदेवमिश्र कृत 'पिंगल', 'वृत्तविचार' तथा 'छंदोनिवास' शीर्षक ग्रंथों की विभिन्न हस्तलिपियों में भी हम मात्रिक छंदों के वर्गीकरण की प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव पाते हैं। सुखदेव ने सम-अर्द्धसम-विषम द्विपदी-चतुष्पदी-षट्पदी सभी प्रकार के छंदों का एक साथ ही रखा है। पादगत मात्रासंख्या के क्रम से भी उनका वर्णन नहीं हुआ। वर्णवृत्तविचार में अवश्य क्रमबद्धता है। रामसहायकृत वृत्ततरंगिणी में मात्रिक छदों को सम-अर्द्धसम-विपम वर्गो में तो नहीं रखा गया, किंतु पादगत मात्रा-संख्या के क्रम से उनका विवेचन हुआ है अवश्य, ओर इसीलिए दंडकों को अलग, बाद में रखा गया है। वृन्दावनदास कृत छंदसार या पिंगलसार (हस्तलिपि) में मात्रिक छंदों के वर्गीकरण की एक सर्वथा नवीन पद्धति का अवलंबन हम देखते हैं, जो प्राकृत-अपभ्रंश के लक्षणकारों में भी कहीं दिखाई नहीं देती। इस ग्रंथ मे छंदगत वर्ण-मात्राओं के नियतानियत होने को वर्गीकरण का आधार बनाया गया है। पूरा ग्रंथ पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में विभाजित है। छंदःशास्त्रीय गणित के उपरांत पूर्वार्द्ध में वर्णवृत्तों का विचार है, उत्तरार्द्ध में मात्रिक छंद आये हैं। इसके अंतर्गत क्रमशः 'नियतमात्रानियत वर्ण', 'नियतमात्रा अनियत वर्ण' तथा 'नियतमात्रा नियतानियत वर्ण'—ये तीन मुख्य वर्ग हैं। फिर लघु या गुरु के नियतानियत होने के आधार पर जगण विधिनिपेध के आधार पर छंदों का उपवर्गीकरण है। किंतु इस प्रकार का सूक्ष्म वर्गीकरण परवर्त्ती लक्षणकारो के बीच लोकप्रिय क्या, स्वीकृत भी नहीं प्रतीत होता। जयदेवमिश्र कृत वृत्तार्णव में मात्रिक छंदों का वर्गीकरण नहीं है। भिखारीदास के छंदोर्णवपिंगल में १ से ३२ तक मात्राओं के पादवाले छंद क्रमशः अलग-अलग कोटियों में रखे गये हैं, यद्यपि मात्रिक छंदों की इन कोटियों में वर्णवृत्त भी अंतर्भुक्त कर लिये गये है जिनकी पादगत मात्रा-संख्या क्रमशः १ से ३२ तक है। अनियत मात्रावाले छंदों को मात्रामुक्तक वर्ग में, कुछ परंपरागत छंदों को, जो अर्द्धसम, विषम या असाधारण पाद-संख्या अथवा लंबाई वर्ग में स्थान दिया गया है। भिखारीदास ने मात्रिक छंदों को अलग-अलग कोटियों में रखा अवश्य है, लेकिन उनके कोटि-विभाजन का कोई व्यापक और वैज्ञानिक आधार नहीं प्रतीत होता।

जानी बिहारीलाल कृत छदप्रभाकरपिंगल में प्रथम बार हम मात्रिक छंदों को ऐसी वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर वर्गीकृत देखते हैं, जिसका अनुसरण भानु जैसे प्रसिद्ध परवर्त्ती लक्षणकार ने भी किया। जानी बिहारीलाल ने मानों भानु को इस दृष्टि से पूर्वभासित किया है। जानी बिहारीलाल ने मात्रिक छंदों को तीन कोटियों में रखा—सम, अर्द्धसम और असम। सम छंदों की दो उपकोटियाँ बनाईं—साधारण और दंडक। उनके ग्रंथ के द्वितीय विभास में मात्रिक छंदों की चर्चा चार प्रभाओं में विभाजित है, जिनमें क्रमशः सम, साधारण, समदंडक, अर्द्धसम और असम छंद आये हैं। किंतु,

१. छं० हृ० प्र०, पृ० ५ ख तथा ३१ क; छं० प्र० पृ०, ५; पिं० ५।१-२।

जानी बिहारी लाल ने द्विपदी-चतुष्पदी-षट्पदी आदि छंदों को एक साथ ही रखा है—अनुच्छेदगत पादसंख्या के आधार पर कोटि-विभाजन नहीं किया है। जगन्नाथप्रसाद भानु के छंदःप्रभाकर में भी हम मात्रिक छंदों के वैज्ञानिक वर्गीकरण का ऐसा ही प्रयास देखते हैं। बाद के लक्षणकारों ने भी इसे ही स्वीकार किया। जानी बिहारीलाल की तरह ही मात्रिक छंदों को भानु ने भी तीन वर्गों में रखा : १. सम, २. अर्द्धसम और ३. विषम। समवर्ग के अंतर्गत दो उपवर्ग हुए—साधारण और दंडक। आर्यादि संस्कृत से प्राप्त छंद अलग वर्ग में रखे गये हैं। परवर्त्ती छंदोलक्षणकार रामनरेश त्रिपाठी,[1] दत्त,[2] परमानंद[3] तथा रघुनंदन शास्त्री[4] ने भी भानु का अनुकरण किया है। परमानंद ने आर्या को अलग प्रकरण में रखा है और अवध उपाध्याय[5] ने मात्रिक छंदों का वर्गीकरण नहीं किया, किंतु 'लयात्मक छंदों' के केवल कुछ उदाहरण अलग वर्ग में रख छोड़े हैं।

प्रस्तुत विवेचन के लिए हम भानुकृत वर्गीकरण का आधार ही उसकी व्यापक लोकप्रियता के कारण, सुखद मानते हैं।

सममात्रिक छंद

हिंदी लक्षणकारों के सममात्रिक छंद अधिकतर चतुष्पदी हैं। द्विपदी का निर्देश बहुत ही विरल है। चार से अधिक पाद के सभी छंद भानु आदि हिंदी के लक्षणकारों ने विषम वर्ग में रखे हैं, चाहे सभी पाद परिमाण में समान हों अथवा विषम हों। अतएव, सममात्रिक वर्ग के अंतर्गत हम समचतुष्पदी छंदों का ही विचार कर रहे हैं।

मात्रिक छंदों की विशेषता यह है कि उनमें पादगत मात्रा-संख्या तथा लय निश्चित होती है। वर्णों के लघुगुरु-क्रम संबंधी प्रतिबंध भी पाद में कहीं-कहीं हो सकते हैं, किंतु व्यापक रूप से या बहुत अधिक नहीं। मात्रिक छंदों में पादगत वर्णसंख्या अनिश्चित होनी ही चाहिए, नहीं तो वर्णवृत्त से वह अभिन्न हो जायगा।

भिखारीदास ने छंदोर्णवपिंगल में कई ऐसे छंदों को मात्रिक छंदों के वर्ग में रखा है, जो वस्तुतः वर्णवृत्त हैं; क्योंकि उनके पाद में मात्रासंख्या ही नहीं, वर्णसंख्या और वर्णों का लघुगुरुक्रम भी निश्चित है। यों, प्रायः प्रत्येक वर्णवृत्त में, लघुगुरुक्रम निश्चित होने के कारण, पादगत मात्रासंख्या भी निश्चित होगी ही। किंतु इसी कारण सभी वर्णवृत्तों को मात्रावृत्त मान लेना कोई अर्थ नहीं रखता। मात्रावृत्त में पादगत वर्णसंख्या और वर्णक्रम संबंधी (अपेक्षाकृत) स्वच्छंदता होनी ही चाहिए।

भिखारीदास ने निश्चित वर्णसंख्यावाले जिन छंदों को मात्रिक वर्ग में रखा है, उनमें कई प्राकृत के आचार्यों द्वारा निश्चित रूप से वर्णवृत्त माने जा चुके हैं। ऐसे छंदों के कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं—

---

१. हिंदी पद्य-रचना (पिंगल); प्र० हिंदी मंदिर, प्रयाग, पृ० ४१।
२. छंदःचंद्रिका, पृ० पुस्तक—भंडार, पटना, पृ० ५।
३. श्रीपिंगलपीयूष; प्र० ओरियंटल बुकडिपो, दिल्ली, पृ० १४९।
४. हिंदी छंदप्रकाश; प्र० राजपाल एंड संस, दिल्ली, पृ० ४८।
५. नवीन पिंगल; प्र० साहित्य-भवन, प्रयाग, पृ० ८७।

श्री,[1] मही,[2] काम,[3] पंचाल,[4] ताली,[5] वसुमती,[6] कुमारललिता,[7] मदलेखा,[8] नाराचिका,[9] विद्युन्माला,[10] इंदुवदना,[11] जलधरमाला[12] आदि।

जानीबिहारी लाल ने अपने ग्रंथ छंद-प्रभाकर-पिंगल[13] में भिखारीदास की तरह ही एक मात्रा से ३२ मात्राओं तक के पादवाले छंदों का वर्णन करते हुए कई वर्णवृत्तों का उल्लेख मात्रिक छंदों के प्रसंग में कर दिया है।[14]

सममात्रिक छंदों में लघुतम छंद ७ मात्राओं के पाद का मिलता है, जिसे शुभगति कहते हैं। इसका उल्लेख भिखारीदास ने किया है। शुभगति (७ मात्राएँ; अंत ऽ)[15] को जानी बिहारीलाल तथा भानु ने 'सुगति' भी कहा है। भिखारीदास ने पादांत गरु के प्रतिबंध का उल्लेख नहीं किया। ७ मात्राओं के पादवाले अन्य छंद हैं नंद और प्रभाविलास, जिनका उल्लेख जानी बिहारीलाल ने किया है।[16]

८ मात्राओं के पादवाले छंद हैं—छवि और मधुभार (८ मात्राएँ; अंत ।ऽ।)।[17] भिखारीदास ने छवि और मधुभार नामक ७ मात्राओं के पादवाले दो पृथक् छंदों का उल्लेख किया है। दोनों का अंतर यह है कि छवि में ३ और ५ मात्राओं पर यति होती है, मधुभार में यति का नियम नहीं। दोनों में पादांत जगण का विधान है।

---

१. छं० पिं० ५।८; हे० छं० २।६; प्रा० पैं० २।१।
२. छं० पिं० ५।१०; प्रा० पैं० २।८।
३. छं० पिं० ५।१४; प्रा० पैं० २।३।
४. छं० पिं० ५।२२; प्रा० पैं० २।११।
५. पिं० ५।३०; प्रा० पैं० २।११।
६. पिं० ५।६१; वृ० र० ३।९।
७. छं० पिं० ५।६५; हे० छं० २।५४; जय० ६२; जकी० २।५६; पिं० ६।३; वृ० र० ३।११।
८. छं० पिं० ५।८३; हे० छं० २।५५; वृ० जा० स० ५।७; वृ० र० ३।१०।
९. छं० पिं० ५।१००; हे० छं० २।७८; जकी० २।७०; वृ० र० ३।१९।२; वृ० जा० स० ४।५८।
१०. छं० पिं० ५।१२९-१३०; हे० छं० २।७४; जय० ६।४; पिं० ६।६; जकी० २।६४।; वृ० र०।३।१३।
११. छं० पिं० ५।१६१, १६३; वृ० र० ३।७६।
१२. छं० पिं० ५।१६४; १६६; पिं० ८।४; वृ० र० ३।६१; जय० ६।३८;. जकी० २।१२६; हे० छं० २।१७८।
१३. ना० प्र० सभा (काशी), हस्तलिपि सं० ७१८।
१४. जानी बिहारीलाल : छंदप्रभाकरपिंगल, २।४-३८।
१५. छं० पिं० ५।४३; छं० प्र०, पृ० ४३; जा० छं० २।४१-४२।
१६. जा० छं० २।३९-४६।
१७. छं० पिं० ५।५५, ५८; छं० प्र०, पृ० ४३; जा० छं० २।४७-५४।

भानु ने छवि का ही दूसरा नाम मधुभार बताया है। मधुभार की चर्चा प्राकृतपैंगलम् में हुई है।[1] ८ मात्राओं के पाद का एक अन्य छंद गंगा की चर्चा रामसहाय ने की है।[2]

९ मात्राओं के पादवाले जिन दो छंदों (हारी, वसुमती)[3] की चर्चा भिखारीदास और जानी बिहारीलाल ने की है, वे वस्तुत: वर्णवृत्त हैं; क्योंकि उनमें पादगत वर्णक्रम और इसीलिए वर्णसंख्या भी निश्चित है। भानु ने अवश्य दो मात्रिक छंदों का उल्लेख किया है, जिनके पाद में ९ मात्राएँ होती हैं। वे हैं—गंग[4] (९ मात्राएँ, अंत ऽऽ), जिसके अंत में दो गुरु चाहिए, और निधि[5] (९ मात्राएँ, अंत लघु), जिसके अंत में लघु आवश्यक है।

१० मात्राओं के पादवाले छंदों मे दीपक को छोड़ भिखारीदास द्वारा उल्लिखित सभी छंद वर्णवृत्त हैं। भानु ने केवल दीपक का उल्लेख किया है। यह प्राकृत-पैंगलम् में पूर्वोल्लिखित है।[6]

११ मात्राओं के पादवाले मात्रिक कहे जाने योग्य छंदों में अहीर[7] प्राकृतपैंगलम् में पूर्वोल्लिखित हैं। भिखारीदास द्वारा उल्लिखित हंसमाला[8] छंद वर्णवृत्त हैं, तथा लीला[9] छंद का लयसाम्य भानु के भव[10] छंद से है। भव छंद में भानु ने ११ मात्राओं के पाद में अंत्य ऽ अथवा ।ऽऽ का विधान किया है। भानु के शिव[11] छंद में पादांत ।।ऽ या ऽ।ऽ या ।।। होता है। इसका लय-साम्य विरहांक के रक्ता[12] या खेटक[13] छंद से है, किंतु लघुगुरु-संबंधी स्वच्छंदता भी है।

१२ मात्राओं के पादवाले छंदों में भानु ने तोमर, ताण्डव, लीला और नित—इन चार छंदों का उल्लेख किया है।[14] तोमर का उल्लेख प्राकृतपैंगलम् में वर्णवृत्त के रूप में हुआ है।[15] भिखारीदास ने भी इसका लक्षण (स ज ज) वर्णवृत्त जैसा दिया है, यद्यपि इसे मात्रिक कोटि में रखा है। भानु ने इसका लक्षण मात्रिक के रूप में दिया है—

---

१. प्रा० पैं० १।१७५।
२. रा० वृ० त० २।४२, पृ० ३०।
३. छं० पिं० ५।५९-६१; जा० छं० २।५५-५८।
४. छं० प्र०, पृ० ४३।
५. वही, पृ० ४४।
६. प्रा० पैं०, १।१८१।
७. प्रा० पैं० १।१७७; छं० प्र०, पृ० ४४; छं० पिं० ५।७५-७६; छं० प्र० भा०, पृ० १३४; छं० हृ० प्र०, पृ० ४० क; रा० वृ० त० २।४९, पृ० ३१।
८. छं० पिं० ५।७८; वृ० र० ३।१२।
९. छं० पिं० ५।७७।
१०. छं० प्र०, पृ० ४४।
११. छं० प्र०, पृ० ४४।
१२. वृ० जा० स० ३।७ (वस्तुत: वर्णवृत्त)।
१३. वही, ४।७६ (वस्तुत: वर्णवृत्त)।
१४. छं० प्र०, पृ० ४४-४५।
१५. प्रा० पैं० २।८६।

वर्ण-प्रतिबंध इतना ही है कि पादांत ऽ। होना चाहिए। भानु ने तोमर को मात्रिक छंद मानने के पक्ष में यह युक्ति दी है कि गोस्वामी तुलसीदास ने इस छंद का व्यवहार मात्रिक रूप मे किया है। ताण्डव,[1] छंद के पादादि और पादांत के वर्ण लघु होते हैं; लीला[2] छंद के पादांत में ।ऽ। होता है तथा नित[3] छंद के पादांत में अथवा ।।। होता है। विरहांक के नाराचक छंद[4] की लय नित की लय में अंतर्भुक्त हो जाती है। भिखारीदास के शेष, मदलेखा, चित्रपदा, युक्ता, हरमुख, अमृतगति, सारंगिय, दमनक, मानवक्रीड, सूर, दिगीश तथा तरलनयन नामक छंद वस्तुत: वर्णवृत्त हैं।[5] हरदेवदास ने १२ मात्राओं के पाद का मोहन[6] नामक एक छंद उल्लिखित किया है, जिसका मात्रा-गण-विधान इस प्रकार निर्दिष्ट है—

२+३+४ (जगण निषिद्ध)+३

जानी बिहारीलाल ने १२ मात्राओं के पादवाले इन चार छंदों का उल्लेख किया है— तोमर, हरि, बिंबा और अमृतगति[7]—रामसहाय के बारह मात्राओं के पादवाले छंद हैं कलकंठा (अंत गुरु) तथा माधुर्य (अंत लघु)[8]।

१३ मात्राओं के पादवाले छंदों में भिखारीदास द्वारा उल्लिखित तीनों छंद नराचिका, महर्ष तथा लक्ष्मी, वर्णवृत्त हैं।[9] भानु ने उल्लाला[10] (=चंद्रमणि) तथा चंडिका[11]—इन दो छंदों की चर्चा की है। उल्लाला समचतुष्पदी है, जो पूर्वोल्लिखित द्विपदी उल्लाला[12] (कुंकुम–१५+१२। कर्पूर–१५+१३) से भिन्न, किन्तु १३ मात्राओं के पादवाले उद्दोहक[13] छंद से तुलनीय है। भानु के सम चतुष्पदी उल्लाला को पूर्ववर्त्ती जानी बिहारीलाल ने चंद्रमणि नाम दिया है।[14] इसमें लघुगुरु-संबंधी प्रतिबंध नहीं। चंडिका में प्रतिबंध यह है कि पादांत में ऽ।ऽ होना चाहिए। रामसहाय के इंदिरा छंद[15] का पाद गुर्वंत होता है।

---

१. छं० प्र०, पृ० ४५।
२. छं० प्र०, पृ० ४५; छं० पिं० ५।९५-९६।
३. छं० प्र०, पृ० ४५।
४. वृ० जा० स० ४।५८। (वर्णवृत्त)
५. छं० पिं० ५।७९-८१, ९५।
६. छं० प्र० भा०, पृ० १३५-१३६।
७. जा० छं०, २।७६-८२।
८. रा० वृ० त० २।५०-५३, पृ० ३१।
९. छं० पिं० ५।९९।
१०. छं० प्र०, पृ० ४५।
११. वही, पृ० ४६।
१२. क० द० २।२; प्रा० पैं० १।११८; हे० छं० ७।२-३; (इस छंद को भानु ने अर्द्धसम चतुष्पदी माना है।—छं० प्र०, पृ० ४६।)
१३. क० द० २।१०।
१४. जा० छं० २।८३-८४।
१५. रा० वृ० त० २।५५, पृ० ३१।

१४ मात्राओं के पाद का हाकलि[1] छंद प्रा० पैं० में पूर्वोल्लिखित है। भिखारीदास द्वारा कथित १४ मात्रा के पादवाले सभी छंद—शिष्या, सुवृती, पाइत्ता, मणिबंध, सारवती, सुमुखी, मनोरमा तथा समुद्रिका—वर्णवृत्त हैं। १४ मात्राओं के पादवाले मात्रिक छंद भानु ने उल्लिखित किये हैं। उनमें कज्जल में पादांत ऽ।, सखी में पादांत ऽऽऽ या ।ऽऽ, विजात के पादादि में लघु, मधुमालती (७+७) के पादांत में ऽ।ऽ, सुलक्षण (७+७) के पादांत में ऽ।, मनमोहन (८+६) के पादांत में ।।।, सरस (७+७) के पादांत में ।।। तथा मनोरम के पादादि में ऽ एवं पादांत में ऽ।। अथवा ।ऽऽ का विधान है।[2] हाकलि छंद में तीन चौकल के बाद एक गुरु चाहिए। जहाँ तीन चौकल न पड़ें, वहाँ इस छंद को मानव कहेंगे।[3] सुलक्षण छंद का गणविधान हरदेवदास ने २+३+४ (जगण निषिद्ध) +५ (=१४ मात्राएँ)—इस प्रकार दिया है।[4] मनमोहन छंद के पाद में रामसहाय ने अंत में भगण+लघु माना है।[5]

१५ मात्राओं के पादवाले छंदों में भिखारीदास ने चौपई, हंसी, उज्ज्वला, हरिणी, तथा महालक्ष्मी का उल्लेख किया है।[6] उज्ज्वला के अतिरिक्त अन्य चार का उल्लेख जानी बिहारीलाल ने भी किया है।[7] इनमें अंतिम दो वर्णवृत्त हैं, जिनके लक्षण भी वर्ण-गणों के सहारे दिये गये हैं। शेष में से चौपई और उज्ज्वला की चर्चा भानु ने भी की है। चौपई[8] के पादांत में ऽ। होता है। इसका अन्य नाम जयकरी है। उज्ज्वला[9] के पादांत में ऽ।ऽ, तथा पादगत १०वीं मात्रा पर यति होती है। हंसी[10] में तीन चतुष्कल के उपरांत लघुगुरु का विधान है। यह छंद रामसहाय के नगर छंद से तुलनीय है।[11] इसकी लय विरहांक के आनंदित[12] छंद के समान है। भानु द्वारा निर्दिष्ट १५ मात्राओं के पादवाले अन्य छंद हैं—पुनीत,[13] जिसके आदि में समकाल के बाद विषम काल होता है तथा अंत में तगण (ऽऽ।) होता है; गोपाल या गुपाल,[14] जिसमें पादगत ८वी मात्रा पर यति तथा अंत में जगण (।ऽ।) होते हैं ओर जिसका अन्य नाम

१. छं० प्र०, पृ० ४६; प्रा० पैं० १।१७२; छं० प्र० भा०, पृ० १३४; छं० हृ० प्र०, पृ० ३९ख ; रा० वृ० त० २।५७, पृ० ३१।
२. छं० प्र०, पृ० ४६-४८।
३. छं० प्र०, पृ० ४७; छं० प्र० भा०, पृ० १३४।
४. छं० प्र० भा०, पृ० १३५।
५. रा० वृ० त० २।६१, पृ० ३१।
६. छं० पिं० ५।१२०-१२६।
७. जा० छं० २।९७-१०६।
८. छं० प्र०, पृ० ४८।
९. वही।
१०. छं० पिं० ५।१२०, १२२।
११. रा० वृ० त० २।६५, पृ० ३२।
१२. वृ० जा० स० ४।२०।
१३. छं० प्र०, पृ० ४९।
१४. छं० प्र०, पृ० ४८; रा० वृ० त० २।६३, पृ० ३२ (रामसहाय गोपाल में पादांत केवल ग ल पर्याप्त मानते हैं)।

भुजंगिनी है; गोपी,[1] जिसके पादादि में त्रिकल और पादांत में गुरु (ऽ) होते हैं अथवा मात्रागणविधान इस प्रकार होता है—३+६+४=१५; तथा चौबोला,[2] जिसमें पादगत ८वीं मात्रा पर यति तथा पादांत में लघुगुरु (।ऽ) होते हैं। हम देख चुके हैं कि प्राकृतपैंगलम्[3] में चौबोला को अर्द्धसम चतुष्पदी (१६, १४, १६, १४) और कविदर्पण की टिप्पणी[4] में उसे षट्पदी (८, ८, १४, ८, ८, १४) माना गया है। अनुमानतः बाद में क्रमशः ८, ८, ७, ७, ८, ८, ७, ७, मात्राओं के पाद या पादखंड प्रयुक्त हुए होंगे, जिसके क्रम-परिवर्त्तन द्वारा भानु के युग तक आते-आते प्रतिपाद मात्राओं की संख्या ८+७, ८+७, ८+७, ८+७ हो गई होगी। भिखारीदास ने जिसे हंसी (४+४+४+।ऽ) कहा है उसकी लय भानु के इस चोबोला छंद (८+७) में अंतर्भुक्त हो जाती है, इसी से कुछ लोग चौबोला और हंसी को एक ही छंद मानते हैं।[5] भिखारीदास ने सम चतुष्पदी चौबोला छंद के पाद में १६+१४ के विश्राम से ३० मात्राएँ मानी हैं, जो प्रा० पैं० में अर्द्धसम चतुष्पदी चउबोला के अर्द्धांश का लक्षण है।[6] जानी बिहारीलाल ने चौबोला को अर्द्धसम चतुष्पदी (१६, १४, १६, १४) तथा अयोध्याप्रसाद ने सम द्विपदी (१५+१५+प्रतिपाद) माना है।[7]

१६ मात्राओं के पादवाले जिन छंदों का उल्लेख हिंदी-लक्षणकारों ने किया है, उनमें पादाकुलक, पद्धरि, उपचित्रा, पज्झटिका, मात्रासमक, विश्लोक, चित्रा, और वानवासिका छंद संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश के लक्षण-ग्रंथों में पूर्वोल्लिखित हो चुके हैं और इनकी चर्चा हम पिछले पृष्ठों में कर आये हैं। रामसहाय ने १६ मात्राओं के पादवाले आठ छंदों का उल्लेख किया है। ये छंद हैं—चौपई (पादांत लघु), पादाकुलक (पादांत गुरु), कलिंद (दो पाद चौपाई+दो पाद पादाकुलक), मधुकर (दो पाद पादाकुलक+दो पाद चौपाई), वंशी (४ चतुष्कल, अंत गुरु), पद्धरि या परिझुलिया (४ चतुष्कल, अंत जगण), अलिला (४ चतुष्कल, अंत दो लघु तथा यमक) और सायक (पादांत गुरु)।[8] अयोध्याप्रसाद के छंदानंदपिंगल में १६ मात्राओं के पाद के कामदा नामक छंद का उल्लेख है।[9] भिखारीदास के १६ मात्राओं के पादवाले छंद विद्युन्माला, चंपकमाला, सुषमा, भ्रमरविलसिता, मत्ता, कुसुमविचित्रा, अनुकूल, नवमालिनी, चंडी, प्रहरणकलिका, जलोद्धतगति, मणिगुण, स्वागता, चंद्रवर्त्म, मालती, प्रियंवदा, रथोद्धता, द्रुतपा, पंकावली तथा अचलधृति वस्तुतः वर्णवृत्त हैं और इनके लक्षणों में भी प्रायः वर्ण-गणों की सहायता

---

१. छं० प्र०, पृ० ४८।
२. वही।
३. प्रा० पैं०, १।१३१-१३२।
४. Velankar : A. M., JUB II-iii; p. 47.
५. परमानंद : श्रीपिंगलपीयूष, पृ० १५७।
   रघुनंदन शास्त्री : हिंदी-छंद-प्रकाश, पृ० ५६।
६. छं० पिं० ५।२१७; प्रा० पैं० १।१३१-१३२।
७. जा० छं० २।३।२९; अयोध्याप्रसाद : छंदानंदपिंगल, ०५२।
८. रा० वृ० त० २।६७-८१, पृ० ३२-३३।
९. अयोध्याप्रसाद : छंदानंद-पिंगल, पृ० ४६।

ली गई है। रूपचौपाई[1] (चौपाई के प्रतिपाद में १६ मात्राओं के विधान के सिवा और कोई प्रतिबंध भिखारीदास ने नहीं रखा है। भानु ने चौपाई[2] की पादगत १६ मात्राओं में इतना ही क्रम आवश्यक माना है कि मात्रिक गणविधान में 'सम के पीछे सम और विषम के पीछे विषम कल हों' तथा पादांत में जगण या तगण न हो। चौपाई में द्विकल या चतुष्कल के बाद त्रिकल-पंचकल के बांद द्विकल-चतुष्कल वर्जित हैं। पदापादाकुलक[3] का इससे अंतर यह है कि १६ मात्राओं के प्रति पाद के आदि में द्विकल अवश्य होता है। पादाकुलक[4] में चार चतुष्कल नियोजित होता है। पिंगल आदि संस्कृत आचार्यों के लक्षण[5] से भानु का यह लक्षण भिन्न है। पिंगल आदि ने १६ मात्राओं के पादवाले चार विभिन्न छंदों के पादों के मिले-जुले प्रयोग को पादाकुलक कहा है। प्राकृतपैंगलम् में भी पादाकुलक का लक्षण यही कहा है कि उसमें लघुगुरु के नियम का अभाव होता है।[6] किंतु भानु पादाकुलक के प्रत्येक पाद में पज्झटिका के समान चार चतुष्कल अनिवार्य मानते हैं; केवल जगण का निषेध यहाँ नहीं है। शृंगार[7] छंद के पादादि में ३+२ तथा पादांत में ऽ।=३ मात्राएँ होती हैं। पादगत मात्रासंख्या १६ होती है। भानु का सिंह[8] छंद, जिसके पादादि में दो लघु तथा अंत में लघु लघुगुरु (।।ऽ) होते हैं, प्राकृतपैंगलम् के सिंहावलोक[9] से तुलनीय है। अडिल्ला छंद का पाद प्रा० पैं० में द्विलघ्वंत (।।) कहा गया है,[10] किंतु भानु नें अरिल्ल छंद के पादांत में ।। या ।ऽऽ का वैकल्पिक विधान किया है।[11] अंत भगण होने पर भानु उसे डिल्ला कहते हैं।[12] प्रा० पैं० के विपरीत यमक-संबंधी कोई प्रतिबंध भानु ने नहीं रखे हैं। हरदेवदास ने १६ मात्राओं के पाद के एक छंद का उल्लेख किया है जिसे वत्थू-दोहा का भेद कहा गया है। वह है मोहनवत्थू (६+२+६+२)।[13] जानी बिहारीलाल ने केवल अरल्ल, पादाकुलक, पद्धरि और कुसुमविचित्रा की चर्चा की है।[14]

१७ मात्रा के पादवाले छंदों में भिखारीदास के दोनों छंद, धारी और बाला वर्ण-

१. छं० पिं० ५।१२७-१२८।
२. छं० प्र०, पृ० ५१, ५३।
३. वही, पृ० ५२, ५३।
४. वही, पृ० ४९।
५. पिं० ४।४७; वृ० र० २।३७; जय० ४।२९; जकी० ५।३१; हे० छं० ३।७०।
६. प्रा० पैं० १।१२९।
७. छं० प्र०, पृ० ५३। (इसे 'प्रसाद' भी कहते हैं। परमानंद : 'श्रीपिंगलपीयूष', पृ० १६४।
८. वही, पृ० ५०।
९. प्रा० पैं० १।१८३।
१०. वही, १।१२७।
११. छं० प्र०, पृ० ४९।
१२. छं० प्र०, पृ० ५०।
१३. छं० प्र० भा० ७।२१२-२१४।
१४. जा० छं० २।१०७-११४।

वृत्त हैं।[1] भानु ने दो छंद बताये हैं—राम और चंद्र।[2] प्रथम के पाद में ९वीं मात्रा पर यति और अंत में ।ऽऽ होते हैं। यह हेमचंद्र के कुसुम[3] छंद से तुलनीय है। द्वितीय में यति १०वीं मात्रा पर होती है। जानी बिहारीलाल के छंद श्येनिका, उपेन्द्रवज्रा तथा बाला हैं, जिनमें अंतिम दो वर्णवृत्त हैं।[4] प्रथम का ही उल्लेख रामसहाय ने किया है।[5]

१८ मात्राओं के पादवाले छंदों में भिखारीदास के रूपमाली और कलहंस वर्णवृत्त हैं। रामसहाय ने माली[6] छंद मे ११वी मात्रा पर तथा भिखारीदास ने ९वीं मात्रा पर यति मानी है। इस छंद को जानी बिहारीलाल तथा भानु ने राजीवगण कहा है। भानु द्वारा उल्लिखित अन्य छंद हैं—शक्ति[7] (आदि ल, अंत स, र अथवा न, गणविधान—३+३+४+३+५=१८); वंदन[8] (अंत ऽ।) तथा पुरारि[9] (७+११=१८, अंत ऽ)।

१९ मात्राओं के पादवाले छंदों में भिखारीदास के रतिलेखा और इंदुवदना दोनों ही वर्णवृत्त हैं।[10] भानु द्वारा उल्लिखित छंद ये हैं[11]—पीयूषवर्ष (१०+९, अंत ।ऽ); आनंदवर्द्धक (यति-रहित, अंत ।ऽ अथवा ।।।); सुमेरु (१२+७ या १०+९; आदि ल, अंत ।ऽऽ या ।।।ऽ); तमाल (अंत ऽ।); मगुण (आदि ल, अंत ।ऽ।, गण-विधान—५+५+५+४); नरहरि (१४+५, अंत ।।।ऽ) तथा पिंडी (९+१०, अंत ऽऽ)। आधुनिक लक्षणकारों ने ग्रंथि[12] (१२+७ या ९+१०, अंत ।ऽ या ।।) का उल्लेख किया है। जानी बिहारीलाल ने पीयूषवर्ष और इंदुवदना के अतिरिक्त वैत्रवे का उल्लेख किया है।[13]

२० मात्राओं के पादवाले छंदों में भिखारीदास द्वारा उल्लिखित जलधरमाला, गज-विलसित, विपिनतिलक, निशिपाल तथा चंद वर्णवृत्त हैं।[14] शेष दीपकी[15] का पाद दीप

---

१. छं० पिं० ५।१५४-५६।
२. छं० प्र०, पृ० ५३।
३. हे० छं० ५।१५।
४. जा० छं० २।११५-१२२।
५. रा० वृ० त० २।८३, पृ० ३३।
६. छं० प्र०, पृ० ५४।
७. रा० वृ० त० २।८६ पृ० ३४ ; छं० पिं० ५।१५७, १५९; छं० प्र०, पृ० ५३; जा० छं० २।१२३-१२८।
८. वही।
९. वही।
१०. छं० पिं० ५।१६०-१६३।
११. छं० प्र०, पृ० ५४-५६।
१२. रामनरेश त्रिपाठी: पिंगल या हिंदी-पद्यरचना, पृ० ४४।
परमानंद: श्रीपिंगलपीयूष, पृ० १७०।
रघुनंदन शास्त्री: हिंदी छंद-प्रकाश, पृ० ६१।
१३. जा० छं० २।१२९-३४।
१४. छं० पिं० ५।१६४-१७३।
१५. वही ५।१६४, १६८।

के पाद का दूना होता है। भानु द्वारा उल्लिखित २० मात्राओं के पादवाले छंद है— योग (१२+८, अंत यगण); शास्त्र (अंत ऽ।); मंजुतिल्का (१२+८, अंत जगण); अरुण (५+५+१०, अंत रगण) तथा हंसगति (११+९)। रामसहाय ने विशेपिका (पादांत सगण) और हेमंत (पादांत रगण) नामक २० मात्राओं के पादवाले दो छंदों का उल्लेख किया है।[1] अरुण और हेमंत का अंतर यह है कि अरुग मे गणविधान है. हेमंत में नही, यद्यपि दोनो के पादांत में रगण निर्दिष्ट है। कामिनीमोहन या मदनावतार (५+५+५+५)[2] का हिंदी-लक्षणग्रंथों में अनुल्लेख आश्चर्यकर है। हंसगति [४+४+(३+१)+४+४=२०][3] छंद का प्रथमोल्लेख भूषणकृत छंदोहृदयप्रकाश में मिलता है। यह बीस मात्राओं के पाद का चतुष्पदी छंद है, जिसके प्रति पाद में पाँच चतुष्कल होते हैं तथा पादातर्गत यति ११वी मात्रा पर होती है। हेमचंद्र द्वारा उल्लिखित हंसगति नामक चतुष्पदी वर्णवृत्त (पादविधान—न ज ज ज ज ज ज ल ग २३ वर्ण)[4] से यह नितांत भिन्न है। विरहांक के हंसिनी छंद (ऽ।ऽ+। ऽऽ+।+ऽ)[5] से भी इसका कोई संबंध नहीं, यद्यपि हंसी नामक (४+५+४+५+ऽ=२० मात्राएँ)[6] समचतुष्पदी मे इसका कुछ साम्य है। संभव है, हंसी छंद के गणविधान में कालांतर में परिवर्त्तन हुआ हो और फलतः हंसगति छंद सामने आया हो। पूर्ववर्त्ती आचार्यो द्वारा कथित २० मात्राओं के पादवाले अन्य छंदों का[7] (पथ्या, क्रीडनक, सुप्रभा, शुभगलितक, हीरावली, अरविंदक, मदनावतार, शुभा, कुमुदक, वाणसिका, भ्रमरावली, तरंगक आदि का) यति-स्थान और मात्रागणविधान की दृष्टियों से प्रस्तुत हंसगति छंद से अधिक साम्य नहीं। परवर्त्ती हिन्दी के लक्षणकारों मे भिखारीदास ने इसका पाद-लक्षण इस प्रकार दिया है—

बीसे कल बिन नियम हंसगति सोहै।[8]

भानु ने २० मात्राओं के इस छंद को महादेशिक जाति के अंतर्गत रखा तथा ११९ मात्राओं पर यति-निर्देश किया है।[9]

संस्कृत से अपभ्रंश तक के लक्षणग्रंथों में इस छंद के अनुल्लेख से ध्वनित है कि इसका विकास हिन्दी-काव्य के बीच हुआ, किंतु १८वीं शती के पूर्व अवश्य हो चुका था, क्योंकि इसका प्रथमोल्लेख भूषण (सं० १७२३) ने किया है।

२० मात्राओं के पादवाले अन्य दो छंद है—धवल और मणिमाला, जिनका उल्लेख जानी बिहारीलाल ने किया है।[10]

---

१. रा० वृ० त० २।९३-९६, पृ० ३४।
२. छं० को० १०।
३. छं० हृ० प्र०, पृ० ४१ क; जा० छं० २।१३५।
४. हे० छं० २।३६१।
५. वृ० जा० स० ४।७२।
६. वही, ३२३।
७. पीछे दे० इस प्रबंध का पृ० ३०१।
८. छं० पिं० ५।१६४।
९. छं० प्र०, पृ० ५७।
१०. जा० छं० २।१३५-१४०।

२१ मात्राओं के पादवाले छंदों में भिखारीदास का प्लवंगम प्रा० पिं० में पूर्वोल्लिखित है,[1] तथा मनहंस वर्णवृत्त है।[2], रामसहाय ने प्लवंगम के दो भेद कहे हैं--(१) सामान्य, जिसमें गणनियम नहीं रहते और (२) विशेष, जिसमें गणनियम का पालन होता है।[3] राममहाय ने प्लवंगम छंद के पाद का गणविधान इस प्रकार बताया है—

(ग+६+७+४+ग)।

भानु ने प्लवंगम के दो अन्य भेद[4] बताये हैं—तगंत (पादांत में ऽऽ।ऽ) और नगंत (पादांत में ।।।ऽ)। २१ मात्राओं के पादवाले भानु के अन्य छंद हैं—चांडायण[5] (११+१०, प्रथम पादखंड जगणांत और द्वितीय पादखंड रगणांत); त्रिलोकी[6] (प्लवंगम और चांद्रायण के पादमिश्रण से उद्भूत); सिंधु[6] (३ सप्तक, प्रत्येक लघ्वादि); संत[6] (३+६ +६+६; अंत ।।ऽ); और भानु[6] (६+१५, अंत ऽ।)। हरदेवदास ने रायवत्थू (११+ १०+२१) का उल्लेख किया है, जिसके गिरि, द्रुम आदि ३३ नामभेद कहे गये हैं।

२२ मात्राओं के पाद के एक छंद 'मयूरी' की चर्चा रामसहाय ने की है। इसके पादांत में गुरु होता है।[7] जानी बिहारीलाल ने इस लंबाई के तीन छंदों का उल्लेख किया है[8]—मत्तमयूर, मालिनी और मालती, जिनमें प्रथम भिखारीदास के छंदोर्णपिंगल में भी उल्लिखित है। २२ मात्राओं के पादवाले छंदों में भिखारीदास के मालतीमाला, असंबाधा, वंशपत्र, समदविलासिनी, कोकिलकमाया तथा मत्तमयूर छंद वर्णवृत्त हैं। इनके लक्षणों में प्रायः वर्णगणों का ही प्रयोग हुआ है।[9] भानु द्वारा उल्लिखित छंद हैं— रास (८+८+६, अंत ।।ऽ); राधिका (१३+९); बिहारी (१४+८); कुंडल (१२+१०, अंत ऽऽ); तथा सुखदा (१२+१०; अंत ऽ)।[10] भानु का रास छंद विरहांक के रास या रासा[11] से, जिसके पाद चार चतुष्कलों से बनते हैं, भिन्न है। भानु के सुखदा छंद का विरहांक के ललिता[12] छंद से लयसाम्य है। हरदेवदास के मंगलवत्थू[13] में (११+११) भी पादगत २२ मात्राएँ होती हैं।

---

१. प्रा० पिं० १८६-१८८।

२. छं० पिं० ५।१७४-१७६।

३. रा० वृ० त० २।९७, पृ० ३५।

४. छं० प्र०, पृ० ५८ (इसे अरल या अरिल्ल भी कहते हैं, जो १६ मात्राओं के पादवाले अरिल्ल से भिन्न है)।

५. वही (यह छंदःकोष ३२ के चांद्रायण छंद से भिन्न है, जो दोहा कामिनीमोहन या मदनावतार से बना प्रगाथ है)।

६. छं० प्र०, पृ० ५८।

७. रा० वृ० त० २।१०१, पृ० ३५।

८. जा० छं० २।१४७-१५२।

९. छं० पिं० ५।१७८।

१०. छं० प्र०, पृ० ५९-६१।

११. वृ० जा० स० ४।८५।

१२. वृ० जा० स० ४।६०।

१३. छं० प्र० भा० ७।२०५-२०७ (गणविधान—प्रति पाद ६+२+३+३+२+६=२२ मात्राएँ)।

२३ मात्राओं के पादवाले छंदों में छंदोहृदयप्रकाश[1] में दृढपट का उल्लेख है, छंदोर्ण-पिंगल[2] में दृढपट और हीरक का, छंद:प्रभाकर[3] में उपमान या दृ पट, हीर, जग, संपदा, अवतार, सुजान, निश्चल और मोहन का तथा जानी बिहारीलाल के छंदप्रभाकरपिंगल[4] में हीर और निसानी का। दृढपट (१३+१०=२३; अंत ऽऽ)[5] छंद का प्रथमोल्लेख भूषण ने छंदोहृदयप्रकाश में किया है। भूषण के अनुसार दृ पट छंद के प्रति पाद में १३, १० के विश्राम से २३ मात्राएँ होती हैं; पादांत में दो गुरु (ऽऽ) होते हैं तथा १३वीं मात्रा पर पादांतर्गत यति के पूर्व भी गुरु वर्ण (ऽ) होता है। यह सर्वसम मात्रिक छंद है।

संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश के लक्षणग्रंथों में इस छंद का उल्लेख नहीं मिलता। केदार ने द्रुतपद[6] नामक सम चतुष्पदी वर्णवृत्त का उल्लेख किया है, किंतु उससे प्रस्तुत छंद सर्वथा असंबद्ध है। २३ मात्राओं के पादवाले जो छंद संस्कृत-अपभ्रंश के आचार्यों द्वारा उल्लिखित हैं[7] (विगलिता, महातोणक, खंजक, हीर, पवनोद्धूत), उनके पादगत गणविधान और यति-स्थान प्रस्तुत छंद से भिन्न प्रकार के हैं। परवर्ती आचार्यों में भिखारीदास[8] तथा हरदेवदास[9] ने दृढपट छंद का उल्लेख किया है, किंतु इसके लक्षण में पादगत मात्रासंख्या के अतिरिक्त और कुछ विशेष नहीं बताया है, यद्यपि दोनों के उदाहरणों से पादांतर्गत १३वीं मात्रा पर यति, उसके पूर्व गुरु तथा पादांत द्विगुरु (ऽऽ) होना ध्वनित है। भानु[10] ने इस छंद को उपमान कहा है, यद्यपि यह उल्लेख भी किया है कि इसका अन्य नाम दृढपट या दृढपद है। भानु के लक्षण—'तेरह दस उपमान रच, दे अंते कर्णा।' का आशय भी प्राय: वही, है जो भूषण ने कहा है, सिर्फ १३वीं मात्रा पर यति के पूर्व गुरु वर्ण की अनिवार्यता उन्हें मान्य नहीं।

हीरक[11] (६+६+६+ऽ।ऽ) या हीर छंद प्रा० पैं० में पूर्वोल्लिखित है,[12] किंतु वहाँ लघुगुरु बंधन के आधिक्य के कारण वह वर्णवृत्त के समान हो गया है, किंतु भिखारीदास ने मात्रिक गणों में उसका लक्षण दिया है। भानु ने भी हीर[13] (६+६+११, आदि ऽ, अंत ऽ।ऽ) का लक्षण प्राय: मात्रिक गणों में दिया है। भानु द्वारा उल्लिखित अन्य छंद हैं—जग (१०+८+५); संपदा (११+१२, अंत ।ऽ।); अवतार (१३+१०,

---

१. छं० हृ० प्र०, पृ० ४१ ख।
२. छं० पिं०, पृ० ४४।
३. छं० प्र०, पृ० ६२।
४. जा० छं० २।१५३-१५६।
५. छं० हृ० प्र०, पृ० ४१ ख।
६. वृ० र० ३।६४।११-१२।
७. पीछे दे० पृ० ३०२।
८. छं० पिं०, पृ० ४४।
९. छं० प्र० भा०, पृ० १३९।
१०. छं० प्र०, पृ० ६१।
११. छं० पिं० ५।१८७, १८९।
१२. प्रा० पैं० १।१९९। (ऽ।।।+ऽ।।।+ऽ।ऽ)
१३. छं० प्र०, पृ० ६२।

अंत ऽ।ऽ); सुजान (१४+९, अंत ऽ।); निश्चल (१६+७, अंत ऽ।) तथा मोहन (५+६+६+६)।

२४ मात्राओं के पादवाले छंदों में भिखारीदास के चकिता, लीला और विद्याधरी छंद वर्णवृत्त हैं।[1] हिंदी के कई लक्षणकारों द्वारा परिभाषित[2] रोला प्राकृतपैंगलम् में पूर्वोल्लिखित है।[3] हरदेवदास ने रोलावत्थू (रोला) के एक चरण का परिमाण उपदोहा[4] के प्रथम दो चरणों के बराबर मानकर ऐसे चार चरणों का विधान किया है।[5] रामसहाय और भानु ने रोला की पादगत ११वीं मात्रा पर यति-निर्देश किया है; रामसहाय ने गणनिर्देश नहीं किया, किंतु भानु ने प्रथम पादखंड का गणविधान ४+४+३ या ३+३+२+३ तथा द्वितीय पादखंड का गणविधान ३+२+४+४ या ३+२+३+३+२ स्वीकार किया है। रोला के चारों पादों में ११वीं मात्रा लघु होने पर भानु उसे काव्य छंद कहते हैं। काव्य छंद[6] में जानी बिहारीलाल ने मात्रिक गणों का विधान इस प्रकार किया है—६+४+४४+६, तथा गणयोजना ६+८+१० होने पर उसे काव्य नहीं, कव्य[7] संज्ञा दी है। भिखारीदास और जानी बिहारीलाल ने रोला में पादगत २४ मात्राएँ मानकर उसकी गति अनियमित कही है। वर्णवृत्त में रोला के एक भेद (भ न ज भ ज ज ल) को रसाला नामक वृत्त माना गया है।[8] २४ मात्राओं के पादवाले भानु द्वारा निर्दिष्ट अन्य छंद हैं—दिग्पाल (१२+१२—अन्यनाम मृदुगति); रूपमाला (१४+१०, अंत में ऽ।—अन्य नाम मदन); शोभन ((१४+१०, अंत में ऽ।—अन्य नाम सिंहिका); लीला (७+७+१०, अंत ।।ऽ), भिखारीदास ने जिसका लक्षण वर्णवृत्त के

---

१. छं० पिं० ५।१९०-१९५।

२. छं० हृ० प्र०, पृ० ३४ क; छं० पिं० ५।१९१, १९२, १९६; छं० प्र० भा० ७।१९३; छं० प्र०, पृ० ६३; रा० वृ० त० २।११०, पृ० ३६; जा० छं० २। १६१।

३. प्रा० पैं० १।९१-९२।

४. छं० प्र० भा० ७।१८७। (११, १३, ११, १३; सम पाद तुकांत); (यह क० द० २।१५। के अनुसार अवदोहक है।)

५. छंदपयोनिधि भाषा में रोलावत्थ के ४५ नाम गिनाये गये हैं—

मोहन, माधव, मंजु, कृष्ण, केवल, गिरिधारी।
वामन, विधु, बैकुंठ, विष्णु, वाराह, बिहारी।।
कुंज, गुंज, कल्याण, कमल, कलधूत, विधाता।
मधुर, मुकुंद, मुरारि, मान, मानद, निधिदाता।।
श्याम, राम, कमनीय, देव दूलह, दुग, खंजन।
रूप, रंग, रस, रसिक, सिद्ध, साधक, मनरंजन।।
शिव, रवि, ब्रह्मा, वेद, ब्रह्म, व्यापी, जग, कहिये।
रोलावत्थू नाम सुकवि ऐसे गिन लहिये।।
—छं० प्र० भा० ७।१९५-१९६।

६. जा० छं० २।१५९-१६०।

७. वही, २।१५७-१५८।

८. छं० प्र०, पृ० ६३।

समान दिया है; सुमित्र (१०+१४, आदि ।ऽ।, अंत ।ऽ।--अन्य नाम रसाल) तथा सारस (१२+१२, आदि ऽ)।

२५ मात्राओं के पादवाले छंदों में गगना छंद[1] प्राकृतपैंगलम्[2] में पूर्वोल्लिखित है। जानी बिहारीलाल[3] द्वारा उल्लिखित छंद है मुक्तमणि (१३+१२), जिसे भानु[4] ने मुक्तामणि कहा है और जिसके पादांत में दो गुरु का निर्देश किया है। भानु द्वारा उल्लिखित[5] अन्य छंद हैं—सुगीतिका (१५+१०, आदि लघु, अंत ऽ।); मदनाग (१७+८) तथा नाग (१०+८+७, अंत ऽ।)।

२६ मात्राओं के पादवाले छंदों में भिखारीदास ओर जानी बिहारीलाल का चंचरी छंद[6] वर्णवृत्त है। जानी बिहारीलाल ने अनुगीत[7] (१६+१०, अत ल) तथा विष्णु-पद[8] (१६+१०, अंत ग) का उल्लेख किया है। भानु द्वारा उल्लिखित हैं—विष्णुपद छंद[9] (१६+१०, अंत ऽ); कामरूप[10] (९+७+१०, अंत ऽ।); झूलना[11] (७+७+७+५, अंत ऽ।); गीतिका[12] (१४+१२, अंत ।ऽ) तथा गीता[13] (१४+ , अंत ऽ।)। भानु का झूलना छंद, जो समचतुष्पदी है, प्राकृतपैंगलम् के सम द्विपदी[14] (जिसे वेलंकर ने षट्पदी माना है, और जिसके अर्द्धांश का मात्रा-विधान है—१०+१०+१७) झुल्लण छंद से नितांत भिन्न है। प्राकृतपैंगलम्[15] में २८ मात्राओं के पाद का हरिगीता छंद (५+६+५+५+५+ऽ) उल्लिखित है, २६ मात्राओं के पादवाले गीतिका या गीता छंद नहीं। भिखारीदास ने हरिगीतिका को ही गीतिका कहा है।[16]

२७ मात्राओं के पादवाले छंदों में सरसी[17] (१६+११, अंत ऽ।), जिसके अन्य नाम हैं

---

१. छं० हृ० प्र०, पृ० ३२ ख; छं० प्र०, पृ० ६५; छं० पिं० ५।१९८-१९९; जा० छं० २।१६३।
२. जा० छं० २।१६५।
३. छं० प्र०, पृ० ६५।
४. प्रा० पैं० १।१४९-१५१।
५. छं० प्र०, ़० ६५-६६।
६. छं० पिं० ५।२००-२०२; जा० छं० २।१६९।
७. जा० छं० २।१७१।
८. छं० पिं० ५।२०१, २०३; छं० प्र०, पृ० ६६।
९. छं० प्र०, पृ० ६७।
१०. छं० प्र०, पृ० ६७।
११. छं० प्र०, पृ० ६७।
१२. छं० प्र०, पृ० ६७।
१३. प्रा० पैं० १।१५६-१५७।
१४. प्रा० पैं० १।१९१-१९३।
१५. छं० पिं० ५।२०६-२०८।
१६. जा० छं० २।१६७।
१७. छं० प्र०, पृ० ६८।

कबीर और सुमंदर; शुभगीता[1] (१५+१२, अंत ऽ।ऽ) तथा शुद्धगीता (१४+१३, अंत ऽ।) हैं। भिखारीदास ने जिस हरिपद[2] नामक छंद को मात्रिक के रूप में परिभाषित किया है, वह, हो सकता है, हेमचंद्र[3] अथवा स्वयंभू[4] का हरिणीपद नामक (न स म त भ र=१८ वर्ण=२७ मात्राएँ) वर्णवृत्त का विकसित मात्रिक रूप हो। भानु ने हरिपद को अर्द्धसम चतुष्पदी (१६, ११, १६, ११) माना है। यह जानी बिहारीलाल के शशिधर[5] से तुलनीय है।

२८ मात्राओं के पादवाले छंद भानु के अनुसार हैं—सार[6] (१६+१२, अंत ऽऽ); विधाता[7] (१४+१४); विद्या[8] (१४+१४, अंत ।ऽऽ) तथा हरिगीतिका[9] (१६+१२, अंत ।ऽ)। प्रथम (=द्विपदी) तथा अंतिम प्रा० पैं० मे पूर्वोल्लिखित है। भिखारीदास का नरिंद[10] वर्णवृत्त है। द्विपदी (दुवई, दोवै, सार, ललितपद) छंद की चर्चा हम पिछले पृष्ठों में कर आये हैं। द्विपदी को प्राकृतपैंगलम् में दो पादो का (प्रतिपाद—६+४+४+४+४+६)[11] तथा छंदःकोश मे चार पादों का (प्रतिपाद—६+४+४+४+४+४+२)[12] छंद माना गया है। भिखारीदास छंदःकोश के अनुरूप ही इसे चतुष्पदी मानते हैं किंतु मात्रागणविधान का निर्देश नहीं करते।[13] भानु ने दुवई (द्विपदी) को सार छंद कहा है और इसे चतुष्पदी माना है। दूसरी ओर छंदोहृदयप्रकाशकार भूषण 'दोवई' को दो पादोंवाला छंद (प्रतिपाद ६+४+४+४+४+४+२; अथवा १६+१२) मानते हैं तथा १६ और १२ मात्राओं के हिसाब से यति का स्पष्ट निर्देश करते हैं।[14] सुखदेवमिश्र के पिंगल में भी इसे द्विपदी कहा है।[15] जानी बिहारीलाल ने एक ललित पद छंद का उल्लेख किया है, जिसके प्रतिपाद में १६+१२ के हिसाब से यति-निर्देश किया है। द्विपदी छंद का उल्लेख उन्होंने अलग से किया है और उसमें प्रतिपाद ६+४+४+४+४+४+

---

१. छं० प्र०, पृ० ६८।
२. छं० पिं० ५।२०४-२०५; छं० प्र०, पृ० ९१ (यह छंद सरसी से तुलनीय है)।
३. हे० छं० २।३१८।
४. स्वयं० १।८५।
५. जा० छं० २।१७३। (१६ ११)
६. छं० प्र०, पृ० ६९ (अन्य नाम ललितपद और दोवै)।
७. छं० प्र०, पृ० ७०।
८. छं० प्र०, पृ० ७०।
९. छं० प्र०, ० ६९; छं० पिं० २०६-२०८; प्रा० पैं० १।१९१-१९३; छं० प्र० भा०, पृ० १४०।
१०. छं० पिं० ५।२०७, २०९।
११. प्रा० पैं० १।१५२।
१२. छं० को० ३५।
१३. छं० पिं० ५।२०९-२१०।
१४. छं० हृ० प्र०, पृ० ३२ ख।
१५. सु० पिं० २०२ (६+५+चतुष्कल ग)।

ग के हिसाब से दो पादों का विधान है।[1] अयोध्याप्रसाद ने स्पष्ट रूप मे 'दोवइ' को २८ मात्राओं के पादवाले दो पादों का छंद कहा है।[2]

हरिगीत छंद मे रामसहाय ने ८+२० के हिसाब से यति मानी है, और पादांत गुरु का विधान किया है;[3] तथा जानी बिहारीलाल ने इस प्रकार गणनिर्देश किया है—५+६+५+५+५ ग+२८ मात्राएँ।[4] जानी बिहारीलाल का वैत्रवे छंद[5] (१४+१४, आदि ल, अंत ग ग) भानु के विद्या छंद[6] (१४+१४, अंत ल ग ग) को पूर्वाभासित करता है।

२९ मात्राओ के पाद का मरहट्टा[7] छंद प्रा० पैं० मे पूर्वोल्लिखित है।[8] इसके एक भेद मरहट्टा माधवी (११+८+१०, अंत ।ऽ) का उल्लेख भानु ने किया है। चुलियाला (१३+१६, अंत ।ऽ।। या ।ऽऽ) छंद का पाद दोहे के अर्द्धांश में ५ मात्राएँ जोड़ने से बनता है। कोई-कोई चुलियाला[9] को द्विपदी मानते है और तब पादांत में ।ऽ।। रखा जाता है। इस छंद को चतुष्पदी माननेवाले पादांत ।ऽऽ रखते है। रामसहाय ने इसे द्विपदी और जानी बिहारीलाल ने अर्द्धसम चतुष्पदी माना है। पिंगल ने चूलिका नामक एक विषम द्विपदी छंद का उल्लेख किया है, जिसका एक पाद (२७ ल+ग) २९ मात्राओं का होता है।[10] किन्तु, इससे चुलियाला का संबंध है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, यद्यपि प्राकृतपैंगलम्[11] में चुलियाला छंद को भाष्यकार ने 'चूलिका' कहा है। प्राकृतपैंगलम् में चुलियाला को सम द्विपदी माना है। २९ मात्राओं का एक अन्य छंद धारा[12] (१५+१४, अंत ऽ) का उल्लेख भानु ने किया है।

३० मात्राओं के पादवाले छंदों में चवपैया (चतुष्पदी) नामक छंद प्रा० पैं० तथा छं० को० में पूर्वोल्लिखित है।[13] हिन्दी-लक्षणकारों में भूषण और सुखदेव ने इसका उल्लेख किया है।[14] इसे रामसहाय ने चौपइया अथवा नवनारी कहा है और इसके प्रतिपाद में ७ चतुष्कल + गुरु का विधान किया है।[15] जानी बिहारीलाल ने प्रतिपाद केवल अंत

---

१. जा० छं० २।१।१८१ तथा २।३।२१।
२. अयोध्याप्रसाद: छंदानंद, पृ० ५३-५४।
३. रा० वृ० त० २।१२७, पृ० ३८।
४. जा० छं० ।२।१७९।
५. वही, २।१७७।
६. छं० प्र०, पृ० ७०।
७. रा० वृ० त० २।१२९, पृ० ३८; छं० पिं० ५।२११-२१२; जा० छं० २।१।१८३; छं० प्र०, पृ० ७१; छं० प्र० भा०, पृ० १४१।
८. प्रा० पैं० १।२०८-२०९।
९. छं० प्र०, पृ० ७१; रा० वृ० त० २।१३१ पृ० ३८; जा० छं० २।३।३५।
१०. छं० पिं० ४।५२।
११. प्रा० पैं० १।१६७।
१२. छं० प्र०, पृ० ७१।
१३. प्रा० पैं० १।९०-९८; छं० को० ४५ (=हक्का)।
१४. छं० हृ० प्र०, पृ० ६६; सु० पिं० १५७।
१५. रा० वृ० त० २।१३५ पृ० ३९।

दो गुरु का निर्देश किया है।[1] अयोध्याप्रसाद ने १०+८+१२ मात्राओं के हिसाब से मे पादांतर्गत यति मानी है।[2] ताटक[3] (१६+१४, अंत ऽऽऽ); ककुभ[4] (१६+१४, अंत ऽऽ); रुचिर[5] (१४+१६, अंत ऽ); शोकहर[6] (८अ+८+८+६, अंत ऽ) तथा कर्ण[7] (१३+१७, अंत ऽऽ) छंदों का उल्लेख भानु ने किया है। भिखारीदास ने सारंगी, चतुरपद और चौबोल का उल्लेख किया है, जिनमें प्रथम वर्णवृत्त है, शेष दो की चर्चा हम कर चुके हैं। जानी बिहारीलाल का सरिक वर्णवृत्त है।[8]

३१ मात्राओं के पादवाले छंदों में सवैया [१६+१५=३१; अंत ल अथवा ज (।ऽ।)][9] छंद के प्रथमोल्लेख का श्रेय छंदोहृदयप्रकाश के लेखक भूषण को है। भूषण के अनुसार यह समचतुष्पदी छंद है, जिसके प्रतिपाद में ३१ मात्राएँ १६, १५ के विश्राम से होती हैं; पादांत में लघु या जगण (।ऽ।) होता है।

संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश के लक्षणग्रंथों में सवैया नामक इस विशिष्ट छंद का उल्लेख नहीं मिलता, यद्यपि ३०-३२ क्या, ४० मात्राओं तक के पाद के छंद[10] का उल्लेख हुआ है। परवर्त्ती लक्षणकारों में सुखदेव,[11] रामसहाय,[12] जानी बिहारीलाल,[13] भिखारीदास[14] आदि ने इसका उल्लेख किया है। जानी बिहारीलाल के अनुसार चतुष्पदी रूप में, जब पादांत लघु का बंधन न हो, तब यह छंद सवैया है, जब इसमें दो ही पाद हों और पादांत लघु हो, तब इसे आल्हा छंद कहना चाहिए।[15] भिखारीदास[16] ने ३१ मात्रा के पादवाले सवैया छंद के, प्रस्तार-विधि से, एक लाख अठहत्तर हजार तीन सो नौ भेद होना कहा है। आठ कर्ण (ऽऽ) से निर्मित ३२ मात्राओं के पादवाले रूप सवैया छंद का उल्लेख भी उन्होंने किया है। हरदेवदास ने मात्रिक सवैया की चर्चा नहीं की है। वर्णवृत्त के प्रसंग में अवश्य उन्होंने मोद सवैया[17]-छंदलक्षण यह बताया है कि उसके प्रत्येक

---

१. जा० छं० २।१।१८७।
२. अयोध्या प्रसाद : छंदानंद-पिंगल, पृ० ५०।
३. छं० प्र०, पृ० ७२-७४ (लावनी इसके अंतर्गत है, जिसके पादांत में गुरुलघु का कोई नियम नहीं होगा)।
४. वही।
५. वही।
६. वही (पाद के दूसरे, चौथे, छठे चतुष्कल में जगण निषिद्ध। अन्य नाम शुभंगी)।
७. वही (सभी चतुष्कलों में जगण निषिद्ध। अन्य नाम सार्थ)।
८. जा० छं० २।१।१८९।
९. छं० हृ० प्र०, पृ० ७६।
१०. मदनगृह; प्रा० पैं० १।२०५-२०७।
११. सु० पिं० २५२ (१६ १५)।
१२. रा० वृ० त० २।१४४, पृ० ३९। (१६+१५, अंत ल)
१३. जा० छं० २।१।१९५। (१६+१५)
१४. छं० पिं० ५।२१८।
१५. जा० छं० २।३।३५।
१६. छं० पिं० ५।२१८-२२१।
१७. छं० प्र० भा०, पृ० १९५।

चरण में ५ भगण (ऽ।।) १ मगण (ऽऽऽ)+१ सगण (।।ऽ)+१ लघु (।) रखना चाहिए। यदि इस वर्णवृत्त के प्रतिपाद में निर्दिष्ट मात्रासंख्या देखें, तो वह ५+४+६+४+१=३१ होती है। इस वर्णवृत्त को गणविधान से मुक्त कर दिया जाय, तो वह भूषण द्वारा उल्लिखित मात्रिक सवैया के सर्वथा समान हो जायगा। भानु ने सवैया के वार्णिक[1] और मात्रिक[2] भेदों का अलग-अलग उल्लेख किया है। ३१ मात्राओं के अश्वावतारी जाति के वीर छंद का लक्षण भानु ने यह बताया है कि उसमें १६, १५ के विश्राम से प्रतिपाद में ३१ मात्राएँ होती हैं; पादांत में गुरु के बाद लघु (ऽ।) आता है तथा इसे मात्रिक सवैया भी कहते हैं। जगनिक के प्रसिद्ध काव्य आल्हखंड में इस छंद के प्रयोग के कारण इस छंद को आल्हा भी कहते हैं।[3] जानी बिहारीलाल ने आल्हा को द्विपदी छंद माना है और पादांत लघु का निर्देश किया है।

भानु ने ३२ मात्राओं के पादवाले दो अन्य मात्रिक सवैयों का उल्लेख किया है—समान-सवैया और मत्तसवैया। समान-सवैया के पाद में १६+१६ के विश्राम से ३२ मात्राएँ तथा पादांत में भगण (ऽ।।) रखते हैं, और मत्तसवैया में पद-पादाकुलक छंद के दो चरणों का एक चरण मानकर रखा जाता है।[4] जानी बिहारीलाल ने इसके पहले समान-सवैया (१६+१६) तथा सुगत-सवैया (१६+१६, अंत ग ग) का उल्लेख किया था।[5] इसके भी पहले रामसहाय ने सार-सवैया (१६+१६, अंत ल)[6] के उल्लेख द्वारा सवैया छंद के परवर्त्ती भेदों को पूर्वाभासित किया था।

३२ मात्राओं के पादवाले इस वर्ग के छंदों में त्रिभंगी,[7] पद्मावती,[8] दंडकला,[9] तथा दुर्मिल[10] का पूर्वोल्लेख प्राकृतपैंगलम् आदि ग्रंथों में हो चुका है और हम उसकी विशद चर्चा पादांतर्गत तुकवाले छंदों के प्रसंग में कर आये हैं। ३२ मात्राओं के पादवाले शुद्ध-ध्वनि छंद के प्रथम उल्लेख का श्रेय सुखदेवमिश्र को है।[11] रामसहाय ने इसका उल्लेख नहीं किया, किंतु अयोध्याप्रसाद ने किया है।[12] जानी बिहारीलाल ने इसका उल्लेख नहीं किया, किंतु भानु ने किया है।[13] भानु द्वारा वर्णित छंद हैं—शुद्धध्वनि[14] (१०+८+६,

---

१. छं० प्र०, पृ० २००।
२. वही, पृ० ७४।
३. जा० छं० २।३।३५; परमानंद : श्रीपिंगलपीयूष, पृ० १८८-१८९।
४. छं० प्र०, पृ० ७६।
५. जा० छं० २।१।२०४-२०५।
६. रा० वृ० त० २।१४६, पृ० ४०।
७. प्रा० पैं० १।१९४।
८. छं० को० १५०; प्रा० पैं० १।१४४।
९. वही, १।१७९।
१०. वही, १।१९६।
११. सु० पिं० १९९।
१२. अयोध्याप्रसाद : छंदानंदपिंगल, पृ० ५४-५५।
१३. छं० प्र०, पृ० ७५।
१४. छं० प्र०, पृ० ७५।

अंत ऽ), जिसका त्रिभंगी से अंतर यह है कि त्रिभंगी में जगण निषिद्ध है और शुद्धध्वनि में जगण का प्रयोग अपेक्षित है, जो वीररस के लिए इस छंद की उपयुक्तता का साधक है; कमंद[1] (१५×१७, अंत ऽऽ) तथा खरारी[2] (८+६+८+१०)। भिखारीदास के हंसी, मत्ताक्रीडा, सालू, क्रौंच, तन्वी तथा सुंदरी वर्णवृत्त हैं।[3]

रामसहाय ने विशेष नामक छंद (१६+१६, अंत ग) का उल्लेख किया है तथा त्रिभंगी और जलहरण का गणविधान क्रमशः १०+८+८+२+४ (अंत ग) और १०+८+१४ निर्दिष्ट किया है।[4] जानी बिहारीलालने त्रिभंगी (१०+८+८+६), पद्मावती (१०+८+ +१४ आदि ग ग, अंत सगण), दुर्मिला (१०+८+१४, अंत ग ग), दंडकल (८+८+६+१०, अंत ग), तथा लीलावती (कोई नियत नहीं) का उल्लेख भी किया है।[5] सुखदेव मिश्र ने त्रिभंगी, दुर्मिला और दंडकल के गण नियप क्रमशः १०+८+१४ (जगण निषिद्ध), १०+ ८+१४ (अंत ग) तथा ४ चतुष्कल + १ पट्कल + ग मात्र बताये हैं।[6]

सममात्रिक दंडक

३२ मात्राओं से अधिक के पादवाले सममात्रिक छंद दंडक कहे गये हैं।[7] भिखारीदास ने दंडक-वर्ग में झूलना,[8] दीपमाला,[9] विजया[10] तथा चंचरीक[11] नामक छंदों को स्थान दिया है। झूलना (१०+१०+१०+७ ३७) प्राकृतपैंगलम् में पूर्वोल्लिखित है,[12] किंतु वहाँ पादगत दो यति स्थानों का ही निर्देश है, तृतीय दशमात्रिक खंड वहाँ निर्दिष्ट नहीं। भानु[13] ने इसे द्वितीय झूलना कहा है और भिखारीदास तथा सुखदेवमिश्र[14] के समान ही १०, १०, १० और ७ मात्राओं के चार पादखंड माने हैं। प्राकृतपैंगलम्, छंदोहृदयप्रकाश, छंदःपयोनिधि तथा वृत्ततरंगिणी में झूलना छंद दो पादोंवाला माना गया है; भिखारीदास ओर भानु उसे चतुष्पदी मानते हे।[15] दीपमाला छंद का पाद-परिमाण पूर्वोक्त

१. छं० प्र०, पृ० ७७।
२. वही।
३. छं० पिं० ५।२२१-२३०।
४. रा० वृ० त० २।१४८-१५३, पृ० ४०।
५. जा० छं० २।१।१९६-२०६।
६. सु० पिं०।२३२, २३४, २२२।
७. छं० पिं० ९।१।
८. छं० पिं० ९।२-३।
९. छं० पिं० ९ ४-५।
१०. छं० पिं० ९।४,६।
११. छं० पिं० ९।७-८
१२. प्रा० पैं १।१५६-१५७।
१३. छं० प्र०, पृ० ७८; भानु ने झूलना को समचतुष्पदी (वर्ग में रखा है, किन्तु विकल्प से दो पादों में भी छंदः पूर्त्ति स्वीकार की है)।
१४. सु० पिं० २०४।
१५. छं० हृ० प्र०, पृ० ७०; रा० वृ० त० २।१५४, पृ० ४०; छं० प्र० भा० ७।३२३-३२४।

दीपक छंद का चौगुना कहा गया है, अर्थात् उसके पाद में ४० मात्राएँ होती है। अंत लघु होता है। अंत गुरु होने से उसे विजया कहते हैं। चंचरीक में, जिसे भानु ने हरिप्रिया[1] कहा है, १२+१२+१२+१० के यति-नियम से प्रति पाद ४६ मात्राएँ कही गई हैं। रामसहाय ने इसका पादगत गणविधान ७ षट्कल + २ग माना है।[2]

भानु द्वारा उल्लिखित अन्य दंडकों में मदनहर (पादगत ४० मात्राएँ—१०+८+१४+८) प्राकृतपैंगलम्, वृत्तरंगिणी, छंदप्रभाकरपिंगल, छंदानंदपिंगल आदि में आ चुका है।[3] शेष हैं—करखा (८+१२+८+९=३७ मात्राएँ, अंत । ऽऽ); हंसाल (२०+१७=३७ मात्राएँ, अंत ।ऽऽ); उद्धत (१०+१०+१०+१०=४० मात्राएँ, अंत ऽ।); शुभग (१०+१०+१०+१०=४०, अंत ऽऽ।) तथा विजया (१०+१०+१०+१०=४० मात्राएँ, अंत ऽ।ऽ) नामक छंद।[4] करखा छंद का मात्रा गणविधान जानी बिहारीलाल ने १०+१०+१०+७ दिया है और इसे वीर रस के प्रसंग में प्रयुक्त बतलाया है।[5] पादांत यगण का निर्देश उन्होंने नहीं किया। उद्धत छंद का उल्लेख सुखदेव मिश्र तथा जानी बिहारीलाल ने किया है और इसे भी वीररस के लिए प्रयुक्त कहा है।[6] जानी बिहारीलाल द्वारा उल्लिखित अन्य दंडक प्रभाकर[7] (८ सगण, अंत २ ल), माधवी[8] (८ स, अंत १ ग), शृंगधरा,[9] कुसुमस्तबक[10] (९ स, १८वीं मात्रा पर यति), भुजंगविजृंभित,[11] प्रेमलता,[12] मंजरी[13] (१ ल+७ भ + २ ग) तथा सालु[14] (१६+१७, आदि २ ग, अंत २ ग, बीच में सब ल) वस्तुतः वर्णवृत्त हैं; क्योंकि इनमें पादगत लघुगुरुरूप-संख्या एवं क्रम निश्चित हैं।

अर्द्धसम मात्रिक छंद

हिन्दी के लक्षणकारों ने जिन अर्द्धसम मात्रिक छंदों का उल्लेख किया है, उनमें दोहा, सोरठा, उल्लाल, घत्ता, तथा घत्तानंद प्राकृतपैंगलम् प्रभृति प्राकृत-अपभ्रंश लक्षण-ग्रंथों में पूर्वोल्लिखित है। दोहा छंद को प्राकृत-अपभ्रंश तथा हिंदी के अधिकांश लक्षणकारों ने

---

१. छं० प्र०, पृ० ८०।
२. रा० वृ० त० २।१५८, पृ० ४१।
३. प्रा० पैं० १।२०५-२०७; रा० वृ० त० २।१५६, पृ० ४१; जा० छं० २।२।२३; अयोध्या प्रसाद: छंदानंदपिंगल, पृ० ६४।
४. छं० प्र०, पृ० ७८-८०।
५. जा० छं० २।२।१५।
६. सु० पिं० २४४; जा० छं० २।२।२१।
७. जा० छं० २।२।५
८. वही, २।२।७।
९. वही, २।२।९।
१०. वही, २।२।११।
११. वही, २।२।१७।
१२. वही, २।२।१९।
१३. वही, २।२।३।
१४. वही, २।२।१।

अर्द्धसम चतुष्पदी माना है।[1] किंतु रामसहाय दोहा को १३+११ के विश्राम से २४ मात्राओं के पाद का द्विपदी छंद मानते हैं, जिसके पादांत में गुरु वर्जित है—

अगुरु अंत में दोय दल तासों दोहा नाम।[2]

इसी तरह सोरठा को भी रामसहाय ने द्विपदी (११+१३) छंद माना है।[3] किन्तु इन दोनों छंदों को लक्षणकारों का बहुमत अर्द्धसम चतुष्पदी ही मानना है, और हम इसका औचित्य देख चुके हैं। दोहा के भेदों तथा रूपांतरों की चर्चा प्राकृतपैंगलम् और कवि-दर्पणम् के आधार पर हम पीछे कर आये हैं। प्राकृतपैंगलम् में भ्रमर, भ्रामर आदि दोहा के २३ भेदों के नाम-लक्षण तो हैं, किंतु प्रत्येक भेद के उदाहरण नहीं दिये गये।[4] छंदोहृदयप्रकाश में भी इन भेदों के नाम आये हैं, किंतु इनके उदाहरण नहीं।[5] रामसहाय की वृत्ततरंगिणी तथा भिखारीदास के छंदोर्णव में तो इन भेदों के नाम भी नहीं।[6] इन २३ दोहा-भेदों के उदाहरण प्रथम बार सुखदेवमिश्र कृत पिंगल (हस्तलिखित) में और तदुपरांत हरदेवदास के ग्रंथ छंदपयोनिधि-भाषा में देखने को मिलते हैं।[7] तदुपरांत अयोध्याप्रसाद के छंदानंदपिंगल में दोहा के २३ भेदों के नाम तथा प्रत्येक का उदाहरण उपलब्ध है।[8] और फिर इन भेदों का उल्लेख जानी बिहारीलाल के छंद-प्रभाकर-पिंगल में हुआ है।[9] भानु ने भी इन भेदों के उदाहरण दिये हैं।[10] दोहा के रूपांतरों में भिखारीदास, जानी बिहारीलाल और भानु का दोहा,[11] रत्नशेखर के उद्गाथक,[12] हेमचंद्र के मदनविलास[13] तथा कविदर्पणकार के संदोहक[14] से अभिन्न है। भिखारीदास और जानी बिहारीलाल का दोहरा[15] कविदर्पणकार के उपदोहक[16] से अभिन्न है। छंदपयोनिधि में इसे ही पंचा

---

१. प्रा० पैं० १।७८-७९; छं० को० २१; छं० हृ० प्र०, पृ० ३३ ख; सु० पिं०, पृ, १२०; छं० पिं० ७।२-३; छं० प्र०, पृ० ८४; छं० प्र० भा०, पृ० ८०; जा० छं० २।३।९; अयोध्याप्रसाद : छंदानंदपिंगल, पृ० ४६-४९।

२. रा० वृ० त० २।१०५, ृ० ३५।

३. वही, २।१०८, पृ० ३६। (जानी बिहारीलाल सोरठा को परंपरा के अनुसार अर्द्ध-सम चतुष्पदी ही मानते हैं।—जा० छं० २।३।११।)

४. प्रा० ैं० १।७८-८५।

५. छं० हृ० प्र०, पृ० ६२।

६. छं० पिं० ७।२-४; रा० वृ० त० २।१०५, पृ० ३५।

७. सु० पिं०, पद्य २९ से आगे; छं० प्र० भा० ७।१४३-१६८, पृ० ९२-९७।

८. अयोध्याप्रसाद : छंदानंदपिंगल, पृ० ४६-४९।

९. जा० छं०. २।३।९।

१०. छं० प्र०, पृ० ८७-८९।

११. छं० पिं० ७।६। (१५, ११, १५, ११); छं० प्र०, पृ० ९०; जा० छं०, २।३।१३।

१२. छं० को० २८। (उग्गाहु)

१३. हे० छं० ६।२।

१४. क० द० २।१६।

१५. छं० पिं० ७।७। (१०२, ११, १२, ११); जा० छं० २।३।७।

१६. क० द० २।१६।

दोहा[1] कहा है तथा इसके २१ नाम बताये हैं—माला, बाला, जेठी, जोगी, भोगी, भंग, तारा और तुंगा, तोपा, वसुधा, खोमा, रंगा, लक्ष्मी, कृष्णा, श्यामा, गोपी, धारा, सुकाम, चूरी, चोसर, चंडी।[2] इस ग्रंथ में पंचा दोहा के अतिरिक्त दोहा का एक और रूपांतर नन्दा दोहा[3] है, जिसके विषमपाद में १२ तथा समपाद में ७ मात्राएँ होती हैं। नंदा दोहा के १७ नाम कथित हैं—सुषमा, चंदा, माला, तूही, बेल, बाला, लाला, मोहे, सेवन, केला रंभा, गोरी, हारा, सुवरन, हेमा, जान्हा, बेनी।[4] छंदपयोनिधि का नंदा दोहा भिखारीदास के ध्रुवा[5] (१२+७; १२+७) तथा रामसहाय और भानु के बरवै[6] छंद (विषम १२ मात्राएँ, सम ७ मात्राएँ) से अभिन्न है। रामसहाय ने बरवै को सम द्विपदी (१२ छंद माना है। छंदपयोनिधि में जिसे उपदोहा[7] कहा है, वह कविदर्पण के उपदोहक के नहीं, अवदोहक[8] के समान है। इस छंद (उपदोहा) के २३ नाम बताये हैं—मल्ल, सल्ल, ध्रुव, धीर, धाम, हरि, कान्हा, नंद, सुर, बैन, मैन, मृग, भान, मूर, शशि, शुद्ध, सिद्ध, गुरु, काम, वाम, सुख, श्याम, जाम।[9] उपदोहा के प्रथम दो चरणों के योग के समान चार चरण रखने से उस छंद को (रोला) रोलावत्थू कहते हैं।[10] (इसकी सभेद चर्चा हम कर चुके हैं)। रोलावत्थू को दोहावत्थू का भेद माना गया है, जिसके चार अन्य भेद हैं—आनंदवत्थू, मंगलवत्थू, रायवत्थू और मोहनवत्थू।[11] आनंदवत्थू[12] के प्रथम-द्वितीय पादों में से प्रत्येक में (१०+१३=)२३ तथा तृतीय-चतुर्थ पादों में से प्रत्येक में (११+११=)२२ मात्राएँ होती हैं। द्रष्टव्य है कि इस छंद में प्रथम-तृतीय पाद तथा द्वितीय-चतुर्थ पाद परस्पर समान नहीं, वरन् प्रथम-द्वितीय तथा तृतीय-चतुर्थ पाद परस्पर समान हैं। ऐसा एक छंद रत्नशेखर द्वारा उल्लिखित बेसर[13] है, जिसके पूर्वार्द्ध के पादों में से प्रत्येक में १६ तथा उत्तरार्द्ध के पादों में से प्रत्येक में १५ मात्राएँ होती हैं।

---

१. छं० प्र० भा० ७।१७३ (गणविधान—विषम ६+४+२; सम ६+४+१ मात्राएँ)।
२. वही, ७।१७५-१७८।
३. वही, ७।१८०-१८२ (गणविधान—विषम ४+४+४; सम ४+ऽ। मात्राएँ)।
४. वही, ७।१८३-१८४।
५. छं० पिं० ७।१२-१३।
६. छं० प्र०, पृ० ८३; रा० वृ० त० २९, पृ० ३४। (१२+७, अंत ग ल)
७. छं० प० भा० ७।१८७-१८९। (गणविधान—विषम ६+२+३; सम ३+२+६+२ मात्राएँ; सोरठा से इसका अंतर यह है कि इसम विषम पाद के बजाय सम पाद [illegible] होते हैं।)
८. क० द० २।१५।
९. छं० प्र० भा० ७।१९०-१९१।
१०. वही, ७।१९३-१९४।
११. वही, ७।१९२।
१२. वही, ७।१९७-१९९। (गणविधान—प्रथम-द्वितीय पाद में प्रतिपाद—६+४+३+६+४ =२३; तृतीय-चतुर्थ पाद में प्रतिपाद—६+२+३+३+२+४+२=२२ मात्राएँ।)
१३. छं० को० २०।

मंगलवत्थू[1] समचतुष्पदी है (११+११=२२ मात्राएँ प्रतिपाद)। इसी तरह रायवत्थू[2] भी सम चतुष्पदी है (११+१०=२१ मात्राएँ प्रतिपाद) और मोहनवत्थू[3] भी (६+२+६+२=१६ मात्राएँ प्रतिपाद)। इन विभिन्न प्रकृति के छंदों को वत्थूदोहा का भेद किस प्रकार कहा जा सकता है, समझ में नही आता। संभव है १३ या ११ मात्राओंवाले पाद या पादखंड की समानता इस भेद-कथन के मूल में हो।

बरवै से मिलते-जुलते भानु के मोहनी[4] (१२, ७, १२. ७; ।ऽ) छंद, जिसे जानी बिहारीलाल बरवै या ध्रुव से अभिन्न मानते हैं[5] तथा अतिबरवै[6] (१२, ९, १२, ९, अंत ऽ।) छंद है।

हरिपद की चर्चा हम २७ मात्राओं के पादवाले सम चतुष्पदी के अंतर्गत कर चुके है यद्यपि जानी बिहारीलाल तथा भानु ने उसे अर्द्धसम चतुष्पदी (१६, ११, १६, ११) माना है।[7]

उल्लाला को प्राकृतपैंगलम्, कविदर्पण तथा छंदोऽनुशासन (हेमचंद्र) में समद्विपदी माना है।[8] छंदोहृदयप्रकाश (हस्तलिपि) में भूषण ने उल्लाला को प्राकृतपैंगलम् के अनुसार द्विपदी (४+४+४+३।६+४+३) माना है। किंतु, भिखारीदास, जानी बिहारी लाल तथा भानु ने अर्द्धसम चतुष्पदी के रूप में (१५, १३, १५, १३) इसका उल्लेख किया है।[9] छंदपयोनिधि में उल्लाला के चार भेद बताये हैं—रम उल्लाल[10] (१५, १३, १५, १३; गणविधान—विषम २+६+४+३, सम+६+४ ३); रंगउल्लाल[11] (रसउल्लाल का उलटा, अर्थात् १३, १५, १३, १५); काम उल्लाल[12] (१५, १५, १५, १५; गणविधान—२+६+४+३) तथा श्याम उल्लाल[13] (१३, १३, १३, १३; गणविधान—६+४ +३)। अंतिम दो भेद स्पष्टतया सम चतुष्पदी हैं। रुचिर नामक एक सम चतुष्पदी छंद[14] (प्रति पाद १४+१६=३० मात्राएँ, अंत ऽ) के अतिरिक्त रुचिरा नामक एक अर्द्धसम

१. छं० प्र० भा० ७।२०५-२०७।

२. वही, ७।२०८-२१०।

३. वही, ७।२१२-२१४।

४. छं० प्र०, पृ० ८३। यह रामसहाय के मोहनी छंद (१०+९, अंत रगण) से भिन्न है। तु०—रा० वृ० त०, २।९१, पृ० २४।

५. जा० छं० २।३।५।

६. छं० प्र०, पृ० ८३।

७. जा० छं० २।३।१७; छं० प्र०, पृ० ९१।

८. प्रा० पैं० १।११८; क० द० २।२; हे० छं० ७।२-३।

९. छं० प्र०, पृ० ९१; छं० पिं० ७।८-९; छं० हृ० प्र०, ० ६५ जा० छं०, २। ३।१९।

१०. छं० प्र० भा० ७।२२६-२२८।

११. वही, ७।२२९-२३०।

१२. वही, ७।२३१-२३२।

१३. वही, ७।२३३-२३४।

१४. छं० प्र०, ० ७३।

चतुष्पदी छंद[1] (१६, १४, १६, १४, अंत ऽऽ) का उल्लेख भी भानु ने किया है। स्मरणीय है कि पिंगल के चूलिका नामक विषम द्विपदी छंद[2] (पूर्वार्द्ध २७ ल+ग, उत्तरार्द्ध २९ ल+ग) को केदार ने रुचिरा[3] कहा है। संभवतः, इस पुराने छंद से भानु के रुचिर या रुचिरा का संबंध नहीं है। हिंदी-लक्षणकारों के शेष अर्द्धसम छंद प्राकृत-अपभ्रंश ग्रंथों में प्रायः उसी रूप में पूर्व-परिभाषित हैं।

घत्ता छंद को प्राकृतपैंगलम् में द्विपदी, छंदःकोश मे चतुष्पदी और कविदर्पण में षट्पदी माना गया है।[4] इस छंद के संबंध में हिंदी के प्रमुख छंदोलक्षणकारों के बीच इस प्रकार का मतभेद नहीं दिखाई देता। प्रायः सभी ने घत्ता को द्विपदी माना है। भूषण ने छंदोहृदयप्रकाश में प्राकृतपैंगलम् का आधार ग्रहण करते हुए घत्ता को द्विपदी छंद (१०+८+१३); गणविधान—७ (चतुष्कल +१ त्रिकल) माना है।[5] भिखारीदास और जानी बिहारीलाल ने भी इसे द्विपदी (१०+८+१३) माना है।[6] हरदेवदास के छंदपयोनिधि में भी घत्ता दो पादों (प्रतिपाद ७ चतुष्कल + ३ लघु) का छंद माना गया है। घत्ता को अर्द्धसम चतुष्पदी वर्ग में भानु ने अवश्य रखा है (१८, १३, १८, १३, सम चरणांत ।।।), किंतु साथ ही यह भी लिखा है कि 'यह छंद द्विपदी घत्ता कहलाता है और दो ही पंक्तियों में लिखा जाता है।'[7]

घत्तानंद भी प्राकृतपैंगलम् में द्विपदी है।[8] छंदोहृदयप्रकाश में भी इसे दो पादों का छंद (११+७+१३) माना गया है।[9] भिखारीदास और हरदेवदास ने इसका उल्लेख नहीं किया है। जानी बिहारीलाल तथा भानु ने इसे अर्द्धसम चतुष्पदी वर्ग में रखकर भी इसका द्विपदी होना स्वीकार किया है।[10]

जानी बिहारीलाल ने कई अन्य अर्द्धसम चतुष्पदी मात्रिक छंदों का उल्लेख किया है। वे हैं—ललित[11] (१६, १२, १६, १२), चुलियाला[12] (१३, १६, १३, १६), आर्या या गाहु[13] (१२, १५, १२, १५), उगाहा[14] (१२, १८, १२, १८), हरिकीर्त्तन[15] (१७,

---

१. जा० छं०, पृ० ९१। (तु० चौबोला छंद, प्रा० पैं० १।१३१; जा० छं० २।३।२९।)
२. छं० पिं० ४।५२।
३. वृ० र० २।४२।
४. प्रा० पैं० १।९९; छं० को० ४३; क० द० २२९-३१।
५. छं० हृ० प्र०, पृ० ६७।
६. छं० पिं०, ७।१४, १५; जा० छं० २।३।३१।
७. छं० प्र०, ‌० ९१, ९२।
८. प्रा० पैं०, १।१०२।
९. छं० हृ० प्र०, पृ० ६७।
१०. छं० प्र०, पृ० ९२; जा० छं० २।३।३३।
११. जा० छं० २।३।२३।
१२. जा० छं० २।३।२५।
१३. जा० छं० २।३।१५।
१४. जा० छं० २।३।२७।
१५. जा० छं० २।३।४३।

१८, १७, १८), तथा चंद्रकला[१] (१९, १८, १९, १८)। इनमें प्रथम चार संस्कृत-प्राकृत लक्षणग्रंथों में पूर्वोक्त हैं।[२] जानी बिहारीलाल का उगाहा पिंगलाचार्य के गीति छंद से, उनका आर्या या गाहु पिंगलाचार्य के उपगीति छंद से तुलनीय है। प्राकृतपैंगलम् में पिंगलोक्त गीति और उपगीति को क्रमशः उग्गाहा और गाहु कहा गया है। जानी बिहारीलाल ने इस संबंध में प्राकृतपैंगलम् का अनुसरण किया है। ललित छंद द्विपदी ललित पद (या दुवई या सार) छंद का ही अर्द्धसम चतुष्पदी रूपांतर है।[३] अर्द्धसम चतुष्पदी वर्ग में जानी बिहारीलाल ने स्कंधक का भी उल्लेख किया है, किंतु उसका लक्षण द्विपदी रूप में (१२+२०) दिया है।[४] यह छंद भी संस्कृत-प्राकृत लक्षणग्रंथों में पूर्वोक्त है।[५]

चौबोला छंद के संबंध में, ऐसा प्रतीत होता है कि हिंदी के कवियों अथवा छंदो-लक्षणकारों ने पर्याप्त स्वच्छंदता का परिचय दिया है। प्राकृतपैंगलम्[६] में यह अर्द्धसम चतुष्पदी (१६, १४, १६, १४) है। हिंदी-छंदोलक्षणकारों रामसहाय[७] ने भी ऐसा ही माना है। भिखारीदास[८] ने इसे सम चतुष्पदी माना और प्रतिपाद १६+१४=३० मात्राएँ निर्दिष्ट कीं। जानी बिहारीलाल ने चौबोला नाम के दो छंदों का उल्लेख किया, एक अर्द्धसम चतुष्पदी[९] (१६, १४, १६, १४) तथा दूसरा प्रगाथ[१०] (दोहा काव्य, कुंडलिया की तरह प्रारंभिक पदों की अंत्य आवृत्ति नहीं)। अयोध्याप्रसाद[११] ने चौबोला छंद को सम द्विपदी (१५ १५, प्रतिपाद) माना तथा भानु[१२] ने सम चतुष्पदी (८+२ प्रतिपाद) के रूप में इसे परिभाषित किया है।

विषम मात्रिक छंद

हिंदी-लक्षणकारों ने विषम छंद उसे माना है, (१) जिसके विभिन्न पादों की मात्रा-संख्याएँ अथवा रचना भिन्न-भिन्न हों अथवा (२) जिसमें चार से कम या अधिक पाद हों।

मात्र पाद-रचना-वैभिन्न्य के कारण विषम कोटि में गिने जाने योग्य छंद हिन्दी में

---

१. जा० छं० २।३।४५।
२. प्रा० पैं० १।१६७, ५३, ६९।
छं० को०।२६।
छं० पिं० ४।२८, ३०।
३. तु० जा० छं० २।१, १८१ तथा प्रा० पैं० १।१५२।
४. जा० छं० २।३।३७।
५. छं० पिं० ४।३१। (आर्यागीति); प्रा० पैं० १।७३। (खंधा); जकी० ५।१३-१८; हे० छं० ४।१३।
६. प्रा० पैं० १।१३१।
७. रा० वृ० त० २।१३३, पृ० ३९।
८. छं० पिं० ५।२१७।
९. जा० छं०।२।३।२९।
१०. वही, २।३।५३।
११. अयोध्याप्रसाद: छंदानंदपिंगल, पृ० ५२।
१२. छं० प्र०, पृ० ४८।

बहुत लोकप्रिय नहीं हुए। इस कोटि के छंदों में हिंदी-लक्षणग्रंथों में नये छंद बहुत नहीं दिखाई देते। पूर्वोल्लिखित छंदों के कुछ लक्षण-भेद अवश्य दीखते हैं। जानी बिहारी-लाल तथा अन्य हिन्दी-लक्षणकारों द्वारा उल्लिखित आर्या या गाहा[1] (१२, १८, १२, १५); विगाहा[2] (१२, १५, १२, १८); गाहिनी[3] (१२, १८, १२, २०) तथा सिंहिनी[4] (१२, २०, १२, १८) प्राकृतपैंगलम् में विषम द्विपदी (पादगत क्रमशः ३०, २७; २७, ३०; ३०, ३२ तथा ३२, ३० मात्राएँ) रूप में वर्णित हैं।[5] हिंदी-लक्षणकारों ने इन्हे प्रायः विषम चतुष्पदी के रूप में परिभाषित किया है। इस वर्ग के छंदों की विशद चर्चा संस्कृत-प्राकृत-काल में हुई है। हिन्दी के लक्षणकारों ने उनकी चर्चा रस्म-अदायगी के रूप में ही की है, जिससे ध्वनित है कि इस वर्ग के छंद हिन्दी में विशेष लोकप्रिय नहीं रहे। भानु ने गाथा या आर्या से भिन्न लक्ष्मी (या बुद्धि) नामक विषम द्विपदी छंद का उल्लेख किया है, जिसके पूर्वार्द्ध में ३० और उत्तरार्द्ध में २७ मात्राएँ तो आर्या की तरह होती हैं, पर अनिवार्यतः यति १२वीं मात्रा के सिवा कहीं भी अन्य स्थान पर होती है।[6] द्रष्टव्य है कि प्रा० पैं० में गाथा के भेदों में 'लक्ष्मी' और 'बुद्धि' नाम आये है, यद्यपि लक्षण भिन्न हैं।[7]

पाद-संख्या चार से न्यूनाधिक होने के कारण विषम कोटि में परिगणित होने योग्य हिंदी-छंदोग्रंथों में उल्लिखित ऐसे बहुत ही कम छंद हैं, जिनमें साथ ही पाद-रचना-वैभिन्न्य भी न हो। सुखदेवमिश्र, जानी बिहारीलाल और अयोध्याप्रसाद ने रसिक छंद[8] का उल्लेख किया है, जिसमें ११ मात्राओं के छः समान पाद निर्दिष्ट हैं। यह प्राकृतपैंगलम् में पूर्वोल्लिखित है। ऐसे छंद, जिनमें पाद-संख्या ४ से अधिक होने के साथ ही पाद-रचना में भी परस्पर वैभिन्न्य हो, हिंदी-लक्षणग्रंथों में कई उल्लिखित हैं। इनमें से प्रायः सभी प्रगाथ छंद हैं, जिनमें दो भिन्न छंदों का अनुच्छेद-मिश्रण हुआ है। हिंदी में प्रगाथ छंदों का सर्वाधिक उल्लेख जानी बिहारीलाल ने किया है। जानी बिहारीलाल ने चूडामणि[9] (दोहा+उगाहा; २४, २४, ३०, ३०); कुंडलिया[10] (दोहा+काव्य; २४+६, आदि के पद की, अंत में, आवृत्ति); चौबोला[11] (कुंडलिया के समान केवल आदि के

---

१. रा० वृ० त० २।२३८ ०३९; जा० छं० २।४।५; सु० पिं० ३; छं० प्र० भा० ७।२१५।; छं० पिं० ८।१।
२. जा० छं० २।४।८।; छं० पिं० ८।२।
३. सु० पिं० १०; जा० छं० २।४।१२; छं० प्र०, पृ० ९५; छं० पिं० ८।२।
४. जा० छं० २।४।१४; छं० प्र०, पृ० ९५; अयोध्याप्रसाद: छंदानंदपिंगल, पृ० ४६; छं० पिं० ८।२।
५. प्रा० पैं० १।५४, ६६, ७०-७२।
६. छं० प्र०, पृ० ९५।
७. प्रा० पैं० १।६०।
८. जा० छं० २।३।४०; प्रा० पैं० १।८६-८७; अयोध्याप्रसाद: छंदानंदपिंगल, पृ० ५०; सु० पिं० (ह० लि० सं० ३०६३।१९१२), पृ० ३६।
९. जा० छं० २।३।४९।
१०. जा० छं० २।३।५१।
११. जा० छं० २।३।५३।

पद की, अंत में, आवृत्ति, नही); अमृतध्वनि[1] (दोहा काव्य; उग्रवर्णप्रयुक्त; काव्य के पादों में यति ८+८+८ के अनुसार); छप्पय[2] (काव्य+उल्लाला); हुलास[3] (पादाकुलक त्रिभंगी; आठ चरण) तथा रड्डा[4] (मात्रा दोहा) का उल्लेख किया है। रड्डा प्राकृत-पैंगलम्, वृत्तजातिसमुच्चय आदि में पूर्वोक्त है। प्राकृतपैंगलम् में रड्डा के ७ भेद कथित हैं। भिखारीदास ने इन सभी भेदों का तदनुसार उल्लेख किया है।[5] इनमें करभी के सिवा अन्य छः भेदों का उल्लेख जानी बिहारीलाल ने किया है, किंतु भेदों के लक्षण प्राकृतपैंगलम् और भिखारीदास से कुछ अंशों में भिन्न कथित हैं। निम्नांकित सारणी से, जिसमें रड्डा के भेदों के प्रथम पाँच पादों की मात्रा-संख्याएँ क्रमशः निर्दिष्ट हैं, यह लक्षणभेद स्पष्ट हो जायगा—

रड्डा के भेद-नाम	प्राकृतपैंगलम् और भिखारीदास के अनुसार प्रथम पाँच पादों की मात्रा-संख्याएँ क्रमशः	जा० छं० के अनुसार प्रथम ५ पादों की मात्रा-संख्याएँ क्रमशः
१. नंदा[6]	१४, ११, १४, ११, १४	१५, १४. १५, ११, १५
२. मोहिनी[7]	१९, ११, १९, ११, १९	१५, १९, १५, ११, १५
३. चारुसेनी[8]	१५, ११, १५, ११, १५	१५, १५, १५, ११, १५
४. भद्रा[9]	१५, १२, १५, १२, १५	१५, १५, १५, १२. १५
५. राजसेना[10]	१५, १२, १५, ११, १५	१५, १२, १५, ११, १५
६. तालंकिनी[11]	१६, १२, १६, ११, १६	१६, १२, १६, १६, १६

* इन सभी भेदों के उत्तरांश समान रूप से दोहा के चार चरण होंगे।

भानु ने अमृतध्वनि, कुंडलिया और छप्पय का उल्लेख किया है। ये सभी प्रगाथ छंद हैं, जिनके अनुच्छेद दो भिन्न छंदों के अनुच्छेदों के योग से बने हैं। अंतिम दो प्राकृत-अपभ्रंश ग्रंथों में पूर्वोल्लिखित हैं और हम उनकी चर्चा कर चुके हैं। अमृतध्वनि

१. जा० छं० २।३।५४।
२. जा० छं० २।३।५६।
३. जा० छं० २।३।६२।
४. जा० छं० २।४।२२ तथा आगे पृ० ६१; बृ० जा० स० ४।३१; प्रा० पैं० १, १३३-१३५।
५. छं० पिं० ८।२१-२५।
६. प्रा० पैं० १।१३८; जा० छं० २।४।२६, पृ० ६१।
७. प्रा० पैं० १।१३९; जा० छं० २।४।२८, पृ० ६१।
८. प्रा० पैं० १।१४०; जा० छं० २।४।३०, पृ० ६१।
९. प्रा० पैं० १।१४१; जा० छं० २।४।३२, पृ० ६१।
१०. प्रा० पैं० १।१४२; जा० छं० २।४।२२, पृ० ६१।
११. प्रा० पैं० १।१४३; जा० छं० २।४।२४, पृ० ६१।

छंद के प्रथम उल्लेख का श्रेय सुखदेवमिश्र को है।[१] भूषण तथा रामसहाय ने इसका उल्लेख नहीं किया और न प्राकृत-अपभ्रंश के लक्षणकारों ने किया था। इससे स्पष्ट है कि यह छंद शुद्धध्वनि की तरह ही हिंदी के बीच विकसित हुआ। सुखदेवमिश्र के 'पिंगल' शीर्षक हस्तलिपि में ही इसका प्राचीनतम उल्लेख उपलब्ध है। बाद में जानी बिहारीलाल,[२] भिखारीदास[३] और भानु[४] ने इसकी चर्चा की है। अमृतध्वनि छंद के छः पादों में प्रथम दो पादों में से प्रत्येक दोहा के अर्द्धसम भाग के समान है। शेष चार पाद २४ मात्राओं के होते हैं, जिनमें ८+८+८ के हिसाब से यति होती है। प्रति पाद में पादांतर्गत तीनों यति-स्थानों पर तुक का प्रदर्शन होता है। छंदानुच्छेद का आरंभ और अंत एक ही प्रकार की शब्दावली से गठित होता है। संपूर्ण पद्य में, संभवतः वीर रसोचित वातावरण प्रस्तुत करने के लिए, उग्र वर्ण प्रयुक्त होते हैं।

छप्पय और कुंडलिया के भेदोपभेदों के अनुल्लेख की प्रवृत्ति हिंदी-लक्षणकारों में उत्तरोत्तर अधिक देखने में आती है। भूषण ने प्रा० पैं० में उल्लिखित छप्पय के ७१ भेदों का नामोल्लेख किया है।[५] सुखदेवमिश्र ने भी छप्पय के भेदों की चर्चा की है।[६] किन्तु रामसहाय,[७] भिखारीदास[८] जानी बिहारीलाल[९] तथा भानु[१०] ने केवल मुख्य छप्पय छंद को परिभाषित कर दिया है, भेद-नामों का उल्लेख नहीं किया। इससे विदित होता है कि आधुनिक हिंदी में छप्पय-कुंडलिया की लोकप्रियता क्रमशः कमती गई है और अन्य नये-नये प्रकार के अनुच्छेदाबंधों को प्रश्रय मिलता गया है।

अष्टपदी प्रगाथ हुलास का प्रथमोल्लेख संभवतः जानी बिहारीलाल ने किया है, यद्यपि किन्हीं भी दो चतुष्पदी छंदों के पादमिश्रण से अष्टपदी प्रगाथ के उद्भव की संभावना हेमचंद्र ने बहुत पहले व्यस्त की थी। जानी बिहारीलाल का चूडामणि नामक षट्पदी प्रगाथ भी संभवतः प्राकृत लक्षण-ग्रंथों में उल्लिखित नहीं। जानी बिहारीलाल का प्रगाथ चौबोला कुंडलिया का रूपांतर कहा जा सकता है और प्राकृतपैंगलम् के उस अर्द्धसम चतुष्पदी चोबोला छंद (१६, १४, १६, १४) से जिसका उल्लेख परवर्त्ती रामसहाय तथा स्वयं जानी बिहारीलाल ने अन्यत्र किया है तथा साथ ही उस सम चतुष्पदी चौबोला छंद (प्रति पाद १५ मात्राएँ) से भी, जिसका उल्लेख अयोध्याप्रसाद के छंदानंद-पिंगल तथा भानु के छंदप्रभाकर में हुआ है, सर्वथा भिन्न हैं।[११]

---

१. सु० पिं० १९७।
२. जा० छं० २।३।५४।
३. छं० पिं० ७।३७।
४. छं० प्र०, पृ० ९६।
५. छं० हृ० प्र०, पृ० ६६; प्रा० पैं० १।१२२-१२३।
६. सु० पिं० १६४-१६९।
७. रा० वृ० त० २।११२, पृ० ३६।
८. छं० पिं० ७।३६।
९. जा० छं० ८।३।५६।
१०. छं० प्र०, पृ० ९८।
११. प्रा० पैं० १।१३१; रा० वृ० त० २।१३३, पृ० ३९; अयोध्याप्रसाद : छंदानंद-पिंगल, पृ० ५२; छं० प्र०, पृ० ४८; जा० छं० २।३।२९।

प्रकरण ५

सामान्य समीक्षा एवं [illegible]

(१) मात्रिक छंदों की दो कोटियाँ हैं—

(क) संस्कृत या परिनिष्ठित परंपरा के मात्रिक छंद, जो वर्णवृत्त से तथा उसके ऊपर लोक-प्रचलित तालसंगीत की प्रतिक्रिया-मात्र के फलस्वरूप विकसित हुए।

(ख) प्राकृत-अपभ्रंश या लोक-परंपरा के मात्रिक छंद, जो लोकप्रचलित तालवृत्त से, पंडितों के प्रभाव के फलस्वरूप मात्रिक छंद के रूप में बदल गये। ये छंद मात्रिक रूप में भी गेय तथा ताल-संगीत के अनुशासन में बाँधे जाने योग्य हैं।

(२) प्रथम कोटि में गाथा, मात्रासमक, वैतालीय-वर्गों के छंद तथा चूलिका छंद हैं। शेष छंद प्रायः दूसरी कोटि में अंतर्भुक्त किये जाने योग्य हैं।

(३) प्रथम कोटि के छंद प्रायः पिंगल, जयदेव, जयकीर्त्ति, केदार, हेमचंद्र प्रभृति संस्कृत लक्षणकारों द्वारा उल्लिखित हैं, तथा दूसरी कोटि के छंदों का उल्लेख हेमचंद्र के अतिरिक्त प्राकृत-अपभ्रंश के लक्षण-ग्रंथों, वृत्तजातिसमुच्चय, स्वयंभूच्छंदस्, कविदर्पणम्, प्राकृतपैंगलम् तथा छंदःकोश में मिलता है।

(४) दूसरी कोटि के छंदों में भी दो प्रकार के छंद हैं—

(क) वे छंद, जो तालवृत्त से उद्भूत तो हैं, किंतु जिनपर वर्ण-संगीत के संस्कारों से युक्त कवियों या पंडितों के प्रभाव-स्वरूप लघुगुरुवर्ण-स्वरूप संबंधी प्रतिबंध मात्रिक गणों की आवश्यकता से बहुत अधिक है।

(ख) वे छंद, जो तालवृत्त से मात्रावृत्त तो बन गये हैं, लेकिन जिनमें लघुगुरुवर्ण-स्वरूप संबंधी प्रतिबंध मात्रिक गणों की अनिवार्यता से अधिक प्रायः नहीं है।

इन दो प्रकार के छंदों को ऊपर हमने मिश्र और विशुद्ध मात्रिक छंद कहा है और इन-पर प्रायः अलग-अलग विचार किया है। तालबद्ध रूप में गेय ये दोनों प्रकार के छंद हैं।

(५) कालक्रमानुसार लक्षणग्रंथों के अवलोकन से यह विदित होता है कि संस्कृत-परंपरा के मात्रिक छंद (गाथा, वैतालीय, मात्रासमक तथा इनके भेदादि) अपभ्रंश और हिंदी में उत्तरोत्तर कम लोकप्रिय होते गये हैं और लोक-परंपरा से उद्भूत छंदों की लोकप्रियता परिनिष्ठित साहित्य में भी उत्तरोत्तर बढ़ती गई है।

(६) हिंदी-लक्षणग्रंथों में गणबंधन की ओर रुचि क्रमशः कमती गई है और अधिक-से-अधिक स्वच्छंदता की प्रवृत्ति का विकास हुआ है।

(७) अपभ्रंश और हिंदी के छंदों में अंत्यानुप्रास की प्रवृत्ति व्यापक रूप से दिखाई देती है। किसी-किसी छंद में तो पादांतर्गत यति-स्थानों पर भी अनुप्रास-योजना का विधान या व्यवहार देखने को मिलता है। इस प्रकार, अनुप्रास द्वारा मात्रिक छंदों में वर्णवृत्त की वर्णसांगीतिकता के अभाव की पूर्ति बहुत कुछ हो जाती है।

मात्रिक छंदों में ताल-संगीत, वर्ण-संगीत तथा अनुप्रास-संगीत का मेल अनेक छंदों मे दृष्टिगत हैं।

(८) छंदों के चुनाव की दृष्टि से भी लक्षणग्रंथों में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं—

(क) कुछ लक्षणकारों का छंदोविवेचन बहुत कुछ वास्तविक व्यवहार पर आधारित है। ये व्यापक रूप से प्रयुक्त, लोकप्रिय, नये और अपेक्षाकृत अपूर्वोल्लिखित छंदों को अपने ग्रंथ में स्थान देते हैं और ऐसे परंपराभुक्त छंदों को बहिष्कृत कर देते हैं, जो प्राय: प्रयोग से उठ गये हों।

(ख) अन्य लक्षणकारो का विवेचन परंपराभुक्त, रूढ अथवा सैद्धान्तिक है। ये परंपरा से छंदोग्रंथों मे वर्णित छं ों का ही वर्णन करते हैं, लोक के बीच वास्तविक व्यवहार पर अपना विवेचन आधारित नही करते। अथवा सैद्धान्तिक पूर्णता की दृष्टि से लोक के बीच प्रचलित-अप्रचलित, सभी ज्ञात छंदों का उल्लेख करते चलते हैं।

प्रथम प्रवृत्ति के परिचायक हैं पिंगल का छंदःशास्त्र, प्राकृतपैंगलम्, छदःकोश, छंदोहृदयप्रकाश, वृत्ततरंगिणी, छंदःप्रभाकर आदि। दूसरी प्रवृत्ति के प्रतीक हैं जयदेव, जयकीर्त्ति, हेमचंद्र, सुखदेव मिश्र, भिखारीदास आदि के ग्रंथ। वृत्तजातिसमुच्चय दोनों प्रवृत्तियों के बीच की कड़ी है, जिसमें वास्तविक व्यवहार में प्रयुक्त ऐसे अनेक छंद आये, जो बाद में स्थायित्व नहीं प्राप्त कर सके।

(९) मात्रिक छंदों के वर्गीकरण की कई पद्धतियाँ लक्षणग्रंथों मे दिखाई देती है—

(क) उद्‌गम (Genesis) या उत्पत्ति के आधार पर वर्गीकरण; जैसे आर्यावर्ग, वैतालीय-वर्ग, मात्रासमक-वर्ग, वक्त्रवर्ग, गलितक, खंजक, शीर्षक आदि के वर्ग।[1]

(ख) भाषा के आधार पर वर्गीकरण; जैसे प्राकृत के छंद, अपभ्रंश के छंद।[2]

(ग) पादसंख्या के आधार पर वर्गीकरण; जैसे द्विपदी, चतुष्पदी, पंचपदी, षट्पदी आदि।[3]

(घ) पादों के रचना-साम्य या रचना-वैषम्य पर आधारित वर्गीकरण; जैसे सम, अर्द्धसम, विषम आदि।[4]

(ङ) पाद की लंबाई के आधार पर वर्गीकरण; जैसे साधारण छंद, दंडक छंद आदि तथा ७, ८, ९, १० प्रभृति मात्राओं के पादवाले छंदों के विभिन्न वर्ग और उनकी जातियाँ।[5]

वर्गीकरण की इन पद्धतियों में व्युत्पत्ति (उद्‌गम), भाषा तथा अनुच्छेदगत पादसंख्या के आधार पर वर्गीकरण की पद्धतियों की लोकप्रियता लक्षणग्रंथों में हम उत्तरोत्तर घटते देखते हैं तथा पादरचना के साम्य या वैषम्य एवं पाद की लंबाई पर आधारित वर्गीकरण को ही हम छंदःप्रभाकर तथा अत्यंत आधुनिक ग्रंथों में व्यापक रूप से स्वीकृत पाते हैं।

(च) मात्रिक छंदों के वर्गीकरण की एक अन्य पद्धति है वृन्दावनदास के छंदसार में लघु-गुरु-नियतानियत होने के आधार पर वर्गीकरण की पद्धति[6]— किंतु इसे किसी भी अन्य लक्षणकार ने नहीं अपनाया।

---

१. पिं० ४; जय० ४, ५; जकी० ५, ६; हे० छं० ३, ४; वृ० र० २।

२. हे० छं० ५।१; जकी० १।२२।

३. हे० छं० ६, ७; क० द० २।

४. जा० छं० पिं० २।३, ४; छं० प्र० पृ० ५।

५. रा० वृ० त० पृ० ४० पद्य १५४; जा० छं० पिं० २।१, २, ३, ४; छं० प्र०, पृ० ४, ३७८; छं० पिं० ५।

६. वृ० छं०, उत्तरार्द्ध।

(१०) लक्षणग्रंथों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि बहुत छोटी लंबाई के पादवाले छंद लक्षणग्रंथों के बीच, और संभवतः काव्य-व्यवहार के बीच भी, स्थायी लोकप्रियता नहीं प्राप्त कर सके। द्विपदी छंदों में १२ मात्राओं तक के पादवाले छंदों का उल्लेख स्वयंभू और हेमचंद्र ने तो किया है, किंतु कविदर्पणकार, प्राकृतपिंगलकार और रत्नशेखर ने नहीं किया। छोटी लंबाई के पादवाले द्विपदी छंद हिंदी के लक्षणग्रंथों में भी प्रायः नहीं हैं। समचतुष्पदी वर्ग में भी विरहांक, हेमचंद्र और स्वयंभू ने छोटे पादवाले अनेक छंदों की चर्चा की है, किंतु इस वर्ग के केवल चार (मधुभार, दीपक, अहीर और हाकलि) छंदों का उल्लेख प्राकृतपैंगलम् में तथा एक (एकावली) का उल्लेख छंदःकोश में मिलता है। हिंदी के प्रमुख छंदो-लक्षणग्रंथों में भी समान रूप से इन पाँच छंदों को स्थान मिला है, किंतु कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण छंद भी दिखाई पड़े हैं, जैसे तोमर[1] (१२ मात्राएँ), उल्लाला[2] (१३ मात्राएँ), चौपई[3] तथा चौबोला[4] (१५ मात्राएँ)। सौ वर्षों की इस लंबी अवधि में तोमर वर्णगण-बंधन से मुक्ति पा वर्णवृत्त से मात्रिक छंद बन गया, सम द्विपदी उल्लाला (१५+१३, १५+१३) पादादि की दो मात्राओं को त्याग सम चतुष्पदी (१३, १३, १३, १३) बन गया, किंतु अपने पूर्व रूप में भी व्यवहृत होता रहा, तथा अर्द्धसम चौबोला छंद (१६, १४, १६, १४) अपने पादों के बीच मात्राओं के अधिक वितरण द्वारा सम छंद (१५, १५, १५, १५) बन गया।

छोटी लंबाई के पादवाले छंदों की लोकप्रियता के अपेक्षाकृत अभाव का कारण यह हो सकता है कि इन छंदों के एक अनुच्छेद में कवि के मंतव्य की पूरी इकाई को समाविष्ट करना सहज नहीं होता। पूरी बात कहने के लिए, उतनी बात कहने के लिए जितना हम अक्सर एक वाक्य द्वारा प्रकट करते हैं, ऐसे छंदों का एक अनुच्छेद अक्सर काफी नहीं होता और अनुच्छेद-समाप्ति के उपरांत भी वाक्य चलता रखना पड़ता है, जो व्यावहारिक या सांगीतिक दृष्टि से रुचिकर नहीं। छोटे द्विपदी छंद तो पूर्ण मंतव्य के प्रकाशन के लिए और भी कम अवसर देते हैं। इसीलिए, ऐसे द्विपदी छंदों का व्यवहार प्राकृत-अपभ्रंशकाल में ही बहुत कम हो गया था, जैसा प्रा० पैं० और छं० को० में उनके अनुल्लेख से विदित है।

तालसंगीत की दृष्टि से भी अपेक्षाकृत लंबे छंद या माध्यमिक लंबाई के छंद अधिक रुचिकर होते हैं। छोटे छंदों में संगीत प्रवाह अनावश्यक रूप से शीघ्र ही समाप्ति पर पहुँच जाता है।

लक्षणग्रंथों के विगत अवलोकन से स्पष्ट है १६ से ३२ मात्राओं तक के पादवाले सम चतुष्पदी छंद तथा १९ से २९ मात्राओं तक के अर्द्धांगवाले अर्द्धसम चतुष्पदी छंद हमारे विवेच्य काल में सर्वाधिक लोकप्रिय रहे; क्योंकि ऐसे छंद ही लक्षणकारों द्वारा अधिक संख्या में और मताधिक्य से उल्लिखित हुए हैं। १६ मात्राओं के पादवाले समचतुष्पदी तो प्रत्येक युग के लक्षणकारों द्वारा प्रधान रूप से उल्लेख्य रहे हैं।

---

१. प्रा० पैं० २।८६ में यह वर्णवृत्त है।

२. क० द० २।१७ का उद्दोहक (दूसरा नाम चंद्रमणि, छं० प्र०; पृ० ४५)।

३. अन्य नाम जयकरी; छं० प्र०, पृ० ४८।

४. इसे प्रा० पैं० १।१३१ में अर्द्धसम चतुष्पदी (१६, १४, १६, १४) माना है।

हिंदी लक्षणग्रंथों में तो दो-चार छंदों को छोड़कर प्रायः अन्य सभी वर्णित मात्रिक छंद चतुष्पदी हैं। प्रगाथ छंदों में केवल षट्पदी हिंदी में प्रयुक्त दीखते हैं। हिंदी के लक्षणग्रंथ द्विपदी के ही समान पंचपदी, सप्तपदी, अष्टपदी आदि प्रगाथेतर छंदों का निर्देश नहीं करते। संभवतः, ये छंद हमारे विवेच्य काल में या उसके बाद शीघ्र ही प्रयोग से उठ गये थे अथवा उनकी लोकप्रियता समाप्तप्राय हो गई थी। संभवतः, इस काल में केवल चतुष्पदी छंद लोकप्रिय थे। चरितकाव्यों या कथाकाव्यों में घत्ता देने के लिए भी द्विपदी छंदों के स्थान पर अर्द्धसम चतुष्पदी छंदों का अथवा समचतुष्पदी छंदों के केवल दो पादों का उपयोग होने लगा था। हम वास्तविक काव्य-व्यवहार के अध्ययन द्वारा यह देखेंगे कि घत्ता देने के लिए अपभ्रंश के बाद की हिंदी में (अर्थात्, १४वीं शती के उपरांत) गाथा, दुवई, घत्ता, उल्लाला जैसे द्विपदी छंदों के स्थान में दोहा और सोरठा जैसे अर्द्धसम चतुष्पदी तथा दो कड़वकों के बीच-बीच में छंदांतर करने के लिए चवपैया त्रिभंगी, तोमर जैसे चतुष्पदी छंदों का उपयोग हुआ है। चतुष्पदी छंदों की उत्तरोत्तर लोकप्रियता का कारण यह कहा जा सकता है कि चतुष्पदी छंद कवि के पूरे मंतव्य के प्रकाशन के लिए द्विपदी से अधिक अवकाश देते थे और वे इतने बड़े भी न थे कि अक्सर मंतव्य-समाप्ति के उपरांत भी छंदःपूर्ति की आकांक्षा शेष रह जाया करे, जैसा सप्तपदी, अष्टपदी तथा अधिकांश प्रगाथ छंदों में होता होगा। पंचपदी आदि छंदों से चतुष्पदी अधिक लोकप्रिय इसलिए भी हुए कि तालसंगीत में अधिक चतुर्मात्रिक या अष्टमात्रिक तालगणों का उपयोग होता था। पूरा अनुच्छेद छंद-इकाई के साथ ताल-सांगीतिक इकाई भी बना रहे और तालगणों की सममंख्यक-योजना अनुच्छेद में संभव हो, इस दृष्टि से चार पादों के छंद ही अधिक सुविधाजनक सिद्ध हुए। चार से अधिक पादों के छंदों को विषम कोटि में स्थान देना भी इस बात का सूचक है कि चार पादों को ही हिंदीलक्षणकारों ने छंदोऽनुच्छेद की परिनिष्ठित इकाई के रूप में स्वीकार किया।

विषम छंद के नाम पर हिंदी के लक्षणग्रंथों में दो-एक छंद-मात्र उल्लिखित हैं, जो पादरचना-वैचित्र्य के कारण विषम माने गये हैं, केवल पादसंख्या चार से अधिक होने के कारण नहीं। षट्पदी प्रगाथों (छप्पय, कुंडलिया आदि) को विषम वर्ग में स्थान मिला है। इस तरह विषम वर्ग के छंद हिंदी में लोकप्रिय नहीं दिखाई देते।

(११) लक्षणग्रंथों में एक प्रवृत्ति हम यह भी देखते हैं कि छंदों के बड़े पाद को दो या अधिक भागों में विभक्त कर द्विपदी, चतुष्पदी आदि छंदों को उत्तरवर्ती प्राकृत-अपभ्रंश के आचार्यों ने क्रमशः चतुष्पदी, षट्पदी आदि माना है, यद्यपि हिंदी के आचार्य इस प्रक्रिया में चतुष्पदी से आगे बढ़ते नहीं दिखाई देते। उदाहरणतः, गाथा छंद को पिंगल, जयदेव, जयकीर्त्ति, केदारभट्ट आदि ने विषम द्विपदी माना है, प्राकृतपैंगलम् में विषम चतुष्पदी के रूप में उसका उल्लेख है। इसी प्रकार उल्लाला को कविदर्पण, छंदोऽनुशासन (हेमचंद्र) तथा प्राकृतपैंगलम् में सम द्विपदी छंद (२८ मात्राएँ) कहा है, किंतु हिंदी में भानु ने उसका उल्लेख अर्द्धसम चतुष्पदी के रूप में (१५, १३, १५, १३) किया है, और उसके एक भेद का कथन भी किया है, जो समचतुष्पदी (१३, १३, १३, १३) है। घत्ता भी प्राकृतपैंगलम् में द्विपदी, छंदःकोश में चतुष्पदी तथा कविदर्पण में षट्पदी माना गया है, जिससे प्रतीत होता है कि इस छंद के वास्तविक काव्य-प्रयोग में इस प्रकार का वैभिन्न्य मध्यकाल में वर्त्तमान रहा होगा।

(१२) प्राकृत-हिंदी छंदो-लक्षणग्रंथों में हम पादांतर्गत तुकवाले छंदों की लोकप्रियता

कुछ उत्तरोत्तर बढ़ती हुई ही देखते ह। प्राकृतपैंगलम् में वर्णित ऐसे छंद हैं—द्विपदी घत्ता, घत्तानंद और झुल्लण तथा चतुष्पदी मरहट्टा, चउपइया, पद्मावती, दंडकला, त्रिभंगी, दुर्मिला, जलहरण, लीलावती और मअणहर (मदनगृह), अर्थात् कुल ११ छंद। भानु के छंदःप्रभाकर में जलहरण के सिवा (जिसमें सभी वर्ण लघु होते हैं, और जो इसी कारण वर्णवृत कहा जा सकता है) उपर्युक्त सभी छंद उल्लिखित है तथा इनके अतिरिक्त ये छंद आये हैं—शुद्धध्वनि, उद्धल, शुभग।

इस कोटि के छंदों की लोकप्रियता का कारण है। लोकप्रचलित तालवृत्त जब परिनिष्ठित काव्य में मात्रा-वृत्त बनते हैं, तब उनकी सांगीतिकता में कुछ कमी अवश्य आ जाती है। किंतु जब ये छंद लिखित काव्य में भी निरंतर गेय पदों के लिए अथवा गीतात्मक उद्देश्य से प्रयुक्त होते रहते हैं, तब इस कमी की पूर्त्ति के लिए कोई अन्य साधन ढूंढ़ निकालना आवश्यक हो जाता है, जिसके सहारे कविता-मात्र का पाठ करते समय ढोल या मंजीरे के साथ गाये विना भी, ताल की आवृत्ति के समान ही सांगीतिक आनंद लिया जा सके। तालपूर्त्ति के प्रमुख स्थानों पर यमक या तुक द्वारा ताल-इकाइयों की समाप्ति की सांगीतिक सूचना, विना स्थूल रूप से ताल (-आघात) दिये, मिल जाते है। द्रष्टव्य है कि ऐसे छंदों में यति तथा यमक तालगणों के अनुसार रखे जाते हैं। अक्सर अष्टमात्रिक धुमाली ताल में गेय इन छंदों में प्रथम और द्विनीय तथा द्वितीय और तृतीय यति-स्थानों के बीच आठ मात्राओं का अंतर होता है। इस रूप में यति-स्थानों पर आनेवाले यमक या तुक इन छंदों में ताल-संगीत का स्थानापन्न नहीं, बल्कि सहायक या पूरक ही कहा जायगा। पादांतर्गत यति-स्थानीय तुक द्वारा तालसंगीत के अतिरिक्त, एक भिन्न कोटि के, किंतु उसका साधक संगीत-तत्त्व का समावेश होता है। इस अतिरिक्त सांगीतिकता के माधुर्य के कारण ही, जो अपेक्षाकृत लंबे पादों की एकरसता (Monotony) को बहुत कुछ दूर करने की दृष्टि से भी अर्थपूर्ण है, इस कोटि के छंद दीर्घकाल तक लोकप्रिय रहे हैं और अधिक लोकप्रिय होते गये हैं।

(१३) संस्कृत से हिंदी तक के प्रायः सभी छंदोग्रंथों के अवलोकन से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि हमारे विवेच्य काल में अनेक प्रकार के छंदःप्रयोग हुए—(१) पादगत लंबाई की दृष्टि से ७-८ मात्राओं के पादवाले छंदों से ४६ मात्राओं तक के पादवाले दंडकों तक का व्यवहार हुआ; (२) द्विपदी से षोडशपदी छंद तक सामने आये; (३) सम, अर्द्धसम, विषम, संकीर्ण, प्रगाथ आदि के कारण कई ढंग के पाद-वैभिन्न्य और अनुच्छेद-वैचित्र्य छंदःप्रयोग में दिखाई पड़े; (४) पादरचना में वार्णिक और मात्रिक गणविधान का प्रयोग हुआ भी और नही भी हुआ तथा (५) सांगीतिक दृष्टि से वर्णसंगीत, तालसंगीत तथा अनुप्रास-संगीत में से एक या अधिक का सहारा लिया गया।

किंतु, इन विविध प्रयोगों के बीच स्थायी अथवा दीर्घकालीन लोकप्रियता अधिकतर मध्यम लंबाईवाले (सबसे अधिक १६ मात्राओं के पादवाले) समचतुष्पदी छंदों के अतिरिक्त अर्द्धसम चतुष्पदी (मुख्यतः दोहा-सोरठा) को प्राप्त हुई। हिंदी में न तो छोटे छंद लोकप्रिय हुए, न दंडक; न द्विपदी हमारे विवेच्य काल में अधिक दिनों तक सुरक्षित रहे और न छः से अधिक पादवाले छंद स्वीकृत हुए।

(१४) छंदोग्रंथों के आधार पर नीचे हम ऐसे प्रमुख छंदों की सूची दे रहे हैं,

जिनके, विभिन्न ग्रंथों में, दीर्घकालीन बहुल उल्लेख द्वारा उनकी स्थायी लोकप्रियता अथवा हिंदी-काव्य योग के बीच उनकी महत्ता ध्वनित होती है—

छंद	उल्लेख-स्थान	उल्लेख-काल
द्विपदी		
(१) आर्या (गाथा)	पिं०४।१४-२१; श्रु० ४-६; जय० ४।६; जकी० ५।१-३; वृ० र० २।१-२; हे० छं० ४।१-२; वृ० जा० स०४।१-२; प्रा० पै० १।५४-६१; छं० को० ३३; गा० ल०। ६३-६५ ; छं० म० ५।१-२; छं० हृ० प्र०, पृ० ५९; रा० वृ० त० पृ० ३९ १३८; सु० पिं० ३; जा० छं० पिं० २।८।५; अ० छं०, पृ० ४६; छं० पिं०८; छं० प्र०, पृ० १००।	दूसरी शती से २०वीं शती तक।
(२) दुवई (मार, ललितपद)	स्वयं० ८।३७; गा० ल०८१; हे० छं०४।६४; क० द०२।२४; प्रा० पैं० १।१५२; छं० को०२५; छं० हृ० प्र०, पृ० ७०; सु० पिं० २०२; जा० छं० पिं०२।१।१८१; छं० पिं०५।२०९; छं० प्र०, पृ० ६९।	९वी शती से २१वीं शती तक।
(३) उल्लाला	हे० छं०।७।२-३।; क० द०।२।२।; छं० को०।१२, २९।; प्रा० पैं०।१। ११८, १०५।; छं० हृ० प्र०, पृ० ६५। ; छं० पिं०७।२२९-३४; रा० वृ० त०११२; सु० पिं०१६७; जा० छं० पिं०२।३।१९; छं० प्र०, पृ० ४५, ९१।	१२वी शती से २०वी शती तक।
(४) घत्ता	हे० छं०६।१; क० द०२।२९-३१; प्रा० पैं० १।९९; छं० को०४३; छं० हृ० प्र०, पृ० ६७। छं० पिं०७। १४।, १५; सु० पिं०१५९; जा० छं० पिं०२।३।३१; छं० प्र०, पृ० ९१।	१२वीं शती से २०वीं शती तक।
(५) चौपाई-वर्ग (मात्रासमक)	पिं०४।४२-५१; जय०४।२४-३०; वृ० र०२।३२-४१; हे० छं०।३६५-७०; वृ० जा० स०४।३२; स्वयं०	दूसरी शती से २०वीं शती तक।

छंद	उल्लेख-स्थान	उल्लेख-काल
	८।३९, क० द०२।१९-२२; प्रा० पैं०१।१२७-१३०; छं० हृ० प्र०पृ० ६८; रा० वृ० त०६७-७०; जा० छं० पि० २।१।१०७-११४; अ० छं० मु०पि०, पृ० ३७-३८, छं० प० भा० पृ० १३७-१३८, छं० पि० पृ० ३३-३६, छं० प्र०। पृ० ४९-५१।	
(६) पद्धडिया (पद्धरि)	हे० छं०३।७३। तथा ६३१, स्वयं० ६।३१, स्वयं० ६।१६०, क० द०२।२२, प्रा० पैं०१।१२५; छं० हृ०प्र०,पृ० ६७, रा० वृ० त० ७७, जा० छं० पि०२।१।१०७-११४ अ० छं० पृ० ५२, सु० पि०,पृ० ४६, छं० पि० पृ० ३७, छं० प० भा० पृ० १३६, छं० प्र०, पृ० ४९।	९वीं शती से २०वीं शती तक।
(७) काव्य (रोला)	हे० छं०५।२५, वृ० जा० स०३। ३६; क० द०२।२५; प्रा० पैं० १।१०९, ९१, ११५; छं० को०१३, ३१, छं० हृ० प्र० पृ० ६४, छं० प० भा० ७।१८७; रा० वृ० त० २।११० पृ० ३६; छं० प्र० पृ६३; जा० छं० २।१५७-१६०।	९वीं शती से २०वीं शती तक
(८) चउपइया-त्रिभंगी-वर्ग	प्रा० पैं०१।२०८, १४४, १७९, १९७, १९६, २०२, १८९, २०५। छं० को०। ५०, रा० वृ० त०२।१२९, १३५, १५०, १५३, छं० पि०५।२११-२१२, जा० छं०२।१।१८३, १९६-२०२, छं० प्र०, पृ० ७१; छं० प० भा० पृ० १४१ सु० पि०२३८-२४२; छं० हृ० प्र०, पृ० ६६।	१४वीं शती से २०वीं शती तक।
(९) दोहा-सोरठा-वर्ग	वृ० जा० स०४।२७; स्वयं०४।७-८। तथा ६।११३-११६, गा० ल०। ८४-८७, हे० छं०६।२०; क०द० २।१५-१६; प्रा० पैं०१।७८-८५। तथा१।१७०; छं० हृ०प्र०, पृ०	८वीं शती से २०वीं शती तक।

६२; रा० वृ० त०८९, १०५, १०८, १३१, १३३; जा० छ०२३।५-१४; अ० छं० पृ० ४६-४९; सु० पिं० १२०, २१४, २५०; छ० पिं०७।६; छं० प्र०,पृ० ९०; छं० प० भा० ७।१७३।

(१०) प्रगाथ (छप्पय-कुंडलिया)-वर्ग

स्वय०५।२-१०; वृ० जा० स०४। १६, २१, ३९-४५, ६४-६५, ७४-८०; हे० छ०४।८४-९१, ५।१७-२३, ६।१५-१७; क० द०२।२७-३७; प्रा० पैं०१। १।१०५।, १३३-१४३; छ० को०१२, २९; ३१, ३२, ३४, ३९।; छ० हृ०प्र०, पृ० ६५ तथा ६८; सु० पि०१६४, १९७; रा० वृ० त०, पृ० ३६; ज० छ०२।३।५१, २।४।१८-३२; अ० छ०,पृ० ४९-५०; छ० पि०७।३६,८।२१-२५; छ० प्र०,पृ० ९८।

८वीं शती से २०वीं शती तक।

अध्याय ५

[काव्य में प्रयोग के आधार पर कुछ प्रमुख मात्रिक छंदों के ऐतिहासिक विकास का अध्ययन]

(द्विपदी)

प्रकरण १
आर्या या गाथा छंद

आर्या के प्रारंभिक प्रयोग

मात्रिक छदो में आर्या सर्वाधिक प्राचीन है, यह पिगल के छंद.शास्त्र मे इसके सभेद विशद उल्लेख द्वारा ध्वनित है।[१] वास्तविक काव्य-प्रयोग के अवलोकन से भी इस मंतव्य की पुष्टि होती है। उपलब्ध प्राकृतकाव्य मे तो प्रारंभ से ही बहुत व्यापक रूप से इस छंद का प्रयोग हम देखते हैं; संस्कृतकाव्य मे भी अन्य मात्रिक छदो की अपेक्षा आर्या लोकप्रिय दिखाई देती है।

आर्या का प्रथम उपलब्ध परिनिष्ठित प्रयोग उतना ही पुराना है, जितना कालिदास का काव्य। कालिदास के काल के सबंध मे अद्यावधि अनिश्चय उनकी सापेक्ष्य प्राचीनता का द्योतक भी माना जा सकता है। जो भी हो, कालिदास वाल्मीकि के बाद लौकिक संस्कृत की प्रथम महान् विभूति हैं, यह साहित्येतिहासकारों ने स्वीकार किया है।[२]

कालिदास के काव्य मे अधिकतर वर्णवृत्त प्रयुक्त हैं। ऋतुसंहार में इंद्रवज्रा, वंशस्थ वसंततिलका, मालिनी और शार्दूलविक्रीडित (केवल एक पद्य); मेघदूत में सर्वत्र मंदाक्रांता; कुमारसंभव में इंद्रवज्रा, अनुष्टुप्, वैतालीय, वंशस्थ, रथोद्धता, पुष्पिताग्रा, मालिनी तथा वसंततिलका; रघुवंशम् में इद्रवज्रा, अनुष्टुप्, वैतालीय, रथोद्धता, द्रुतविलबित, औपच्छंदसिक, पुष्पिताग्रा, मंजुभाषिणी, मत्तमयूर, वसंततिलका, शालिनी, स्वागता, तोटक, मदाक्रांता, महामालिका, वंशस्थ तथा हरिणी छंदों का प्रयोग हुआ है।[३] इनमे मात्रिक छंद केवल वैतालीय और उसके भेद औपच्छंदसिक हैं।

कालिदास (समय: प्रथम शती ई० पू० चतुर्थ शती ई०)[४] ने विक्रमोर्वशीय त्रोटक के पद्यों मे आर्या या गाथा छंद का प्रयोग किया है।[५] उदाहरण—

(क) गहणं गइंदणाहो   पिअविरहुम्माअपअलिअ विआरो।
      ।।S ।S।SS   ।।।।SS।।।।। ।SS
      विसइ तरुकुसुमकिसलअ   भूसिअणिअदेहपब्भारो॥[६]
      ।।। ।।।।।।।।।।   S।।।।S।SS S

---

१. पिं० ४। १४-३१।
२. **Keith : A History of Sanskrit Literature, p. 74-108.**
३. **Keith : A History of Sanskrit Literature, p. 107.**
४. (क) जोशी और भारद्वाज: संस्कृत-साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ० ४०५। (प्रथम शती ई० पू०)
(ख) **Keith : A History of Sanskrit Literature, p. 82 (400 A D.)**
५. कालिदास: विक्रमोर्वंशीय, ४।१; ४।५ (निर्णयसागर प्रेस, १९६६ वि०)।
६. वही, ४।५।

प्राकृत-पद्यों में ही नहीं, कालिदास ने इस छंद का प्रयोग संस्कृत-पद्यों में भी मुक्त रूप से किया है, जिससे ध्वनित है कि प्राकृत का यह लाड़ला छंद निश्चय रूप से संस्कृत-प्रभाव की देन है। कालिदास की संस्कृत में आर्या छंद का सौष्ठव देखिए—

(ख) आभरणस्याभरणं प्रसाधनविधेः प्रसाधनविशेषः।
ऽ । । ऽ ऽ । । ऽ   । ऽ । । । ऽ   । ऽ । । । ऽ ऽ
उपमानस्यापि सखे प्रत्युपमानं वपुस्तस्याः ॥[1]
। । ऽ ऽ ऽ । । ऽ   ऽ । । ऽ ऽ   । ऽ ऽ ऽ

उपर्युक्त दोनों पद्यों में पिंगलोक्त आर्यालक्षण (पूर्वार्द्ध ७ चतुष्कल+ग; षष्ठ गण पूर्वार्द्ध में जगण या सर्वलघु, उत्तरार्द्ध में लघु मात्र)[2] चरितार्थ है। दूसरे उदाहरण की प्रत्येक पंक्ति में १२वीं मात्रा पर यति घटित होती है, जैसा परवर्त्ती लक्षणकारों ने विधान किया है।[3] प्रथम उदाहरण के दूसरे पाद में यति के अभाव के कारण इस पद्य को विपुला[4] का उदाहरण कह सकते हैं।

छंदोग्रंथों में आर्या-लक्षण-निरूपण करते समय पिंगलादि आचार्यों ने कालिदास तथा अन्य समसामयिक रचयिताओं के लक्ष्यरूप आर्या-प्रयोगों को अवश्य ध्यान में रखा होगा।

प्राकृतकाव्यों में तो कई ऐसे है, जो आद्योपांत आर्या छंद में निबद्ध हैं। द्रष्टव्य है कि प्राकृतकाव्य में प्रयुक्त होने पर इस छंद को गाथा कहा गया है।

गाथा छंद का प्रयोग विमल सूरि के 'पउमचरियं'[5] (समय: द्वितीय शती ई०)[6] में सर्वत्र व्यापक रूप से हुआ है। इस ग्रंथ को गाहा में निबद्ध कहा गया है—

एत्ताहे विमलेण पायडफुडं गाहानिबद्धं कयं।
सुत्तत्थं निसुणन्तु संपइ महापुण्णं पवित्तक्खरं॥[7]

इस ग्रंथ में गाथा छंद का उपयोग पद्म (=राम) के चरित्र-वर्णन के लिए किया गया है। इस ग्रंथ की रामकथा वाल्मीकि द्वारा वर्णित रामकथा से भिन्न है। छंद का एक उदाहरण निम्नोद्धृत हैं

(ग) देहं रोगाइण्णं जीयं तडिविलसियं पिव अणिच्चं।
ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ । । । । । ऽ । । । ऽ ऽ

---

१. वही, २। ३।

२. पिं० ४। १४-१७।

३. वृ०र० २। १-२; हे० छं० ४। १-२; प्रा० पैं० १। ५४।

४. आर्या का एक भेद; पिं० ४। २३।

५. श्री वी० ए० चौगूले, एम्० ए० तथा श्री एन्० वी वैद्य, एम्० ए० द्वारा संपादित। संपादकों द्वारा थालकवडी, बेलगाँव से प्रकाशित (प्रथम चार उद्देस)।

६. चौगूले तथा वैद्य: पउमचरियं (भूमिका); पृ० ७।

७. विमल सूरि: पउमचरियं। सुत्त।वेह[illegible], उद्देस ९०।

नवरं कव्वगुणरसो जाव य समिसूर गहचक्कं ॥[1]
।।ऽ ऽ।।।।ऽ ऽ। । ।।ऽ। ।।ऽऽ

यहाँ गाथा का प्रयोग द्विपदी रूप में हुआ है, जिसके प्रथम पाद में ७ चतुष्कल+१ गुरु (षष्ठ चतुष्कल जगण) तथा द्विपतीय पाद में ५ चतुष्कल+१लघु+१ चतुष्कल+१ गुरु प्रयुक्त हैं। प्रति पाद की १२वी मात्रा पर यति है। दूसरे शब्दों में पूर्वार्द्ध में १२+१८ मात्राएँ तथा उत्तरार्द्ध में १२+१५ मात्राएँ आई हैं। यह पिंगल आदि आचार्यों द्वारा कथित गाथा या आर्या के लक्षण के सर्वथा अनुकूल है।[2]

गाथा छंद की प्राचीनता और लोकप्रियता का ज्वलंत प्रतीक है हाल की गाथासप्तशती[3] (रचनाकाल २००—४५० ई० के बीच),[4] जिसमें अधिकांशतः हाल की तथा शेष अन्य पूर्ववर्त्ती अथवा समसामयिक कवियों की ७०० शृंगारिक रचनाएँ—जो सब-के-सब आर्या छंद में निबद्ध हैं—संकलित हैं। माधुर्य में पगे ये पद्य महाराष्ट्री प्राकृत में हैं और प्राकृत भाषा के लिए गाथा या आर्या छंद की उपयुक्तता, महत्ता और उसकी लोकप्रियता सिद्ध करते हैं। गाथासप्तशती की लोकप्रियता इस बात से ध्वनित है कि इसकी कम-से कम १८ भाष्य या टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं,[5] तथा परवर्त्ती काल में गोवर्द्धन ने (१२०० ई० के लगभग) इसके अनुकरण पर संस्कृत भाषा में आर्या सप्तशती[6] की रचना की और इससे प्रेरणा पाकर बिहारीलाल ने (१६६२ ई० के लगभग) हिंदी में अपनी सतसई प्रस्तुत की।[7]

गाथासप्तशती के प्रथम पद्य का विश्लेषण नीचे किया जा रहा है

(घ) पसुवइणो रोसारुण पडिमासंकन्तगोरिमुहअन्दम्।
।।।।ऽ ऽऽ।। ।।ऽऽऽ।ऽ।ऽ।ऽऽ
गहिअग्धपंकअंविअ मंझामलिलंजलिं णमह्इ ॥[8]
।।ऽ।ऽ।ऽ।। ऽऽ।।ऽ।ऽ ।।ऽ

उक्त पद्य में मात्रागणविधान इस प्रकार है—पूर्वार्द्ध ४+४+४/+४+४+।ऽ।+४+ऽ, उत्तरार्द्ध ४+४+४/+४+४+ल+४+ऽ अर्थात् १२+१८, १२+१५ मात्राएँ।

---

१. वही, १। १७।

२. पिं० ४। १४-२१; जय० ४। ६; जकी० ५। १-३; हे० छं० ४। १-२; वृ० र० २। १-२; वृ० जा० स० ४। १-२; प्रा० पैं० १। ५४-६१।

३. सातवाहन 'हाल'-कृत गाथासप्तशती। निर्णयसागर प्रेस, बंबई से, काव्यमाला (२१) के अंतर्गत १९३३ ई० में प्रकाशित। तृतीय संस्करण।

४. Keith : A History of Sanskrit Literature; p. 223-225.

५. श्रीगोपीनाथ कविराज : गाथसप्तशती (उक्त संस्करण) की भूमिका।

६. गोवर्द्धनाचार्य : आर्यासप्तशती। (काव्यमाला १। निर्णयसागर प्रेस, १८९५ ई०)

७. जोशी और भारद्वाज : संस्कृत-साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ० २१९-२२१।

८. हाल : गाथासप्तशती, १। १।

स्वयं हाल की लेखनी से अन्य उदाहरण देखिए—

(ङ) कुसुममया वि अइखरा अलद्धफंसा विदूसहपआवा।
भिन्दन्ता वि रइअरा कामस्स सरा बहुविअप्पा॥[1]

इस पद्य में भी मात्रागणविधान पूर्वार्द्ध में ४+४+४/+४+४+। ऽ ।+४+ऽ तथा उत्तरार्द्ध में ४+४+४/+४+४+।+ऽ है, जैसा अधोरेखांकन द्वारा संकेतित है।

संस्कृत में निबद्ध गोर्द्धनाचार्यकृत आर्यासप्तशती से एक उदाहरण देखिए—

(च) गौरीपतिर्गरीयो गरलं गत्वा गले जीर्णम्।
ऽऽ।ऽ।ऽऽ ।।ऽ ऽऽ ।ऽ ऽऽ
जीर्णति कर्णे महतां दुर्वादो नाल्पमति विशति॥[2]
ऽ।। ऽऽ ।।ऽ ऽऽऽ ऽ।।। ।।ऽ

(दूसरे पाद का अंतिम ह्रस्व वर्ण गुरु-रूप में पाठ्य है।) उक्त पद्य में प्रतिपाद ४+४+४/+४+४+ल+४+ग होने से आर्या का भेद उपगीति[3] का लक्षण चरितार्थ है।

आर्या छंद की उत्पत्ति

आर्या छंद की उत्पत्ति संस्कृत वर्णवृत्त के प्रभावस्वरूप हुई होगी, यह अनुमान हम पहले व्यक्त कर चुके हैं। प्रस्तुत प्रसंग में इसी आधार पर इस छंद की व्युत्पत्ति के संबंध में निश्चित परिणाम की खोज अभीष्ट है।

आर्या या गाथा छंद को विषम द्विपदी[4] या विषम चतुष्पदी[5] माना गया है। जो भी हो, इसके चार पादखंड या पाद होते हैं, जिनकी मात्रा-संख्याएँ क्रमशः १२, १८, १२, १५ होती है। अनुष्टुप् से इस छंद की व्युत्पत्ति की संभावना, छंदोलक्षण-ग्रंथों के आधार पर छंदोविश्लेषण के प्रसंग में हम व्यक्त कर आये हैं। किंतु, समचतुष्पदी वर्णवृत्त अनुष्टुप् विषम द्विपदी या चतुष्पदी मात्रिक छंद आर्या के रूप में कैसे बदल गया, यह लक्षणग्रंथों के अवलोकन-मात्र से स्पष्ट नहीं हो पाता; विशेषरूप से आर्या का चतुर्थ पादखंड द्वितीय पादखंड की अपेक्षा छोटा क्यों है, यह बात समझ में नहीं आती।

इस रहस्य का उद्घाटन वास्तविक काव्य-प्रयोग की पीठिका में आर्या छंद और अनुष्टुप् छंद के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा सहज ही हो जाता है।

अनुष्टुप् छंद के चार पादों में से प्रत्येक में आठ वर्ण निश्चित है, किंतु पादगत मात्रा-संख्या निश्चित नहीं। हमने अनुष्टुप् छंद की मात्रिक प्रकृति के अध्ययन के लिए अनायास

---

१. वही, ४।२६।
२. गोवर्द्धनाचार्य : आर्यासप्तशती, १९६।
३. पिं० ४।३०।
४. पिं० ४।१४-२१; वृ० र० २।१-२।
५. प्रा० पैं० १।५४।

श्रीमद्भगवद्गीता के प्रथम अध्याय के प्रथम ५ श्लोक चुन लिये और उनके पाद-विश्लेषण से हम निम्नलिखित परिणाम पर पहुँचे हैं। हमने पाद-विश्लेषण किस पद्धति पर किया है, इसे उदाहृत करने के लिए हम ये श्लोक नीचे उद्धृत करते हैं—

(१) धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे (१५ मात्राएं, ८ वर्ण)
SSSS ISSS
समवेता युयुत्सवः। (१२ मात्राएँ, ८ वर्ण)
IISS ISIS
मामकाः पाण्डवाश्चैव (१३ मात्राएँ, ८ वर्ण)
SIS SISSI
किमकुर्वत संजय॥१॥ (१० मात्राएँ, ८ वर्ण)
IISII SII

(२) दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं (१६ मात्राएँ, ८ वर्ण)
S S I SISSS
व्यूढं दुर्योधनस्तदा। (१४ मात्राएँ, ८ वर्ण)
SSSSISIS
आचार्यमुपसंगम्य (१२ मात्राएँ, ८ वर्ण)
SSIIISSI
राजा वचनमब्रबीत्॥२॥ (१२ मात्राएँ, ८ वर्ण)
SS IIISIS

(३) पश्यैतां पांडुपुत्राणां (१५ मात्राएँ, ८ वर्ण)
SSS SISSS
आचार्य महतीं चमूम्। (१२ मात्राएँ, ८ वर्ण)
SSI IIS IS
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण (१२ मात्राएँ, ८ वर्ण)
SS IIISSI
तव शिष्येण धीमता॥३॥ (१२ मात्राएँ, ८ वर्ण)
II SSI SIS

(४) अत्र शूरा महेष्वासा (१४ मात्राएँ, ८ वर्ण)
SI SS ISSS
भीमार्जुनसमा युधि। (११ मात्राएँ, ८ वर्ण)
SSIIIS II
युयुधानो विराटश्च (१२ मात्राएँ, ८ वर्ण)
IISS ISSI
द्रुपदश्च महारथः॥४॥ (११ मात्राएँ, ८ वर्ण)
IISI ISIS

(५) धृष्टकेतुश्चेकितानः (१४ मात्राएँ, ८ वर्ण)
SISSSISS

काशिराजश्च वीर्यवान्। (१३ मात्राएँ, ८ वर्ण)
S I S S I S I S
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च (१२ मात्राएँ, ८ वर्ण)
I I S S I S S I
शैव्यश्च नरपुंगवः ॥५॥[1] (१२ मात्राएँ, ८ वर्ण)
S S I I I S I S

ऊपर उद्धृत पाँच श्लोकों में से प्रत्येक का चतुर्थ पाद प्रथम पाद से अनिवार्यतः (पादगत मात्रा-संख्या की दृष्टि से) छोटा है और द्वितीय अथवा तृतीय पाद से विकल्प से छोटा है या उसके बराबर है।

आर्या छंद के चतुर्थ पादखंड का मात्रा-संख्या की दृष्टि से अपेक्षाकृत छोटा होना, अतएव, इस बात परिचायक नहीं कि उसका अनुष्टुप् से कोई संबंध नहीं है। वस्तुतः अनुष्टुप् के पाद वर्ण-संख्या की दृष्टि से ही समान हैं, मात्रा-संख्या की दृष्टि से एक श्लोक के चारों पाद संयोग से ही कभी समान हो सकते हैं। अधिकतर वे असमान होते हैं, जैसा ऊपर के प्रत्येक उदाहरण में द्रष्टव्य है। अतएव, असमान मात्रावाले आर्या छंद की अनुष्टुप् से उत्पत्ति की संभावना सर्वथा असंगत नहीं।

ऊपर के पाँच श्लोकों के २० पादों में ९ पाद १२ मात्राओं के हैं, ४ पाद १४ मात्राओं के हैं, २-२ पाद १५, १३ और ११ मात्राओं के हैं, तथा १ पाद १० मात्राओं का है। १२ मात्राओं के पाद का सर्वाधिक-संख्यक होना इस बात का सूचक है कि ८ वर्णों के पाद में १२ मात्राओं का समावेश अपेक्षाकृत सुविधाजनक है और इसीलिए वार्णिक अनुष्टुप् का पाद जब मात्रिक रूप धारण करता है, तब स्वभावतः उसमें १२ मात्राओं के परिमाण को परिनिष्ठित रूप में या प्रतिमान (Standard) के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है। आर्या के विषम (प्रथम-तृतीय) पादखंड (या पाद) १२ मात्राओं के इसी प्रतिमान के सूचक हैं।

ऊपर आर्या के जो छः उदाहरण दिये गये हैं उनमें से प्रथम (उ० क०) के दूसरे पाद को छोड़कर शेष सभी पादों में १२ मात्राओं पर यति है। यदि इन ६ आर्या-निबद्ध पद्यों के ग्यारह-बारह मात्राओंवाले पादखंड की वर्ण-संख्या देखी जाय, तो हम पाते हैं कि इनमें से ५ में आठ-आठ वर्ण हैं, ३ में ९-९ वर्ण हैं। इस प्रकार, बारह मात्राओं के पादखंड में आठ वर्ण की योजना सर्वाधिक है। इसमें विदित होता है कि जैसे ८ वर्णों के पाद के लिए १२ मात्राएँ सर्वाधिक सुविधाजनक हैं, उसी प्रकार १२ मात्राओं के पादखंड के लिए ८ वर्ण सुविधाजनक हैं। इसी सुविधा को ध्यान में रखकर आर्या के प्रथम-तृतीय पादखंडों (या पादों) के लिए १२ मात्राओं का परिमाण परिनिष्ठित रूप से स्वीकार किया गया। अर्थात्, अनुष्टुप् के आठ वर्णों का पाद, जिसमें अधिकांशतः १२ मात्राएँ होती थीं, मात्रिक आर्या के प्रथम-तृतीय पादखंड के रूप में रूपांतरित होने पर १२ मात्राओं का पादखंड बना। अनुष्टुप् में ८ वर्णों पर जोर था, आर्या में १२ मात्राओं पर जोर दिया गया। १२ मात्राओं के पादखंड को इसलिए भी प्रतिमान माना गया कि १२ की संख्या ४ द्वारा पूर्णतया विभाज्य है और इसलिए १२ मात्राओं के पाद में

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता, १।१-५।

तीन चतुर्मात्रिक गण पूरे-पूरे आ जाते हैं। (स्मरणीय है कि प्रारंभ में मात्रिक गणों में केवल चतुष्कल स्वीकृत हुए थे, जैसा पिंगल के उल्लेख से विदित होता है।[1] शेष मात्रिक गणों की कल्पना कई शताब्दी बाद हुई प्रतीत होती है; क्योंकि उनका प्रथमोल्लेख हेमचंद्र के छंदोऽनुशासन में ही मिलता है।[2])

यह तो हुआ आर्या के प्रथम-तृतीय, १२ मात्रावाले पादखंड की समस्या का समाधान। द्वितीय-चतुर्थ पाद की लंबाई इससे अधिक कैसे और क्यों है, अब यह विचारणीय है। बात यह है कि अनुष्टुप् संस्कृत-भाषा में काव्य के लिए ही नहीं, वरन् व्याकरण, ज्यौतिष, दर्शन, धर्मशास्त्र आदि सभी प्रकार की पद्यबद्ध रचनाओं के लिए सर्वस्वीकृत तथा बहुलोपयोगी (omni-purpose) छंद है। प्राकृत पद्य-रचयिताओं ने जब उसी प्रकार का एक सर्वसामान्य मात्रिक छंद, अनुष्टुप् के सहारे, गढ़ने की चेष्टा की होगी, तब उन्हें इसका अनुभव हुआ होगा कि १२×४=४८ मात्राओं का सम छंद विचार की पूर्ण अभिव्यक्ति की दृष्टि से कुछ छोटा पड़ता है। संस्कृत-जैसी अपेक्षाकृत संश्लिष्ट भाषा में ८ वर्णों के पादवाले अनुष्टुप् से काम चल जाता होगा. किंतु प्राकृत में अधिक बड़े छंद की आवश्यकता प्रतीत हुई होगी। संभवतः, एक पद्य के अंदर अपनी पूरी बात खत्म करने के उद्देश्य से ही स्वभावतया पद्य के प्रत्यर्द्ध का उत्तर पादांश परिवर्द्धित कर दिया जाने लगा। अनुष्टुप् के ८ वर्ण का पाद, जैसे जगती के १२ वर्ण का पाद बन गया था, उसी प्रकार आर्या का द्वितीय पादखंड १२ मात्राओं के बजाय १८ मात्राओं का बना। १२ और १८ में वही अनुपात है, जो ८ और १२ में है। जैसे, आर्या का १२ मात्राओं का पादखंड सार्द्ध (१८ मात्राओं के) रूप में द्वितीय पादखंड हुआ, उसी प्रकार सपाद (१५ मात्राओं के) रूप में चतुर्थ पादखंड हुआ। सार्द्ध और सपाद का हिसाब भी सीधा था। चतुर्थ चरण को परिवर्द्धित करते हुए भी अनुष्टुप् की उपर्युक्त मात्रासंख्यक परंपरा के अनुसार द्वितीय चरण से छोटा रखा गया।

इस प्रकार अनुष्टुप् छंद के चार पाद (८ वर्ण=अधिकतर १२ मात्राएँ) मात्रिक छंद आर्या के अंतर्गत क्रमशः १२, १८, १२, १५ मात्रावाले पाद (या पादखंड) बन गये) पिंगलादि संस्कृत लक्षणकारों ने आर्या को संभवतः द्विपदी इसलिए माना है कि उसके पूर्वरूप अनुष्टुप् के दो-दो पादों को एक-एक पंक्ति में लिखने की संस्कृत-सिद्ध परिपाटी वस्तुतः अनुष्टुप् छंद को भी द्विपदी का आकार प्रदान करती थी।

नामभेद और उसका कारण

संस्कृत-काव्य में प्रयुक्त होने पर प्रस्तुत छंद आर्या कहा जाता था, जैसा गोवर्द्धनाचार्य के आर्या-सप्तशती आदि ग्रंथों में इस छंद के नामकरण से विदित है। संस्कृत-परंपरा के लक्षणग्रंथों में भी इस छंद का आर्या नाम ही आया है।[3] प्राकृत में प्रयुक्त इसी छंद को गाथा (गाहा) कहते थे, जैसा गाथासप्तशती, पउमचरिउ (विमलसूरि) आदि ग्रंथों में इस छंद के नामकरण से विदित है। बाद में प्राकृत के लक्षणग्रंथों में भी इस छंद का गाथा

---

१. पिं० ४।१२।१३।

२. हे० छं० १।२।

३. पिं० ४।१४–१७ ; जय० ४।६ ; जकी० ५।१ ; वृ० २०२।१।

नाम ही आया है।[1] हिंदी छंदोग्रंथों में प्रायः प्राकृत-परंपरा को ही अपना कर इस छंद को गाथा कहा गया है;[2] किंतु कहीं-कहीं दोनों नाम एक-साथ भी आये हैं।[3] भानु ने संस्कृत-परंपरा के अनुसार इसे आर्या कहा है।[4] संस्कृत-लक्षणकारों में हेमचंद्र ने आर्या और गाथा दोनों नामों का एक साथ, पर्यायवाची के रूप में प्रयोग कर यह सूचित किया है कि आर्या और गाथा लक्षण की दृष्टि से एक ही छंद के दो नाम हैं।[5] वस्तुतः, हेमचंद्र ने संस्कृत में लिखते हुए भी प्राकृत-अपभ्रंश के छंदों का विशद विवेचन किया है और इस दृष्टि से दोनों छंदः-शास्त्र-परंपराओं की मिलन-रेखा पर अधिष्ठित हैं। इसलिए, दोनों नामों का प्रयोग स्वाभाविक ही है। हिंदी-लक्षणकारों मे किसी ने संस्कृत आचार्यों का, किसी ने प्राकृत आचार्यो का और किसी ने हेमचद्र का अनुकरण किया। हिंदी में आर्या छंद की लोकप्रियता के अभाव के कारण केवल प्रथापालन के लिए हिंदी-लक्षणग्रंथों में यह छंद आता रहा है और इसीलिए नामलक्षणादि में प्राचीन आचार्यों में से किसी-न-किसी का अनुकरण स्वाभाविक ही कहना चाहिए।

आर्या का नाम प्राकृत मे गाथा क्यों पड़ा, यह विचारणीय है। 'गाथा' शब्द के कई अर्थ हैं—(१) अवैदिक स्तोत्र,[6] (२) प्राकृत का एक भेद,[6] (३) छंदोबद्ध कथा,[6] (४) यशगान, स्तुति,[6] (५) वह श्लोक, जिसमें स्वर का नियम न हो[6] (६) प्राचीनकाल की एक ऐतिहासिक रचना, जिसमें लोगों के दान, यज्ञादि का वर्णन होता था,[6] (७) गीत।[7] आर्या छंद जब वेदेतर स्तोत्रों, छंदोबद्ध कथाओं, चरितकाव्यों आदि के लिए प्राकृत भाषा में व्यापक रूप से प्रयुक्त होने लगा, तब उसका नाम सहज ही गाथा पड़ा। वेदेतर विषय के अतिरिक्त, इस छंद में स्वर का नियम न होना और फिर भी इसका गेय होना भी इसके गाथा-नामकरण का कारण है। आर्या-वर्ग में गीति, उपगीति, आर्यागीति आदि छंद-नाम पिंगलोक्त हैं; इसमें ध्वनित है कि वर्णवृत्तों के विपरीत इस वर्ग के छंदों में गेय तत्त्व के समावेश की चेष्टा आरंभ से ही, प्राकृत-प्रभाव-स्वरूप, की जाती रही होगी।

आर्या का परवर्त्ती प्रयोग-वैविध्य

आर्या (गाथा) छंद और उसके विविध भेदों का प्रयोग प्राकृत काव्य मे, जैसा कहा जा चुका है, अनेक प्रकार के विषयों के लिए हुआ। पउमचरियं, गाथासप्तशती, आर्या-सप्तशती के अतिरिक्त भी ग्रंथ हैं; जो सर्वथा आर्या या गाथा में निबद्ध हैं। इनके अतिरिक्त ऐसे ग्रंथ भी हैं, जिनमें इस छंद का अन्य छंदों के साथ प्रधान रूप से प्रयोग हुआ है। चरितकाव्यों में प्रायः कड़वकांत घत्ता के लिए तथा मुक्तक काव्य में स्फुट रूप से इसका प्रयोग हुआ है। इन विविध प्रयोगों का अब हम यथासंभव कालक्रम से अवलोकन करने का प्रयास करेंगे।

---

१. वृ० जा० स० ४।२-८; प्रा० पैं० १।५५४।
२. छं० हृ० प्र०, पृ० ३१ ख; वृ० पिं०, पृ० ३५ ख।
३. रा० वृ० त०, पृ० ३९। पद्य १३८; जा० छं० पिं० २।३।१५; अं० छं०, पृ० ४६।
४. छं० प्र०, पृ० १००।
५. हे० छं० ४।१।
६. बृहत् हिंदीकोश, पृ० ३६३ (ज्ञानमंडल, काशी)।
७. संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर, पृ० ३१२ (ना० प्र० सभा, काशी)।

वाक्पति-कृत गउडवहो[1] (रचनाकाल . ७००-७२५ ई० के बीच)[2] प्राकृत में रचित ऐतिहासिक काव्य है, जिसका वर्ण्य विषय कन्नौज के राजा यशोवर्मन् द्वारा गौड या उत्तरी बंगाल के राजा का वध है। इस ग्रंथ में १२०९ पद्य अथवा २४१८ पंक्तियाँ हैं। समस्त ग्रंथ द्विपदी मात्रिक छंद गाथा में निबद्ध है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

दीसइ जलन्त सेलं तावोसारिअ वलन्त-सुर-लोयं।
S I I I S I S S S S S I I I S I I I S S
धूमुप्पित्थ-पियामह कमलालि-करम्बिय गयणं॥[3]
S S S I S I I I I I S I I S I S I I S

(पूर्वार्द्ध—७ चतुष्कल+गुरु, षष्ठ गण जगण; उत्तरार्द्ध—५ चतुष्कल+लघु+१+चतुष्कल+गुरु)

इस उदाहरण में आर्या छंद के लक्षण चरितार्थ हैं।

वाक्पति के गउडवहो से प्रभावित[4] कुछ गाथाएँ संभवत: कोऊहल-विरचित लीलावई नामक प्राकृत काव्य में उपलब्ध हैं। उदाहरणत:—

जमइ सरोस-सुयरिसण सच्चवियं करुरुहावली-जुयलं।
हिरणक्कस-वियडोरत्थलट्ठि-दल-गब्भिणं हरिणो॥[5]

उक्त उदाहरण में १२+१८, १२+१५ के हिसाब से मात्राएँ हैं तथा गणविधान भी शास्त्रादेशानुकूल पूर्वार्द्ध में ७ चतुष्कल+गुरु तथा उत्तरार्द्ध में ५ चतुष्कल+लघु चतुष्कल+गुरु है।

इस ग्रंथ में, जिसका समय ८०० वि० के लगभग अनुमित है,[6] केवल गाथावर्ग के छंद प्रयुक्त हैं। कुल पद्य-संख्या १३३३ है।

सरहपा (समय : ८वीं शती, उत्तरार्द्ध)[7] के 'दोहाकोशगीति' नामक ग्रंथ में आर्या या गाथा छंद का प्रयोग केवल छ: पद्यों में किया गया है। इन पद्यों की भाषा सभी जगह प्राकृत है, जिससे यह विदित होता है कि सरह के युग तक यह छंद प्राकृत में ही प्रयुक्त होता था अथवा प्राकृत का छंद माना जाता था, अपभ्रंश या तद्युगीन देशी भाषा में

---

१. श्रीशंकर पांडुरंग पंडित, एम्० ए० द्वारा संपादित तथा बंबई-सरकार के शिक्षा विभाग द्वारा १८८७ वि० में प्रकाशित।
२. शं० पां० पंडित: गउडवहो (भूमिका), पृ० १००।
३. वाक्पति: गउडवहो, पृ० ४०, पद्य १२४।
४. डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये (सं०): 'लीलावई' की भूमिका, पृ० ७४।
५. कोऊहल: लीलावई, १ (सिंघी जैन ग्रंथमाला, भारतीय विद्याभवन, बंबई, ग्रंथांक ३१)।
६. डॉ० आ० ने० उपाध्ये: लीलावई (भूमिका), पृ० ७५।
७. म० पं० राहुल सांकृत्यायन: दोहाकोश, भूमिका, पृ० १२-१३। (बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना)

उसका प्रयोग नही होता था। इससे यह भी ध्वनित है कि दोहा-चौपाई की तरह आर्या लोक-छंदों से विकसित नही, वरन् संस्कृत-वर्णवृत्त-परंपरा से व्युत्पन्न छंद है।[1]

दोहाकोशगीति के राहुल द्वारा संपादित और 'दोहाकोश' नामक ग्रंथ मे संकलित संस्करण मे १६५ पद्य ह, जिनमे छः आर्या-निबद्ध हैं। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

वज्झइ कम्मेण जणो कम्मविमुक्केण होइ मरामुक्को।
S I I S S I I S S I I S S I S I I I S S

मणमोक्खेण अणुअरं पाविज्जइ परम णिव्वाणं॥[2]
I I S S I I I I S S S I I I I I S S S

उक्त उदाहरण में प्रथम पाद मे ७ चतुष्कल + गुरु, षष्ठ गण जगण तथा १२वी मात्रा पर यति है; द्वितीय पाद मे ५ चतुष्कल + लघु १ + चतुष्कल + गुरु तथा १२वी मात्रा पर यति है। अतएव आर्या-लक्षण पूर्णतया चरितार्थ है। भाषा प्राकृत है।

स्वयंभू के हरिवंशपुराण[3] (समय ८४० वि०)[4] मे गाथा छंद का प्रयोग हुआ है।[5] एक उदाहरण देखिए—

दियहाहियस्स वारे, दसमी दियहम्मि मूल णक्खत्ते।
एयारसम्मि चंदे, उत्तरकंडं समाढत्तं॥[6]

उक्त पद्य का मात्राविधान १२+१८, १२+१५ है तथा गणविधान पूर्वार्द्ध मे ४+४+४/+४+४+।ऽ।+४+ऽ और उत्तरार्द्ध में ४+४+४/+४+४+।+४+ऽ है।

धनपाल कृत भविसयत्त-कहा[7] (समय—१०वी शती वि० अनुमानतः)[8] में भी द्विपदी मात्रिक छंदों का प्रचुर प्रयोग मिलता है।

---

१. म. पं. राहुल सांकृत्यायन: दोहाकोश, भूमिका, पृ० १२-१३ (बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना)।

२. (क) सरहपा: दोहाकोशगीति, २५, दोहाकोश। (बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना), पृ०६। (ख) सरहपा: दोहाकोश, ४० (सं० डॉ० प्रबोधचंद्र बागची; **Journal of the Department of Letters, University of Calcutta**), पृ० १४।

३. दे०: हिं० का० धा०, पृ० २२।

४. वही।

५. स्वयम्भू: हरिवंशपुराण, ९२।३,४।

६. वही, ९२।४।

७. सी० डी० दलाल तथा पांडुरंग दामोदर गुणे द्वारा संपादित; प्र० गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज, संख्या २०; बरौदा केंद्रीय पुस्तकालय, १९२३ ई०।

भविसयत्तकहा की ओर ध्यान ले जानेवाले प्रथम भारतीय बरौदा केन्द्रीय पुस्तकालय के श्रीदलाल महोदय थे। उन्होंने पाटन में उपलब्ध हस्तलिपि के आधार पर इसका संपादन आरम्भ किया, जो बाद में गुणे महोदय द्वारा पूरा हुआ। बरौदा से ग्रंथ का प्रकाशन १९२३ ई० में हुआ। इसके पूर्व, १९१४ ई०

भविसयत्तकहा कथाकाव्य या चरितकाव्य कही जा सकती है, जिसके, वर्ण्य विषय की दृष्टि से, तीन खंड हैं—(१) वणिक्पुत्र भविसयत्त का भाग्योदय, (२) कुरुराज और तक्षशिलाराज के बीच युद्ध में भाग लेकर सफल होने के उपलक्ष्य में भविसयत्त का आधे कुरुराज्य की प्राप्ति तथा (३) भविसयत्त के पूर्व और भावी जन्म तथा निर्वाण-प्राप्ति। कथा-संघटन में तद्युगीन प्रचलित लोककथा का प्रभाव दृष्टिगत है,[१] जो छंदोविधान के क्षेत्र में भी लोकप्रभाव की दिशा में इंगित करता है।

"अपभ्रंश-काव्य मूलतः और अनिवार्यतः लोक-काव्य था" .... अतएव आश्चर्य नहीं कि उसने प्राचीन रूढ छंदों को छोड़कर अधिक लचीले और सजीव छंदों को अपनाया।... संस्कृत गणवृत्त से काव्य को मुक्त करने के दो मार्ग थे—वैदिक अक्षरवृत्त और लोक-प्रचलित मात्रावृत्त के मार्ग।[२] प्रस्तुत ग्रंथ में अधिकतर मात्रावृत्त का ही प्रयोग किया गया है। हाँ, कुछ गणवृत्त भी आ गये हैं; क्योंकि अपभ्रंश में भी इनका कुछ व्यवहार तो होता ही था।

भविसयत्तकहा के छंदों की इकाई कड़वक है। अक्सर एक कड़वक में दस से सोलह तक पंक्तियाँ होती हैं। यों तो २६ पंक्तियों के कड़वक (५।९) अथवा ३० पंक्तियों के कड़वक (१२।३) भी हैं। कड़वक का गठन अक्सर १६ मात्रिक पज्झटिका या अलिल्लह छंद में हुआ है; कड़वकान्त में दो पंक्तियाँ घत्ता छंद की रखी गई हैं। ३५४ कड़वकों में ३३७ इसी प्रकार के हैं। शेष में विभिन्न छंदों का प्रयोग है। प्रत्येक सन्धि के आरम्भ की दो पंक्तियाँ किसी भिन्न छंद मे हैं।

भविसयत्तकहा में कई मात्रिक द्विपदी छंद आये हैं। गाथा (१२+१८, १२+१५)[३] का प्रयोग १८वीं संधि के १२वें कड़वक में है—

एवं वरवासहरं पसाहिओ साहिऊण घरवइणो।
सामियसुअस्स पत्ती संजाविया रइविहारम्मि॥[४]

इस कड़वक में तीन अन्य गाथा छंद हैं और अंत में घत्ता छंद है।

में बान (जर्मनी) के प्रोफेसर जेकोबी का अहमदाबाद में भविसयत्तकहा की एक हस्तलिपि मिली थी, जिसका प्रकाशन १९१८ ई० में किया गया। इस ग्रंथ का लेखक धनवाल (सं० धनपाल) है—ऐसा उल्लेख अन्तःसाक्ष्य के रूप में मिलता है। (संधि ५, १०, ११, १७, २०, २२ तथा भूमिका, पृ० २) यह धनपाल मुंज-कालीन धार में रहनेवाले धनपाल से—जिसने ऋषभ-पंचाशिका, तिलकमंजरी तथा पाइयलच्छिनाममाला (?) की रचना की, और जो ब्राह्मण था—भिन्न था। प्रस्तुत ग्रंथ का लेखक धनपाल बनिया था।

८. दलाल और गुणे: भविसयत्तकहा (भूमिका); पृ० ४। भाषागत अंतर को ध्यान में रखते हुए संपादकों ने यह माना है कि धनपाल हेमचंद्र (१२वीं शती वि०) के २०० वर्ष पूर्व अवश्य हुए होंगे। अतएव, उनका समय १०वीं शती अनुमित है।

१. दलाल और गुणे: भविसयत्तकहा (भूमिका); पृ० ५।

२. वही, भूमिका, पृ० २६।

३. प्रा० पैं० १।५४-६१।

४. धनपाल: भविसत्तकहा, १२।१२।१।

महेश्वर सूरिकृत 'नाणपंचमीकहाओ' (ज्ञानपंचमी कथाः समय—सं० ११०९ वि०)[1] में, संपूर्ण ग्रंथ में, गाथा छंद ही व्यापक रूप से प्रयुक्त हुआ है। इस ग्रंथ में ५०० पद्य हैं। गाथा छंद का एक उदाहरण है—

एगं तेणं जेणं चउत्थवयपालण दढं भणियं।
तेण जहासत्तीए मेमं खलु होइ कायव्वं ॥[2]

जिनेश्वर सूरि के कथाकोशप्रकरण (समय—सं० ११०८ वि०)[3] में भी गाथा छंद का प्रयोग व्यापक रूप से हुआ है। उदाहरण देखिए—

ईसर कुले वि जाया अंधा बहिराविवाहिगहगहिया।
पावा पावसईया मरिउं नरयंमि गच्छंति ॥[4]

इस ग्रंथ के पद्यों में गाथा छंद ही प्रयुक्त है। मूल पद्यों की संख्या ३० है। वृत्ति गद्य और पद्य मे है।

जयसिंह सूरि-विरचित धर्मोपदेशमालाविवरण (समय १२वीं शती या इसके पूर्व)[5] में प्राकृत पद्यों के लिए गाथा छंद बहुत अधिक प्रयुक्त है। उदाहरण द्रष्टव्य है—

पसरंत-दाण-परिमल गंधा इड्डिय-भमंत-भमर-उला।
भय-वेविर-तरलच्छा दिसागइंदा वि ते णट्ठा ॥[6]

इस ग्रंथ के कुछ पद्यों में एक अन्य विषम द्विपदी छंद आया है, जिसके पूर्व पाद में २९ तथा उत्तर पाद में २८ मात्राएँ हैं। उदाहरण देखिए—

जय कोव-महोरग-सिद्धमंत, जय जय मुणिंद नयचलण।
।। S।।S।। S।S। ।। ।। ।S। ।।।।।
जय माण-महातरु-गंधवाह, जय जय मुमइ जिणइंद ॥[7]
।। S। ।S।। S।S। ।। ।। ।।। ।।S।

उक्त पंक्तियों में से प्रत्येक में १६ मात्राओं पर यति है। इस छंद को गाथा का नहीं, चूलिका[8] का रूपांतर कहा जा सकता है।

---

१. डॉ० अमृतलाल गोपाणी: नाणपंचमीकहाओ (प्रस्तावना), पृ० ७।
२. महेसरसूरि: नाणपंचमीकहाओ, ९, पृ० १।
(सिंघी जैन ग्रंथमाला, भारतीय विद्याभवन, बंबई, ग्रंथांक २५); सं० डॉ० अमृतलाल गोपाणी।
३. जिनविजयमुनि: कथाकोशप्रकरण (भूमिका), पृ० २।
४. जिनेश्वर सूरि: कथाकोशप्रकरण, पृ ८, पद्य ८ (सिंघी जैन ग्रंथमाला, भारतीय विद्याभवन, बंबई, ग्रंथांक ११); सं० जिनविजय मुनि।
५. जयसिंहसूरि: धर्मोपदेशमालाविवरण (सिंघी जैन ग्रंथमाला, भारतीय विद्याभवन, बंबई, ग्रंथांक २८), प्रास्ताविक वक्तव्य, पृ० १३।
६. वही, गुरुपदकर्त्तव्ये आर्यरक्षितकथा, पृ० ९।
७. जयसिंहसूरि: धर्मोपदेशमालाविवरण, पृ० १९२।
८. पिं० ४।५२; जय० ४।३१; वृ० र० २।४२; जकी० ५।३४।

अद्दहमाण (अब्दुल रहमान) के संदेशरासक[1] (रचनाकाल—१२वीं शती उत्तरार्द्ध) में भी कई द्विपदी मात्रिक छंद प्रयुक्त हैं।

गाहा छंद का प्रयोग संदेशरासक के कुल ४० पद्यों में हुआ है। स्वतंत्र रूप से गाहा छंद पद्य-संख्या १–१७, ३२–४०, ७२, ८४, ९०, ९३, १२६-१२९, १४९, १५२, १५३, १७२, २१३, और २२१ में प्रयुक्त है। पद्य-संख्या ११६ में वह खडहडय छंद के द्वितीयार्द्ध के रूप में आया है। गाथा की भाषा सदैव प्राकृत है, जिसमे कहीं-कहीं अपभ्रंश का पुट है। सामान्यतः उसकी योजना निम्नांकित रूप से हुई है—

पूर्वार्द्ध —४+४+४/४+४+। {।ऽ।+४+ऽ / ।।।।}

उत्तरार्द्ध–४+४+४/४+४+।+४+ऽ

विषम गणों में जगण वर्जित है। तीसरे गण के बाद यति हो, तो इस प्रकार के गाहा छंद को पथ्या कहते हैं; यति नहीं हो, तो विपुला कहते हैं; जब यति का अभाव केवल पूर्वार्द्ध में हो, तो मुखविपुला कहते हैं (इसके उदाहरण संदेशरासक के ६, ७, १६, ४०, ८४, ९३, १२६, १२७, १५३, १७२ और २१३ संख्यक पदों में उपलब्ध हैं); केवल उत्तरार्द्ध में यति नहीं हो, तो उसे जघनविपुला कहते हैं (उदाहरण है, पद्य-संख्या १५२); पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध दोनों में यति का अभाव हो, तो उसे सर्वविपुला कहते हैं (उदाहरण है पद्य-संख्या ७२ और ११६) और शेष सभी प्रकार के प्रयोग पथ्या हैं।

संदेशरासक से गाथा का एक उदाहरण दिया जाता है—

तुह विरहपहर संचूरिआइं, विहडंति जं न अंगाई।
।। ।।।।।। ऽऽ।ऽ।, ।।ऽ। ऽ । ऽऽऽ
तं अज्ज-कल्ल-संघडण-ओसहे णाह तग्गंति॥[2]
ऽ ऽ।ऽ। ऽ।।।ऽ।ऽ ऽ। ऽऽऽ

उक्त पद्य में प्रथम पंक्ति में गणविधान ४+४+४/+४+४+।ऽ।+४+ऽ तथा द्वितीय पंक्ति में ४+४+४/+४+४+।+४+। घटित हो जाता है। द्रष्टव्य है कि दोनों पादों में अंत्य लघु वर्ण का गुरु उच्चारण अपेक्षित है, अपभ्रंश भाषा में जिसकी छूट कवियों को परिपाटी से मिली हुई है।

खंधय (स्कंधक) संदेशरासक में आया है।[3] संदेशरासक के ११८वें पद्य में अगले पद्य को खंधय कहा है। लक्षणकार स्कंधक छंद के अर्द्धभाग में ३२ मात्राओं का निर्देश करते हैं, पर सं० रा० के उदाहरण में केवल (१२+१८=) ३० मात्राएँ हैं। इस कारण वृ० जा० स० और प्रा० पैं० के अनुसार इसे उद्गाथ और हेमचंद्र आदि के अनुसार इसे गीति कहा जा सकता है। संभव है, उस युग में ३० मात्राओं के छंद को भी स्कंधक कहा जाता होगा।

---

१. श्रीजिनविजय मुनि तथा प्रो० हरिवल्लभ भायाणी के संपादकत्व में भारतीय विद्या-भवन बंबई-७ से २००१ वि० में प्रकाशित। (सिंघी जैन ग्रंथमाला के अंतर्गत।)

२. अद्दहमाण: संदेहरासय, ७२।

३. अद्दहमाण: संदेहरासय, ११९।

हेमचंद्र (सं० ११४५—१२२९)[1] के छंदोऽनुशासन में आर्या तथा उसके भेदों के लक्षण-निरूपण पर हम विचार कर चुके हैं। हेमचंद्र के कुमारपालचरित[2] (प्राकृत-द्व्याश्रय-महाकाव्य) में, जिसके २८ सर्गों में प्रथम बीस सर्ग संस्कृत में तथा शेष आठ सर्ग प्राकृत में रचित हैं, और जो उनके व्याकरण के आठ अध्यायों के लिए उदाहरण-रूप में प्रणीत हैं,[3] आर्या छंद का प्रायः व्यापक रूप से प्रयोग प्राकृत भाग में हुआ है। प्राकृत में रचित आठ सर्गों में से प्रथम में ९० पद्य हैं, जिनमें ८९ आर्या छंद में निबद्ध हैं; द्वितीय सर्ग के ९१ पद्यों में प्रथम ८९ आर्या में हैं, पद्य-संख्या ९० उपगीति में है; तृतीय सर्ग के ९० पद्यों में प्रथम ८९ आर्या में हैं; चतुर्थ सर्ग के पद्य १ से ७७ तक, तथा पंचम सर्ग के पद्य १ से १०५ तक आर्या में हैं, पंचम सर्ग का अंतिम पद्य गीति में है; षष्ठ सर्ग के पद्य १ से १०६ तक आर्या में तथा अंतिम पद्य[4] आर्यागीति में है; सप्तम सर्ग के १०१ पद्य आर्या में हैं तथा अष्टम सर्ग के पद्य १ से १२ तक आर्या में हैं।

कुमारपालचरित में आर्यावर्ग के अन्य छंद भी आये हैं। पंचम सर्ग के अंतिम पद्य में गीति छंद के लक्षण मिलते हैं, यद्यपि टिप्पणीकार ने उसे मागधी छंद कहा है। षष्ठ सर्ग के अंतिम पद्य में प्रत्यर्द्ध भाग में ८ चतुष्कलों की योजना के कारण आर्यागीति[5] छंद है। द्वितीय सर्ग की पद्य-संख्या ९० में उपगीति छंद है।[6]

१२वीं-१३वीं शताब्दियों में यह छंद प्राकृत-अपभ्रंश के कवियों के बीच पर्याप्त लोकप्रिय था। आर्या के रूपांतर गीति नामक छंद का प्रयोग शाह रमणकृत श्रीजिनसूरि-यति-धवलगीतम् में कुछ परिवर्त्तन के साथ हुआ है। एक उदाहरण देखिए—

तिहुअण तारण सिव सुख-कारण
। । । । ऽ । । । । । । ऽ । ।
वंछिय पूरण कल्पतरो॥
ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ
विघन विणासण पाव पणासण
। । । । ऽ । । ऽ । । ऽ । ।
दुरित तिमिर भर सहस करो॥[7]
। । । । । । । । । । । । ऽ

इस उद्धरण के छंदोविश्लेषण से स्पष्ट है कि इसमें गीति के सामान प्रति पाद में ३० मात्राएँ तो आई हैं, किंतु यति प्रति पाद १८वीं मात्रा पर न होकर ८वीं तथा १६वीं मात्राओं पर, अर्थात् दो स्थानों पर है, जो पादांतर्गत इन यति-स्थानों पर यमक या तुक

१. श्रीशंकर पांडुरग पंडित (संपा०): कुमारपालचरित (भूमिका) प० २५।
२. संपा० श्री शं० पा० पंडित; प्रका० भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना, १९३६।
३. श्री शं० पां० पंडित: कुमारपालचरित (भूमिका), पृ० ९।
४. इसे टिप्पणीकार ने पादाकुलक कहा है।
५. व० र० २।८।
६. वृ० र० २।९।
७. ऐतिहासिक जैनकाव्य-संग्रह, पृ० ६, पद्य २।

द्वारा और अधिक स्पष्ट और परिपुष्ट है। इस प्रकार, पादविधान ८+८+१४ कहा जा सकता है। संभव है, इसी से आगे चलकर सम चतुष्पदी शोकहर छंद (८+८+८+६, अंत ऽ) विकसित हुआ हो, जिसका उल्लेख भानु ने किया है।[1] भानु ने अपने लक्षण में यति-स्थानों पर तुक का उल्लेख नहीं किया, किंतु उनके उदाहरण में तुक का प्रयोग हुआ है। 'जिनयतिसूरि-धवलगीतम्' की २० गीतियों में ऐसे पद्य भी हैं, जिनमें पादांतर्गत यति-स्थानों पर तुक नहीं रखे गये।

राजशेखरसूरिकृत प्रबंधकोश (समय—१४०५ वि० के लगभग)[2] में भी कहीं-कहीं गाथा छंद प्रयुक्त है।[3]

मेरुतुंगाचार्य-विरचित प्रबंधचिंतामणि (समय—सं० १३६१) नामक संस्कृत-ग्रंथ में भी प्राकृत में निबद्ध पद्यों के लिए गाथा छंद का माध्यम अपनाया गया है।[4] इसी प्रकार, पुरातन-प्रबंध-संग्रह के संस्कृत प्रबंधों के बीच-बीच में आये प्राकृत पद्य भी अधिकांशतः दोहा के अतिरिक्त गाथानिबद्ध हैं।[5] प्रभाचंद्राचार्य-विरचित प्रभावकचरित (समय—सं० १३३४ वि०)[6] के प्राकृत पद्यों में भी गाथा छंद का प्रयोग हुआ।[7]

गाथावर्ग के छंदों की लोकप्रियता १३वीं शती के बाद तेजी से घटती हुई दृष्टिगत होती है। विद्यापति की कीर्त्तिलता[8] (जन्म-संवत् १४२५ वि०)[9] में गाथा आदि पुराने छंदों की अपेक्षा दोहा, पद्धरि आदि अपेक्षाकृत कुछ अधिक अग्रसर छंदों का प्रयोग हम अधिक पाते हैं। फिर भी, इस ग्रंथ में गाथावर्ग के एक छंद उपगीति[10] का उदाहरण द्रष्टव्य है—

---

१. छं० प्र०, पृ० ७२-७४।

२. (क) राहुल : हिंदी काव्यधारा, पृ० ४७९।
(ख) मुनिजिनविजय : प्रबंधकोश, प्रास्ताविक वक्तव्य, पृ० १।

३. राजशेखरसूरि : प्रबंधकोश, पद्य २२।५।५; (सिंघी जैन ग्रंथमाला, पद्य २३।५।६ आदि)।
सिंघी जैन ज्ञानपीठ, विश्वभारती, शांतिनिकेतन। ग्रंथांक ६; सं० जिनविजय मुनि

४. मुनिजिनविजय : प्रबंधकोश, प्रास्ताविक वक्तव्य, पृ० १।

५. मेरुतुंगाचार्य : प्रबंधचिन्तामणि, पृ० ५१, पंक्ति १७ (सिंघी जैन ग्रंथमाला, विश्व-भारती, ग्रंथांक १)।

६. पुरातन प्रबंध-संग्रह (सिंघी जैन ज्ञानपीठ, कलकत्ता), पृ० ११, १२, ६०, ८३, ९२, ९३, १००, १२०।

७. मुनिजिनविजय : प्रबंधकोश (सिंघी जैन ग्रंथमाला, ग्रंथांक ६), प्रास्ताविक वक्तव्य, पृ० १।

८. प्रभाचंद्राचार्य : प्रभावकचरित (सिंघी जैन ग्रंथमाला, भारतीय विद्याभवन, बंबई, ग्रथांक १३), पृ० ३१, ३२, ३८, ४२, आदि।

९. डॉ० बाबूराम सक्सेना के संपादकत्व में का० ना० प्र० स० की ओर से प्रकाशित (१९२९ ई०)

१०. (क) उमेश मिश्र : विद्यापति ठाकुर (हिंदुस्तानी एकेडमी, प्रयाग, १९३७); पृ० ३६।
(ख) डॉ० ह० प्र० द्विवेदी : हिंदी-साहित्य—उसका उद्‌भव और विकास, पृ० ७६।
(ग) डॉ० रा० कु० वर्मा : हिंदी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ५८८।

पुरिसत्तणेन पुरिसओ नहि पुरिसओ जम्ममत्तेन।
। । ऽ । ऽ । । । । । । । । । । । ऽ । ऽ ऽ ऽ

जलदानेन हु जलओ नहु जलओ पुञ्जिओ धूमो॥[1]
। । ऽ ऽ । । । । ऽ । । । । ऽ ऽ । ऽ ऽ ऽ

स्मरणीय है कि अपभ्रंश-काव्य में छंदःप्रवाह के आवश्यकतानुसार ए और ओ को ह्रस्व तथा किसी भी ह्रस्व वर्ण को दीर्घ रूप में पढ़ने की स्वच्छंदता रहती है।

गाथा छंद के उदाहरण का भी अभाव नहीं है—

सो पुरिसओ जसु मानो
ऽ । । । । । । ऽ ऽ

सो पुरिसओ जस्स अज्ज ने सत्ति।
ऽ । । । । ऽ । ऽ । ऽ ऽ ऽ ऽ

इयरो पुरिसाआरो
। । ऽ । । ऽ ऽ ऽ

पुच्छ विहूना पसू होइ॥[2]
ऽ । । ऽ ऽ ऽ । ऽ ऽ

(मात्राविधान—पूर्वार्द्ध ४+४+४/+४+४+ज+४+ग;
उत्तरार्द्ध ४+४+४/+४+४+ल+४+ग; अर्थात् १२+१८, १२+१५)

हिंदी-काव्य में गाथा-प्रयोग

संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के काव्यग्रंथों में गाथावर्ग के छंदों के प्रयोग का अवलोकन हमने किया। अब यहाँ हिंदी कहे जानेवाले काव्य के बीच इस वर्ग के छंदों के प्रयोग पर दृष्टि-निक्षेप अभीष्ट है।

आदिकालीन हिंदी के डिंगल-काव्य में पृथ्वीराजरासो अब इधर अर्द्धप्रामाणिक माना जाने लगा है[3] तथा क्षेपकों से भरे इस बृहत् ग्रंथ के प्रामाणिक अंशों को छाँटकर अलग

१. विद्यापति: कीर्त्तिलता, पृ० ६ (ना० प्र० सभा; संस्करण १९२९)।

२. वही।

३. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी: हिंदी-साहित्य का आदिकाल (बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना), पृ० ५०।

करने का प्रयास किया जा रहा है।[1] इस संक्षिप्त पृथ्वीराजरासो में गाथावर्ग के छंद निम्नलिखित स्थलों पर प्रयुक्त हैं—

आदिपर्व—पद्य-संख्या ९–१५, २१, ३३, ७४, ८३, ११५।

इंछिनीविवाह-प्रसंग—पद्य-संख्या ४, ३३, ४३।

इंछिनीव्याह-कथा—पद्य-संख्या ७१, १०३,–१०७, ११६।

शशिव्रताविवाह-प्रस्ताव—पद्य-संख्या ४६, ९५, १२१, १२५–१२६, १३६–१३९, १५८, १६६, १७४, १८८।

कनवज्ज-समय—पद्य-संख्या २२३, २५०, ३१८, ३२३, ३२४।

बड़ी लड़ाई-समय—पद्य-संख्या १७, ३८, ४४।

इनमें प्रथम उदाहरण का विश्लेषण करें—

पय सक्करी सुभत्तो　एकत्तो कनय राय भोयंसी।
।। S । S । SS　SSS ।।। S।　SSS

कर कंमी गुज्जरीय　रब्बरियं नैव जीवंति।।[2]
।। SS S । S।　S।। S S। SSS

उक्त उद्धरण के पूर्वार्द्ध में ७ चतुष्कल+गुरु तथा उत्तरार्द्ध में षष्ठ चतुष्कल के स्थान पर लघुमात्र दृष्टिगत है। अतएव, इसमें आर्या का शास्त्रोक्त लक्षण चरितार्थ है।

पृथ्वीराजरासो के युग तक गाथा-छंद की लोकप्रियता का सर्वथा ह्रास नहीं हो गया था, यह इस ग्रंथ में इसके प्रयोग-बाहुल्य द्वारा ध्वनित है।[3] साथ ही, इस युग के अन्य अपेक्षाकृत प्रामाणिक हिंदी-काव्यग्रंथों में इस छंद का बहुल प्रयोग हम नहीं देखते, इससे यह अवश्य ध्वनित है कि अपभ्रंशोत्तर हिंदी में इस छंद की लोकप्रियता ह्रासोन्मुख थी।

भक्तिकाल के संतकाव्य तथा प्रेमाख्यानक काव्य के बीच आर्या या गाथा छंद की

---

१. दे० संक्षिप्त पृथ्वीराजरासो : सं० डॉ० ह० प्र० द्विवेदी तथा प्रो० नामवर सिंह; प्र० काशिका-समिति, हिंदी-विभाग, हिंदू-विश्वविद्यालय की ओर से साहित्य-भवन, प्रयाग, १९५२ ई०।

२. चंद : पृथ्वीराजरासो (संक्षिप्त); संस्करण उपरिलिखित; आदिपर्व, ९।

३. कहा जाता है कि चंद बरदाई ने रासो में प्रयुक्त छंदों के विषय में स्वयं लिखा है—

छंद प्रबंध कवित्त यति, साटक गाह दुहत्थ।
लघुगुरुमंडित खंडि यह, पिंगल अमर भरत्थ।।

अर्थात्, रासो में कवित्त (छप्पय), साटक (शार्दूलविक्रीडित), गाहा (गाथा) और दोहा छंद प्रयुक्त हैं।

—राजस्थान-भारती, भाग १। अंक २-३।१९४६। पृथ्वीराजरासो की प्रामाणिकता पर पुनर्विचार। (डॉ० ह० प्र० द्विवेदी द्वारा उद्धृत—हिंदी-साहित्य का आदिकाल, पृ० ५१)।

और रुचि का प्रायः सर्वथा अभाव दृष्टिगत है। इन काव्यों के रचयिताओं ने लोक के बीच से उद्भूत हुए और परिनिष्ठित संस्कृत-परंपरा का अनुकरण न कर विषय, अलंकार तथा छंद के विधान में लोक-जीवन से प्रेरणा ग्रहण की। फलतः, इनकी रचनाओं में दोहा, चौपाई, पद्धरी, दुवई, चउपइया आदि लोक-परंपरा से उद्भूत छंद ही प्रयुक्त हुए हैं, संस्कृत वर्णवृत्त-परंपरा की देन आर्या (गाथा) का प्रयोग प्रायः नहीं हुआ है। कृष्णकाव्य में भी यह छंद लोकप्रिय नहीं दिखाई देता। सूरसागर में बहुत ढूंढ़ने से भी हमें आर्या (गाथा) छंद नहीं मिला। संभवतः, इस छंद की विषम प्रकृति तथा इसमें ताल-सांगीतिकता के अभाव के कारण ही संगीत-रसिक सूरदास ने इसका प्रयोग नहीं किया है। हाँ, नंददास[1] ने दो-एक जगह गाथावर्ग के छंद का प्रयोग किया है। फिर भी, द्रष्टव्य यह है कि नंददास ने गाथादि छंद का प्रयोग प्राकृत भाषा में किया है। सामान्य ब्रजभाषा की रचनाओं के बीच गाथादि के लिए प्राकृत का प्रयोग इस बात का सूचक है कि नंददास के युग में भी गाथा को प्राकृत का छंद माना जाता था। उदाहरण देखिए—

गुणि गण गुणाण गणियं   मच्छामगा विहग मारेहा।
I I I I I S I I I S   I S I S I I I S S S

तिय रस पेम पमाणं   जाणं जीघणें जप्पियें जीहा ॥[2]
I I I I S I I S S   S S S I I I S I S S

इस पद्य के प्रति पाद में ५ चतुष्कल+१ लघु+१ चतुष्कल+गुरु है, अतएव यह गाथा-वर्ग का उपगीति[3] नामक छंद है। रामकाव्य के कवि तुलसीदास ने संस्कृत वर्णवृत्तों का प्रयोग किया है, किंतु संस्कृतेतर छंदःप्रयोग जहाँ भी है, वहाँ अपभ्रंश के छंद ही अपनाये गये हैं, आर्या या गाथा नहीं। केशव ने अवश्य गाथा छंद का प्रयोग किया है।

केशवदास[4] की रामचंद्रिका[5] छंदों के वैचित्र्य और वैविध्य की दृष्टि से उल्लेख्य है। अपभ्रंश के ही नहीं, संस्कृत और प्राकृत के अनेक छंदों का भी इस ग्रंथ में प्रयोग दृष्टि-गत है। गाथा छंद भी इसमें आया है। उदाहरण देखिए—

गाहा—रामचंद्र पदपद्मं,   वृंदारक वृंदाभिवंदनीयम्।
S I S I I I S S   S S I I S S I S I S S

1. समय—१७वीं शती पूर्वार्द्ध; ब्रजरत्नदास: नंददास-ग्रंथावली, पृ० १६।
2. नंददास: ग्रंथावली (ना० प्र० सभा, काशी), रूपमंजरी, ५१५, पृ० १४२।
3. पिं० ४।३०।
4. रचनाकाल—सं० १६४८ वि०। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी: हिंदीसाहित्य—उसका उद्भव और विकास, पृ० २४५।
5. केशवदास: रामचंद्रिका (टीकाकार—लाला भगवानदीन, प्रा० रामनारायणलाल, प्रयाग, २००९ वि०)।

केशवमति भूतनया, लोचनं चंचरीकायते ॥[1]
S I I I I S I I S S I S S I S S I S

उक्त उदाहरण में प्रथम तो यह द्रष्टव्य है कि हिंदी के ग्रंथ रामचंद्रिका में भी केशव ने प्राकृत के गाथा छंद का प्रयोग संस्कृत-भाषा में किया। इससे गाथा का संस्कृत-वर्णवृत्त से उत्पन्न होना ध्वनित है। संस्कृत छंदःपरंपरा की देन होने के कारण ही व्रज-भाषा में रचना करते हुए भी केशवदास ने गाथा के लिए संस्कृत-भाषा का उपयोग किया। दूसरे, उक्त उद्धरण के पाद आर्या छद के परंपरागत गणविधान (७ चतुष्कल+गुरु; ५ चतुष्कल+लघु+१ चतुष्कल+गुरु) मे नही बाँधे जा सकते; क्योकि प्रथम पाद की चतुर्थ-पंचम और २४वीं-२५वीं, तथा द्वितीय पाद की १६वीं-१७वीं और २१वीं-२२वीं मात्राएँ मिलकर गुरुरूप में वर्तमान है। मात्रासंख्याएँ पादों में क्रमशः १२+१८, १२+१५ के हिसाब से है। ग्रंथ में इस छंद को गाहा कहा गया है, यद्यपि इसकी भाषा संस्कृत है। ऐसा प्रतीत होता है कि गाथा नाम इस छंद के गणमुक्त स्वरूप के लिए केशव के काल के पूर्व ही प्रयुक्त होने लगा होगा; क्योकि प्राकृतपैंगलम् मे भी गाथा के लक्षण के अतर्गत यह स्वरूप आया है।[2] नंदिताढ्य के गाथालक्षण नामक ग्रंथ में भी, इसके पूर्व ही इस छंद के गणमुक्त स्वरूप को गाथा कहा है।[3]

१७वीं सदी के बाद आर्या छंद

हमने देखा है कि १४वीं शती के बाद ही आर्या छंद की लोकप्रियता का ह्रास अपेक्षाकृत अधिक अग्रसर छंदों के समक्ष हो गया था। १७वीं शती के बाद के काव्य में भी इस छंद का प्रयोग वैचित्र्यार्थ ही किसी कवि ने किया है। उदाहरणतः, बीसवीं शती के मैथिलीशरण गुप्त ने साकेत में आर्या, गीति, आदि इस वर्ग के छंदों का कहीं-कहीं प्रयोग किया है।[4]

आर्या (गाथा)-संबंधी सामान्य निष्कर्ष

(१) लक्षणग्रंथों में उल्लेख तथा वास्तविक काव्य-प्रयोग दोनों दृष्टियों से आर्या मात्रिक छंदों में प्राचीनतम है।

(२) मात्रिक छंद आर्या संस्कृत की वर्णवृत्त-परंपरा की देन है और अष्टाक्षर अनुष्टुप् के, मात्रिक दृष्टि से, पाद-परिवर्द्धन से उद्भूत है।

(३) संस्कृत में चतुर्मात्रिक गण के अनुशासन-निबद्ध इस छंद को आर्या कहा गया है। प्राकृत में इसके मात्रिकगणबद्ध अथवा गणमुक्त रूप को गाथा कहा है।

(४) प्रारंभ में वास्तविक काव्य के बीच इसके चतुर्मात्रिक गणबद्ध रूप को ही हम पाते है। बाद में गणमुक्त स्वरूप भी मिलता है, अतएव प्राकृत के परवर्ती लक्षणकारों ने इसका लक्षण गणमुक्त रूप में उपस्थित किया है।

---

१. वही, १।१९।
२. प्रा० पैं० १।५४।
३. गा० ल० १६।
४. मैथिलीशरण गुप्त: 'साकेत', नवम सर्ग।

(५) लक्षणग्रंथों में इस छंद का प्रथमोल्लेख पिंगल के छंदःशास्त्र में तथा काव्य के बीच इसका प्रथम प्रयोग कालिदास के काव्य में दृष्टिगत है।

(६) गाथा का प्रयोग प्राकृत काव्य के बीच व्यापक रूप से काव्य, धार्मिक-सांप्रदायिक सिद्धांत-कथन, छंदःशास्त्र आदि विविध विषयों के लिए तथा मुक्तक, प्रबंध आदि कई शैलियों में हुआ है। प्राकृत का यह प्रधान छंद रहा।

(७) प्राकृत-काल में इस छंद के भेदोपभेद की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गई, जैसा लक्षणग्रंथों से भी प्रमाणित है। किंतु, ८वीं शती के बाद अपभ्रंश-काव्य के बीच लोक-परंपरा से उद्भूत दोहादि छंदों की लोकप्रियता जैसे-जैसे बढ़ती गई, वैसे-वैसे गाथा आदि छंदों का प्रयोग कम होता गया। १४वीं शती के बाद के न तो लक्षण-ग्रंथों में और न काव्यग्रंथों में गाथावर्ग के छंद भेदों का नवीनोल्लेख दिखाई देता है।

(८) भेदोपभेद की बात कौन कहे, प्रधान गाथा छंद भी १४वीं शती के बाद के काव्य के बीच नहीं के बराबर प्रयुक्त हुआ है। जिन्होंने इस छंद का इस समय के बाद प्रयोग भी किया है, उन्होंने प्रायः वैचित्र्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति से प्रेरित होकर या प्राचीनता के परंपरावादी आग्रह से।

(९) मध्यकालीन हिंदी-काव्य में गाथावर्ग के छंदों की लोकप्रियता के अभाव का कारण यह है कि इस छंद में उस प्रकार की ताल-सांगीतिकता की कमी है, जिसके अपभ्रंश-काल के कवि अभ्यस्त हो गये थे और जिसका आकर्षण मध्ययुग के हिंदी-कवियों को भी अभिभूत कर चुका था। गाथा की अत्यंत विषम प्रकृति के कारण ताल-तत्त्व के समावेश के लिए इसमें अवकाश नहीं था।

(१०) परिनिष्ठित प्राकृत में उच्च शास्त्रीयता के धरातल पर गाथावर्ग के छंद अत्यंत व्यापक रूप से प्रयुक्त हुए, इसलिए भी अपभ्रंश की काव्य-परंपरा में, जिसकी परिणति मध्यकालीन हिंदी-कविता के रूप में आगे चलकर हुई और जो लोक-काव्य के तत्त्वों से अधिकांशतः संयुक्त थी, गाथावर्ग के छंद उपेक्षित रहे।

संक्षेप में मध्यकालीन हिंदी-काव्य के बीच आर्या (गाथा)-वर्ग के छंदों का महत्त्व १५वीं शती के पूर्ववर्ती प्रयोगों की परंपरा की दृष्टि से ही है।

प्रकरण २
दुवई (सार) छंद

प्रारंभिक प्रयोग

इस छंद का प्रयोगारंभ कब हुआ, यह निश्चयपूर्वक कह सकना आज संभव नहीं; किंतु उपलब्ध सामग्री के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इस छंद का परिनिष्ठित साहित्य में प्रयोग घत्ता के बहुत बाद हुआ होगा। आर्या और दुवई के प्रथम उपलब्ध प्रयोगों में लगभग १० शताब्दियों का अंतर दिखाई देता है। प्रायः यही अंतर लक्षण-ग्रंथों के बीच इन छंदों के प्रथमोल्लेखों में भी है। आर्या छंद पिंगल के छंदःशास्त्र में आया है, किंतु दुवई छंद का वहाँ कही पता नही है।

विरहांक ने कुछ चार पादवाले तथा कुछ अधिक पादवाले (प्रगाथ) छंदों को द्विपदी कहा है, लेकिन दुवई या दोआई नाम का दो पादवाले प्रस्तुत छंद की चर्चा उन्होंने नहीं की है।[१] प्राकृतपैंगलम् में २८ मात्राओं के पादवाले इस छंद का गणविधान इस प्रकार कथित है: ६+४+४+४+४+६ (अ वा ४+ऽ)।[२]

दुवई का नाम (द्वि+पदी) ध्वनित करता है कि यह दो पादों का छंद है। प्राकृत-पैंगलम् में लक्षण और उदाहरण दोनों से इसका दो पादवाला होना प्रकट है। किंतु छंदोऽनुशासन,[३] स्वयंभूच्छंदस्,[४] गाथालक्षण,[५] छंदःकोश[६] तथा कविदर्पणम्[७] में इसे चार पादों का छंद कहा गया है।

प्राकृतपैंगलम् के भाष्य में वंशीधर ने इसका विचार किया है कि दुवई दो पादों का छंद है या चार पादों का।[८] वेलंकर ने भी इस प्रश्न पर पूरा विचार किया है।[९] हम भी चौथे अध्याय में विचार कर इस परिणाम पर पहुँचे है कि वस्तुतः द्विपदी को दो पाद-वाला छंद मानना ही उपयुक्त है। प्रस्तुत प्रसंग में वास्तविक काव्य-व्यवहार के बीच इस छंद के अवलोकन द्वारा हमारे इस मंतव्य की पुष्टि होती है।

कण्हपा[१०] के दोहाकोश में रहस्यगीतों के बीच दुवई छंद में निबद्ध एक पद्य आया है, जो इस प्रकार है—

एहु सुदुद्धर धरणिधर समबिसम उतार न पावई।
ऽ। ।ऽ।। ।।।।। ।।।।। ।ऽ। । ऽ।ऽ

---

१. बृ० जा० स० २।१ तथा ९-१६।
२. प्रा० पैं० १।१५२-१५४ (१ इंद्र+२ धनर्धर+२ धनुर्धर+१ मधुकर)।
३. हे० छं० ४।६४।
४. स्वयं० ८।३७।
५. गाथालक्षण, ८१।
६. छं० को० ३५।
७. क० द० २।२४।
८. प्रा० पैं० १।१५२-१५४। भाष्य, वंशीधरकृत।
९. JUB, 1933, AM II; Sec. 43.
१०. समय–८९७ वि०, राहुल: हिं० का० धा०, पृ० १४६।

भणइ काण्ह दुल्लक्ख दुरबबह को मने परिभाबई ॥'
। । । ऽ । ऽ ऽ । । । । । ऽ । ऽ । । ऽ । ऽ

उक्त उद्धरण में प्रतिपाद में ६+४+४+४+४+६ के हिसाब से मात्रिक गण आय , तथा पादांत ऽ।ऽ आया है। शहीदुल्ला ने इस पद्य का गणविधान इस प्रकार कहा है—६+५+४+गुरु=२८ मात्राएँ।[२] अर्थात्, अंतिम षट्कल ४+२ के रूप मे विभाज्य है।

धनवालकृत भविसयत्तकहा (समय—१०वीं शती वि०, अनुमित)[३] में प्रतिपाद २८ मात्राओं के हिसाब से दो पादवाला एक छंद आया है, जिसे इस ग्रंथ मे ही 'दुवई' कहा गया है। इसका प्रयोग संधि १२, १३ तथा १४ के प्रत्येक कड़वक के आरंभ में तथा संधि १५ के प्रथम तीन कड़वक के आरंभ में हुआ है। संधि १२ का संपूर्ण ५वाँ कड़वक दुवई में है। १२वीं संधि के तीसरे कड़वक के आरंभिक दो पद दुवई में निबद्ध है। भविसयत्तकहा में दुवई का प्रयोग दो पादवाले छंद के रूप में हुआ है, चतुष्पदी रूप में नहीं। एक उदाहरण देखिए—

पुणरवि भविसयत्तु सकलत्तउ पहुभोवालराइणो।
। । । । । । । ऽ । । । ऽ । । । । ऽ ऽ । ऽ । ऽ

कोक्किवि सपरिवारु सम्माणिउं अहियमणाणुराहणो ॥[४]
ऽ । । । । । ऽ । ऽ ऽ । । । । । । ऽ । ऽ । ऽ

इस उदाहरण में गणविधान ६+४+४+४+४+६ (४+ऽ) चरितार्थ हाता है।

भविसयत्तकहा में दुवई छंद में निबद्ध पद्यों के विश्लेषण से पता चलता है कि दुवई के पाद को यति के अनुसार दो भागों में बाँटा जा सकता है—१६ और १२ मात्राओं के रूप में, अर्थात् १६वीं मात्रा पर यति होती है। प्रथम पादांत के अंत में अलिल्लह के पादांत की तरह दो लघु होते है तथा दूसरे पादांत का अंत में ऽ।ऽ द्वारा होता है। ऊपर के उदाहरण में भी ये बातें चरितार्थ है। ये नियम न तो लक्षण-ग्रंथों मे निर्दिष्ट हैं और न सभी काव्यग्रंथों में इनका पालन हुआ है।

हेमचंद्र के कुमारपालचरित में अवश्य एक पद्य[५] आया है, जिसे हम दुवई नही तो उसका पूर्वरूप अवश्य कह सकते हैं। इसके प्रति पाद के अंत मे ऽ।ऽ है तथा १६वीं मात्रा पर यति भी है। वस्तुतः, यह धृति जाति का वर्णवृत्त है, जो कवि-प्रयत्न-शैथिल्य के कारण मात्रिक छंद बनने की प्रक्रिया में है। प्राकृतपैंगलम् में दिये गये उदाहरण मे

---

१. कण्हपा : दोहाकोश १५; M. Shahidulla 'Less Chants Mystiques de kanha at de Saraha.' P. 76.
२. M. Shahidulla : 'Less Chants Mystiques de kanha at de Saraha.' P. 66.
३. दलाल और गुणे : भविसयत्तकहा (भूमिका), पृ० ४।
४. धनपाल : भविसयत्तकहा, १२।१, पृ० ८२।
५. हेमचंद्र : कुमारपालचरित ३।९० (इस पद्य के मात्राचित्र के लिए दे० अ० ३, पृ० २४५)।

भी प्रतिपाद में १६ मात्राओ पर यति, यति के पूर्व दो लघु और पादान्त में ऽ।ऽ है[1] यद्यपि लक्षण में ऐसा निर्देश नही।

पुष्पदंत[2] ने आदिपुराण (महापुराण) मे दुवई छंद का सुदर प्रयोग प्रकृति-वर्णन के लिए किया है। पावस ऋतु-वर्णन की ये पंक्तियाँ देखिए—

पिय पिय पिय लवंत बप्पीहय मग्गिय तोय बिंदुओ।
।। ।। ।। ।ऽ। ऽऽ।। ऽ ।। ऽ। ऽ। ऽ

सरतीरुल्ललंत हंसावलि झुणि हल बोल मंजुओ॥[3]
।।ऽ ऽ।ऽ। ऽऽ।। ।। ।। ऽ। ऽ। ऽ

उक्त उद्धरण में भविसयत्तकहा के दुवई पद्यों की तरह १६+१२ के हिसाब से पादांतर्गत यति, १६वी मात्रा पर यति के पूर्व दो लघु और पादांत में ऽ।ऽ वर्त्तमान हैं। किंतु पुष्पदंत की निम्नलिखित पंक्ति में दुवई छंद पादांत ऽ।ऽ से रहित है—

वर-काहलिय-वंस-रव-बहिरए, गाइय गेय रम मए।[4]
।। ।ऽ

उक्त पंक्ति मे पादांत ऽ।ऽ के स्थान पर ।।।ऽ आया है।[*] इसमे पादांत ऽ।ऽ को लक्षण के रूप में स्वीकृति न देने में लक्षणकारों की बुद्धिमत्ता की पुष्टि होती है।

अपभ्रंश के प्रबंधकाव्य हरिवंशपुराण में दुवई छंद आया है।[5] इस ग्रंथ में प्रयुक्त दुवई छंद के १०० पादों के आँकड़ों के आधार पर उसके संपादक आल्सडॉर्फ ने निम्नलिखित परिणाम निकाले है—

दो पादवाले इस छंद के प्रथम षट्कल के अंत में ऽ। वर्जित है। इसका प्रायः ऽ।।ऽ स्वरूप आया है। द्वितीय और षष्ठ गण जगण या सर्वलघु होते हैं, किंतु अन्य चतुष्कलों में ये दोनों रूप वर्जित हैं। १६ मात्राओं पर यति होती है, किंतु इसके अपवाद भी हैं। यति के पहले प्रायः दो लघु तथा बाद में प्रायः एक गुरु रखते हैं।

संदेशरासक में भी दुवई छंद आया है।[6] किंतु इस ग्रंथ में प्रयुक्त गण-स्वरूप हरिवंशपुराण में प्रयुक्त गणस्वरूपों से भिन्न हैं। संदेशरासक में प्रथम गण का स्वरूप है—।।।।ऽ (तीन हस्तलिपियों में) अथवा ।।ऽ।। (चौथी हस्तलिपि में)। केवल दो हस्तलिपियों में १६ मात्राओं पर यति है। गाथालक्षण[7] मे दिया गया दुवई-निबद्ध पाद भी दो बार यति से रहित है, स्वयंभूच्छंदस्[8] तथा हेमचंद्रकृत[9] छंदोऽनुशासन में एक बार।

१. प्रा० पैं० १।१५५।
२. समय—९५९-७२ (राहुल: हिं० का० धा०, पृ० १७६)।
३. पुष्पदंत: आदिपुराण २९-३० (हिं० का० धा०, पृ० १८४)।
४. पुष्पदंत: आदिपुराण, महापुराण (हिं० का० धा०, प० २२२)।
५. हरिवंश-पुराण, पृ० १९५।
६. अद्दहमाण: संदेशरासक, १२०।
७. नंदिताढ्य: गाथालक्षण, ८१।
८. स्वयं ८।३७।
९. हे० छं० ३२ अः, १५।

हरिवंशपुराण में प्रयुक्त दुवई छंद में १६ मात्राओं पर यति के कारण आल्सडार्फ ने इस छंद का सामान्य विधान इस प्रकार माना है—

६+।ऽ। } +६/+६ ।ऽ।ऽ }
  ।। }   ।। }

किंतु, यह विधान परंपरागत गणस्वरूप के नियमों के विरुद्ध है। परवर्त्ती प्रयोग भी इस विधान की पुष्टि नहीं करते।

दुवई छंद का प्रयोग संदेशरासक तथा हरिवंशपुराण दोनों में द्विपदी (दो पादों के छंद) के रूप मे हुआ है। जैसा कहा जा चुका है, विरहांक[1] ने द्विपदी कहे जानेवाले ५७ चतुष्पदी छंदों की चर्चा की है, तथा हेमचंद्र[2] ने इन छंदों के नाम-निर्देश भी किये हैं। किंतु, संदेशरासक में प्रयुक्त द्विपदी इन ५७ प्रकारों से सर्वथा भिन्न है।

गोरखनाथ[3] की रचनाओं मे दुवई या मार छंद का प्रयोग मिलता है।[4] उदाहरण—

सहज पलांण पवन करि घोड़ा   ले लगाम चित चबका।
।।। ।ऽ । ।।। ।। ऽऽ   ऽ ।ऽ। ।। ।।ऽ

चेतनि असवार ग्यान गुरु करि,   और तजो सब ढबका।।[5]
ऽ।। ।।।। ऽ। ।ऽ ।।   ऽ। ।ऽ ।।।ऽ

उक्त उदाहरण के प्रतिपाद में गणस्वरूप ६+४+४+४+४+६ है तथा यति १६वीं मात्रा पर आई है। पादांत रगण नहीं है।

अमीर खुसरो[6] ने भी इस छंद का प्रयोग कहीं-कहीं किया है। उदाहरण—

बहुत रही बाबुल घर दुलहिन   चल, तेरे पी ने बुलाई।
।।। ।ऽ ऽ।। ।। ।।।।   ।। ।। ऽ । ।ऽऽ

---

१. वृ० जा० स०।

२. हे० छं० ७।

३. समय—(क) १३वीं शती, मध्य; डॉ० रामकुमार वर्मा: हिंदी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० १३४।
(ख) ९वीं शती; डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी: हिंदी-साहित्य—उसका उद्‌भव और विकास, पृ० २३।
(ग) सं० ९०२ वि०; राहुल: हिं० का० धा०, पृ० १५६।

४. गोरखनाथ: गोरखबानी (सं० डॉ० पी० द० बड़थ्वाल, प्र० हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग) ४०।४; १०३।३; १०४।१, ३; १३७।४३ आदि।

५. वही, १०३।३।

६. मूल नाम अब्बुल हसन; जन्म-सं० १३१२ वि०; परशुराम चतुर्वेदी: सूफीकाव्य-संग्रह। (हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग), पृ० २०१।

बहुत खेल खेली सखियन सों, अंत करी लरकाई॥
।।। ऽ। ऽऽ । ।।। ऽ ऽ। ।ऽ ।।ऽऽ ॥

इन पंक्तियों में प्रति पाद ६+४+४+४+४+६ के हिसाब से मात्रिक गण, १६, १२ के हिसाब से यति तथा पादांत (ऽऽ) प्रयुक्त है। द्रष्टव्य है कि पादांत रगण यहाँ भी नहीं है।

दुवई छंद की उत्पत्ति

इस छंद का प्रयोग तथा उल्लेख आर्या के बहुत बाद काव्य तथा लक्षणग्रंथों में दृष्टिगत है, इससे यह ध्वनित है कि यह छंद परिनिष्ठित काव्य-व्यवहार के बीच बाद में आया। नवीं-दसवीं शती के पूर्व न तो लक्षणग्रंथों में इसका उल्लेख हम पाते है, न काव्य ग्रंथों में व्यवहार। किंतु, इससे यह नही समझना चाहिए कि अलिखित लोक-काव्य के बीच भी यह व्यवहृत नहीं होता होगा। कुमारपालचरित के जिस धृतिजातिवाले वर्णवृत्त का उल्लेख ऊपर किया गया है; उससे यह न समझना चाहिए कि दुवई भी आर्या की तरह संस्कृत वर्ण-वृत्त का विकसित रूप है। यदि ऐसा होता, तो दुवई का उल्लेख संस्कृत-परंपरा के लक्षणकारों ने अवश्य किया होता। किंतु पिंगल, कालिदास, क्षेमेन्द्र, जयदेव, जयकीर्त्ति और केदार के संस्कृत-छंदोग्रंथों में इस छंद के अनुल्लेख तथा स्वयंभूच्छंदस्, गाथालक्षण, कविदर्पणम् और छंदोकोश जैसे प्राकृत छंदोग्रंथों में इसके उल्लेख द्वारा ध्वनित है कि यह प्राकृत-अपभ्रंश के बीच प्रयुक्त छंद है, जिसका संस्कृत-वर्णवृत्त से विशेष संबंध नही। स्वयं हेमचंद्र ने दुवई को प्राकृत का छंद माना है।[1] इसके अतिरिक्त कुमारपालचरित के उक्त वर्णवृत्त के प्रयोग-काल के २०० वर्ष पूर्व दुवई छंद के प्रयोग और नामोल्लेख भविसयत्तकहा में हो चुके थे।

दुवई छंद के उपर्युक्त उदाहरणों के पाद-विश्लेषण से ऐसा प्रतीत होता है कि वह मूलतः तालवृत्त था; क्योंकि वह मात्रिक छंद के रूप में भी अष्टमात्रिक धुमाली ताल में बाँधे जाने योग्य है। ऊपर उद्धृत पुष्पदंत के उदाहरण को हम इस प्रकार ताल-गणों में बाँध सकते हैं—

पिय पिय पिंय लबंत बप्पी हय मग्गिय तो य बिंदुओ।
××।। ।। ।। ।ऽ। ऽऽ ।। ऽ ।। ऽ । ऽ। ऽ ××
२ +६ +८ +८ +६ +२

सरतीरु ल्ललंत हंसा वलि झुणि हल बो ल संजुओ॥[2]
×× ।।ऽऽ ऽ।।। ऽऽ ।। ।। ।। ऽ । ऽ। ऽ ××
२ +६ +८ +८ +६ +२

प्रतिपाद में चार अष्टमात्रिक तालगण है और पादगत ३२ मात्राएँ। पाद के प्रथम तथा अंतिम तालगणों में २-२ वर्ण-मात्राएँ कम हैं, जिनकी पूर्त्ति विराम अथवा प्लुत उच्चारण के सहारे की जाती है।

१. अमीर खुसरो : सूफी-काव्य-संग्रह, पृ० २०१।
२. हे० छं० ४।६४ तथा ७।१-३।

दुवई छंद की इस ताल-गणात्मक प्रकृति से यह व्यंजित है कि यह छंद प्रथम लोक के बीच उद्‌भूत-विकसित हुआ और बाद में परिनिष्ठित काव्य-रचयिताओं ने मात्रिक संस्कार कर इसका प्रयोग किया।

दुवई के नाम-भेद

इस छंद का सबसे पुराना नाम दुवई भविसयत्तकहा में प्रयुक्त है।[1] स्वयंभूच्छंदस् में भी यही नाम आया है।[2] हेमचंद्र ने इसका संस्कृत-रूप 'द्विपदी' प्रयुक्त किया है।[3] कविदर्पण में भी प्राकृत दुवई नाम प्रयुक्त है, जिसका संस्कृत रूपांतर द्विपदी बताया गया है।[4] प्राकृतपैंगलम् में 'दोअइ' रूप आया है,[5] और फिर छंदकोश में दुवई रूप ही प्रयुक्त हुआ है। हिंदी-लक्षणकारों ने अधिकांशतः 'दोवइ' या 'दोवे' रूप का व्यवहार किया है।[6] किंतु, जानी बिहारीलाल ने दोवइ-छंद से भिन्न एक ललितपद छंद की पृथक् चर्चा की है, जिसमें मात्र १६+१२ के हिसाब से २८ मात्राएं निर्दिष्ट हैं।[7] दोवई में उन्होंने गणस्वरूप-निर्देश किया है। भानु ने सार छंद में १६+१२ के हिसाब से २८ मात्राएँ (अंत ऽऽ) मानी हैं और इसी का दूसरा नाम दोवे अथवा ललितपद कहा है।[8] इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्रारंभ में यह छंद दुवई, दोवइ या दोअइ कहा जाता होगा, बाद में गण-बंधन से मुक्त होकर यह ललितपद या सार कहा जाने लगा होगा।

दुवई छंद का परवर्ती प्रयोग-वैविध्य

अपभ्रंश-काव्य में दुवई छंद का प्रयोग द्विपदी रूप में, चरितकाव्यों के कड़वक-विधान के लिए विविध प्रसंगों में हुआ है। साथ ही संदेशरासक जैसे गेय विरह-काव्य में तथा गोरखनाथ के धर्मोपदेश-संबंधी हिंदी-पद्यों में भी इसका प्रयोग हुआ है।

अपभ्रंशोत्तर हिंदी-काव्य में भी यह छंद पर्याप्त लोकप्रिय रहा और इसका प्रयोग विविधि शैलियों में होता रहा। संतों के धर्मोपदेश, मतमतांतर, खंडन-मंडन तथा रहस्यात्मक सूक्तियों से लेकर कृष्णभक्त कवियों के शृंगारोन्मुख लीला-वर्णन तक में यह छंद व्यवहृत दिखाई देता है। कभी वर्णनात्मक प्रसंगों में स्फुट रूप से या प्रबंध रूप से यह आया है, कभी गेय पदों में ध्रुव के उपरांत अंतरा रूप में; कभी संपूर्ण पद इसी छंद में निबद्ध मिलता है, कभी लय-साम्य के आधार पर कतिपय अन्य छंदों के साथ इसका वैकल्पिक प्रयोग होता है।

संतों की रचनाओं में यह छंद अधिकतर 'पदों' में प्रयुक्त हुआ है। कभी ये पद गीति-काव्य का रूप धारण करते हैं, कभी 'पद' के अंतर्गत कई स्फुट छंद इकट्ठे मिलते हैं।

---

१. धनवाल: भविसयत्तकहा, १२, १३, १४ आदि।
२. स्वयं० ८।३७।
३. हे० छं० ४।६४।
४. क० द० २।२४।
५. प्रा० पैं० १।१५२-३।
६. छं० हृ० प्र०, पृ० ३२ ख; सु० पिं० २०२; जा० छं० २।३।२१; अ० छं०, पृ० ५३-५४; छं० प्र०, पृ० ६९।
७. जा० छं० २।१।१८१।
८. छं० प्र०, पृ० ६९।

हम अब मध्यकालीन हिंदी-काव्य के बीच दुवई के प्रयोग-वैविध्य का अवलोकन करेंगे।

रामानंद[1] ने दुवई का स्फुट मुक्तक पद्यों के रूप में प्रयोग अध्यात्म-संबंधी चर्चा के लिए किया है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

अनहद घंटा आलर बाजे, अलख पुर्ष की सेवा।
पुरस निरंतर बैठा माधो, रूम-रूम मे देवा॥[2]

उक्त उद्धरण मे १६+१२ का मात्राविधान तथा ६+४+४+४+४+६ का गणविधान चरितार्थ है।

सत त्रिलोचन[3] के 'पदो' में स्फुट रूप से कही-कही दुवई या सार छंद का प्रयोग हुआ है। उदाहरण—

अंतर मलि निरमलु नहि कीना बाहरि भेप उदासी।
हिरदे कमलु घटि ब्रह्म न चीन्हा, काहे भइआ सनिआसी॥[4]

उक्त उद्धरण के दूसरे पाद मे १६।१२ के मात्राविधान की रक्षा के लिए 'हिरदे' को 'हृदे' तथा 'भइया' को 'भया' के रूप में पढ़ना होगा। स्मरणीय है कि सिद्धों की तरह संत कवियों ने भी छंदोनियमों की अथवा छंदःसौष्ठव की भी अक्सर परवा नही की है। संत मस्ती में अपनी बात कह गये है और छंद ने अपना रूप स्वयं सँवारा है। अतएव, संतों के पद्य-विधान में इस प्रकार की स्वच्छंदता के उदाहरण प्रचुर मिलेंगे।

सत नामदेव[5] के 'पदों' में भी इसी प्रकार दुवई का स्फुट प्रयोग उपलब्ध है—

एक अनेक बिआपक पूरक, जग देषउ तत सोई।
माइआ चित्र विचित्र विमोहित, बिरला बूझै कोई॥[6]

दूसरे पाद मे 'माइआ' का 'माया' पठनीय है।

कबीरदास[7] के 'सबद' 'रागों के अनुसार पद है।'[8] छंद की दृष्टि से इन पदों का

---

१. जन्म-सं० १३५६ वि०। डॉ० पी० द० बड़थ्वाल : रामानंद की हिंदी-रचनाएँ, पृ० ३३।
२. रामानंद : रामानंद की हिंदी रचनाएँ (सं० डॉ० पी० द० बड़थ्वाल; प्र० ना० प्र० सभा, काशी), पृ० २८, पद्य ७।
३. जन्म-सं० १३२४; परशुराम चतुर्वेदी : संत-काव्य, पृ० १४१।
४. त्रिलोचन : पद (संतकाव्य, पृ० १४१)।
५. जन्म-सं० १३२६ वि०; परशुराम चतुर्वेदी : संतकाव्य, पृ० १४२।
६. नामदेव : पद (संतकाव्य, पृ० १४४)।
७. समय—(क) सं० १४५५-१५७५ वि०; डॉ० रामकुमार वर्मा : हिंदी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २२४।
(ख) सं० १४५६ (जन्म); डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिंदी-साहित्य—उसका उद्भव और विकास, पृ० ११९।
(ग) सं० १४२७-१५०५ वि०; डॉ० पी० द० बड़थ्वाल; The Nirgun School of Hindi Poetry, p. 252-3.
८. डॉ० रामकुमार वर्मा : हिं० सा० का आ० इ०, पृ० ३०२।

विश्लेषण करें, तो प्रत्येक पद में दो छंदों का प्रयोग दिखाई देता है। ध्रुव या टेक के रूप में प्रथम पंक्ति अधिकतर १६ मात्राओं की होती है और बाद की पंक्तियाँ प्रायः २८, ३० या ३२ मात्राओं की। अक्सर ऐसी बड़ी पंक्तियों की संख्या ५, ७, ९, ११ आदि विषम रूप में होती है, जिसका तात्पर्य यह हुआ कि छोटी पंक्ति (ध्रुव) को लेकर संख्या सम, अर्थात् दो से विभाज्य होती है।

उदाहरणार्थ, कबीर के इस प्रसिद्ध पद का विश्लेषण करें—

१. माया महा ठगिनि हम जानी।
S S I S I I I I I S S

तिरगुन फांस लिये कर डोले, बोले मधुरी बानी॥
I I I I S I I S I I S S S S I I S S S

२. कैसो के कमला होय बैठी सिव के भवन भवानी।
S S S I I S I I S S I I S I I I I S S

पंडा के मूरति होय बैठी, तीरथ हूँ में पानी॥
S S S S I I I I S S S I I S S S S

३. जोगी के जोगिन होय बैठी, राजा के घर रानी।
S S S S I I I I S S S S S I I S S

काहू के हीरा होय बैठी, काहू के कौड़ी कानी॥
S S S S S I I S S S I I S S S S

४. भगता के भगतिन होय बैठी, ब्रह्मा के ब्रह्मानी।
I I S S I I I I I I S S S S S S S S

कहैं कबीर सुनो हो संतो, ई सभ अकथ कहानी॥[1]
I S I S I I S S S S S I I I I I I S S

उपर्युद्धृत आठ पंक्तियों में से प्रथम में १६ मात्राएँ हैं, और गणविधान ४+४+४+४ अथवा २+२+३+३+४+४ है। छठी-सातवीं मात्राएँ मिलकर गुरु-रूप में वर्त्तमान हैं, अतएव गणविधान ६+४+४+२ चरितार्थ नहीं। उक्त पंक्ति को चौपाई या पादाकुलक का एक पाद कह सकते हैं। शेष सभी पंक्तियों में गणविधान ६+४+४+४+४+६ है, १६+१२ के हिसाब से यति है, तथा अंत में SS है, SIS नहीं। दुवई छंद के पाद के शास्त्रोक्त

१. कबीर: बीजक (कबीर-ग्रंथ-प्रकाशन-समिति, हरक, बाराबंकी), पृ० ४९।

लक्षण सभी पंक्तियों मे चरितार्थ है। तीसरी मे आठवी पक्तियों तक दुवई के ६ पाद, अर्थात् तीन युग्मक है। दूसरी पंक्ति दुवई का एक पाद है, जो ध्रुव की १६ मात्राओं के बाद आती है। प्रथम और द्वितीय पंक्तियाँ भिन्न छंदों के पाद है, किंतु एक ही ताल (अष्टमात्रिक धुमाली ताल) में गेय होने के कारण साथ रखी गई है। इन दो पंक्तियों को इस प्रकार ताल-गणों मे विश्लेषित कर सकते है—

० । ।
मा या महा ठगिनि हम जानी ।
××× ××× ×× × ××× ऽ ऽ । ऽ । । । । । ऽ ऽ ××
८ + ६ + २ + ८ + ६ + २

। । । ।
तिरगुन फां स लिये कर डो ले बोले मधु री बानी ॥
×× । । । । ऽ । । ऽ । । ऽ ऽ ऽ ऽ । । ऽ ऽ ऽ ××
२ + ६ + ८ + ८ + ६ + २

प्रत्येक पंक्ति मे ८ अष्टमात्रिक गण है। प्रथम पंक्ति का प्रथम गण संपूर्ण तथा द्वितीय गण की प्रथम ६ मात्राएँ अनुच्चरित है। इन १४ मात्राओं की पूर्ति विराम द्वारा होती है, जो ध्रुव की विशेषता है। तृतीय गण सामान्य है। चतुर्थ गण में दो मात्राओं की कमी की पूर्ति प्लुत या विराम द्वारा की जाती है। दूसरी पंक्ति में भी प्रथम तथा अंतिम गण में दो-दो मात्राओं की पूर्ति प्लुत या विराम द्वारा होती है, तथा बीच के दो गण सामान्य है। इस प्रकार, चौपाई और दुवई के पाद एक ही ताल में निबद्ध किये जा सके है।

गेय पदों के लिए दुवई छंद का प्रथम उपलब्ध प्रयोग कबीर द्वारा ही मिलता है। बाद में संतों के अतिरिक्त सूरदास आदि कृष्णभक्त कवियों ने भी इस पद्धति पर दुवई छंद लिखे।

दादूदयाल द्वारा दुवई का पद-शैली में प्रयोग देखिए——

। ।
भाई रे ऐसा पंथ हमारा।
४ + ८ + ६ (= १८ मात्राएँ)

। । ।
द्वै पष रहित पंथ गहि पूरा, अवरण एक अधारा॥
६ +८ + ८ +६

::: ::: ::: :::

। । । ।
काम कलपना कदे न कीजे, पूरण ब्रह्म पियारा।
६ +८ +८ + ६

। । । ।
इहि पंथ पहुंचि पार गहि दादू, सो तत सहजि संभारा॥[1]
६ + ८ + ८ + ६

---

१. दादूदयाल : दादूदयाल की वाणी (राजेन्द्रकुमार एंड ब्रदर्स, बलिया), ५६, पृ०४८।

ये पंक्तियाँ भी अष्टमात्रिक ताल-गणों में गेय हैं। जिस ताल-गण के अंतर्गत वर्ण-मात्रासंख्या ८ से कम है, वहाँ विराम या प्लुत के सहारे कमी की पूर्त्ति कर ली जाती है। ध्रुव की पंक्ति १८ मात्राओं की है। शेष पंक्तियाँ दुवई की हैं।

आदि ग्रंथ में उपलब्ध संत पीपा[1] के एक 'पद' में, जिसका राग धनाश्री निर्दिष्ट है, दुवई छंद का प्रयोग हुआ है—

कायउ देवा काइअउ देवल, काइअउ जंगम जाती।
काइअउ धूपदीप नइवेदा, काइअउ पूजउ पाती॥[2]

उक्त पद्य में 'काइअउ' को 'कायउ' पढ़ना छंदोरक्षार्थ अपेक्षित है।

इसी प्रकार रैदास[3] के गेय पद में भी दुवई छंद प्रयुक्त है—

देव, संसे गांठि न छूटे।
काम क्रोध माइआ मद मतसर, इह पंचहु मिलि लूटे।

... ...

कहु रविदास सभै नहिं समुझसि, भूलि परे जैसे बउरे।
मोहि अधारु नामु नाराइन, जीवन प्रान धन मोरे॥[4]

उक्त पद्य में 'माइआ' का 'माया' पढ़ना तथा 'जैसे' के दोनों वर्णों और 'जीवन' के जी को लघु रूप में पढ़ना अपेक्षित है। छंदःशास्त्र और व्याकरण के नियमों से अनभिज्ञ संत कवियों में ऐसी स्वच्छंदताओं के उदाहरण कम नहीं।

धर्मदास[5] के गेय पदों में भी दुवई छंद के अच्छे उदाहरण मिलते हैं। ध्रुव के साथ प्रयुक्त प्रारंभिक पाद देखिए—

नैन दरस बिनु परत पियासा।
तुमहीं छाँड़ि भजूँ नहिं औरे, नाहिं दूसरी आसा।[6]

संत कवियों में सुंदरदास ही थोड़े शास्त्रज्ञ थे। अतएव, सचेत रूप से छंदःप्रयोग उनके काव्य में अवश्य दृष्टिगत होता है। सुंदरदास[7] ने तो पद-शैली में दुवई छंद का सुंदरतम प्रयोग किया है—

---

१. समय—सं० १४१७-१४४२ वि०; कनिंघम (संतकाव्य, पृ० २०९)।
२. पीपा: पद (संतकाव्य, पृ० २१०)।
३. समय—१५वीं-१६वीं शती; परशुराम चतुर्वेदी: संतकाव्य, पृ० २१६।
४. रैदास: पद (संतकाव्य, पृ० २१३)।
५. समय—१७वीं शती का आरंभ। गणेशप्रसाद द्विवेदी तथा परशुराम चतुर्वेदी (सं०): हिंदी-संतकाव्य-संग्रह (हिंदुस्तानी एकेडमी), पृ० ३३६।
६. धर्मदास: हिंदी-संतकाव्य-संग्रह, पृ० ३३७।
७. समय—सं० १६५३ वि०, पुरोहित हरिनारायण: सुन्दरसार, भूमिका। (इंडियन प्रेस, प्रयाग), पृ० ११।

।　　　　।
ऐसी भक्ति सु नहु सुखदाई।
।　　　　।　　　　।　　　　।
तीन अवस्था में दिन बीते, सो सुख कह्यो न जाई।।
S ।। । S । SS

० ... ...

।　　　　।　　　　।　　　　।
सोई भ क्ति भक्त पुनि सो ई सो भगव त अनूपं।
६ + ८ + ८ + ६
।　　　　।　　　　।　　　　।
सो गुरु जिन उपदेश बता वो सुंदर तु रिय स्वरूपं।।[1]
६ + ८ + ८ + ६

उक्त प्रथम दो पंक्तियों में तालगण-विधान दुवई के सामान्य तालगण-विधान से कुछ भिन्न हैं; क्योंकि दूसरी पंक्ति में दुवई का मात्रागण-विधान पूर्णतया चरितार्थ नहीं। मात्रा-गण-मुक्त होने के कारण इसे दुवई का पाद न कहकर सार छद का पाद भी कह सकते हैं। शेष पंक्तियाँ मात्रागण और तालगण की दृष्टि से दुवई के सामान्य विधान के अनुकूल हैं।

मलूकदास (जन्म-सं० १६३१ वि०)[2] ने पद-शैली के अतिरिक्त स्फुट धर्मोपदेश के लिए भी दुवई का प्रयोग किया है। उदाहरण—

दाया करे धरम मन राखै, घर में रहे उदासी।
अपना सा दुःख सबका जानै, ताहि मिले अविनासी।।[3]

इन पंक्तियों मे ६+४+४+४+४+६ का गण-विधान चरितार्थ है, १६+१२ के अनुसार यति और पादांत कर्ण (SS) है।

संत कवियों ने दुवई छंद का प्रयोग अधिकांशतः गेय पदों के लिए किया है। पदों में दुवई की पाद-संख्या (ध्रुव के साथ आनेवाली पंक्ति को छोड़कर) सदैव ४ से नहीं, २ से विभाज्य है। अतएव, द्विपदी रूप में इस छंद का प्रयोग व्यंजित है। यह भी द्रष्टव्य है कि संत कवियों के दुवई में पादांत रगण का नहीं, कर्ण (SS) का ही प्रायः प्रयोग हुआ है।

दुवई छंद संत-काव्य के बीच जितना लोकप्रिय रहा है, सूफी प्रेमाख्यानक कवियों द्वारा उतना ही उपेक्षित भी। सूफी कथा-काव्य में कड़वक-विधान के लिए अत्यंत व्यापक रूप से दोहा-चौपाई को अपनाया गया है। यदि कहीं अन्य छंद आये हैं, तो भी इन्हीं वर्गों के, जैसे सोरठा, पादाकुलक आदि। इन छंदों पर हमने अन्यत्र विचार किया है। दुवई

---

१. सुन्दरदास : सुन्दरसार (इं० प्रे०, प्रयाग), पृ० २८८।
२. गणेशप्रसाद द्विवेदी तथा परशुराम चतुर्वेदी (सं०) : हिंदी-संतकाव्य-संग्रह (हिंदुस्तानी एकेडमी), पृ० २७५।
३. मलूकदास : हिंदी-संतकाव्य-संग्रह, पृ० २७७।

छद सूफी कथा-काव्य मे प्रायः नही आया है। दुवई से लयसाम्य रखनेवाले ताटंक या लावनी (१६+१४) छंद का प्रयोग अवश्य जायसी[1] की 'महरी बाईसी' में मिलता है—

सखी सहेली सुनहु सोहागिनि सब कोउ अइसि बियाही रे।
नैहर दिवस चारि ले रहना ससुरे ओर निबारी रे॥[2]

इस ग्रंथ मे २२ पद्य हैं, जिनमे से प्रत्येक में १० से १६ तक इस प्रकार के पाद आये हैं। पादसंख्या ४ से नही, २ से विभाज्य है, अतएव इस छंद का प्रयोग द्विपदी रूप में कहा जायगा। अनुप्रास-योजना से भी इसकी पुष्टि होती है। इन सभी पादों के अंत में 'रे' अनिवार्यतः आया है। सांगीतिक सुविधा के लिए प्रयुक्त 'रे' की दो मात्राओं की गिनती छंदोविधान में नहीं करे, तो इन पादों को दुवई छंद के उदाहरण हम मजे में मान सकते हैं; क्योंकि दुवई छंद के अन्य सभी लक्षण इनमें चरितार्थ हैं।

पद-शैली के अतिरिक्त पदेतर-शैली मे भी दुवई या सार छद का प्रयोग सूरदास[3] के काव्य मे प्रचुर रूप मे दृष्टिगत है।[4] सूर के पदों मे दुवई के परंपरासिद्ध अंत्य रगण का प्रयोग प्रायः नही हुआ है। अक्सर पादांत कर्ण (ऽऽ) या सगण (।।ऽ) आया है। दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

१ आदि सनातन परब्रह्म प्रभु , घट घट अंतर जामी।
ऽ। ।ऽ।।।ऽऽ। ।। ।। ।। ऽ।। ऽऽ

सो तुम्हरें अवतरे आनि के , सूरदास के स्वामी॥[5]
ऽ ।।ऽ।।।ऽ ऽ। ऽ ऽ।ऽ। ऽ ऽऽ

२ तुम गुन की जैसे मिति नाहिंन , हौं अथ कोटि बिचरतौ।
।। ।।ऽ ऽऽ ।। ऽ।। ऽ ।। ऽ। ।।।ऽ

तुम्हें हमें प्रतिवाद भए तैं, गौरव काको गरतौ॥[6]
।ऽ।ऽ ।।ऽ। ।ऽ ऽ ऽ।। ऽऽ ।।ऽ

१. कविता-काल सं० १५९७ वि० के लगभग। डॉ० रामकुमार वर्मा: हिंदी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ३०९।
२. जायसी-ग्रंथावली (सं० माताप्रसाद गुप्त, प्र० हिंदुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद), पृ० ७१५।
३. समय—सं० १५३५-१६४० वि०। डॉ० दीनदयालु गुप्त: अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय, पृ० २१२;
४. सूरदास: सूरसागर (ना० प्र० सभा, काशी), पद-संख्या १२९, १५४, १८१, २०३, ३३७, ५४६, ६२२, ६५३, ६९३, ७०४, ७०५, ७४६, ७४८, ७६५, ७७१, ७७४ आदि।
५. सूरदास: सूरसागर (ना० प्र० सभा, काशी) प० सं० ७०४।
६. वही, २०३।

उक्त प्रथम उदाहरण में द्वितीय तथा तृतीय गण चतुष्कल के बजाय क्रमशः पंचकल और त्रिकल हो गये हैं; क्योंकि द्वितीय गण की चतुर्थ मात्रा अगले गण की प्रथम मात्रा से संयुक्त होकर गुरु वर्ण बनाती है। यह नियम-शैथिल्य दूसरे उदाहरण में नहीं। उसमें शास्त्रोक्त सभी गणस्वरूप सुरक्षित हैं। प्रथम उदाहरण मे पादांत ऽऽ आया है, दूसरे उदाहरण में पादांत ।।ऽ है। कहीं-कहीं पादांत ऽ।। के उदाहरण भी मिलेंगे।[1]

स्पष्टतः सूरदास ने शास्त्रोक्त मात्रागणों अथवा पादखंडगत मात्रासंख्याओं की उतनी चिंता नहीं की है, जितनी संगीतगत राग-रागिनियों की। इसी के फलस्वरूप विभिन्न मात्रा-संख्यावाले, किंतु समान सांगीतिक लयवाले पादयुग्मों का प्रयोग सूरदास ने एक साथ मिला-जुलाकर किया है, मानों वे भिन्न छंदों के नहीं, वरन् एक ही छंद के विभिन्न-रूपांतर के द्योतक हों। दुवई या सार (पादगत १६+१२=२८ मात्राएँ) छंद का प्रयोग सरसी (पादगत १६+११=२७ मात्राएँ, अंत ऽ।)[2] अथवा हरिपद (१६, ११, १६, ११; सम पादांत ऽ।)[3] छंद के साथ मिलाकर किया गया है। एक उदाहरण देखिए—

चकई री, चलि चरन-सरोवर, जहाँ न प्रेमवियोग।
जहँ भ्रमनिसा हो तिनहिं कबहूँ, सोइ सायर सुख जोग ॥. . . .
जिहिं सर सुभग मुक्ति मुक्ताफल, सुकृत-अमृत-रस पीजै।
सो सर छाँड़ि कुबुद्धि विहंगम, इहाँ कहा रहि कीजै॥[4]

उक्त पंक्तियों में प्रथम दो पादों का विधान प्रतिपाद (१६+११, अंत ऽ। है, जो सरसी) (कबीर या सुमंदर) छंद का पाद-लक्षण है। सरसी का उक्त एक पाद हरिपद छंद के अर्द्धांश के बराबर है। अतएव, उद्धृत प्रथम दो पंक्तियों को हरिपद छंद भी कह सकते हैं। सरसी और दुवई (या सार) के पादयुग्मों के सम्मिलित योग का कारण लयसाम्य है। ये दोनों छंद उक्त प्रसंग में देवगंधार राग में, इसीलिए गाये जा सकते हैं। इसी प्रकार, अन्यत्र सरसी और सार छंदों के पादयुग्म धनाश्री या विलावल राग में गाये जाने की योग्यता के कारण साथ आये हैं।[5] लयसाम्य के कारण कहीं-कही तो २६ और २८ मात्राओं के पादवाले छंद साथ प्रयुक्त हुए हैं। दुवई या सार (१६+१२, अंत ऽऽ) के साथ विष्णुपद (१६+१०, अंत ।ऽ)[6] के युग्म लयसाम्य के कारण केदारौ राग में बाँधे जा सके हैं।[7]

ध्यातव्य है कि दुवई छंद अथवा सरसी छंद अथवा विष्णुपद छंद का प्रयोग सूरदास ने द्विपदी रूप में ही किया है, जैसा पादांत तुक के अतिरिक्त अनुच्छेदगत पादसंख्या द्वारा—

---

१. सूरदास : सूरसागर (ना० प्र० सभा), १८१।
२. छं० प्र०, पृ० ६८।
३. छं० प्र०, पृ० ९१ (अर्द्धसम मात्रिक चतुष्पदी)।
४. सूरसागर : सूरसागर (ना० प्र० सभा), प० सं० ३३७।
५. सूरदास : सूरसागर (ना० प्र० सभा), प० सं० १८१, ६९३, ७०४।
६. छं० प्र०, पृ० ६६।
७. सूरदास : सूरसागर (ना० प्र० सभा) प० सं० ४९७।

जो सदैव ४ से नहीं, किंतु २ से विभाज्य है—ध्वनित है।[1] कहीं-कहीं पद-शैली में रचित पदों में दुवई-निबद्ध पाद-संख्या विषम भी है, जो इस बात का सूचक है कि सूर का ध्यान छंद की अपेक्षा राग-रागिनी की ओर अधिक था।[2] पदों में पाद-संख्या की विषमता का कारण यह भी है कि दुवई-निबद्ध प्रथम पाद ध्रुव रूप छोटी पंक्ति के साथ मिलकर युग्मक बनाता है।

ऊपर दुवई आदि छंदों के उदाहरण पदेतर वर्णनात्मक शैली के पदों मे दिये गये हैं। सूरदास के काव्य में पद-शैली में दुवई छंद के प्रयोग के उदाहरण भी प्रचुर हैं।[3]

मीराँबाई[4] के गेय पदों में दुवई या सार छंद का प्रयोग लगभग एक-तिहाई पदों के अंतर्गत हुआ है।[5] यह छंद निम्नलिखित पंक्तियों में मर्मस्पर्शिता और माधुर्य से कितना संपृक्त है। देखिए—

मैं गिरिधर रंग राती, सैयां मैं।।टेक।।
पँचरँग चोला पहन सखी मैं, झिरमिट खेलन जाती।. . . .
जिनका पिया परदेस बसत है, लिख-लिख भेजैं पाती।
मेरे पिया मेरे हीय बसत हैं, ना कहुँ आती जाती।[6]

उक्त दुवई-पादों में ६+४+४+४+४+६ का गणविधान, १६+१२ के अनुसार यति और पादांत कर्ण (ऽऽ) आये हैं।

मीराँ के कतिपय पदों में[7] 'रे', 'री', 'हो', या 'जी' के पादांत प्रयोगाधिक्य के कारण श्रीपरशुराम चतुर्वेदी ने उनमें सार छंद का सदोष प्रयोग माना है।[8] वस्तुतः, ऐसे उदाहरण ताटंक या लावनी छंद (१६+१४, पादांत ऽऽऽ)[9] के कहे जा सकते हैं। अतएव,

---

१. सूरदास: सूरसागर (ना० प्र० सभा) की
पदसंख्या १२९ में १० पाद हैं,
,, ५४६ में ६ पाद हैं,
,, ६२२ में ८२ पाद हैं,
तथा ,, ६५३ में १४ पाद हैं।

२. वही, पद-संख्या २, ६५६।

३. वही, पद-संख्या २, १०, ११, १२, १३, १५, २०, २१, २५, २७, २९, ३१, ३२ आदि।

४. समय—सं० १५५५ के लगभग (जन्म)। परशुराम चतुर्वेदी (सं०): मीराँबाई की पदावली (हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग), पृ० १५।

५. परशुराम चतुर्वेदी: मीराँबाई की पदावली, पृ० ५२।

६. मीराँ: मीराँबाई की पदावली, २०, पृ० १०२।

७. वही; ३९, ४०, ८१, ९८, १३९, १४५ (रे); १२, ९१ (री); १०४, १०७, १५२ (हो); ११२, १२७, तथा १४९ (जी)।

८. परशुराम चतुर्वेदी: मीराँबाई की पदावली, पृ० ५३।

९. छं० प्र०, पृ० ७२।

उनमें सार छंद का सदोष प्रयोग मानने की आवश्यकता नहीं। उदाहरणार्थ, एक पाद निम्नोद्धृत है—

मीराँ के प्रभु गिरिधर नागर, सहज मिले अविनासी रे॥[1]

असल में, विष्णुपद (१६+१०, अंत ऽ), सरसी (१६+११, अंत ऽ।), सार (१६+१२, अंत ऽऽ या ।।ऽ) तथा ताटंक या लावनी (१६+१४, अंत ऽऽऽ) छंदों[2] की प्रारंभिक लय सर्वथा समान है, पादगत मात्रासंख्या-परिवर्द्धन-जनित पादांत लय-परिवर्द्धन में ही इनका छंदोभेद घटित होता है। इसी लय-साम्य के कारण सूरदास-जैसे कुछ कवियों ने प्रथम तीन छंदों के मिले-जुले प्रयोग किये हैं।

इसी प्रकार, निम्नलिखित पंक्तियों में पादांत 'रे' के कारण विष्णुपद छंद का सदोष प्रयोग[3] मानने की जरूरत नहीं, उनमें सार (या दुवई) छंद के लक्षण घटित होते हैं—

राम नाम जप लीजै प्राणी, कोटिक पाप कटै रे।
जनम जनम के खत जु पुराने, नामहि लेत फटै रे॥[4]

नंददास[5] के काव्य में अधिकतर दोहा, चौपाई तथा रोला का प्रयोग है। दुवई छंद का पद[6] और पदेतर[7] शैली में प्रयोग भी मिल जाते हैं। दुवई-निबद्ध पदेतर शैली में भी राग-निर्देश से इस छंद की संगीतोपयुक्तता ध्वनित है और साथ ही हमारे पूर्वकथित इस मंतव्य की पुष्टि भी होती है कि दुवई छंद लोकप्रचलित तालसंगीत की देन है। नंददास के दुवई-प्रयोग का एक उदाहरण देखिए—

कुंडल मंडित आनन राजत उपमा अधिक बिराजै।
ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ।। ।।ऽ ।।। ।ऽऽ

हार सुदार उरन वर सोहत निरखि सची मन लाजै॥
ऽ।।ऽ।।।। ।।ऽ।। ।।। ।ऽ ।। ऽऽ

उक्त पंक्तियों में गणविधान ६+४+४+४+४+६ है, १६वीं मात्रा पर यति है, पादांत (ऽऽ) है।

---

१. मीराँबाई की पदावली, ३९, पृ० ११०।
२. छं० प्र०, पृ० ६६, ६८, ६९, ७२ क्रमशः।
३. परशुराम चतुर्वेदी : मीराँबाई की पदावली, पृ० ५३।
४. मीराँबाई की पदावली, २००, पृ० १६२।
५. समय—सं० १६६६ के पूर्व। व्रजरत्नदास : नंददास-ग्रंथावली, भूमिका, पृ० १६।
६. नंददास : नंददास-ग्रंथावली (ना० प्र० सभा, काशी), पृ० ३२६, ३३९ आदि।
७. वही, पृ० ३४३, ३४४ (निर्दिष्ट राग आसावरी)।

घनानंद[1] ने प्रायः पद-शैली के लिए ही दुवई का प्रयोग किया है। उदाहरण—

> राधा-रंग-विलासी, कान्ह।
> गोकुलजीवन-प्रान छबीलो, गिरि-गोबरधन-बासी।
> जमुना-तीर-बिहारी मोहन कुंज-कुटीर-निबासी।
> आनंदघन ब्रजमंडल-मंडन बट-संकेत-उयासी॥[2]

ध्रुव के अतिरिक्त शेष तीन पाद दुवई में निबद्ध हैं, जिनमें इस छंद के परंपरागत गणविधान तथा यति-नियम चरितार्थ हैं। पादांत (ऽऽ) प्रयुक्त है। इस पद में राग रामकली तथा मात्रा-ताल निर्दिष्ट हैं।

सूरदास की तरह घनानंद ने भी कहीं-कहीं लय-साम्य के आधार पर एकाधिक छंदों का पाद-मिश्रण उपस्थित किया है। स्वभावतया, ऐसा छंदोवैविध्य गेय पदों में ही दृष्टिगत है। उदाहरण—

> बन तें ब्रजमोहन आवन की बेर भई है।
> गोधन-धूरि धूंधरी देखें आँखिन जोति नई है।
> मुरली-धुनि सुनि प्रान जगे हैं बिरह-व्यथा टरि टूरि गई है।
> आनँदघर्न पिय आगम उलही उर अभिलाष-जई है॥[3]

२४ मात्राओं के प्रथम पाद में ६+४+४+४+६ गणविधान है, अतः यह काव्य छंद का पाद है। द्वितीय अथवा चतुर्थ पाद में ६+४+४+४+४+६=२८ मात्राएँ १६+१२ की यति से युक्त हैं। अतः, ये दोनों पाद दुवई-निबद्ध हैं। तृतीय पाद में ६+४+४+४+४+४+६=३२ मात्राएँ हैं। यति १६+१६ के अनुसार है। यह पाद चौपाई का दूना है। इन चार पादों में मात्रा-संख्याएँ क्रमशः २४, २८, ३२ और २८हैं, किंतु लय बहुत समान है। सभी पंक्तियाँ अष्टमात्रिक ताल-गणों में बाँधी जा सकती हैं। इसी आधार पर विभिन्न लंबाई की पंक्तियाँ जो विभिन्न छंदों के पाद हैं, यहाँ एक पद के अंतर्गत आयोजित हैं।

रसखान[4] ने अधिकतर मुक्तक कवित्त और सवैये लिखे हैं। सारंग राग में गेय उनका एक धमार (होली) का पद भी मिलता है, जिसमें १६ मात्राओं की ध्रुव-पंक्ति के बाद दुवई के सात पाद आये हैं। उदाहरण—

> तबहिं लाल ललकार निकारे रूप-सुधा की प्यासी।
> लपटि गई घनश्याम लाल सों चमक-चमक चपला-सी॥[5]

इन पंक्तियों में से प्रत्येक में ६+४+४+४+४+६ का गणविधान, १६+१२ के हिसाब से यति तथा पादांत कर्ण (ऽऽ) दृष्टिगत हैं।

---

१. समय—१७वीं शती, उत्तरार्द्ध। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिंदी साहित्य—उसका उद्‌गम और विकास, पृ० २०८।
२. घनानंद : घनआनंद-ग्रंथावली (सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र), पृ० ४८५।
३. वही, पृ० ३४१।
४. कविता-काल : सं० १६७१ वि० के लगभग। डॉ० रामकुमार वर्मा : हिंदी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ ७२३।
५. रसखानि : ग्रंथावली (सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र), पृ० ८१।

तुलसीदास[1] ने भी संत-काव्य और कृष्ण-काव्य के कवियों की तरह अधिकतर गेय पदों के लिए इस छंद का प्रयोग किया है। उदाहरण—

सोहत मग मनि संग दोउ भाई।
तरुन तमाल चारु चंपक छवि कविसुभाय कहि जाई।।....
सकुच सभीत विनीत साथ गुरु बोलनि चलनि सुहाई।
खग मृग चित्र विलोकत बिच-बिच, लसनि ललित लरिकाई।।[2]

यह पद राग कान्हरा में निर्दिष्ट है। इसका गणविधान ६+४+४+४+४+६ है, यति १६+१२ के अनुसार है तथा पादांत (ऽऽ) प्रयुक्त है।

तुलसी के काव्य में दुवई के पादों द्वारा निर्मित गेय पद कई विभिन्न रागों में निर्दिष्ट है; जैसे—आसावरी[3], जयतश्री[4], सोरठा[5], धनाश्री[6], विलावल[7], केदारा[8], टोड़ी[9], सारंग[10], कान्हरा[11] तथा मलार[12]—इन १० रागों में गीतावली के बालकांड में दुवई-निबद्ध पद गाये जा सकते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि छंदोविशेष के लिए रागविशेष निश्चित नहीं हैं, स्वरों के आरोह-अवरोह की विभिन्न योजनाओं द्वारा ताल-विधान बहुत कुछ समान रखते हुए भी एक ही छंद से विविध स्वर-सांगीतिक प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है।

१७वीं शती के बाद दुवई-प्रयोग

दुवई छंद का प्रयोग पद-शैली में और पदेतर शैली इस शोध-प्रबंध की काल-सीमा (सं० १७०० वि०) के बाद भी होता रहा है और आज भी हो रहा है। संतों में धरनीदास (जन्म-सं० १७१३ वि०)[13] ने पदशैली में इसका प्रयोग किया—

जब लग परम तत्त नहिं जाने।
तब लगि भरम भूत नहिं भाजे, करम कीच लपटाने।।

---

१. समय—सं० १५८९-१६८० वि०; डॉ० रामकुमार वर्मा : हिंदी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ३७७।
२. तुलसीदास : गीतावली, ५४ (तुलसी-ग्रंथावली, ना० प्र० सभा, काशी), पृ० २९७।
३. वही, १।
४. वही, ४।
५. वही, ८, ९, ९७-१००।
६. वही, १३।
७. वही, १४।
८. वही, १५-१७, ७९।
९. वही, ४४, ६३, ६६।
१०. वही, ५०, ९१, ९६।
११. वही, ५४, ५८, १०८।
१२. वही, ६०, ८९।
१३. गणेशप्रसाद द्विवेदी (सं०) : हिंदी-संतकाव्य-संग्रह (प्र० हिंदुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद), पृ० १८५।

मन बच करम सदा निसिबासर, दूजो ज्ञान न ध्याने।
धरनी जन मतगुरु सिर ऊपर, भक्तबछल भगवाने॥[1]

तदुपरांत भीखा[2], चरनदास[3], दरिया साहब (बिहारवाले)[4], दरिया साहब (मारवाड़-वाले)[5], गुलाल साहब[6], यारी साहब[7], दूलनदास[8], गरीबदास[9] आदि ने भी पद या पदेतर शैली में दुवई का प्रयोग किया है।

रीति-ग्रंथकार कवियो द्वारा दुवई का प्रयोग अपेक्षाकृत बहुत कम हुआ है। उन्होंने अधिकतर दोहा, कवित्त, सवैया, रोला, छप्पय, कुंडलिया आदि का प्रयोग किया है; क्योंकि ये छंद उनकी मुक्तक रचनाओ के अधिक अनुकूल पडते है। रीतिग्रंथों में पद-शैली के अभाव के कारण भी दुवई का समावेश नही हो सका। (हमने देखा है कि भक्ति-काल के कवियों ने अधिकांशतः पद-शैली के लिए ही दुवई का उपयोग किया है।)

आधुनिक काल में भारतेंदु-युग तथा द्विवेदी-युग मे दुवई (सार) छंद का पद तथा पदेतर-शैली मे प्रचुर प्रयोग हुआ है। इस छद को ताल-सांगीतिक क्षमता ने नवीन छंदः-प्रयोगो की सृष्टि करनेवाले छायावादी कवियो तक को आकृष्ट किया है। दो-एक उदाहरण अप्रासंगिक न होंगे।

भारतेंदु हरिश्चंद्र ने पद-शैली मे इस छद का सुदर प्रयोग किया है—

मन की कासों पीर सुनाऊँ। ...
रोम-रोम प्रति नैन श्रवन मन केहि धनि रूप लखाऊँ।
बिना सुजान-शिरोमनि री केहि हियरी काढ़ दिखाऊँ॥[10]

प्रबंध-शैली में द्विपदी रूप मे इस छद का प्रयोग कामायनी मे मिलता है। सम्पूर्ण 'कर्म' सर्ग इस छंद मे निबद्ध है। उदाहरण—

इस निर्जन में ज्योत्स्ना-पुलकित विधुयुत नभ के नीचे;
केवल हम-तुम और कौन है? रहो न आँखें मीचे॥[11]

पंत ने इस छंद का स्वच्छंद प्रयोग किया है; क्योंकि निम्नोद्धृत पंक्तियों में न तो परंपरागत पादांत रगण (ऽ।ऽ) है, न कर्ण (ऽऽ) है—

---

१. धरनीदास: हिंदी-संतकाव्य-संग्रह, पृ० १९५।
२. हिंदी-संतकाव्य-संग्रह, पृ २५०।
३. वही, पृ० २६९।
४. वही, पृ० २८९।
५. वही, पृ० २९३।
६. वही, पृ० २९७।
७. वही, पृ० ३०६।
८. वही, पृ० ३१२।
९. वही, पृ० ३१८।
१०. भारतेंदु हरिश्चंद्र: श्रीचंद्रावली नाटिका। (सं० डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय; प्र० विश्वविद्यालय-प्रकाशन, गोरखपुर), पृ० ९५।
११. जयशंकर प्रसाद: कामायनी (भा० भं०, १९९३ वि०), पृ० १२७।

प्रकृति-धाम यह तृण-तृण कण-कण जहाँ प्रफुल्लित-जीवित।
यहाँ अकेला मानव ही रे चिर-विपण्ण जीवन्मृत ॥[1]

दुवई-छंद-संबंधी सामान्य निष्कर्ष

(१) दुवई छंद, आर्या के विपरीत, संस्कृत वर्णवृत्त से उत्पन्न नहीं, वरन् लोक-प्रचलित ताल-सांगीतिक परंपरा की देन है, यह दुवई छंद में निहित ताल-सांगीतिकता तथा गेय पदों के लिए मध्यकालीन हिंदी में उसके प्रयोग-बाहुल्य और गीति-रचयिताओं के बीच उसकी अद्यावधि लोकप्रियता द्वारा सिद्ध है।

(२) दुवई छंद का प्रथम उपलब्ध प्रयोग ८वीं शती (कण्हपा) का मिलता है, अतएव संभवतः यह छंद आर्या जितना पुराना नहीं। हो सकता है, लोक-काव्य में इसका प्रयोग बहुत पहले से होता रहा हो, किंतु परिनिष्ठित साहित्य में, वर्णवृत्त तथा आर्यादि मात्रा-वृत्त के प्राधान्य के कारण, इसे बहुत दिनों तक नहीं अपनाया गया और बाद में इसके ताल-सांगीतिक माधुर्य का अनुभव होने पर इसका मात्रिक संस्कार कर इसे स्वीकृत किया गया। जो भी हो, परिनिष्ठित काव्य के बीच इसका प्रयोग ८वीं शती के पूर्व का अभी प्राथमिक रूप से नहीं मिलता। लक्षणग्रंथों में इसका प्रथमोल्लेख भी इसी समय के लगभग या इसके कुछ बाद ही हम पाते हैं।[2]

(३) दुवई अपभ्रंश का छंद है, जैसे ताल-संगीत से व्युत्पन्न अन्य अधिकांश छंद हैं। प्राकृत-काव्य के बीच इस छंद को हम लोकप्रिय नहीं देखते।

(४) ८वीं से १४वीं शती तक के दुवई-प्रयोगों के विश्लेषण से ऐसा प्रतीत होता है कि यह छंद अनिवार्यतः गणबद्ध रहा है। किंतु, इस अवधि में इसके स्वरूप में कवि-प्रयोग-स्वातंत्र्य के कारण कुछ परिवर्त्तन भी हुए हैं। प्रारंभ में पादांत रगण (ऽ।ऽ) का प्रयोग नियम-सा रहा है, यद्यपि यह नियम भी सापवाद रहा है। किंतु, शीघ्र ही बाद में पादांत रगण (ऽ।ऽ) के बजाय कर्ण (ऽऽ) का प्रयोग नियम-सा हो गया है। मध्यकालीन हिंदी-कविता में तो पादांत रगण का प्रयोग हम बिल्कुल नहीं पाते, प्रायः सर्वत्र कर्ण आया है, जो ताल-संगीत के अपेक्षाकृत अधिक अनुकूल है। संभवतः लक्ष्यग्रंथों में दुवई की इसी विशेषता को लक्ष्य कर भानु आदि हिंदी-लक्षणकारों ने पादांत कर्ण का सापवाद विधान किया।

(५) दुवई का प्रयोग प्रारंभ में, अधिकांशतः अपभ्रंश चरित-काव्यों में प्रबंधशैली के अंतर्गत हुआ है। बाद में, विशेषतः भक्तिकालीन हिंदी-कविता के बीच, यह व्यापक रूप से पद-शैली के अंतर्गत प्रयुक्त हुआ है।

(६) दुवई द्विपदी (=दो पादोंवाला) छंद है, यह इसके काव्यगत प्रयोग के अवलोकन से सिद्ध है। लक्षण-ग्रंथों में अवश्य इस संबंध में मतभेद रहा है, जिसकी सविस्तर चर्चा हम पहले कर चुके हैं। हमने देखा है, लक्षण-ग्रंथों के तद्विषयक मतभेद के बावजूद

१. पंत : ग्रामचित्र; ग्राम्या (भा० भं०, १९९७ वि०), पृ० १६।

२. स्वयं० ८।३७; गा० ल० ८१; हे० छं० ४।६४; क० द० २।२४। १; प्रा० पैं० १।१५२।

हम इस छंद को दो पादवाला मान सकते हैं। हमारे इस मंतव्य की पुष्टि वास्तविक काव्य-प्रयोग के प्रस्तुत अध्ययन द्वारा भी होती है।

(७) प्रयोग-काल की व्यापकता, विभिन्न विषयों के लिए तथा विभिन्न शैलियों में प्रयोग तथा ताल-सांगीतिक क्षमता के कारण दुवई छंद मध्यकालीन हिंदी-काव्य का एक प्रमुख छंद है।

प्रकरण ३

उल्लाला के प्रारंभिक प्रयोग

दुवई के समान ही उल्लाला छंद का उल्लेख भी पिंगल के छंदःशास्त्र में नहीं हुआ है। संस्कृत के लक्षणकारों में जयदेव, जयकीर्त्ति या केदार ने तो नहीं, किंतु हेमचंद्र ने इस छंद का उल्लेख किया है।[१] हेमचंद्र ने उल्लालक के कुंकुम[२] और कर्पूर[३] नामक दो भेद भी बताये हैं। इसके बाद के प्रायः सभी प्रमुख लक्षणग्रंथों में उल्लाला उल्लिखित है।[४] इससे विदित होता है कि यह छंद पिंगल के समय के बाद तथा हेमचंद्र के समय के बहुत पहले प्रयुक्त होने लगा होगा; क्योंकि हेमचंद्र ने इसका सभेद उल्लेख किया है। हेमचंद्र के अतिरिक्त संस्कृत के अन्य लक्षणकारों ने इस छंद का उल्लेख नहीं किया, इससे यह ध्वनित है कि संस्कृत या परिनिष्ठित प्राकृत में इस छंद का प्रारंभिक प्रयोग खोजना शायद बहुत फलप्रद नहीं होगा। इस दृष्टि से यह बहुत संभव दिखाई देता है कि ७वीं-८वीं शती के लगभग अपभ्रंश-काव्य के बीच इस छंद का प्रयोगारंभ हुआ होगा।

सरहपा के दोहाकोश में उल्लाला का प्रयोग नहीं मिलता। डॉ० शहीदुल्ला ने फ्रांसीसी भाषा में लिखित अपने ग्रंथ में सरहपा के जिस पद्य में उल्लाला छंद बताया है,[५] वह वस्तुतः दोहा में निबद्ध है और पाठांतर अथवा अशुद्ध उच्चारण के फलस्वरूप उसे उल्लाला समझ लिया गया है। उसका शुद्ध पाठ इस प्रकार है—

दुक्ख दिवाअरु अत्थगउ, उवइ तरावइ सुक्क।
S। ।S।। S।।।, ।।। ।S।। S।

ठिअ-णिम्माणे णिम्मिअउ, तेण वि मंडल-चक्क॥[६]
।। SSS S।।। S।। S।। S।

इस पद्य में विषमपादों में मात्राएँ ६+४+३=१३ तथा सम पादों में ६+४+१=११ हैं, अतएव यह दोहा छंद है, उल्लाला नहीं।

---

१. हे० छं० ७।२-३।

२. प्रतिपाद १५+१२ मात्राएँ।

३. प्रतिपाद १५+१३ मात्राएँ।

४. प्रा० पैं० १।११८; क० द० २।२; छं० को० १२ आदि।

५. **M. Shahidullah "Les Chants Mysliques de Kanha at de Sarah." pp. 65 and 161.**

६. सरहपा: दोहाकोश, ९८ (**J. D. L., C. U., Vol. XXXVIII**)।

स्वयंभू की रामायण[१] (समय ८४७ वि०)[२] में उल्लाला छंद[३] के दोनों भेदों के उदाहरण उपलब्ध है। अधिक प्रयोग कर्पूर का हुआ है, किंतु कहीं-कहीं मात्राविधान कुंकुम का भी है। दोनों भेद प्रायः कड़वक-रचना में घत्ता के रूप में आये हैं। प्रत्येक का एक-एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

कुंकुम (१५+१२, १५+१२)—

> परिभमइ दिट्ठि तहो तहि जि तहि , अण्णहि कहि मि ण थक्कइ।
> । । । । S । । । । । । । । S । । । । । । । S । ।
>
> रसलंपडु महुयर-पंति जिमि, केयइ भूइवि ण सक्कइ॥[४]
> । । S । । । । । S । । । S । । । । । । S । ।

मात्राविधान इस उद्धरण का १५+१२, १५+१२ है। अंतिम 'इ' को दीर्घ (ई) रूप में उच्चरित करने से यह भेद कर्पूर का माना जायगा; क्योंकि तब मात्रा-विधान १५+१३, १५+१३ हो जाता है।

कर्पूर (१५+१३, १५+१३)—

> किर जम्मभूमि जणणीय सम, अण्ण विहूसिय जिणवरेहि।
> । । S । S । । । S । । । S । । S । । । । । । ।
>
> पुरि वंदिय सिर सयंभुव करेहि, जणय तणय हरिहलहरेहि॥[५]
> । । S ।

मात्राविधान उक्त पद का १५+१३, १५+१३ है, तथा गणविधान ४+४+४+३/ ६+४+३ है, जो शास्त्रोक्त नियम के अनुकूल है। पादांत त्रिकल भी, जैसा हेमचंद्र ने निर्देश किया है, सर्वलघु है। उल्लाला में निबद्ध स्वयंभू के अधिकांश पदों की बनावट इसी प्रकार की है।

लघुगुरुवर्ण-संख्या के आधार पर कर्पूर के २५ भेदों का कविदर्पणकार ने उल्लेख किया है।[६] स्वयंभू का उपरिलिखित उदाहरण गुरु वर्णों की अल्पता और लघु वर्णों के आधिक्य के कारण हमें इस बात की याद दिलाता है; क्योंकि इसमें ४४ लघु और केवल ६ गुरु वर्ण आये है।

१. दे० हिं० का० धा०, पृ० २२।
२. वही।
३. क० द० २।२; हे० छं० ७।२-३।
४. स्वयंभू: रामायण, १०।२-३ (हिं० का० धा०, पृ० ५०)।
५. स्वयंभू: रामायण, ७८।२०। (हिं० का० धा०, पृ० ४०)।
६. क० द० २।२-३।

धनपाल के भविसयत्तकहा में उल्लाला छंद प्रयुक्त है। एक उदाहरण देखिए—

पणविवि चंदप्पहु परमगुरु दिढु सम्मत्ते करिषि मणु।
पुण कहमि जेम किउ गयउरहो भविसि दीवंतरगमणु ॥[1]

इस उदाहरण में मात्राविधान प्रति पाद में १५+१३ है।

भविसयत्तकहा में उल्लाला छंद का प्रयोग निम्नलिखित स्थलों पर हुआ है—

संधि १—कड़वक १६।
„ २— „ १-४, ६-११।
„ ३—सम्पूर्ण।
„ ४—कडवक १-६, ८-१०।
„ २, ३ और ४ के मंगल-पदों में।

इस ग्रंथ में उल्लाला का स्वतंत्र प्रयोग मंगलपदों के अतिरिक्त तीसरी संधि में हुआ है। अन्यत्र घत्ता के लिए उसका उपयोग किया गया है।

पुष्पदंत के आदिपुराण में उल्लाला छंद का उपयोग कड़वकांत घत्ता के रूप में नारी-सौंदर्य-वर्णन के लिए हुआ है। छंद का उदाहरण देखिए—

गंभीर णाहि तहि मज्झु किसु, उत्थरु स-तुच्छउ दिट्ठ मइँ।
संसग्गवसे गुणु कासु हुउ, जो णवि जायउ जम्मि सइँ ॥[2]

इसके प्रति पाद में मात्राविधान १५+१३ है।

रामसिंह (समय—सं० १०५७ वि०)[3] के पाहुड-दोहा में उल्लाला छंद स्वतंत्र और मुक्तक रूप से धर्मोपदेश आदि विषय-वर्णन के लिए प्रयुक्त है।

उदाहरण—

उपलाणहि जोइअ करहुलउ, दावणु छोड़हि जिम चरइ।
जसु अखइ णिरामइ गयउ मणु सो किमि बुठु जगिरइ करइ ॥[4]

उक्त उद्धरण में प्रतिपाद १५+१३ मात्राएँ हैं।

उल्लाला छंद का घत्तार्थ प्रयोग पुष्पदंत के णायकुमारचरिउ में मिलता है।

उदाहरण —

तहि पुरवरु णामे रायगिहु, कणय-रयण-कोडिहि घडिउ ।
वलिवंड धरंतहो सुखइहि, णं सुर णयरु गयण पडिउ ॥[5]

उक्त उद्धरण में १५+१३ के हिसाब से मात्रा-विधान है।

---

१. धनपाल : भविसयत्तकहा, ३।१।
२. पुष्पदंत : आदिपुराण (हिं० का० धा०, पृ० २०२)।
३. राहुल : हिं० का० धा०, पृ० २५२।
४. रामसिंह : पाहुडदोहा, ४२ (करंजा जैनग्रंथमाला, बरार)।
५. पुष्पदंत : णायकुमारचरिउ, ६, पृ० ६ (देवेन्द्र जैनग्रंथमाला, करंजा, बरार, से प्रकाशित। सं० प्रो० हीरालाल जैन, १९३३ ई०)।

संदेशरासक में उल्लाला छंद स्वतंत्र रूप में नहीं, वरन् प्रगाथ (Strophe) रूप में प्रयुक्त है। इस ग्रंथ में उल्लाला तीन विभिन्न छंदों के साथ संयुक्त होकर प्रगाथ की सृष्टि करता है—

१. काव्य+उल्लाला (पद्य-सं० १४८, १८३, १९९)
२. रासा+उल्लाला (पद्य-सं० १३७)
३. काव्यरासासंकीर्ण+उल्लाला (पद्य-सं० १९१)

संदेशरासक में इनमें से किसी भी छंदःसंयोग को वत्थु माना गया है। उल्लाला के पाद की २८ मात्राओं का गणविधान सामान्यतः इस प्रकार होता है—

४+४+४+३/+६+४+३

उल्लाला के भेद कुंकुम और कर्पूर में यह कर्पूर का लक्षण है। कर्पूर ही व्यापक रूप से संदेशरासक में आया है। हेमचंद्र के छंदोऽनुशासन में कर्पूर के पाद के केवल द्वितीय भाग के अंतिम त्रिकल का सर्वलघु होना आवश्यक कहा है, प्राकृतपैंगलम् में तो इतना बंधन भी नहीं। किंतु, संदेशरासक के पद्यों में उल्लाला के दोनों पादांशों में त्रिकल अनिवार्य रूप से सर्वलघु रूप में आये हैं। छंदोऽनुशासन में प्रथम, तृतीय तथा षष्ठ गणों में जगण वर्जित है तथा षाण्मात्रिक गण २+४ रूप में विभाजित है। संदेशरासक में प्रथम गण के संबंध में ही जगण वर्जित दिखाई देता है और षट्कल-संबंधी निर्देश का पालन नहीं हुआ दीखता है।

कनकामर मुनि (समय-सं० १११७ वि०, अनुमित)[१] के करकंडचरिउ[२] में उल्लाला छंद का एक भेद, काम उल्लाल (१५+१५)[३] प्रयुक्त है—

आवासिउ अच्छइ जाव तहिं, करकंड-नराहिउ पउर-बलु।
पडिहारु पराइउ तहो पुरउ, दूराउ णमंतउ हरियमलु॥[४]

उक्त पद्य के प्रत्यर्द्ध में १५+१५ मात्राएँ हैं तथा प्रति पादार्द्ध की लय उल्लाला छंद के विषम पाद के समान है, अतएव इसे उल्लाला छंद का भेद काम उल्लाल कहा जा सकता है। इस ग्रंथ में काम उल्लाल का प्रयोग अन्यत्र कड़वकारंभ ध्रुवक के रूप में भी है।[५]

जिनदत्तसूरि-स्तुति (१२वीं शती उत्तरार्द्ध) में उल्लाला छंद छप्पय के उत्तरांश के रूप में दस बार आया है।[६] छप्पय के उत्तरांश के रूप में ही पुरातन-प्रबध-संग्रह में भी वह उद्धृत है।[७]

---

१. राहुल: हिं० का० धा०, पृ० ३२८।
२. कनकामर मुनि: करकंडचरिउ (सं० प्रो० हीरालाल जैन; प्र० करंजा जैनग्रंथमाला, बरार)।
३. छं० प्र० भा०, ७।२३१-२३२।
४. कनकामर मुनि: करकंडचरिउ, पृ० ३६।
५. वही, पृ० ३५।
६. ऐतिहासिक जैनकाव्यसंग्रह, पृ० ३६५-३६८।
७. पुरातन-प्रबंध-संग्रह (सिंघी जैन ज्ञानपीठ, कलकत्ता), पृ० ८८, ८९।

हेमचंद्र के प्राकृत-व्याकरण से उल्लाला के कर्पूर नामक भेद का यह उदाहरण देखिए—

विरहानल जाल करालिअउ, पहिउ कोवि बुड्डिवि ठिअओ।
। । ऽ । । ऽ । । ऽ । । । । । । ऽ । ऽ । । । । ।

अनुसिसिरकालि सअल-जलहु, घूमु कहन्तिहु उट्ठिअओ॥[१]
। । । । । ऽ । । । । । । ऽ ऽ । । ऽ । । ऽ । । ।

इस पद्य के प्रतिपाद में १५+१३ मात्राएँ हैं। दूसरे पाद के पूर्वांश के अंतिम लघु वर्ण का गुरु उच्चारण छंदोरक्षा के लिए आवश्यक है।

उल्लाला छंद की उत्पत्ति

उल्लाला छंद का, व्युत्पत्ति की दृष्टि से, दोहा-सोरठा से बहुत अधिक साम्य है। हमारा मंतव्य है कि इन तीनों छंदों की उत्पत्ति किसी एक, लोक-प्रचलित ताल-छंद से हुई है, जिसमें कुल मिलाकर आठ अष्टमात्रिक ताल-गणों अथवा ६४ मात्राओं का उपयोग होता था। अपभ्रंश के परिनिष्ठित काव्य के बीच व्यवहार में आने के पूर्व जब इस ताल-छंद का मात्रिक संस्कार[२] होने लगा, तब रचयिताओं ने स्वेच्छा या आवश्यकता के अनुसार इसके विभिन्न पादों में वर्ण-मात्राओं की योजना की, जिसके फलस्वरूप (१५, १६, १५, १५)[३] अथवा (१५, १३, १५, १३)[४] अथवा (१४, १२, १४, १२)[५] अथवा (१३, ११, १३, ११)[६] अथवा (११, १३, ११, १३)[७] अथवा (१३, १३, १३, १३)[८] मात्राओं के पादखंड या पादवाले छंद-स्वरूप उद्भूत हुए[९]। प्रयोग-वैचित्र्य के कारण इनमें किसी छंद को द्विपदी माना गया, किसी को चतुष्पदी।

उल्लाला को हमने द्विपदी छंद माना है, जिसके कारणों की चर्चा चतुर्थ अध्याय में की गई है। इस संबंध में यह भी ध्यातव्य है कि छप्पय (=६ पाद) के उत्तरांश के रूप में उल्लाला का प्रयोग द्विपदी रूप में ही होता है, तभी तो इस प्रगाथ-विशेष को छप्पय (=६ पादवाला छंद, जिसमें रोला या काव्य छंद के चार पाद तथा उल्लाला के दो पाद हों) कहते हैं। उल्लाला को यदि चतुष्पदी माना जाय, तो छप्पय षट्पदी न

१. हेमचंद्र: प्राकृत-व्याकरण (हिं० का० धा, पृ० ३७८)।
२. ताल-छंदों के मात्रिक संस्कार की प्रक्रिया पर सामान्य रूप से विचार हम इस शोध-प्रबंध के तीसरे अध्याय में कर चुके हैं।
३. काम उल्लाला।
४. उल्लाला।
५. द्विपथक।
६. दोहा।
७. सोरठा।
८. श्याम उल्लाल।
९. दे० आगे अ० ६; दोहा-सोरठा।

होकर अष्टपदी हो जायगा और उसके नाम की संगति जाती रहेगी। इस प्रगाथ का छप्पय नामकरण इसीलिए हुआ होगा कि उल्लाला को प्रारंभ मे द्विपदी ही माना जाता रहा होगा। व्यावहारिक काव्य-प्रयोग के बीच उल्लाला अधिकाशत: प्रगाथ छप्पय के उत्तराश-रूप मे ही मिलता है, मुक्तक रूप में या घत्ता के लिए इसका प्रयोग उतना बहुल नही। इससे उल्लाला का द्विपदी होना सिद्ध होता है।

उल्लाला का प्रारंभिक प्रयोग प्राकृत-काव्य में उतना नही, जितना अपभ्रंश-काव्य में हुआ है; यह भी ध्वनित करता है कि उल्लाला प्राकृत का छंद नही, अपभ्रंश का छद है, और इस भाषा के अधिकाश छंदों की तरह यह लोक-प्रचलित ताल-संगीत की देन है। उल्लाला-लक्षण में वार्णिक गणों अथवा वर्णो के लघुगुरु-संबंधी विधि-निषेधों का अभाव इस बात का सूचक कहा जा सकता है कि इस छंद का संबंध वर्ण-संगीत से, और इसी कारण वर्ण-वृत्त-परंपरा से विशेष नही है। उल्लाला का त्रयोदश-मात्रिक सम पाद दोहा के विषम पाद, सोरठा के सम पाद तथा घत्ता के उत्तर पादखंड के, मात्रासंख्या, गणविधान तथा लय की दृष्टि से सर्वथा समान है। अतएव, इन सभी छंदों का मूल अवश्य एक है। कोई एक ऐसा वर्णवृत्त नहीं, जिससे इन विविध मात्रिक छंदों की व्युत्पत्ति की संगति बैठ सके। अतएव, उल्लाला, अष्टमात्रिक तालगणों के सहारे गेय लोक-छंद से विकसित कई मात्रिक छंदों में से एक है, हमारा यह उपर्युक्त अनुमान निराधार नही। इस संबंध में अधिक प्रमाण आगे दोहा के प्रसंग में दिये गये हैं।

उल्लाला के नाम तथा भेद

हेमचंद्र ने द्विपदी-वर्ग में कर्पूर (२+२+४+२+२+१+२+२+४+२+२+१+१+१=२८ मात्राएँ) तथा कुंकुम (कर्पूर के अंत्य लघु से रहित) नामक छंदों का उल्लेख किया।[1] कविदर्पण में इन दोनों छंदों को उल्लालक का भेद कहा गया।[2] प्राकृतपैंगलम् में उल्लाल-लक्षण में पादगत २८ मात्राओं के विधान द्वारा कर्पूर नामक भेद के साथ उल्लाल छंद का तादात्म्य ध्वनित है। उसमें कुंकुम नामक भेद का पता नहीं है। कर्पूर या कुंकुम नाम नही आये हैं। छंद:कोश में भी उल्लाल-लक्षण के रूप में कर्पूर का लक्षण-कथन है, कुंकुम की चर्चा नहीं है तथा कुंकुम-कर्पूर नाम भी नहीं आये हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि एक तो कर्पूर का कुंकुम की अपेक्षा व्यावहारिक रूप से काव्य के बीच अधिक प्रयोग होता होगा। दूसरे, कर्पूर और कुंकुम नाम उल्लाला नाम की अपेक्षा अधिक प्राचीन है। प्रथम मंतव्य की पुष्टि आगे के पृष्ठों में वास्तविक काव्य-प्रयोग के अवलोकन द्वारा होगी। कर्पूर और कुंकुम नामों से यह ध्वनित है कि इन छंदोभेदों का उपयोग हेमचंद्र के पूर्ववर्त्ती काल में धार्मिक या सांप्रदायिक उपचारों से संबंध रखनेवाले पद्यों में होता होगा, जिनके उदाहरण आज अधिक उपलब्ध नहीं। स्वयंभू की रामायण में इसका उपर्युक्त प्रयोग इस दृष्टि से अर्थपूर्ण है। बाद में धर्मेतर विषयों के लिए और मुक्तक प्रगाथ-शैली में इस छंद के प्रयुक्त होने पर कर्पूर-कुंकुम नामों की अर्थवत्ता समाप्त हो गई और उल्लालक या उल्लाला नाम (जैसा कि हिंदी के लक्षणकारों ने प्रयुक्त किया है) चल निकला। परवर्त्ती काव्य में उल्लाला के कई अन्य भेद देखने को मिले, तो उनका नाम-

---

१. हे० छं० ७।२, ३।

२. क० द० २।२, ३।

करण रस उल्लाल (१५+१३), रंग उल्लाल (१३+१५), काम उल्लाल (१५+१५), श्याम उल्लाल (१३+१३) आदि भी हुआ।[1]

हिंदी-काव्य मे उल्लाला का प्रयोग

पृथ्वीराजरासो (संक्षिप्त) मे भी उल्लाला छंद स्वतंत्र रूप में नही, प्रगाथ रूप में ही—छप्पय के उत्तरांश के रूप में—आया है।[2] ग्रंथ में छप्पय को सर्वत्र कवित्त कहा गया है, यद्यपि सर्वत्र उसके छः पादों में प्रथम चार काव्य या रोला के है और अंतिम दो उल्लाला के। सामान्यत. पृथ्वीराजरासो में उल्लाला का कर्पूर नामक भेद ही आया है और सामान्यतः इसके पादात का त्रिकल सर्वलघुरूप ही रखा गया है और उत्तर पादांत का षट्कल द्विकल और चतुष्कल के रूप में विभाज्य रखा गया है, जैसे निम्नलिखित उदाहरण मे है—

सुक नास नेंत फूले कमल, कंब कंबु कोकिल कलक।
।। ऽ। ऽ। ऽऽ ।।। ऽ। ऽ। ऽ।। ।।।

दुल्लह सुचित्त फंदन मनहु, फंद मंडि रष्षिय अलक॥[3]
ऽ।। ।ऽ। ऽ।। ।।। ऽ। ऽ। ऽ।। ।।।

---

१. छं० प्र० भा०, पृ० ११४-११६। (श्याम उल्लाल को भानु ने उल्लाला का सम चतुष्पदी रूप माना है (छं० प्र०, पृ० ४५)।

२. उल्लाल का प्रयोग ग्रंथ में निम्नलिखित स्थलों पर हुआ है (इससे उसके प्रयोग-बाहुल्य का पता चलता है)—

आदिपर्व—४—७, २४, २६, ३०, ३६, ३७, ३९—४३, ४७, ४८, ५८, ७७, ७८, ११३, १२०, १३१, १३६, १४१, १४४—१४६, १४८, १५१।

इंछिनी-विवाह-प्रसंग—२, ५—७, ९, ११, १२, १५, २४, २५, ३७, ४५, ४६, ५७—५९, ६३—६७, ७०, ७१, ८७।

इंछिनी-ब्याह-कथा—६, ९, ११, १७, २०, २२—२४, २७, ५८—६०, ६४, ७२—७४, ७८, ९४, ११९, १३४, १५९-१६२।

शशिव्रता-विवाह-प्रस्ताव—१, २, ४, ५, १४, २३, २४, २६, २८, ३२—३४, ३७, ४२, ८६, ९३, ९६, १२४, १२९, १३२, १३३, १४०, १४४, १५४, १५७, १५९, १६४, १६५, १७०, १७२, १८४, १८६, १९४, १९५, १९९।

कौमास-करनारी-प्रसंग—१—४, ६—८, १०, ११, २३, २४, ३५, ३७।

कनवज्ज-समय—८, १०, १२, १५, १७, २१, २४, २९, ३०, ३६, ३८, ३९, ४६—४८, ५९, ६०, ६७—७१, ८२, ८८, ९६, ९७, १०७, १३४, १४१, १४४—१५१, १५४, १५७—१५९, १६१, १६२, १६८, १७१, १७५, १७८, १८०, १८७, २०९, २७१, २८०, २८४, २९०, २९१, २९५—२९८, ३००—३०३, ३०६, ३११, ३१३।

बड़ी लड़ाई-समय—१२, १३, २०, २८, ३७, ३८, ४५, ४६, ५४, ५५, ६०, ६१, ६३, ७२—७४, ७९, ८६, ८७, ८९—९१, १०८, ११४, ११७, १२०, १३१, १३२, १३७, १४०, १४२—१४९।

बानवेध-समय—१०, ११, ३६, ४४, ४६, ४८, ५६।

३. चंदबरदाई : पृथ्वीराजरासो (संक्षिप्त); इंछिनी-ब्याह-कथा, ७४, पृ० ४५।

उक्त उदाहरण में गणविधान प्रतिपाद में ४+४+४+३/+२+४+४ ।।। है, जो सर्वथा शास्त्रनियमानकूल[1] है। किंतु, पादांत त्रिकल कहीं-कहीं सर्वलघु नही भी है, जैसे इस उदाहरण में—

आचंभ रूप इंछिनि सुनी, जन-जन वत्त बखानियाँ।
भोरा अभंग लग्यो रहसि, काम करक्के प्रानियाँ॥[2]

स्पष्ट ही उक्त उदाहरण में पादात का त्रिकल लघुगुरु (।ऽ) रूप है।

कही-कही उत्तर पादांश का षट्कल द्विकल और चतुष्कल में विभाज्य नहीं, अर्थात् इस गण की दूसरी-तीसरी मात्राएँ मिलकर गुरु (ऽ) बन जाती है, जैसे इस उदाहरण में—

ज दिन जनम प्रिथिराज भी, त दिन भार धर उत्तरिय।
बतरीय अंस अंमन ब्रह्म, रही जगे जग बतरिय ॥[3]
।।ऽ।ऽ।ऽ।।।।। ।ऽ।ऽ।।ऽ।।।

उक्त उदाहरण मे दूसरे पाद का पंचम गण, जो षट्कल है, द्विकल चतुष्कल के रूप में विभाज्य नही; क्योकि इस गण की दूसरी-तीसरी मात्राएँ मिलकर गुरु के रूप मे हैं।

ऊपर के तीनों उदाहरण कर्पूर के हैं। चंद्र ने उल्लाला का प्रयोग, छप्पय के अंग-रूप मे ही सही, इतना अधिक किया है कि कुंकुम के उदाहरण न मिलना आश्चर्य की बात होती। कुंकुम का यह उदाहरण देखिए—

मति भद्र मंति साधन, लौहांनो स्वामित धुर ॥
।। ऽ।ऽ। ऽ।।।।। ऽऽऽऽ।। ।।

चतुरंग सूर बय रूप गुन-, लिये राज राजन गुर॥[4]
।।ऽ।ऽ।।। ऽ।।। ।ऽ ऽ। ऽ।। ।।

उक्त उदाहरण मे पादांत त्रिकल के स्थान में द्विकल होने के कारण मात्रा-विधान १५+१२, १५+१२ है, अर्थात् यह छंद उल्लाला का कुंकुम नामक भेद है। द्रष्टव्य है कि दूसरे पाद का पंचम गण (षट्कल) द्विकल+चतुष्कल के रूप में विभाज्य नहीं। चंद के छंद:प्रयोग में यह नियम नही, अपवाद है।

विद्यापति की कीर्त्तिलता में उल्लाला के कर्पूर नामक भेद का ही प्रयोग है, और वह भी छप्पय के उत्तरांश के रूप में।[5] उदाहरण द्रष्टव्य है—

अरु पुरिस पसंसओ राय गुरु, कित्ति सिह गएणेस सुअ।
जे संत्तु समर सम्मद्दि कहु, वप्प वैर उद्धरिय धुअ ॥[6]

यह उदाहरण सर्वथा शास्त्रनियमानुकूल है।

---

१. हे० छं० ७।२-३।
२. चंद बरदाई: पृथ्वीराजरासो (संक्षिप्त); इंछिनी-विवाह-प्रसंग, ६, पृ० २४।
३. चंद बरदाई: पृथ्वीराजरासो (संक्षिप्त); आदिपर्व, ४१, पृ० ६।
४. वही, इंछिनी-ब्याह-कथा, १७, पृ० ३७।
५. विद्यापति: कीर्त्तिलता, पृ० ८, १०।
६. वही, पृ० ८।

संतों में सुंदरदास ने छप्पय के उत्तरांश के रूप में उल्लाला का प्रयोग किया है। उदाहरण—

इहि भांति रहै सोचत सदा, संतनि को पूछत फिरै।
को है ऐसो सद्‌गुरु कहीं, जो मेरो कारज करै॥[1]

उक्त उद्धरण में प्रतिपाद १५+१३ मात्राएं हैं।

संपूर्णतः छप्पय छंद में रचित ग्रंथ नाभादास[2] का भक्तमाल है। छप्पय के उत्तरांश के रूप में उल्लाला छंद इस ग्रंथ में प्रयुक्त है। उल्लाला के भेद श्याम उल्लाल (१३+१३) का उदाहरण देखिए—

बिकल बुद्धि गुन और की, जो वह गुन स्रवननि करै।
। । । S । । । S । S S । । । । । । । । । । । S
सूर-कवित सुन कौन कवि, जो नहि सिर चालन करै॥[3]
S । । । । । । S । । । S । । । । S । । । S

उक्त उद्धरण में प्रतिपाद १३+१३ मात्राएँ हैं।

अबदुर्रहीम खानखाना[4] ने अधिकांशतः दोहा, सोरठा और बरवे छंदों में रचना की है। उनका एक छप्पय भी मिलता है, जिसका उत्तरांश उल्लाला का यह उदाहरण प्रस्तुत करता है—

जो हो प्रसन्न तो देहु अब, मुकुति दान माँगहु बिहँस
जो पै उदास तो कहहु इम, मत धरु रे नर स्वाँग अस॥[5]

गोस्वामी तुलसीदास ने भी उल्लाला का प्रयोग छप्पय के उत्तरांश के रूप में किया है। कवितावली से यह उदाहरण देखिए—

कैवल्य सकल फल कल्पतरु, सुभ सुभाव सब सुख बरिस।
कह तुलसिदास रघुबंसमनि, तौ कि होहि तुव कर सरिस॥[6]

उक्त पद्य में प्रतिपाद १५+१३ मात्राएँ हैं।

केशवदास ने उल्लाला का प्रयोग प्रायः प्रगाथ छप्पय के उत्तरांश के रूप में ही किया है। इस छंद का यह उदाहरण द्रष्टव्य है—

सब भांति प्रतिष्ठित निष्ठमति, तहं बसिष्ठ पूजत कलस।
शुभ सतानंद मिलि उच्चरत, शाखोच्चार सबै सरस॥[7]

उक्त उद्धरण में प्रतिपाद १५+१३ मात्राएँ हैं।

---

१. सुन्दरदास: सुन्दरसार (इं० प्रे०, प्रयाग), ९, पृ० ४।
२. समय—सं० १६५७ वि०/रा० चं० शुक्ल: हिं० सा० का इति०, पृ० १७७।
३. नाभादास: भक्तमाल, ७३।
४. समय—सं० १६१० वि० (जन्म)। रा० चं० शुक्ल: हिं० सा० का इति०, पृ० २६१।
५. रहीम: रहिमनविलास (सं० ब्रजरत्नदास), पृ० ७३।
६. तुलसीदास: कवितावली, ११५; तुलसीग्रंथावली (ना० प्र० सभा), पृ० २२६।
७. केशव: रामचंद्रिका, ६।८।

सं० १७०० वि० के बाद उल्लाला-प्रयोग

प्रस्तुत शोध-प्रबंध की समय-सीमा के बाद, अर्थात् रीतिकाल में, उल्लाला छंद, प्रगाथ छप्पय के उत्तरांश के रूप में भक्तिकाल की अपेक्षा कुछ अधिक प्रयुक्त हुआ है। कविवर भूषण[1] ने इसी रूप में उल्लाला का प्रयोग किया है। उदाहरण—

> जै जै निसुम्भ सुम्भद्दलनि, भनि भूषण जै जै भननि ।
> सरजा समत्थ सिवराज कहँ, देहि बिजै जै जग जननि ॥[2]

उक्त पद्य में प्रतिपाद १५+१३ मात्राएँ है। भूषणोपरांत भी वीर-काव्य में ही उल्लाला का अधिक उपयोग इस बात का सूचक है कि यह छंद अपनी लय और मात्राविधान के कारण वीररस के प्रसंग के ही अधिक अनुकूल है। शृंगार या भक्ति के पदों में इसका अनुपयोग भी इस रूप में व्याख्येय है।

छप्पय के उत्तरांश के रूप में ही उल्लाला हम्मीररासो[3] में भी आया है। उदाहरण—

> कर कमल माल मोदक लिये उर उदार उपवीर बर ।
> शिवशिवासुवन गणराज तुम देहु सदा वरदान बर ॥[4]

उक्त पद्य में प्रतिपाद १५+१३ मात्राएँ है।

उल्लाला का प्रयोग छप्पय के उत्तरांश के रूप में ही कवि मुरलीधर[5], सूदन,[6] पद्माकर,[7] चंद्रशेखर[8] आदि के चरितकाव्यों में भी हुआ है। राजस्थानी की चारण-परंपरा के कवि बाँकीदास[9] का भी एक छप्पय मिलता है[10], जिसके उत्तरांश में उल्लाला प्रयुक्त है। आश्चर्य यह है कि उनके छंदोलक्षणग्रंथ वृत्तरत्नाकर[11] में उल्लाला या छप्पय का कहीं

---

१. रचनाकाल १८वीं शती पूर्वार्द्ध।

२. भूषण: शिवराजभूषण, २ ।

३. बाबू श्यामसुन्दरदास ने इस ग्रंथ को कवि जोधराज-कृत कहा है तथा इसका रचनाकाल सं० १७८५ बताया है। दे० हम्मीररासो, भूमिका, ना० प्र० सभा, काशी), पृ० १।

४. जोधराज: हम्मीररासो, २।

५. जंगनामा (रचनाकाल सं० १७६९ वि०); वीरकाव्य (स० डॉ० उदयनारायण तिवारी), पृ० ३५७। ये कवि मुरलीधर छन्दोहृदयप्रकाश के रचयिता मुरलीधर कविभूषण से भिन्न हैं।

६. सुजानचरित (रचनाकाल १९वीं शती पूर्वार्द्ध), वीरकाव्य, पृ० ४१२।

७. हिम्मतबहादुर-बिरदावली (रचनाकाल सं० १८५६ के लगभग), वीरकाव्य, पृ० ४६२ तथा ४७२।

८. हम्मीर-हठ (रचनाकाल सं० १९०० के लगभग), वीरकाव्य, पृ० ४९८।

९. जन्म-सं० १८२८ में (जोधपुर में); मोतीलाल मेनारिया: राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० १९९।

१०. बाँकीदास: ग्रंथावली (ना० प्र० सभा, काशी), तीसरा भाग, पृ० १३६।

११. बाँकीदास: ग्रंथावली, भाग ३ के अंत में प्रकाशित (केदारभट्ट के संस्कृत-ग्रंथ वृत्तरत्नाकर से भिन्न)।

पता नहीं है। उसमें केवल आर्या, मात्रासमक और वैतालीय छंद सभेद उल्लिखित हैं। संतकाव्य में भी हमारी कालसीमा के बाद छप्पय के उत्तरांश के रूप में उल्लाला कहीं-कहीं प्रयुक्त मिलता है। चरणदास[1] की रचनाओं से श्याम उल्लाल का एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

चरनदास लख दृष्टि भर, एक शब्द भरपूर है ।
निरखि परखि ले निकट ही, कहन सुनन कूँ दूर है ॥[2]

उल्लाला-संबंधी सामान्य निष्कर्ष

(१) संस्कृत-परंपरा के अधिकांश लक्षणग्रंथों में उल्लाला के अनुल्लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि यह अपभ्रंश का है। काव्य-प्रयोग के अवलोकन से भी इसकी पुष्टि होती है। संस्कृत या परिनिष्ठित प्राकृत में उल्लाला छंद के उदाहरण प्रायः नहीं मिलते। अपभ्रंश मे इसके उदाहरण बहुल हैं।

(२) 'उल्लाला' शब्द की अपेक्षा 'कर्पूर' और 'कुंकुम' शब्द अधिक प्राचीन हैं; क्योंकि इनका उल्लेख हेमचंद्र ने किया है, जबकि उल्लाला शब्द परवर्त्ती लक्षणकारों द्वारा प्रयुक्त है। कर्पूर और कुंकुम नाम इन छंदोभेदों का संबंध धार्मिक वातावरण से ध्वनित करते हैं। स्वयंभू की रामायण में इसके प्रारंभिक प्रयोग द्वारा इस संबंध की पुष्टि होती है।

(३) उक्त दो भेदों में कर्पूर अधिक लोकप्रिय हुआ और बाद में यही भेद उल्लाला से तदात्म हो गया। कुंकुम का प्रयोग बाद में अपेक्षाकृत बहुत कम हो गया दिखाई देता है। उल्लाला के कुछ रूपांतर, जैसे रग उल्लाल, काम उल्लाल और श्याम उल्लाल हिंदी-लक्षणग्रंथों में ही मिलते हैं। अपभ्रंश-काव्य में ही इन भेदों का प्रयोगारंभ हो गया है अवश्य, किंतु अपेक्षाकृत बाद में। अपभ्रंश-काल में ये रूपांतर अपवाद-रूप में प्रयुक्त रहे हैं। संभवतः इन रूपांतरों का जन्म रचयिताओं के शब्द-संकट या प्रयोग-शैथिल्य की स्वाभाविक परिणति है।

(४) उल्लाला, उसके भेद और रूपांतर, व्युत्पत्ति की दृष्टि से दोहा-सोरठा-वर्ग के छंदों से संबंध रखते हैं। इन छंदों की ताल-सांगीतिक समानता के कारण यह कहा जा सकता है कि ये सभी एक ही मूल ताल-छंद से उद्भूत हैं, जिसमें आठ अष्टमात्रिक ताल-गण प्रयुक्त होते थे। ताल-गणों की परिणति मात्रिक गणों में होने के फलस्वरूप इनकी पादगत वर्णमात्राओं में अंतर आ गया।

(५) ऐस प्रतीत होता है कि उल्लाला छंद मुक्तक प्रगाथ के अंश के रूप में ही अधिक लोकप्रिय रहा है। न तो इसका स्वतंत्र प्रयोग बहुत अधिक हुआ है, न कहीं इसका प्रयोग पद-शैली के लिए मिलता है। संभवतः, इसके पाद की विषम लय के कारण जिसके पूर्वांश तथा उत्तरांश दोनों में चढ़ाव ही चढ़ाव है, दोहा के अर्द्धभाग के समान क्रमशः चढ़ाव-उतार नहीं, यह छंद गायकों के बीच, पद-शैली में, नहीं अपनाया गया।

अपभ्रंश-चरितकाव्य में आरंभ में उल्लाला का घत्तार्थ प्रयोग भी मिलता है, किंतु बाद में मुक्तक प्रगाथ के लिए ही व्यापक रूप से हम इस छंद को प्रयुक्त देखते हैं।

---

१. जन्म-सं० १७६० वि०; परशुराम चतुर्वेदी: संतकाव्य, पृ० ४७०।
२. संत-काव्य (सं० परशुराम चतुर्वेदी), पृ० ४७७।

संभवतः इसी कारण प्राकृत-अपभ्रंश के अधिकांश लक्षणकारों ने छप्पय प्रगाथ के उत्तरांश के रूप में ही इसका लक्षण-निर्देश किया है।

छप्पय प्रगाथ के उत्तरांश के रूप में इसका प्रयोग इस छंद की द्विपदी-प्रकृति का परिचायक है। छप्पय के छः पादों में चार रोला या काव्य के तथा २ उल्लाला के माने गये हैं। अतएव, उल्लाला दो पादवाला छंद है, अर्द्धसम चतुष्पदी नहीं, यह स्पष्ट है। काम उल्लाल (१५+१५) और श्याम उल्लाल (१३+१३) भी द्विपदी है, सम चतुष्पदी नहीं।

(७) मध्यकालीन हिंदी-काव्य में, विशेषकर भक्तिकाल में, उल्लाला छंद बहुत लोकप्रिय नहीं रहा। ताल-छंद से उत्पन्न होते हुए भी गेय रूप में इसका उपयोग अधिक सुखद नहीं था। संभवतः इसी कारण भक्ति के उन्मेष में गानेवाले मध्यकालीन संत और वैष्णव कवियों ने इस छंद को अधिक दूर तक नही अपनाया।

(८) यह भी कहा जा सकता है कि उल्लाला की लय वीररस के प्रसंग के अधिक अनुकूल है। इसी कारण इसका प्रयोग वीर-काव्य मे प्रायः अनिवार्यतः स्वतंत्र रीति से अथवा किसी प्रगाथ छंद के अंशरूप में हम पाते है।

(९) हिंदी में स्वतंत्र रूप मे बहुत कम प्रयुक्त होने पर भी इसे परिनिष्ठित हिंदी का छंद कहा जा सकता है, जिसका प्रारंभिक प्रयोग अपभ्रंश में हुआ, किंतु बाद का हिंदी-काव्य जिसे अपनाये रहा अवश्य, चाहे किसी रूप में हो।

प्रकरण ४

घत्ता छंद तथा कड़वकांत घत्ताविधान-संबंधी प्रारंभिक प्रयोग

लक्षण-ग्रंथों में घत्ता छंद का उल्लेख पिंगल, जयदेव, जयकीर्त्ति, केदार आदि के संस्कृत-ग्रंथों मे नहीं मिलता। हेमचद्र ने घत्ता का उल्लेख किया है।[1] स्वयंभू ने भी घत्ता का उल्लेख किया है, किंतु उसके लक्षण के रूप में पादगत क्रमशः ९, १४, ९, १४ मात्राओं का विधान किया है।[2] प्रस्तुत घत्ता छंद को स्वयंभू ने छड्डणिका कहा है और उसे षट्पदी माना है—

दमकल परिवद्धहे। अट्ठणिबद्धहे। तेरहकल संभाविअहे।
पढमविदिअपअकर। तइअ पुणुविउणु। छड्डणिआ छप्पाइअहे॥[3]

लक्षणोदाहरणतादात्म्य-शैली मे निबद्ध उक्त लक्षण-पद्य के अनुसार छड्डणिका के पादों मे क्रमशः १०, ८, १३, १०, ८, १३ मात्राएँ होती है। आगे चलकर इसे ही घत्ता छंद कहा गया। कविदर्पण मे इसका सभेद उल्लेख है।[4] कविदर्पणकार ने घत्ता को स्वयंभू के अनुसार ही षट्पदी माना है और इसके छः भेदों का उल्लेख किया है, जिनके अर्द्धांश का मात्राविधान क्रमशः १०+८+१३, १२+८+१३, ८+८+११, १०+८+११, १२+८+११ तथा १२+८+१२ है। छंदःकोश में इसे चतुष्पदी कहा गया है।[5] किंतु, प्राकृतपैंगलम् में घत्ता को द्विपदी छंद माना है, जिसके प्रतिपाद में १०+८+१३ के हिसाब से ३१ मात्राएँ होती है।[6] इस शोध-प्रबंध के चतुर्थ अध्याय में इस प्रश्न पर विचार कर हमने अपना यह मंतव्य व्यक्त किया है कि घत्ता छंद द्विपदी है, चतुष्पदी या षट्पदी नहीं। प्रस्तुत प्रसंग में व्यावहारिक काव्य-प्रयोग के अवलोकन द्वारा हमारे इस मंतव्य की पुष्टि होती है।

घत्ता अपभ्रंश का पुराना छंद है, जो कथाकाव्यों के बीच पर्याप्त लोकप्रिय रहा है। यह छंद मुख्यतः कथाकाव्यों या चरितकाव्यो में ही प्रयुक्त दिखाई देता है और इसका उपयोग कडवक के अंत में इसे रखकर कड़वक पूरा करने के लिए होता है। कड़वक पूर्त्ति के लिए आरंभ में घत्ता छंद का ही व्यवहार होता होगा, इसीसे छंदःपरिवर्त्तन द्वारा कड़वक-पूर्त्ति की प्रक्रिया को 'घत्ता देना' कहने लगे होंगे। बाद में घत्ता छंद के स्थान में अन्य छंद भी कड़वकांत में प्रयुक्त हुए होंगे, किंतु इस प्रकार कड़वकांत छंदःपरिवर्त्तन की प्रक्रिया 'घत्ता देना' कहलाती रही और कड़वक का कोई भी अंतिम छंद घत्ता कहा जाने लगा।

---

१. हे० छं० ६।१।
२. स्वयं० ८।२४।
३. स्वयं ८।२०।
४. क० द० २।२९-३१।
५. छं० को० ४३।
६. प्रा० पैं० १।९९।

स्वयंभू[1] का पउमचरिउ (रामायण) कड़वकबद्ध काव्य है। किंतु, आश्चर्य है कि उसमें घत्ता नामक छंद के शास्त्रोक्त स्वरूप सहज सुलभ नहीं। शायद घत्ता छंद का स्वरूप इस युग में अभी निर्माण की प्रक्रिया में था और इसके बहुविध प्रयोग काव्य के अंतर्गत होते थे। इन प्रयोगों में से कुछ परवर्त्ती लक्षणकारों द्वारा स्वीकृत ही उल्लिखित हुए, शेष प्रयोग व्यवहार की अल्पता अथवा अन्य कारणों से लक्षणकारों द्वारा उपेक्षित रह गये। उदाहरण के लिए निम्नांकित पंक्तियों को देखिए—

रावण-राम-किंकरा रणे भयंकरा, भिडिय विप्फुरता।
S I I S I S I S I I I S I S I I I S I S S

विउ सुग्गीव-राहवा विजय-लाह-वा णाइं हणु भणंता ॥[2]
I I S S I S I S I I I S I S S I I I I S S

उक्त उद्धरण में प्रतिपाद १२+८+१० मात्राएँ आई हैं। छंदःशास्त्र में घत्ता के इस भेद का उल्लेख नहीं मिलता। यह भी ध्यातव्य है कि उक्त पद्य कड़वकांत घत्ता के रूप में नहीं, कड़वकारंभ में आया है। कड़वकांत घत्ता के लिए तो अक्सर घत्तेतर छंदों का प्रयोग हुआ है, जिसके उदाहरण हैं उल्लाला[3], चुलियाला[4] प्रभृति छंद।

भविसयत्तकहा में घत्ता छंद संधि १२, १३, १४ के सभी कड़वकों तथा संधि १५ के प्रथम कड़वक में प्रयुक्त है। इन संधियों के अंत के अतिरिक्त मंगलपदों में भी यह छंद है।

कड़वकांत घत्ता देने के लिए भविसयतकहा में घत्ता नामक छंद के अतिरिक्त उल्लाला[5], अभिसारिका[6], विभ्रमविलसितवदन[7], किन्नरमिथुनविलास[8], मन्मथतिलक[9], कुसुमनिरंतर[10], नवपुष्पंधव[11] आदि छंदों का प्रयोग भी हुआ है। अभिसारिका का घत्तार्थ प्रयोग बहुत अधिक हुआ है।

भविसयत्तकहा में प्रयुक्त घत्ता छंद का एक उदाहरण देखिए—

---

१. समय—सं० ८४७ वि० (हिं० का० धा०), पृ० २२।
२. स्वयंभू : पउमचरिउ (रामायण), ५३।८ (हिं० का० धा०, पृ० ८४)।
३. स्वयंभू : पउमचरिउ ७८।२०; ६९।३-८; १०।२-३; २१।८-९; ४९।९ आदि।
४. वही २८।१; ७६।५ आदि।
५. धनपाल : भविसयत्तकहा १।१६; २।१-४, ६-११; ४।१-६, ८-१०।
६. वही, १।१-९, ११-१५; ५।१-८, १२, २३; ६।१-९; १५।२-१७ (यह द्विपदी छंद है। पादगतमात्राविधान—९+१३)।
७. वही, १६।१-८, १० (पादगतमात्राविधान—११+१३)।
८. वही, १६।९ (मात्राविधान प्रतिपाद—११+१५)।
९. वही, १७।३, ५-१० (पादगतमात्राविधान—८+१४; यह द्विपदी है और अभिसारिका का भेद कहा जा सकता है)।
१०. वही, १७।४। (पादगतमात्राविधान—९+१४)।
११. वही, १६।११, १२ (पादगतमात्राविधान—११+१४)।

परियणु अप्पाइवि दिहि उप्पाइवि संफासिवि अहिमाणगिरि।
। । । । ऽऽ। । । । ऽऽ। । ऽऽ। । । । ऽ। । ।

सहुं कंचणमालए कुलबहुआलइं गय पइमंदिरि कमल सिरि॥[1]
। । ऽ। । ऽ। ऽ । । । । ऽ। । । । । । ऽ। । । । । । ।

उक्त उदाहरण में मात्राविधान प्रतिपाद में १०+८+१३=३१ है। पादांतर्गत दो बार, १०वीं और १८वी मात्राओं पर, यति परस्पर तुक के साथ आई है।

भविसयत्तकहा में अभिसारिका का घत्तेतर प्रयोग भी हुआ है।[2] उल्लाला का भी घत्तेतर प्रयोग मिलता है।[3]

घत्ता के लिए भविसयत्तकहा में चतुष्पदी छंदों का प्रयोग भी हुआ है। एक तो अहीर नामक छंद[4] है, जिसमें ११ मात्राओं के चार पाद होते हैं। किंतु, यह छंद भविसयत्तकहा में घत्तार्थ द्विपदी रूप में प्रयुक्त है, जो उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा—

त जिणभवणु णिएवि धवलत्तुंगुविसालु।
। । । । । । । ऽ। । । ऽऽ। । ऽ।

वियसियवयणरविंदु मणिपरिओसिउ बालु॥[5]
। । । । । । । । ऽ। । । । । ऽ। । ऽ।

उक्त उदाहरण में अहीर छंद के चार पाद दो पंक्तियों में लिखे गये हैं; प्रत्येक पाद जगणांत अवश्य है, किंतु अंत्यानुप्रासयुक्त नहीं। जैसा अनुप्रास-योजना से विदित है, हम यह कह सकते हैं कि उक्त पद्य में ११+११ मात्राओं के दो पाद प्रयुक्त हुए हैं। इस उदाहरण को गुणे महोदय ने मर्कटी या मारकृति छंद[6] माना है, किंतु मध्य पंचकल तथा अंत्य द्विकल के अभाव और पादांत जगण के सदैव प्रयोग के कारण उपर्युक्त प्रत्येक पंक्ति को अहीर छंद का ही द्विगुणित रूप कहना उचित होगा।

समचतुष्पदी सिंहावलोकन छंद[7] भी घत्तार्थ प्रयुक्त है।[8] घत्ता के लिए अलिल्लह[9] का प्रयोग भी एक बार हुआ है।[10]

---

१. धनवाल: भविसयत्तकहा, १२।११।
२. वही, संधि १०-१२ तथा १९-२२ संपूर्ण; संधि १, ५, ६, ९—११, १७—२२ मंगलपद।
३. वही, संधि ३, संपूर्ण; संधि २ और ४ मंगलपद।
४. प्रा० पैं० १।१७७ (पादगत ११ मात्राएँ, पादांत जगण)।
५. धनवाल: भविसयत्तकहा ४।११।
६. हे० छं० ६।२६; स्वयं० ६।१५४ (गणविधान ४+५+२)।
७. प्रा० पैं० १।१८३ (पादगत १६ मात्राएँ चार चतुष्कलों विभक्त; भगण, जगण और कर्ण का निषेध, तथा सर्वलघु और सगण का विधान)।
८. धनपाल: भविसयत्तकहा। संधि ७ के सभी तथा संधि ८ के १—१० और १०—२० कड़वकों के अंत में घत्ता-रूप में प्रयुक्त।
९. प्रा० पैं० १।१२७।
१०. धनवाल: भविसयत्तकहा, ४।७।

फिर भी, कड़वकांत घत्ता के संग में इन चतुष्पदी छंदों को वह प्राधान्य नहीं मिला, जो घत्ता नामक छंद अथवा उससे मिलते-जुलते द्विपदी छंदों को प्राप्त हुआ है।

संदेशरासक में संभवतः गीतात्मक प्रवृत्ति के प्राधान्य के कारण ही घत्ता छंद का उपयोग नहीं हो सका है; क्योंकि घत्ता छंद को कड़वकबद्ध रचना के लिए ही प्रयुक्त करने की परिपाटी रही है।

कड़वकबद्ध रचनाओं में पुष्पदंत ने (समय-सं० १०१६)[1] घत्ता छंद के कई कवि-दर्पणोक्त भेदों का प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त घत्ता के रूप में अन्य छंद भी आये हैं, जैसे चुलियाला, उल्लाला, त्रिभंगी, सोरठा, चउपइया, दुवई आदि। इन छंदों पर हमने यथास्थान अन्यत्र विचार किया है।

कविदर्पण में घत्ता के जो ६ भेद कथित हैं[2], उनमें एक का मात्राविधान (प्रत्यर्द्ध में) है—१२+८+१३। यह भेद पुष्पदंत की रचनाओ में उपलब्ध है। देखिए—

वर णरवरु धवलिच्छिहे होउ, मा कुच्छिहे मरउसोणिमुहणिग्गमे।
। । । । । । । । S । । । । S S । । । । । S । । । S । S
खल-कुच्छिय-पहु-वयणइं भिउडियणयणइं म णिहालउ सूरुग्गमे ॥[3]
। । S । । । ॰ । । । । । । । । । । । । । । । S । । S S । S

उक्त उद्धरण में प्रतिपाद १२+८+१३ मात्राएँ है। यति १२वी, २०वी मात्राओं पर है। यतिस्थान प्रतिपाद में परस्पर तुकपूर्ण है। द्रष्टव्य है कि पुष्पदंत ने द्विपदी के रूप में घत्ता का प्रयोग किया, षट्पदी के रूप में नही।

कविदर्पणोक्त एक अन्य भेद का मात्राविधान है—१२+८+१२। यह भेद भी पुष्पदंत के काव्य में द्विपदी रूप में ही प्रयुक्त है—

जणमण तिमिरोसारण मयतरुवारण, णियकुलगअणदिवायर ।
। । । । । । S S । । । । । । S । । । । । । । । । । S । ।
भो भो केसव तनुरुह णवसररुह-मुह कव्वरमणरयणाअर ॥[4]
S S S । । । । । । । । । । । । । । S । । । । । । S । ।

उक्त उद्धरण का मात्राविधान प्रत्यर्द्ध में १२+८+१२ है। १२वी, २०वी मात्राओं पर तुक के साथ यति है।

इन विशिष्ट भेदों के उदाहरण तो अपभ्रंश-काव्य में मिलेगे ही, इनके अतिरिक्त इन भेदों के पाद-मिश्रण से उद्भूत संकीर्ण घत्ता छंद के उदाहरण भी अपभ्रंश में दुष्प्राप्य नहीं, और यह उस स्वच्छंदता का सूचक है, जिसका उपयोग अपभ्रंश-कवि प्रायः व्यापक रूप से करते हैं। एक अनुच्छेद में घत्ता के भिन्न भेदों के पादमिश्रण का एक उदाहरण, अपभ्रंश-कवि लक्खणविरचित, देखिए—

---

१. राहुल: हिं० का० धा०, पृ० १७६।
२. क० द० २।२९-३३।
३. पुष्पदंत: आदिपुराण (महापुराण; हिं० का० धा०, पृ० १७८) अन्य उदाहरण—हिं० का० धा०, पृ० १९०।
४. वही (इस छंद का अन्य उदाहरण हिं० का० धा०, पृ० १८० पर द्रष्टव्य है)।

उव्वासिय पर मंडलु दंसियमंडलु, कास-कुसुम-संकास-जसु।
S S । । ।। S । । S । । S । । S । ।।। S S । ।।
छल-बल सामत्थे णीइ णयत्थे, कवण राउ उवमियइ तसु॥[1]
।। ।। S S S S । । S S ।।। S । ।।।।।।।

उक्त उद्धरण में प्रथम पाद का मात्राविधान १२+८+१३ है, तथा दूसरे पाद का १०+८+१३ है। कविदर्पण मे उल्लिखित घत्ता के दो भेदो के एक-एक पाद स्पष्टतया एक अनुच्छेद में समाविष्ट है, जिससे घत्ता के संकीर्ण तथा विषम द्विपदी रूप की उद्भावना होती है।

लक्खण के काव्य मे इस प्रकार के पादमिश्रण के उदाहरण अन्य छंदों के संबंध में भी दृष्टिगत है। नीचे दिये गये उदाहरण में घत्ता-भेद[2] और चौपैया[3] छंदों का पाद-मिश्रण घटित हुआ है। देखिए—

खत्तिय सासणु परबल तासणु ताण मंडल उव्वासणु।
S । । S । । ।।।। S । । S । ।।। S S । ।

जस पसर पयासणु णव जल-हरसणु दुण्णय वित्ति पवासणु॥[4]
।। ।।। ।S । । ।।।।।।।। S ।। S । ।S । ।

उक्त उद्धरण के प्रथम पाद का मात्राविधान है ८+८+१२ तथा द्वितीय पाद का मात्राविधान है १०+८+१२। इसे भी हम घत्ता छंद का विषम द्विपदी रूप कह सकते है। द्रष्टव्य है कि कविदर्पणोक्त भेदों से उक्त किसी भी पाद का साम्य नही है।

कनकामर मुनि ने करकंडचरिउ नामक अपनी कड़वक-बद्ध रचना में कड़वकांत घत्ता के लिए घत्ता नामक छंद का प्रयोग किया है। उदाहरण—

तहि अरिविद्दारणु, मयतरुवीरणु, धाडीवाहणु पहुहुयउ।
जो कवगुणजुत्तउ, गुरुयणभत्तउ, विज्जासायर पारगउ॥[5]

उक्त उद्धरण में प्रतिपाद मात्राविधान १०+८+१३ है, अतः यह घत्ता के मुख्य भेद का उदाहरण है। पादांतगत तुक १०वी और १८वी मात्राओं पर यति के साथ द्रष्टव्य है। कड़वकांत घत्ता के लिए घत्ता छंद के अतिरिक्त कवि ने उल्लाला के काम उल्लाल,[6] तथा रस उल्लाल[7] नामक भेदों का यथावसर प्रचुर उपयोग किया है। घत्तार्थ कुछ अन्य छंद भी आये है।

सोमप्रभ सूरि के कुमारपालप्रतिबोध में घत्ता छंद आया है—

---

१. लक्खण: अणुवयरयणपईब (अणुव्रतरत्नप्रदीप; हिं० का० धा०, पृ० ४४६)।
२. प्रतिपाद—८+८+१३ मात्राएँ।
३. प्रतिपाद—१०+८+१२ मात्राएँ।
४. लक्खण: अणुवयरयणपईब (अणुव्रतरत्नप्रदीप; हिं० का० धा०, पृ० ४४६)।
५. कनकामर मुनि: करकंडचरिउ, पृ० ५ (हिं० का० धा०, पृ० ३३०)।
६. वही, पृ० १७ (हिं० का० धा०, पृ० ३३४)।
७. वही, पृ० ५१ (हिं० का० धा०, पृ० ३३८)।

घन मयण महूसवि, पिज्जंतासवि, तहि वसंति जणचित्तहरि ।
कय विसय पसंसिहि, नीओ वयंसिहि, थलभद्दकोसाहि घरि ॥'

उक्त उद्धरण में मात्राविधान प्रतिपाद १०+८+१३ है। द्वितीय पाद के मध्य में 'ओ' का उच्चारण लघु की तरह अपेक्षित है।

घत्ता छंद की उत्पत्ति

घत्ता छंद का प्रथमोल्लेख स्वयंभू तथा हेमचंद्र ने किया तथा इसका प्राचीनतम प्रयोग भी स्वयंभू के पउमचरिउ के पूर्व नही मिलता, इससे यह विदित होता है कि यह छंद अपभ्रंश का छंद है तथा लोकप्रचलित ताल-संगीत से इसकी उत्पत्ति हुई है। इस छंद की प्रकृति के विश्लेषण से भी इस मंतव्य को बल मिलता है। घत्ता छंद या उसके किसी भी भेद के पाद को अष्टमात्रिक ताल-गणों में विभक्त किया जा सकता है। पादांतर्गत यति का ताल-गणों से सामंजस्य रहता है, अर्थात् यतिस्थानों पर तालगण की समाप्ति भी हो जाती है। हाँ, अंतिम तालगण में अक्सर प्लुत उच्चारण या विराम का सहारा लेना पडता है। पादांतर्गत दो यति-स्थानों से ऐसा प्रतीत होता है कि इस छंद का उपयोग आरंभ में नृत्य के लिए होता होगा। यही बात चतुष्पदी, चउपइया, त्रिभंगी, मरहट्ठा आदि छंदों के संबंध में कही जा सकती है। यति-स्थानों पर तुकयोजना अतिरिक्त सांगीतिकता की सृष्टि में सहायक है।

कड़वक-बद्ध कथाकाव्यों या चरितकाव्यो में कड़वकांत घत्ता के रूप में छंदःपरिवर्त्तन द्वारा एक तो कड़वकांतर्गत प्रयुक्त मुख्य छंद की लगातार चलनेवाली लय की एकरसता दूर होती है, दूसरे गायक को एक लय में कुछ देर तक गाने के उपरांत साँस लेने का अवसर मिलता है। इसलिए, घत्ता के रूप में ऐसे छंद की जरूरत होती है, जिसमें वर्ण-मात्राओं की संख्या के ताल-मात्राओं की संख्या से कम होने के कारण विराम द्वारा उसकी पूर्त्ति का अवसर मिले। इससे गायक को विश्राम भी मिलता है और ताल भी नही टूटता। इसीलिए, घत्ता के रूप में प्रयुक्त छंदों की वर्णमात्राएँ अक्सर ४ या ८ से विभाज्य नहीं रखी जाती; क्योंकि गायक अक्सर अष्टमात्रिक ताल-गण का प्रयोग करते हैं। घत्ता छंद में १०+८+१३=३१ मात्राएँ प्रतिपाद होती है, जो ४ या ८ से विभाज्य नहीं। फलतः, ताल-योजना इस प्रकार होती है—

२+८+८+८+५ (+१)=३१ (+१=३२) मात्राएँ।

अर्थात्, अंतिम गण अगली पंक्ति के प्रथम गण से मिलकर एक मात्रा की विराम-योजना द्वारा नियमानुसार अष्टमात्रिक ताल-गण की सृष्टि कर लेता है। घत्ता के रूप में प्रयुक्त छंद में यह विराम, चाहे एक मात्रा का हो या अधिक का, आवश्यक है, (यद्यपि व्यावहारिक प्रयोग में इसके अपवाद भी कहीं-कहीं मिलते हैं।)

घत्ता-छंद का गाथा से नाम-साम्य होते हुए भी रचनागत साम्य नहीं है, इसलिए गाथा से इसका उत्पत्तिगत संबंध नहीं माना जा सकता। यह हो सकता है कि प्राकृत चरितकाव्यों में कड़वकांत घत्ता के लिए गाथा छंद का प्रयोग होता था और बाद में

---

१. सोमप्रभ : कुमा[illegible]ोध, ५। (G.O.S., XIV, 1920)।

अपभ्रंश-काव्य के बीच जब प्रस्तुत (घत्ता) छंद का प्रयोग गाथा की जगह होने लगा, तब इसका नाम संपर्क-शक्ति तथा वर्ण-विपर्यय की भाषावैज्ञानिक प्रक्रिया के फलस्वरूप गाथा की जगह घत्ता हो गया।[1] किंतु, इस संबंध में यह बात अभी निश्चयपूर्वक नहीं, कही जा सकती।

घत्ता छंद और मध्यकालीन हिंदी-काव्य

घत्ता नामक छंद का इतिहास अत्यंत अल्पकालिक है। विक्रम की नवम शती में इसका प्रारंभिक प्रयोग मिलता है तथा १३वीं शती के बाद ही यह छंद काव्य-कृतियों से लगभग लापता हो जाता है।

राजस्थान के डिंगल-काव्य में अथवा मध्यकालीन हिंदी के संतकाव्य, प्रेमकाव्य, राम-काव्य या कृष्णकाव्य मे घत्ता छद न तो मुक्तक रूप में लोकप्रिय दिखाई देता है और न कड़वकबद्ध रचनाओं में घत्तार्थ इसका प्रयोग मिलता है। प्रारंभ मे भी यह छंद मुक्तक-रूप मे कम, घत्तार्थ अधिक प्रयुक्त हुआ है। वस्तुतः, यह छंद कड़वक-रचना की आवश्यकता-वश आरंभ मे प्रयुक्त हुआ है।

हिंदी के प्रबंध-काव्यों मे कड़वकांत घत्ता के लिए घत्ता नामक छंद का प्रयोग प्रायः नही हुआ है। घत्ता के लिए प्रेमाख्यानक काव्य तथा रामकाव्य में अक्सर दोहा-सोरठा प्रयुक्त है। दोहा-सोरठा ने घत्ता नामक छंद को सर्वथा निष्कासित कर दिया है।

यों, मुक्तक रूप मे छंद-वैचित्र्य-प्रदर्शन के उद्देश्य से केशव ने घत्ता छंद का प्रयोग किया है।

केशवदास की रामचंद्रिका कड़वकबद्ध रचना नही, फिर भी उसमें घत्ता नामक छंद एक जगह, मुक्तक रूप में ही सही, आ गया है।

उदाहरण—

सरजू सरिता तट नगर बसे वर,
।।ऽ ।।ऽ ।। ।।। ।ऽ ।।

अवधनाम यशधाम धर।
।।।ऽ। ।।ऽ। ।।

अघओघ विनाशी सब पुरवासी,
।।ऽ। ।ऽऽ ।। ।।ऽऽ

अमरलोक मानहुँ नगर॥[2]
।।।ऽ। ऽ।। ।।।

उक्त उद्धरण में प्रतिपाद १०+८+१३ मात्राएँ है, अतः प्राकृतपैंगलोक्त घत्ता छंद का लक्षण इसमें चरितार्थ है।

---

१. 'गाथा' मे 'ह्' ध्वनि के पूर्ववर्ती व्यंजन 'ग' के पार्श्व मे स्थानांतरण तथा 'गा' के 'आ' की जगह परवर्ती 'त्' ध्वनि के द्वित्व द्वारा 'गाथा' से 'घत्ता' होना व्याख्येय है।

२. केशव : रामचंद्रिका १।२३।

यह एक विरल उदाहरण है। केशव ने भी इस छंद का अधिक उपयोग संभवतः नहीं किया। बाद में भी इस छंद के उदाहरण प्रायः लक्षण-ग्रंथों में ही मिलते हैं, काव्य-ग्रंथों में नहीं।

मध्यकालीन हिंदी-काव्य में कड़वकांत घत्ता का प्रयोग

डिंगल के प्रायः सभी चरितकाव्य, चाहे वे बीसलदेवरासो की तरह गीतात्मक हो या पृथ्वीराजरासो की तरह प्रबंधात्मक, आद्योपांत मुक्तक रूप से नियोजित छंदों में ही रचित हैं। कड़वकबद्धता उनमें प्रायः कहीं नहीं मिलती। इसलिए कड़वकांत घत्ता का प्रश्न उनके संबंध में उठता ही नहीं।

हिंदी के भक्तिकाल में संत-काव्य के अंतर्गत आनेवाली रचनाएँ प्रायः सभी मुक्तक रूप में रचित हैं। उनमें भी कड़वकबद्धता का कहीं पता नहीं।

सूफी प्रेमाख्यानक काव्य में अवश्य कड़वकबद्धता प्रायः सर्वत्र मिलती है।

मुल्ला दाऊद के 'चंदायन' या 'लोरकहा' में चौपाई की अर्द्धालियों के बाद दोहा छंद घत्तार्थ प्रयुक्त है।[1]

शेख कुतबन[2] के ग्रंथ मृगावती[3] में कड़वक-विधान के लिए चौपाई-दोहा-शैली को अपनाया गया है। प्रत्येक कड़वक में चौपाई की ५ अर्द्धालियों के उपरांत घत्तार्थ एक दोहा आया है, जिसे ग्रंथ में 'दोहरा' कहा गया है। इसी प्रकार, चौपाई की ५-५ अर्द्धालियों के बाद एक-एक दोहे का प्रयोग मंझन[4]-कृत मधुमालती[5] में, जानकवि-कृत[6] कनकावती[7] और कामलता[8] में तथा नूर मुहम्मद[9]-कृत इंद्रावती[10] में दृष्टिगत होता है। मलिक मुहम्मद जायसी[11]

---

१. रचनाकाल सं० १३७५ वि०। बे० अ० ६, पृ० ५, 'दोहा'।

२. रचनाकाल सं० १५५९ वि०; पं० रामचंद्र शुक्ल: जायसी-ग्रंथावली। भूमिका, पृ० ३।

३. संकलन: सूफीकाव्यसंग्रह (हिं० सा० सम्मेलन, प्रयाग), पृ० ९८।

४. जायसी के पूर्ववर्त्ती। रचनाकाल सं० १५६६ के आसपास। डॉ० रा० कु० वर्मा: हिं० सा० का आ० इ०, पृ० ३३२।

५. संकलन: सूफीकाव्यसंग्रह (हिं० सा० सम्मेलन, प्रयाग), पृ० १२१।

६. रचनाकाल सं० १६६७-१७२१ वि०; परशुराम चतुर्वेदी: सूफीकाव्यसंग्रह, पृ० १४३।

७. संकलन: सूफीकाव्यसंग्रह, पृ० १४३।

८. वही, पृ० १४५।

९. रचनाकाल सं० १८०१-१८२१ वि०; परशुराम चतुर्वेदी: सूफीकाव्यसंग्रह।

१०. संकलन: सूफीकाव्यसंग्रह, पृ० १६२।

११. जन्म-सं० १५५० वि०। पं० रामचंद्र शुक्ल: जायसी-ग्रंथावली (ना० प्र० सभा, काशी), भूमिका, पृ० ५।

के ग्रंथ पद्मावत[1] तथा आखिरी कलाम[2] में, उसमान[3] की चित्रावली[4] में, कासिमशाह[5] के हंसजवाहर[6] में तथा नसी[7] के प्रेमदर्पण[8] में चौपाई की सात-सात अर्द्धालियों के उपरांत एक-एक दोहे का घत्ता दिया गया है। जानकवि-कृत रतनावती[9] तथा छीता[10] में कड़वकांतर्गत चौपाई की १० अर्द्धालियों के बाद एक दोहा घत्तार्थ प्रयुक्त है। शेख निसार[11] और शेख रहीम[12] की स्थिति मध्यवर्त्ती है; क्योंकि इन्होंने चौपाई की क्रमशः ९ और ८ अर्द्धालियों के बाद एक-एक दोहा का प्रयोग किया है। इनके ग्रंथ के नाम हैं क्रमशः युसुफ-जुलेखा तथा भाषाप्रेमरस। प्रथम में दोहा को 'दोहरा' कहा है। कभी-कभी दोहा से भिन्न किसी छंद का प्रयोग भी घत्ता के लिए इस कोटि के ग्रंथों में हुआ है। उदाहरण के लिए, नूरमुहम्मद की अनुरागबाँसुरी[13] में चौपाई की ६-६ अर्द्धालियों के बाद कड़वकांत घत्ता के रूप में १-१ बरवै आया है। जायसी के ग्रंथ अखरावट में कड़वकांतर्गत चौपाई की सात अर्द्धालियों के उपरांत घत्ता रूप में एक दोहा तथा एक सोरठा प्रयुक्त है।[14]

सूफी-काव्य के अंतर्गत प्रयुक्त चौपाई की अर्द्धालियों की कड़वक-गत विषम संख्या इस बात का द्योतक है कि 'मुसलमानों ने चौपाई' के दो चरणों को ही चौपाई का पूर्ण छंद मान लिया'[15], जबकि चौपाई में छंदःपूर्त्ति के लिए चार चरण या पाद अपेक्षित हैं।

गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस[16] के कड़वकविधान के लिए चौपाई की आठ-आठ अर्द्धालियों पर दोहा, सोरठा आदि का घत्ता दिया है, अर्थात् प्रत्येक कड़वक में चार-

---

१. प्र० ना० प्र० सभा, काशी (सं० पं० रामचंद्र शुक्ल); हिंदुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद (सं० डॉ० माताप्रसाद गुप्त)।
२. वही।
३. रचनाकाल सं० १६७० वि०; पं० रामचंद्र शुक्ल: जायसी-ग्रंथावली, भूमिका, पृ० ४।
४. संकलन: सूफीकाव्यसंग्रह, पृ० १२९।
५. रचनाकाल सं० १७९३ वि०; परशुराम चतुर्वेदी: सूफीकाव्यसंग्रह, पृ० १५४।
६. संकलन: सूफीकाव्यसंग्रह, पृ० १५५।
७. रचनाकाल सं० १९७४ वि०; परशुराम चतुर्वेदी: सूफीकाव्यसंग्रह, पृ० १९७ (अंतःसाक्ष्य के आधार पर)।
८. संकलन: सूफीकाव्यसंग्रह, पृ० १९८।
९. वही, पृ० १४९।
१०. वही, पृ० १५२।
११. रचनाकाल सं० १८४७ वि०; परशुराम चतुर्वेदी: सूफीकाव्यसंग्रह, पृ० १७८।
१२. रचनाकाल सं० १९७२ वि०; वही, पृ० १९१।
१३. संकलन: सूफीकाव्यसंग्रह, पृ० १६७।
१४. जायसी-ग्रंथावली (सं० डॉ माताप्रसाद गुप्त; प्र० हिंदुस्तानी एकेडमी, प्रयाग) तथा (सं० पं० रामचंद्र शुक्ल: ना० प्र० सभा, काशी)।
१५. डॉ० रामकुमार वर्मा: हिं० सा० का० आ० इ०, पृ० ३३४।
१६. रचनाकाल सं० १६३१ वि०; अन्तःसाक्ष्य—रामचरितमानस (गीताप्रेस) १।३४।

चार चौपाइयाँ आई है। बात यह है कि गोस्वामी तुलसीदास शास्त्रमर्मज्ञ और छदो-लक्षणो के जानकार थे तथा रुचिपरिनिष्ठा के कारण छदो के शास्त्र-सम्मत विशुद्ध प्रयोग की दिशा मे सावधान थे। जायसी तथा अन्य सूफी कवि छद शास्त्र के नियमो के ज्ञाता नही थे और सहज प्रतिभा के बल से कविता करते थे। उनके काव्य मे चौपाई की अर्द्धालियो की विषम सख्या का कारण यही है।

तुलसीदास ने कडवकात घत्ता के लिए विकल्प से दोहा या सोरठा का प्रयोग किया है, यद्यपि दो कडवको के बीच हरिगीतिका, चउपइया आदि अन्य छद भी आये है।

इस प्रकार, हम देखते है कि मध्यकालीन हिंदी-काव्य मे कडवकात घत्ता के लिए घत्ता नामक छद का स्थान अनिवार्यत इतर छदो ने, विशेषकर दोहा-सोरठा ने ले लिया है। हिंदी-काव्य की दृष्टि से इसीलिए, घत्ता नामक छद से अधिक महत्त्व कडवकात घत्ता-विधान का है।

घत्ता छंद और कड़वकांत घत्ता-विधान-संबंधी सामान्य निष्कर्ष

(१) घत्ता छद अपभ्र श के प्राचीनतम छदो मे से है और आठवी शती तक परि-निष्ठित काव्य मे कडवकात घत्ता-विधान के लिए प्रयुक्त होने लग गया था। १४वी शती के बाद उसका प्रचलन उठ गया और कडवक के अतर्गत उसका स्थान दोहा-सोरठा आदि अपेक्षाकृत अधिक अग्रसर एव सुविधाजनक छदो ने ले लिया। मध्यकालीन हिंदी मे घत्ता छद का प्रयोग अत्यत ही विरल है।

(२) घत्ता छद की प्रकृति तथा प्रयोग से ध्वनित है कि वह सस्कृत या प्राकृत का नही, अपभ्र श का छ द है और उसकी व्युत्पत्ति अष्टमात्रिक तालगणो मे गेय किसी लोक-प्रचलित ताल-छद से मानी जा सकती है।

(३) घत्ता छद पादातर्गत तुक के कारण चउपइया, त्रिभगी, मरहट्ठा आदि चतुष्पदी छदो मे तुलनीय है, यद्यपि वह स्वय द्विपदो है। सभवत, इन चतुष्पदी छदो की उत्तरोत्तर लोकप्रियता ने भी घत्ता के प्रयोग को आघात पहुँचाया। घत्ता की अपेक्षा ये छद इसलिए अधिक लोकप्रिय हुए कि इनके पादात सगीत की दृष्टि से अधिक सुविधाजनक थे। आगे हमने इन छदो पर विचार किया है। यहाँ हम यह कह सकते है कि पादातर्गत दो यति तथा यतिस्थानो पर परस्पर तुकवाले छदो की परपरा के प्रवर्त्तन की प्रक्रिया मे सभवत घत्ता छंद का महत्त्व कम नही है।

अध्याय ६

काव्य में प्रयोग के आधार पर कुछ प्रमुख मात्रिक छंदों के ऐतिहासिक विकास का अध्ययन

(चतुष्पदी छंद)

प्रकरण १
छोटे पादवाले छंद

प्रथमोल्लेख तथा प्रारंभिक प्रयोग

समचतुष्पदी मात्रिक छंदों को पादगत लबाई के अनुसार हम तीन कोटियों मे बॉट सकते है : १. छोटे पादवाले छंद (पादगत मात्रासंख्या १५ तक); २ मध्यम पादवाले छंद (पादगत मात्रासंख्या १६ से ३२ तक) तथा ३. लबे पादवाले छंद या दंडक (पादगत मात्रासंख्या ३२ से अधिक)।

छोटे पादवाले सममात्रिक चतुष्पदी छंदों का उल्लेख सस्कृत के प्राचीन लक्षणकारो (पिगल, जयदेव, जयकीर्त्ति, केदार) ने नहीं किया है। हेमचंद्र ने, जिनपर प्राकृत-प्रभाव प्रभूत परिणाम मे है, अवश्य ऐसे छंदों का उल्लेख किया है—ये हैं ध्रुवक, शशिवदना, मारकृति, महानुभाव, अप्सरोविलसिता, गंधोदकधारा, पारणक आदि। स्वयंभू तथा विरहांक ने भी ऐसे छंदों का उल्लेख किया है। प्राकृतपैंगलम् में मधुभार, दीपक, अहीर तथा हाकलि छंद उल्लिखित हैं।[1]

इससे ऐसा प्रतीत होता है कि इन छोटे पादवाले छंदों का प्रचलन-प्राकृत-अपभ्रंश-काल में हुआ तथा ये छंद संस्कृत वर्ण-वृत्त-परंपरा की देन न होकर लोक-प्रचलित ताल-संगीत से उद्भूत है। संभवतः, ये छंद लोकगीतो में ध्रुव या ध्रुवक (टेक) का काम देते थे। हेमचद्र ने ध्रुव या ध्रुवक नामक छंद का उल्लेख भी किया है और इसके अनेक भेद-प्रभेद माने है।[2] मात्रिक चतुष्पदी के रूप मे संभवतः छोटे पादवाले इन छंदों मे अधिकाश का प्रयोग कालांतर में उठ गया तथा कुछ ही चिरजीवी हो सके। अपेक्षाकृत अधिक प्रयुक्त इन छंदों को ही प्राकृतपैंगलम् तथा छंदःकोश ने स्वीकृति दी है।

आदिकालीन काव्य में इस वर्ग के छंदों का चतुष्पदी रूप में प्रयोग बहुल तो नही, विविध अवश्य है। अर्थात्, इन छंदों के विविध प्रयोग तो अवश्य हुए, किंतु किसी विशेष छंद को परिनिष्ठा का महत्त्व या सर्वस्वीकृति का गौरव नहीं मिला।

१३ मात्राओं के पाद का छंद धारिणी या चंडिका[3] कालिदास के त्रोटक विक्रमोर्वशीय में प्रयुक्त है।[4] उदाहरण—

सहअरिदुक्खा लिद्धअं
। । । । ऽऽ ऽ । ऽ

सरवरअम्मि सि णिद्धअं।
। । । । ऽ । । ऽ । ऽ

---

१. वे० अ० ४, प्र० २।
२. हे० छं० ६।४-१४।
३. छं० प्र०, पृ० ४६ (पादगत १३ मात्राएँ; अंत ऽ।ऽ)।
४. कालिदास: विक्रमोर्वशीय, अंक ४, पद्य २, ३, ६, (निर्णयसागर प्रेस, १९६६ वि०)।

वाह्योवग्गि अ णअणअं
S S S I I I I I S

तम्मह हंसी जुअलअं ॥[1]
S I I S S I I I S

उक्त उदाहरण मे ८+५ के हिसाब से प्रतिपाद १३ मात्राएँ है। पादात (S I S) प्रथम दो पादो मे ही है। शेष मे (I I I S) रूप पंचकल का आया है।

१४ मात्राओ के पाद का हाकलि छद (४+४+४+S; चतुष्कलो मे सगण, भगण या द्विज का विधान)[2] कालिदास के त्रोटक विक्रमोर्वशीय मे प्रयुक्त है।[3] उदाहरण—

चिंतादुम्मिअ माणसिआ
S S S I I S I I S

सहअरि दंसणलालसिआ।
I I I I S I I S I I S

विअसिअकमलमनोहरए
I I I I I I I I S I I S

विहरइ हंसी सरवरए॥[4]
I I I I S S I I I I S

उक्त उदाहरण मे तीन चतुष्कल और एक गुरु प्रति पाद में आये अवश्य है, किंतु चतुष्कलो मे सगण और विप्र के साथ कर्ण भी आया है।

सरहपा की रचनाओ में महानुभाव छंद (४+४+४)[5] प्रयुक्त है—

एत्थु से सुरसरि जमुणा। एत्थु से गंगा साअरु॥
एत्थु पआग वणारसि। एत्थु से चंद दिवाअरु॥[6]

सरहपा के दोहाकोशगीति नामक ग्रंथ (समय—८वीं शती उत्तरार्द्ध)[7] में १५ मात्राओं के पाद का चौपई या जयकरी छंद[8] (अंत S I) भी प्रचुर परिमाण में प्रयुक्त है। इस

१. वही, ४।२।
२. प्रा० पैं० १।१७२; छं० प्र०, पृ० ४६।
३. कालिदास : विक्रमोर्वशीय, ४।४, २९, ३५, ६२, ७४ (निर्णयसागर प्रेस, १९६६ वि०)।
४. वही, ४।४।
५. हे० छं० ६।२७; स्वयं० ६।१५६।
६. सरहपा : दोहाकोश, ४७ (सं० डॉ० प्र० चं०, बागची, Jol, C.U.), पृ० १५।
७. राहुल : दोहाकोश (बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना), भूमिका, पृ० १२-१३।
८. छं० प्र०, पृ० ४८।

छद के पादो का प्रयोग १६ मात्राओ के पादवाले चौपाई छद के पादों के साथ हुआ है, जिसका कारण स्पष्टतया दोनो छदो का लय-साम्य है और जिसका उद्देश्य है पादात-वैविध्य। उदाहरण देखिए—

बम्हणेहि म जानन्तहि भेउ। (१५ मात्राएँ, अत ऽ।)
एवइ पढिअउ एच्चउवेउ ॥ ,, ,,
मट्टि पाणि कुस लई पढन्त। (१६ मात्राएँ, अंत ऽऽ)
घरही बइसी अग्गि हुणन्त॥ ,, ,,

पउमचरिय (विमलसूरि), गाथासप्तशती, गउडवहो, जिनदत्तसूरिस्तुति, कुमारपाल-चरित, सनेहरासअ आदि ग्रथो मे १८ मात्राओ तक के पादवाले समचतुष्पदी प्रायः नही आये है। कुमारपालचरित[1] मे मनोरमा नामक एक समचतुष्पदी छद आया है, जिसके प्रतिपाद मे १४ मात्राएँ होती है और पादात ऽ।। या ऽ होता है।[2]

धनवालकृत भविसयत्तकहा[3] मे ११ मात्राओ के पाद का अहीर नामक समचतुष्पदी छंद[4] आया है, जिसका प्रयोग घत्ता के लिए हुआ है। घत्ता के लिए प्रयुक्त होने के कारण ही द्विपदी रूप मे उपस्थित किया गया है। इसी अध्याय मे द्विपदी छंदों के प्रसंग मे हम इसकी चर्चा कर आये है।

पुष्पदंत के काव्य मे १० मात्राओं के पाद का चतुष्पदी दीपक छंद (प्रतिपाद लघ्वंत दो पंचकल)[5] कही-कही आया है। उदाहरण—

जलुगलइ, झलझलइ
दरिभरइ, सरिसरइ।
तडयडइ, तडि पडइ
गिरि फुडइ, सिहि णडइ॥[6]

बब्बर (समय—११०७ वि०)[7] की स्फुट रचनाओ मे १४ मात्राओं के पाद का यह पद्य आया है—

पुत्त पवित्त बहुत्त घणा
ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।ऽ

भत्ति कटुंबिणि सुद्धमणा।
ऽ।। ऽ।। ऽ।। ऽ

१. हेमचंद्र : कुमारपालचरित, ८।८२।
२. वही, टिप्पणी तथा हे० छं० २।११९; वृ० र० ३।२७।
३. धनवाल : भविसयत्तकहा, ४।११।
४. प्रा० पैं०, १।१७७ (पादगत ११ मात्राएँ, पादांत जगण)
५. प्रा० पैं० १।१८१।
६. पुष्पदंत : उत्तरपुराण (हिं० का० धा०, पृ० २२६)
७. राहुल : हिं० का० धा०, पृ० ३१४।

हक्क तरासइ मिच्च-गणा
S I I S I I S I I S

को कर बब्बर सग्ग मणा।
S I I S I I S I I S

किंतु वर्णों तथा मात्राओ की सख्या एवं लघुगुरु-क्रम के सर्वथा निश्चित होने के कारण इसे हाकलि छद का उदाहरण कहने की अपेक्षा सारवती[1] अथवा चित्रगति[2] छद का उदाहरण कहना अधिक उचित होगा। बब्बर का निम्नलिखित पद्य अवश्य हाकलि छद को उदाहृत करता है—

उच्चउ छाअण विमल धरा (११ वर्ण)
S I I S I I I I I I S

तरुणी घरिणी विणअपरा। (११ वर्ण)
I I S I I S I I I I S

वित्तक पूरल मुद्दहरा (१० वर्ण)
S I I S I I S I I S

बरिसा समआ सुक्खकरा॥[3] (१० वर्ण)
I I S I I S S I I S

उक्त उदाहरण मे लघुगुरु-क्रम तथा वर्ण-सख्या प्रत्येक पाद मे समान नही हैं। चतुष्कलो का स्वरूप विकल्प से सगण, भगण या विप्र है। अत यह मात्रिक हाकलि छद है।[4]

दीपक छद (५+५)[5] का प्रयोग कनकामर मुनि के करकडचरिउ मे हुआ है—

कुताइ भज्जति। कुजरइ गज्जन्ति ॥
रहसेन वग्गंति। करिदसन लग्गन्ति ॥[6]

---

१. प्रा० पैं०, २।९५। (यह पद्य प्रा० पैं० में सारवती छंद के उदाहरण रूप में, इसी कारण, उद्धृत है)।
२. हे० छं० २।११३; जकी० २।८९।
३. बब्बर: हिं० का० धा०, पृ० ३१४ (तथा प्रा० पैं० १।१७४)।
४. प्रा० पैं० १।१७२।
५. प्रा० पैं० १।१८१।
६. कनकामर मुनि: करकंडचरिउ, पृ० ३१।

स्वयभू के पउमचरिउ या रामायण (समय ८४७ वि०)[1] मे भी १६ मात्राओ के पादवाली अर्द्धालियो के बीच-बीच मे कही-कही १५ मात्राओ के पाद की अर्द्धालियाँ भी लयसाम्य के कारण और पादात-वैविध्य के हित मे रखी गई है। चौपाई छद (अत ऽ।) की एक अर्द्धाली निम्नोद्धृत है—

दिट्ठु वसंततिलउ उज्जाणु।
ऽ।
सज्जणहियऊँ जेम अपयाणु।।[2]
ऽ।

इसी प्रकार कण्हपा (समय—९वी शती वि०)[3] के दोहाकोश मे भी १६ मात्रिक अरिल्ल आदि छदों के साथ १५ मात्राओ के पादवाले चौपाई छद की अर्द्धालियाँ मिलती है। उदाहरण—

एक्कु ण किज्जइ मन्त ण तन्त। (१५ मात्राएँ, अत ऽ।)
णिअ घरिणी लइ केलि करन्त।। (,, ,,)
णिअ घरे घरिणी जाव ण मज्जइ। (१६ मात्राएँ, अत ऽ।।)
ताव कि पचवण्ण विहरिज्जइ।।[4] (,, ,,)

उक्त उद्धरण के प्रथम दो पाद चौपई छद के और शेष दो पाद चौपाई छद (सम के बाद सम, विषम के बाद विषम कल) के है।

इस प्रकार, अर्द्धाली-मिश्रण के उदाहरण लुइपा (९वी शती वि०)[5] की रचनाओं से भी दिये जा सकते है।[6] लुइपा ने पृथक्, विशुद्ध चौपई छद भी प्रस्तुत किये है—

काआ तरुवर पच विडाल।
चंचल चीएँ पइट्ठा काल।।
दिढ करिअ महासुह परिमाण।
लुई भणइ गुरु पुच्छिअ जाण।।[7]
(राग पटमंजरी)

९वी शती के[8] विरूपा ने भी चौपई और चौपाई की अर्द्धालियो का मिला-जुला प्रयोग किया है—

चउशटि घडिए देख पसारा। (१६ मात्राएँ)
पइठल गराहक नाहि निसारा। (,,)

---

१. राहुल: हिं० का० धा०, पृ० २२।
२. स्वयंभू: पउमचरिउ (रामायण) २६।५।
३. राहुल: हिं० का० धा०, पृ० १४६।
४. कण्हपा: दोहाकोश, २८ (सं० डॉ० प्र० चं० बागची, J.D.L., C.U. Vol. XVIII)
५. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी: हिं० सा०—उसका उद्भव और विकास, पृ० २७।
६. लुइपा: चर्यापद (J.D.L., C.U. XXX), पृ० २९।
७. वही, १।
८. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी: हिंदी-साहित्य—उसका उद्भव और विकास, पृ० २३।

एक घड़्ल्ली सरुइ नाल । (१५ मात्राएँ)
भणइ विरुआ थिर कर चाल ॥[1] („)
(राग गबडा)

ये सभी पक्तियाँ विशिष्ट रागो मे निबद्ध है, अतएव पादगत वर्ण-मात्राओ की समानता का अधिक महत्त्व नही, क्योकि ताल-मात्राओ की अपेक्षित सख्या की पूर्त्ति त्वरित और प्लुत उच्चारण तथा विराम द्वारा कर ली जाती है। इस प्रकार, चौपई और चौपाई के अर्द्धाली-मिश्रण गुडरीपा[2], कुक्कुरीपा[3], कमरिपा[4] आदि कई अन्य सिद्धो की रचनाओ मे दृष्टिगत है।

गोरखनाथ[5] की रचनाओ का सग्रह गोरखबानी मे १५ मात्राओ के एक से अधिक छद तथा १६ मात्राओ की चौपाई की अर्द्धालियो का मिश्रित प्रयोग है। १५ मात्राओ के उदाहरण अर्द्धाली रूप मे दिये जा रहे है।

आनदित[6] अथवा चौबोला[7] छद—

अनहद सबद बाजत रहे
।।।। ।।ऽ ऽ।।।ऽ
सिध-सकेत श्री गोरख कहे।[8]
।। ऽऽ। । ऽ।। ।ऽ

चौपई छद—

सहज सील का धरै सरीर ।
सो गिरही गगा का नीर॥[9]

तिलोपा (समय—स० १०१७ वि०)[10] के दोहाकोश मे भी चौपई, चौपाई आदि की अर्द्धालियाँ एक साथ आई है। चौपई का उदाहरण देखिए—

---

१. विरूपा: चर्यापद (J.D.I., C.U. XXX), ३।
२. समय ८९७ वि०; हिं० का० धा०, पृ० १४२।
३. वही।
४. समय ८९७ वि०; हिं० का० धा०, पृ० १४४।
५. समय—
(क) १३वी शती, मध्य; डॉ० रामकुमार वर्मा: हिंदी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० १३४।
(ख) ९वी शती; डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी: हिंदी-साहित्य—उसका उद्भव और विकास, पृ० २३।
(ग) सं० ९०२ वि०; राहुल: हिं० का० धा०, पृ० १५६।
६. वृ० जा० स० ४।२० (४+४+४+।ऽ)।
७. छं० प्र०, पृ० ४८ (८+७, अंत ।ऽ)।
८. गोरखनाथ: गोरखबानी (सं० डॉ० पी० द० बड़थ्वाल; प्र० हिं० सा० स०, प्रयाग, सं० १९९९) ३७+१०६।
९. वही, १७।४५।
१०. राहुल: हिंदी-काव्यधारा, पृ० १७२।

सचल णिचल जो सअलाचार ।
सुण्ण णिरजन म कह विआर ॥[1]

राजशेखर सूरि के प्रबधकोश (समय—स० १४०५ वि०)[2] मे १५ मात्राओ के पाद-वाले दो सममात्रिक छद आय है—चोपई (=जयकरी) ओर चौबोला। दोनो का एक-एक उदाहरण द्रष्टव्य हे—

चौपई—

का लउ कबलु अनुनी चाटु।
छासिहि खालहु भरिउ नि पाटु॥
अइवडु पडियउ नीलइ झाडि।
अवर किमर गह सिग निलाडि॥[3]

चौबोला—

गुलसिउ चावइ तिलतादली।
वेडिइ वजावइ ब'सला ॥
पहिरणि ओढणि हुई काबली ।
इणपर ग्वालइ पूजइ रुली ॥[4]

चौबोला के उदाहरण के द्वितीय पाद मे 'व' का दीर्घ उच्चारण अपेक्षित है।

छोटे पादवाले छदो की व्युत्पत्ति

हेमचद्र के सिवा अन्य सस्कृत-लक्षणकारो द्वारा अनुल्लेख, स्वयभू-विरहाक-हेमचद्र द्वारा उल्लेख तथा प्राकृत-अपभ्रश-काव्य के बीच प्रयोग-वैविध्य से यह ध्वनित हे कि इस वर्ग के छद प्राकृत-अपभ्रश-काल मे लोक-प्रचलित ताल-सगीत से उद्भूत हुए। कालिदास द्वारा प्रयुक्त चडिका तथा हाकलि छदो के उपर्युल्लिखित उद्धरणो की भाषा प्राकृत से अधिक अपभ्रश के निकट हे। सस्कृत तो वह नही ही हे। इससे भी इस मतव्य की पुष्टि होती है कि ये छोटे पादवाले छद सस्कृत वर्णवृत्त-परपरा मे विकसित न होकर लोक-साहित्य की देन है।

लोकगीतो मे ध्रुवक के रूप मे इनका प्रयोग होता था, यह हेमचद्र द्वारा ध्रुवक छद के भेदो के उल्लेख से व्यजित हे। मात्रिक सस्कार होने के उपरात ये छद उस युग की प्रवृत्ति के अनुसार चतुष्पदी बने। 'ध्रुवक' नाम भी इस ताल-सागीतिक इतिहास की ओर सकेत करता हे।

लघु चतुष्पदी छद (१०+५)[5] का नाम इसके पाद की लघुता तथा इसकी चतुष्पदी प्रकृति का स्पष्ट ही बोधक है। एकावली (५+५)[6] छद का नाम यह सूचित करता है

---

१. तिलोपा : दोहाकोश, १४। (स० डॉ० प्र० चं० बागची, J.D.L., C.U. XXXIII)।
२. मुनि जिनविजय : प्रबधकोश (सिंघी जैन ग्रथमाला, ग्रंथांक ६), पृ० २। प्रास्ताविक वक्तव्य, पृ० १।
३. राजशेखर सूरि : प्रबधकोश (सिंघी जैनग्रंथमाला, ग्रंथांक ६), पृ० १६।
४. वही।
५. छं० को०, ४०।
६. वही, ४७।

कि इस छद मे (पचमात्रिक) इकाइयो की शृखला (५+५+५+५+५+५+५+५) बन जाती हे। लघ्वतपादी अहीर छद का सबध आभीर जाती से अनुमित किया जाता है। अहीरो के विरहा-गान की प्रकृति बहुत कुछ अहीर छद के समान हे भी। शशिवदना, अप्सरोविलसिता, मधुभार, मनोवती, प्रगीता, ज्योत्स्ना, कोमुदी, तारा, सुमना, दीपक आदि नाम[२] मभवत उन शृगारिक प्रसगो की देन है, जिनके लिए प्रारभ मे इन छदो का उपयोग हुआ होगा[३]। सभवत ये शब्द इनसे मबद्ध छदो के अनुच्छेद मे प्रमुख रूप से प्रयुक्त हुए होगे, जिमसे बाद मे ये अनुच्छेदगत छदो के बोधक हो गये।

परवर्त्ती प्रयोग

मध्यकालीन हिदी मे छोटे पादवाले समचतुष्पदी मात्रिक छद बहुत लोकप्रिय नही रहे।

वीरकाव्य की प्रकृति के अनुकूल छोटे छद नही। अतएव, चदबरदाई आदि कवियो की रुचि भी इस ओर नही थी।

सतकाव्य मे गेयपदो के ध्रुवक के रूप मे छोटे छदो के पाद व्यापक रूप से प्रयुक्त हुए है, कितु समचतुष्पदी रूप मे इनका प्रयोग बहुत कम हुआ है। पचदशमात्रापादी चोबोला[४] छद षोडशमात्रापाद्वी चोपाई के साथ एक ही कडवक मे कबीर की रमैनी मे प्रयुक्त है—

सुरपति जाय अहीलहि छरी।
सुरगुरु घरनि चद्रमे हरी॥[५]

इमी तरह प्रेमाख्यानक काव्य मे भी चौपाई की अर्द्धालियो के साथ मिले-जुले रूप मे चौबोला की अर्द्धालियाँ मिलती है। उदाहरण—

जहँ-जहँ बिहँसि सुभावहि हँसी।
तहँ-तहँ छिटकि जोति परगसी॥[६]

कृष्णकाव्य मे सूरदास ने चौबोला का अन्य कवियो की अपेक्षा अधिक प्रयोग किया हे।[८] अधिकाश स्थलो पर चौबोला, चौपई (जयकरी)[७] तथा चोपाई का लयसाम्य के आधार पर एक ही पद्य मे मिश्रित प्रयोग हुआ हे। ऐसे मिश्रित प्रयोगो की सोदाहरण चर्चा आगे चौपाई-प्रसग मे की जायगी।[९] अन्य छोटे छद सूरदास को विशेष रुचिकर नही।

---

१. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी: हिंदी-साहित्य का आदिकाल, पृ० ९२।
२. दे० अ० ४, पृ० २।
३. दे० अ० ३, पृ० ३।
४. छं० प्र०, ४८।
५. कबीर: बीजक, रमैनी, ८१।
६. पद्मावत, जायसी-ग्रंथावली (ना० प्र० सभा), १०।९।
७. सूरदास, २२४, २२६-२३०, २६०-६१, २७६-७७, २८४-८६, २८८-९०, ३४२-४४, ३६३-६४ आदि।
८. छं० प्र०, पृ० ४८।
९. दे० अ० ६, पृ० २।

नददास ने भी इसी प्रकार चौपाई के साथ चौपई तथा चौबोला की अर्द्धालियो का मिश्रित प्रयोग किया है।[1]

रामकाव्य के अतगत तुलसीदास ने चौपाइयो के बीच चोबोला-चौपई को नही मिलाया है और न छोटे पादवाले सममात्रिक चतुष्पदी छदो का स्वतत्र प्रयोग ही अधिक किया है। केशव ने अवश्य इन छदो का वैचित्र्य दिखलाकर इनकी परपरा को जीवित रखने की चेष्टा-सी की है।

नगस्वरूपिणी, तरणिजा, प्रिया, सोमराजी, कुमारललिता आदि छोटे पादवाले वार्णिक चतुष्पदी छदो के अतिरिक्त इस वर्ग के मात्रिक छदो का प्रयोग भी केशव ने किया है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

शशिवदना—

सुभ सर शोभे। मुनि मन लोभे।
सरसिज फूले । अलि रस भूले।।[2]

मधुभार—

ऊँचे अवास। बहु ध्वज प्रकाश।
सोभा विलास। सोभे प्रकाश।।[3]

आभीर—

अति सुन्दर अति साधु
थिर न रहत पल आधु।
परम तपोमय मानि
दण्ड दारिणी जानि।।[4]

तोमर—

सह भरत लक्ष्मण राम।
चहु किये आनि प्रणाम।।
भृगुनद आसिष दीन।
रण होहु अजय प्रवीण।।[5]

जयकरी तथा चौबोला (अर्द्धाली-मिश्रण)—

दर्शन दीबोई अति दान। हँसि बोले तो बढ सनमान।
जो केहू सो अपनो कहे। सपने की सी सपत्ति लहे।।[6]

१७वी शती के बाद के युग मे तो इस वर्ग के छदो की लोकप्रियता और भी घटती गई तथा इनके विपरीत सवैया, कवित्त जैसे अपेक्षाकृत बडे छदो की ओर लोकरुचि अधिक

१. नंददास: ग्रंथावली, भाषा दशमस्कंध, सुदामाचरित, रूपमंजरी।
२. केशव: रामचंद्रिका, १।३२ (अन्य उ० ३।७।४।५; ७।४९ आदि।
३. वही, १।३७ (अन्य उ० ४।२५, ७।५३ आदि)।
४. वही, १।३८ (अन्य उ० ९।१८; २१।३३, ३४ आदि)।
५. वही, ७।१७।
६. वही, २३।३७।

उन्मुख हुई। मुक्तक-शैली का अधिक प्रचार और रीतियुग में इस शैली का, एक दृष्टि से, ऐकाधिपत्य छोटे छंदों के प्रयोग के लिए घातक सिद्ध हुआ; क्योंकि मुक्तक रूप में एक पद्य में कवि के पूरे मंतव्य को धारण करने की क्षमता छोटे छंदो में नही थी। छोटे छंदों में बात अधूरी रह जाती थी, इससे अपेक्षाकृत बड़े छंद रीति-युग में अपनाये गये।

छोटे पादवाले छंदों के संबंध में सामान्य निष्कर्ष

१. इस वर्ग के छंद संस्कृत वर्णवृत्त-परंपरा से संबद्ध न होकर लोक-प्रचलित तालसंगीत से उद्‌भूत तथा प्राकृत-अपभ्रंश के काव्य मे प्रयुक्त हैं।

२. आदिकाल मे इन छंदों के संबंध में विविध प्रयोग हुए, किंतु इनमें अधिकाश छंद दीर्घकालीन प्रयोग की महत्ता से वंचित रहे। कुछ छंद ही काल के व्यवधान को पार कर चिरजीवी हो सके। ये छंद हैं—मधुभार, अहीर, हाकलि, चौपई आदि।

३. मध्यकालीन हिंदी में ये छंद मात्रिक चतुष्पदी रूप में लोकप्रिय नहीं दिखाई देते। हाँ, इनके पाद गेयपदों मे ध्रुवक के रूप मे खूब प्रयुक्त हुए हैं। मध्यकाल में मध्यम लंबाई के छंदों का प्रचलन सर्वाधिक रहा।

४. रीतिकाल में तो बड़े पादवाले छंदों (सवैया-कवित्त) की ओर रुचिवृद्धि के कारण इस वर्ग के छंद और भी उपेक्षित रहे। छोटे पादवाले चतुष्पदी छंदों में कवि के पूरे मंतव्य की इकाई को मुक्तक रूप में प्रकाशित करने का विशेष अवकाश नही रहता था, इसीसे मुक्तक-प्रधान रीतियुग मे इनकी उपेक्षा स्वाभाविक थी।

५ फिर भी, इस वर्ग के छंदों के पादों का उपयोग अनेक रूपों में—गेयपद-शैली में तथा प्रगाथ-शैली में—होता आया है।

प्रकरण २
चौपाई-पद्धरि-वर्ग

लक्षण-ग्रंथों में सोलह मात्राओं के पादवाले छंद

मात्रिक छंदों में प्राचीनता की दृष्टि से सोलह मात्राओं के पादवाले छंदों का स्थान आर्यावर्ग के छंदों के तत्काल बाद ही कहा जायगा। पिंगल ने मात्रासमक (१६ मात्राएँ, नवम मात्रा ल, पादांत ग)[१] तथा उसके वानवासिका, विश्लोक, चित्रा, उपचित्रा और पादाकुलक नामक भेदों [२] का उल्लेख किया। ये भेद पादांतर्गत विशिष्ट मात्राओं के लघु या गुरु-रूप में वर्त्तमान रहने के ऊपर आधारित हैं। पिंगल के छंद गीत्यार्या, शिखा, ज्योति तथा सौम्य मात्रासमक के रूपांतर कहे जा सकते हैं।[३] ये भी पादगत मात्राओं के लघुगुरु-स्वरूप पर आधारित हैं। एक बात इन सब भेद-रूपांतरों में समान है और वह यह कि इनमें प्रतिपाद १६ मात्राओं के हिसाब से कुल ६४ मात्राएँ होती हैं। इस वर्ग के छंदों के उल्लेख मे जयदेव, जयकीर्त्ति, केदार तथा हेमचंद्र ने दो-एक भेदांतर या नामान्तर के बावजूद पिंगल का अनुसरण किया है। हाँ, हेमचंद्र ने १६ मात्राओं के पादवाले पद्धति या पद्धड़िया छंद का अवश्य उल्लेख किया, जिसमें चार चतुष्कल का प्रयोग होता है और अंतिम चतुष्कल जगण या सर्वलघु होता है।[४] इस छंद की लय मात्रासमक वर्ग के उपर्युक्त छंदों की लय से सर्वथा भिन्न होती है। हेमचंद्र के पूर्व इस छंद का उल्लेख स्वयंभू[५] ने किया है तथा बाद मे कविदर्पण[६], प्राकृतपैंगलम्[७] आदि में यह आया है। प्राकृत के अधिकाश छंदोलक्षणग्रंथों में मात्रासमक और उसके पिंगलोक्त भेदों की चर्चा प्रायः नही है। प्राकृतपैंगलम् में केवल पादाकुलक को स्थान मिला है।[८] विरहांक ने तो उसकी चर्चा भी नहीं की है। हाँ, कविदर्पणकार ने अवश्य मात्रासमक के भेदों का उल्लेख किया है। दूसरी ओर मात्रासमक वर्ग के छंदों से लय-साम्य रखनेवाले तथा इसी वर्ग में अतर्भुक्त किये जाने योग्य १६ मात्राओं के पादवाले कुछ अन्य छंदों का नवोल्लेख प्राकृत छंदोलक्षणग्रंथों मे मिलता है। स्वयंभू[९] तथा विरहांक[१०] ने अडिल्ला नामक छंद का उल्लेख किया। स्वयंभू ने अडिल्ला के साथ मडिल्ला की चर्चा

---

१. पिं० ४।४२।

२. पिं० ४।४३-४७।

३. पिं० ४।४८-५१।

४. हे० छं० ३।७३ तथा ६।३१।

५. स्वयंभू० ६।१६०। (सोलहमत्तपाआउलअं। छच्छ सविरइअं संकुलअं ॥
तं चेअ चत्तरिचउक्कलअं। तं जाण पद्धडिआ धुवअं॥
—स्वयं० ६।१६०।)

६. क० द० २।२२।

७. प्रा० पैं० १।१२५; छं० हृ० प्र०, पृ० ३७क; रा० वृ० त०, ७७; छं० प्र०, पृ० ४९ आदि।

८. प्रा० पैं० १।१२९।

९. स्वयं० ८।३९ तथा ४।२९-३२।

१०. वृ० जा० स० ४।३२-३४।

की है। कविदर्पणकार ने भी अडिल्ला के साथ मडिल्ला, मुक्तावलिका तथा वदन की चर्चा की।[1] कविदर्पण मे वदन, अडिल्ला तथा मडिल्ला के गणविधान समान रूप से ६+४+४+२ कहे गये है। उनका अतर यह कहा गया है कि वदन मे तुक नही होता, मडिल्ला मे चारो पादो के तुक मिलते है तथा अडिल्ला मे पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध के दो-दो पादो के तुक अलग मिलते है। हेमचद्र ने भी 'अडिल्ला' और 'वदनक' ऐसा ही उल्लेख किया है।[2] किंतु इसके विपरीत अन्य प्राकृत छदोलक्षणकारो ने यह माना हे कि अडिल्ला के चारो पादो मे समान तुक होते है तथा यदि प्रथम दो पादो मे एक तुक हो और शेष दो पादो का दूसरा, तो इस छद को मडिल्ला कहना चाहिए।[3] अडिल्ला के गण-विधान के संबध मे प्राकृतपैंगलम् मे उल्लेख है कि इसके पाद मे जगण वर्जित हे तथा अतिम द्विकल द्विलघुरूप होता है।[4]

द्रष्टव्य है कि चौपाई नाम का उल्लेख सस्कृत-प्राकृत-अपभ्रश छदोलक्षणग्रथो मे १६ मात्रापादी छद के लिए कही नही मिलता। वृत्तजातिसमुच्चय के चतुष्पद[5] तथा प्राकृत-पैगलम् के चउपइया[6] छद से हमारे चौपाई छद का कोई सबध नही। हिंदी के सब से पुराने छदोलक्षणग्रथ मुरलीधर कविभूषण-कृत छदोहृदयप्रकाश मे भी चौपाई छद का नामोल्लेख नही हुआ है। सुखदेव मिश्र ने भी चौपाई का नामोल्लेख नही किया। रामसहाय की वृत्ततरगिणी मे अवश्य चौपाई उल्लिखित हे।[7] रामसहाय ने चौपाई मे पादगत १६ मात्राओ तथा पादात लघु का विधान किया है। भिखारीदास ने 'चौपई' के पाद मे १५ मात्राएँ मानी है[8] और 'चौपाई' मे, जिसे 'रूपचौपाई' कहा गया है, पादात १६ मात्राओ का विधान हुआ है।[9] भानु ने चौपाई का लक्षण यह कहा है—'सोरह क्रमन जतन चौपाई'[10], अर्थात् चौपाई मे १६ मात्राएँ होती है, गुरुलघु का क्रम निश्चित नही होता (चतुष्कलो का प्रयोग अनिवार्य नही), तथा अत मे जगण या तगण नही होता। पादाकुलक छद मे भानु ने प्रति पाद चार चतुष्कलो का विधान किया है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि हिंदी छदोलक्षणग्रथो मे मात्रासमक या उसके अधिकाश भेद तो उल्लिखित नही है, किंतु उससे लयसाम्य रखनेवाले चौपाई, पादाकुलक, अडिल्ला आदि छद खूब लोकप्रिय है। साथ ही, इन छदो से भिन्न लयवाला छद पद्धरि या पद्धडिया भी प्रायः नियमपूर्वक उल्लिखित है।

प्रारंभिक प्रयोग

सोलह मात्राओ के पादवाले छदो का प्रथम छंदःशास्त्रीय उल्लेख जितना पुराना है, उसका काव्यगत व्यावहारिक प्रयोग, स्वाभाविक है कि उससे कम पुराना नही होगा।

---

१. क० द० २।२१-२२।
२. हे० छं० ५।२८ तथा ५।३०।
३. वृ० जा० स० ४।३३, ३४; छं० को० ४१; प्रा० पैं० १।१२७; स्वयं० ४।३२।
४. प्रा० पैं० १।१२७।
५. व० जा० स० ४।६९।
६. प्रा० पैं० १।९७।
७. रा० वृ० त० ६७।
८. छं० पिं० ५।१२०-१२१।
९. छं० पिं० ५।१२७-१२८।
१०. छं० प्र०, पृ० ५१।

मात्रासमक का उल्लेख पिंगल के छंद:शास्त्र मे हम देख चुके है। व्यावहारिक काव्य-प्रयोग की दृष्टि से इस वर्ग के छंदो का प्रचलन पिंगल के युग तक काफी हो चुका होगा, तभी तो उन्होने इसके कई भेदों की चर्चा की। परिनिष्ठित काव्य मे इस वर्ग के छंद का प्राचीनतम उपलब्ध प्रयोग हम कालिदास की रचनाओ मे पाते है।

१६ मात्राओ के चार पादवाले मात्रिक छंद का प्रयोग कालिदास के विक्रमोर्वशीय त्रोटक प्राकृत के पद्यो मे मिलता है।[1] उदाहरण—

परहुअ महुरपलाविणि कती।
। । । । । । । । S । । S S

णादणवण सच्छंद भमती ॥
S । । । । S S S । S S

जइपइ पिअअम मा महु दिट्ठी।
। । । । । । । । S । । S S

ता आअक्खहि महु परपुट्ठी॥[2]

उक्त उद्धरण मे प्रतिपाद चार चतुष्कल है। पादात दो गुरु आये है। किसी स्थान मे लघुगुरु का अन्य कोई नियम नही है। इस छंद को हम पादाकुलक कह सकते है।[3] इस छंद के पाद की नवम मात्रा सर्वत्र लघु नही, अतः यह मात्रासमक नही कहा जा सकता।[4] नवम मात्रा अनिवार्यत. दशम के साथ मिलित (S) नही, अतः यह छंद उपचरित भी नही।[5] नवम मात्रा कही (दशम के साथ) गुरु, कही लघु है, अतः छंद वानवासिका अथवा चित्रा भी नही।[6] छंद विश्लोक इसलिए नही है कि अष्टम मात्रा सर्वत्र लघु नही है।[7] अतएव, इस छंद को पिंगलाचार्य के अनुसार भी पादाकुलक कहना ही उचित है; क्योकि इसमे मात्रासमक तथा उसके भेदो के पाद मिले-जुले रूप मे प्रयुक्त है, अर्थात् लघुगुरु का पूर्वोक्त कोई नियम नही चरितार्थ है।[8]

---

१. कालिदास : विक्रमोर्वशीय, ४।२४, ५०, ५३, ६७, ७०।
२. वही, ४।२४।
३. प्रा० पैं० १।१२९; छं० प्र०, पृ० ४९।
४. पिं० ४।४२।
५. पिं० ४।४६।
६. पिं० ४।४३, ४५।
७. पिं० ४, ४४।
८. पिं० ४।४७।

सरहपा के 'दोहाकोश' में १६ मात्राओं के पादवाले छंदों का व्यवहार प्रधान रूप से हुआ है। निम्नलिखित अर्द्धाली में पादाकुलक का लक्षण (चार चतुष्कल)[१] घटित है—

घरही बहसी दीवा जाली।
।।ऽ ।।ऽ ऽऽ ऽऽ

कोणहिं बहसी घंटा चाली॥[२]
ऽ।। ।।ऽ ऽऽ ऽऽ

किंतु, उसके ठीक बाद जो अर्द्धाली है, उसमें चतुष्कल नहीं बनते, उसके दूसरे पाद में त्रिकल के बाद त्रिकल आया है, अतः वह चौपाई छंद[३] में निबद्ध है—

अक्खि निवेसी आसन बंधी।
ऽ। ।ऽऽ ऽ।। ऽऽ

कण्णेहि खुसखुसाइ जण धंधी॥[४]
ऽ।। ।।।ऽ। ।। ऽऽ

उक्त दोनों उद्धरणों में पादांत कर्ण (ऽऽ) है।

१६ मात्रावाले भगणांतपादी छंद को भानु ने डिल्ला (८+८) कहा है।[५] इसका उदाहरण सरहपा की यह अर्द्धाली है—

जाव ण अप्पउ पर परिआणसि। (८+८, अंत ऽ।।)
ऽ।।

ताव कि देहा णुत्तर पावसि॥[६] (८+८, अंत ऽ।।)
ऽ।।

किंतु निम्नोक्त पंक्तियाँ भगणांत होने पर भी डिल्ला छंद की नहीं; क्योंकि यति आठ मात्राओं पर नहीं है। समकल के बाद समकल और विषमकल के पीछे विषमकल आये हैं, इसलिए छंद को चौपाई कहेंगे—

पंडिअ सअल सत्य बक्खाणअ।
ऽ।। ।।। ऽ। ऽऽ।।

१. छं० प्र०, पृ० ४९।

२. सरहपा: दोहाकोशगीति, ४; दोहाकोश (बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना), पृ० २।

३. छं० प्र०, पृ० ५१।

४. सरहपा: दोहाकोशगीति, ४; दोहाकोश (बि० रा० प०, पटना), पृ० २।

५. छं० प्र०, पृ० ५०।

६. सरहपा: दोहाकोशगीति, ६७; दोहाकोश (बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना), पृ० १६।

देहहिं बुद्ध बसन्त ण जाणअ ।।[1]
S I I S I I S I I S I I
—— —— —— – ——

डिल्ला का एक सुन्दर उदाहरण नीचे दिया जाता है, जिसके प्रति पाद में ८वीं मात्रा पर यति तथा अंत में भगण का नियम चरितार्थ है—

मन्त ण तन्त ण धेअ ण धारण।
S I I S I I S I I S I I
—— —— – —— – ——

सव्वरि रे बढ़ विब्भम - कारण ।।[2]
S I I S I I S I I S I I
—— – —— —— ——

वस्तुतः, यह अनजाने मोदक नामक वर्णवृत्त का उदाहरण हो गया है, जिसके प्रति-पाद में ४ भगण का विधान है।[3] अरिल्ल छंद (पादगत जगण-निषिद्ध, पादांत ।। या ।SS)[4] का उदाहरण देखिए—

णिअ मण साच्चें सोहिअ जब्बें। (अंत ।SS)
I I I I S S S I I S S
—— —— —— —— ——.

गुरु-गुण हियहिम्पइसइ तब्बें ।।[5]
I I I I I I S I I I I I S S

डॉ० शहीदुल्ला ने चार चतुष्कलों के प्रयोग के कारण इसे पादाकुलक छंद का उदाहरण माना है।[6]

उपर्युल्लिखित १६ मात्राओं के पादवाले विभिन्न छंदों का मिला-जुला प्रयोग सरहपा ने किया है, इसका कारण, जैसा कहा जा चुका है, इन छंदों का लयसाम्य है तथा इसका उद्देश्य पादांत-वैविध्य तथा रचनागत सुविधा है। ध्यातव्य है कि सरहपा ने पद्धरि तथा उससे लयसाम्य रखनेवाले छंद पदपादाकुलक के प्रयोग की ओर रुचि नहीं दिखलाई है। संभवतः, ये छंद चरितकाव्यों के अधिक अनुकूल हैं और अपभ्रंश-काल में इसी कोटि के ग्रंथों के बीच विशेष लोकप्रिय रहे। सरहपा की शांत रस में सनी स्फुट या मुक्तक उपदेशावलियों के लिए पद्धरि की त्वरित गति बहुत अनुकूल न थी।

---

१. वही, ७७, पृ० १८।
२. वही, ४३, पृ० १०।
३. प्रा० पैं० २।१३५।
४. छं० प्र०, पृ० ४९।
५. सरहपा: दोहाकोशगीति, ३६; दोहाकोश (बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना), पृ० १०।
६. **M. Shahidullah : "Les Chants Mysliques de Kanha at de Saraha." p. 139**

स्वयंभूकृत पउमचरिउ, जिसे स्वयभू-रामायण[1] भी कहते हैं (समय—सं० ८४७ वि०)[2], कड़वक-बद्ध रचना है, जिसमें अधिकतर १६ मात्राओं के पादवाले छद चौपाई, पद्धरि, पदपादाकुलक आदि की आठ-आठ अर्द्धालियों के बाद दोहा या किसी अन्य छद मे घत्ता दृष्टिगत है। कडवक-विधान के लिए अत्यधिक प्रयुक्त १६ मात्राओं के पादवाले छंदों के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

पद-पादाकुलक—

बुह-यण सयंभू पइं विण्णवई।
महुँ सरसउ अण्ण णाहि कुकई॥
वायरणु कयाइ ण जाणियऊ।
णउ वित्तिसुत्त वक्खाणियऊ॥[3]

उपर्युक्त पंक्तियों में प्रति पाद के आदि में द्विकल तथा अंत मे ।।ऽ आये हैं। पादांत ।ऽ। हो तथा पाद अष्टकलों या चतुष्कलों मे विभाज्य हो, तो उस छंद को पद्धरि कहते है।[4] स्वयंभू की रचना में एक ही कड़वक मे पद-पादाकुलक और पद्धरि छंदों का प्रयोग हुआ है; क्योंकि इन दोनों छंदों की लय परस्पर मिलती-जुलती है। उपर्युक्त पंक्तियों के ठीक बाद पद्धरि की यह अर्द्धाली आई है—

पद्धरि—

णा णिसुणिउ पंच महाय कव्वु।
।ऽ।

णउ भरहु ण लक्खणु छंदु सव्वु॥[5]
। ऽ ।

इसी प्रकार, लयसाम्य के कारण चौपाई, पादाकुलक, अरिल्ल आदि छदों का एक ही कड़वक में सुविधानुसार प्रयोग हुआ है। निम्नोद्धृत इन छंदो की सभी पंक्तियाँ एक ही कड़वक से ली गई हैं।[6]

---

१. इस ग्रंथ में ९० संधियाँ हैं, जिनमें ८३ की रचना स्वयं स्वयंभू ने की, शेष सात उनके पुत्र त्रिभुवन स्वयंभू ने जोड़ दीं। (राहुल: हिं० का० धा०, पृ० २२)
२. राहुल: हिं० का० धा०, पृ० २२ (स्वयंभू-रामायण की सबसे पुरानी हस्तलिखित प्रति भंडारकर इंस्टीच्यूट, पूना में है, जिसका लिपिकाल सं० १६२१ है। द्रष्टव्य है कि यह प्रति गोस्वामी तुलसीदास के देहांत के ५९ वर्ष पूर्व लिखी जा चुकी थी।)
३. स्वयंभू: पउमचरिउ, १।३ (हिं० का० धा०, पृ० २२)।
४. छं० प्र०, पृ० ४९।
५. स्वयंभू: पउमचरिउ, १।३ (हिं० का० धा०, पृ० २२)।
६. वही, २६।५ (हिं० का० धा०, पृ० ३०)।

डिल्ला (८+८, अंत ऽ।।)[1]—

कुब्वर नयरु प राहुय जावेहि।
ऽ।। ।।।। ऽ।। ऽ।।

फागुण-मासु प वोलिउ तावेहि॥[2]
ऽ।। ऽ। । ऽ। । ऽ।।

चौपाई (अंत ऽ। निषिद्ध; सम के बाद सम, विषम के बाद विषमकल)[3]—

पइढु वसंत-राउ आणंदे।
।।। ।ऽ। ऽ। ऽऽऽ

कोइल-कलमल मंगल-सद्दे॥[4]
ऽ।। ।।।। ऽ।। ऽऽ

इन पंक्तियों में दूसरा पाद चार चतुष्कलों में विभाज्य होने के कारण पादाकुलक कहा जा सकता है, किंतु प्रथम पाद चतुष्कलों में अविभाज्य है, अतः छंद चौपाई है। डिल्ला के उपर्युक्त उदाहरण में अंत ।। है तथा दोनों पाद चार-चार चतुष्कलों में विभाज्य हैं, अतएव अरिल्ल छंद का भी उदाहरण इसे हम कह सकते हैं।

पज्झटिका (८+ग+४+ग, जगण निषिद्ध)[5]—

मारंग व विप्फारिय-णयणी।
ऽ।।। ऽऽ।। ।।ऽ

मत्तावी गजोयण-वयणी।[6]
ऽऽऽ ऽऽ।। ।।।

पादाकुलक (४ चतुष्कल, अंत जगण नहीं)[7]—

खलियहि वलियहि अहिणव-गोरीहि।
।।।। ।।।। ।।।। ऽ।।

बद्धइह सुरयकरिवत्तिय तेरीहि॥
ऽ।। ।।ऽ ।।ऽ। ऽ।।

१. छं० प्र०, पृ० ५०।
२. स्वयंभू: पउमचरिउ, २६।५ (हिं० का० धा०, पृ० ३०)।
३. छं० प्र०, पृ० ५१।
४. स्वयंभू: पउमचरिउ, २६।५ (हिं० का० धा०, पृ० ३०)।
५. छं० प्र०, पृ० ५०।
६. स्वयंभू: पउमचरिउ ४१।४ (हिं० का० धा०, पृ० ५२)।
७. छं० प्र०, पृ० ४९।

छंदेहि तालिहि बहुलय-भंगेहि।
ऽ।। ऽ।। ।।।। ऽ।।

करुणुच्छेत्तिहि णाणा भंगेहि॥[1]
।।ऽऽ ।। ऽऽ ऽ।।

इस उदाहरण मे सभी पाद चतुष्कलों मे विभाज्य है, त्रिकलादि नही है और अंत जगण भी नहीं, अतएव इसे भानु के अनुसार पादाकुलक छद कह सकते है।

स्वयंभू के हरिवंशपुराण में भी पदपादाकुलक और पद्धरि की अर्द्धालियाँ एक ही कड़वक में स्पष्टतः लयसाम्य के कारण प्रयुक्त है।[2]

१५ और १६ मात्राओं के पादवाले विभिन्न छदों की अर्द्धालियाँ लय-साम्य के आधार पर कण्हपा (समय–९वी शती)[3] ने एक अनुच्छेद में प्रयुक्त की है, मानों वे एक ही छंद के रूपांतर हों—

णिच्चल णिव्विअप्प णिव्विआर। (१५ मात्राएँ)
ऽ।। ऽ।ऽ। ।।ऽ।

उअअ-अत्थमय-रहिअ सुसार॥ (१५ मात्राएँ)
।।। ऽ।।। ।।। ।ऽ।

अइसो सो णिव्वाण भणिज्जइ। (१६ मात्राएँ)
।।ऽ । ऽऽ। ।ऽ।।

जहि मण माणस किम्पि ण किज्जइ॥[4] (१६ मात्राएँ)
।। ।। ऽ।। ऽ। । ऽ।।

उक्त उद्धरण में प्रथम अर्द्धाली चौपई (अंत ऽ।) तथा द्वितीय अर्द्धाली अरिल्ल (अंत ।।, चतुष्कलों में जगण-निषिद्ध) छंद की है।

कण्ह की निम्नोद्धृत पंक्तियाँ पादाकुलक छंद (४ चतुष्कल)[5] में निबद्ध है—

एसो जय-होमे मंडल-कम्मे ।
।। ।। ऽऽऽ।। ऽऽ

१. स्वयंभू: पउमचरिउ, २६।१५ (हिं० का० धा०, पृ० ५८)।
२. स्वयंभू: हरिवंशपुराण, १ (हिं० का० धा०, पृ० २४)।
३. राहुल: हिंदी-काव्यधारा, पृ० १४६।
४. कण्हपा: दोहाकोश, २० (सं० डॉ० प्र० चं० बागची); (J.D.L., C.U. Vol. XXVIII), पृ० २६।
५. छं० प्र०, पृ० ४९।

अणुदिन अच्छमि काहिउ धम्मे ॥
।।।। ऽ।। ऽ।। ऽऽ

तों विणु तरुणि णिरन्तर णेहे ।
ऽ ।। ।।। ।ऽ।। ऽऽ

बोंहि कि लब्भउ एण वि देहे ॥[1]
ऽ। । ऽ।। ऽ। । ऽऽ

कण्हपा की रचनाओं में चौपाई छंद की अर्द्धाली का उदाहरण पीछे दिया जा चुका है।

त्रिलोपा के दोहाकोश में चौपाई और पादाकुलक छंद की अर्द्धालियाँ मिलती हैं। उदाहरण देखिए—

चौपाई—

खण आणद भेउ जो जाणइ ।
।। ऽऽ। ऽ। ऽ ऽ।।

सो इह जम्महि जोइ भणिज्जइ ॥[2]
ऽ ।।ऽ। । ऽ। ।ऽ ।।

पादाकुलक—

सहजे चित्त विसोहहु चंगा ।
।। ऽ ऽ। ।ऽ।। ऽ ऽ

इह जम्महि सिधि मोक्खा भंगा ॥[3]
।। ऽ।। ।। ऽ ऽ ऽऽ

गोरखनाथ ने, जैसा कहा जा चुका है, १५ और १६ मात्राओं के विभिन्न छंदों के मिले-जुले प्रयोग किये हैं। अर्द्धाली रूप में १६ मात्राओं के पादवाले छंदों के उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं—

---

१. कण्हपा : दोहाकोश, २९ (सं० डॉ० प्र० चं०, बागची, J.D.L., C.U. Vol. XXVIII), पृ० २७।

२. तिलोपा : दोहाकोश, २८ (सं० डॉ० प्र० चं० बागची, J.D.L., C.U. Vol. XXVIII), पृ० १७४।

३. वही, १०, पृ० १७२।

पादाकुलक—

गिरही मो जो गिरहे काया।
। । ऽ ऽ ऽ । ।ऽ ऽ ऽ

अभि-अंतर की त्यागे माया॥[1]
। । ऽ। । ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ

अरिल्ल (जगण निषिद्ध, अंत ।ऽऽ)—

ऊजड षेडा नगर-मझारी। (अंत ।ऽऽ)
ऽ।। ऽऽ ।।। ।ऽऽ

तलि गागरि ऊपर पनिहारी॥[2] (अत ।ऽऽ)

चौपाई (सम-सम, विषम-विषम कल)—

गडि पड़रवा बाँधि ले खूटा।
।। ।।।ऽ ऽ। ऽ ऽऽ

चले दमामा बाजिले ऊंटा॥[3]
।ऽ । ऽ ऽ ऽ । । ऽऽ

पद्धरि या पदपादाकुलक की ओर गोरखनाथ की रुचि नही दिखाई देनी।

धनवाल के भविसयत्तकहा (समय—१०वी शती)[4] मे पद्धरि छंद का प्रचुर प्रयोग हुआ है।[5] पद्धरि का उपयोग कड़वक-विधान के लिए हुआ है, कड़वकात में प्राय: घत्ता

---

१. गोरखनाथ: गोरखबानी (सं० डॉ० पी० द० बड़थ्वाल; प्र० हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग), १७।४५।

२. वही, १४१।४७।५।

३. वही, १४१।४७।१।

४. दलाल और गुणे: भविसयत्तकहा (बड़ौदा केंद्रीय पुस्तकालय), भूमिका, पृ० २-४।

५. धनवाल: भविसयत्तकहा। प्रस्तुत ग्रंथ में पज्झटिका का प्रयोग निम्नलिखित स्थलों पर है—

संधि १, कड़वक १-११; संधि ४, कड़वक ४-६; संधि १२, कड़वक ६-११, १३, १४; संधि १३ संपूर्ण; संधि १४, कड़वक १-७, १२-२०; संधि १५, कड़वक २-९; संधि १९, कड़वक १२-१६; संधि २०, कड़वक ६-१०; संधि २१, कड़वक १-१०; संधि २२, कड़वक १-३।

आदि किसी द्विपदी छंद का उपयोग हुआ है। पद्धरि के अनुच्छेदगत चार पाद दो पंक्तियों में लिखे गये हैं। अन्त्यानुप्रास-योजना चारों पादों में समान नहीं, वरन् दो-दो पादों में समान है। उदाहरण देखिए—

विन्थारिवि लोयणदल विसाल। उल्लवइ हसेविणु कणयमाल।
S S | | S | | | | | S | S | | | | S | | | | | S |

आयहो आए फिर कवण कज्जु। हु तउ पडिउत्तरु देमि अज्जु ॥[1]
S | | S S | | | | | S | | | | | | | S | | S | S |

उक्त उद्धरण में प्रतिपाद १६ मात्राओं तथा पादांत जगण का प्रयोग दृष्टिगत है। प्रत्येक पाद चार चतुष्कलों में विभाज्य है। गुणे महोदय के अनुसार पादगत ८वीं मात्रा पर यति तथा उसके पूर्व दो लघुवर्ण प्रायः आते हैं।[2]

धनवाल के भविसयत्तकहा में अलिल्लह अडिल्ला या अरिल्ल छंद का प्रयोग भी कडवक-विधान के लिए हुआ है।[3] १६ मात्राओं के पाद के अंत में प्रायः दो लघु आये हैं, किंतु कहीं-कहीं अन्य ।। का जगह SS, ।SS, S। अथवा ।S का प्रयोग भी हुआ है, जो वैचित्र्यार्थ प्रतीत होता है। पादांत ।। का उदाहरण—

मुद्धहि मयरद्धउ सचारिउ। दप्पणि तीए तिलउ पडसारिउ।
रसणि अणगु अहरि कलयजलु। लोयणजुयलि निवेसिउ कज्जलु ॥[4]

किंतु, निम्नलिखित पंक्तियों में पादांत ।। के साथ ।SS का प्रयोग भी दिखाई देता है—

गुरुभत्ति अंजयगणसारो। सुव्वयनाउ महव्वयधारी ॥
तहे चंडकम्मु करइ सो सवणु। न पच्चक्खमहासुय देवय ॥[5]

धनवाल के भविसयत्त कहा में १६ मात्राओं के पाद का सिंहावलोकन छंद भी प्रयुक्त है। संधि आठ का तेरहवां कडवक उस छंद में है तथा कहीं-कहीं घत्ता के लिए भी यह छंद प्रयुक्त है। सिंहावलोकन के पाद में १६ मात्राएँ चार चतुष्कलों में विभक्त

१. वही, १२।६।
२. वही, भूमिका, पृ० २९।
३. भविसयत्तकहा में अलिल्लह का प्रयोग निम्नलिखित स्थलों पर है—
संधि १, कड़वक १२-१६; संधि २ संपूर्ण; संधि ३, कड़वक १-२१; संधि ४, कड़वक ९-१२; संधि ५, कड़वक १-१६; संधि ६, संपूर्ण; संधि ७, कड़वक १-७, ९-१४; संधि ८, कड़वक १-६, १४-२०; संधि ९- १०, ११, १८ संपूर्ण; संधि १९, कड़वक १-५; संधि २२, कड़वक ४-९।
४. धनवाल : भविसयत्तकहा, ११।९।
५. वही, ६।२।

होती हैं। इन चतुष्कलों में भगण, जगण या कर्ण का निषेध तथा सर्वलघु या सगण का विधान है।[1] धनवाल की पंक्तियाँ देखिए—

हा पुव्वजम्मि किउ काइं मइं। (कर्ण, ज, स, स)
S S I S I I I S I I S

निहिढंसणि जं नयणइं हयइं। (स, स, विप्र, स)
I I S I I S I I I I I I S

हा पुत्त नयरि बद्धावणउं। (कर्ण, विप्र, कर्ण, स)
S S I I I I S S I I S

महु दीणहि वयणु दयावणउं॥[2] (स, विप्र, स, स)
I I S I I I I I I S I I S

केवल प्रथम पाद के द्वितीय चतुष्कल में शास्त्रनियमोल्लंघन दिखाई देता है।

पुष्पदंत (समय–सं० १०१६ वि०)[3] ने चौपाई-पादाकुलक अथवा पद्धरि-पदपादाकुलक की अर्द्धालियों का कड़वक में एक साथ प्रयोग किया है। पद्धरि और पदपादाकुलक के एक साथ प्रयोग का निम्नलिखित उदाहरण आदिपुराण[4] से दिया जा रहा है—

तं दीण दिण्ण-धण-कणय-पयरु। पदपादाकुलक (आदि द्विकल,
S S I S I I I I I I I I I अंत जगण नहीं)

महि परिभमंतु मेपाडि-णयरु॥
I I I I I S I S S I I I I

अवहेरिय-खल-यणु गुणमहन्तु। पद्धरि
I I S I I I I I I I I I S I (अंत जगण)

दियहेहिं पराइयु पुप्फयंतु॥
I I I S I I S I I S I S I

---

१. प्रा० पैं०, १।१८३।

२. धनवाल: भविसयत्तकहा, ८।१३।

३. राहुल: हिं० का० धा०, पृ० १७६।

४. पुष्पदंत: महापुराण (तिसट्ठिमहापुरिसगुणालंकार; सं० डॉ० पी० एल० वैद्य; [illegible] : दिगंबरजैनग्रंथमाला, बंबई में प्रकाशित) पृ० ५-९।

इसी प्रकार चौपाई और पादाकुलक का एक साथ प्रयोग भी कई कड़वकों में हुआ है। उदाहरण—

ताहि घरणि मरुएविभडारी।
SI III IIS IIS S

जाहि रूव-सिरि अह-गरुयारी ॥ (चौपाई
S I SI II II IISS

अमरहु पनिउ पर-पणवनिउ। (सम-सम, विषम-विषम कल)
IIII SII IIIISII

लंघियाइ अम्हइ णहयतिइ ॥
SISI S II IISII

:':. :::: ::::

जणउ कमलाणिउ ओहरियउ ।
SII IISII SIIII पादाकुलक (४ चतुष्कल)

दिट्ठउण मच्छ-मित्तइ किरियउ ॥
S IIS II SII IIII

ध्यातव्य है कि इन छंदों का साथ प्रयोग लयसाम्य के आधार पर ही किया गया है, इसी से एक कडवक के अंदर पद्धार और चौपाई अथवा पादाकुलक और पदपादाकुलक आदि भिन्न लय के छंद नहीं आये हैं। इन सभी चतुष्पदी छंदों का प्रयोग प्रबंधकाव्य के अंतर्गत कडवक-विधान के लिए हुआ है, अतएव इन छंदों के बीच में किसी अन्य, द्विपदी छंद का प्रयोग घत्ता के रूप में हुआ है। घत्तारूप में प्रयुक्त इन छंदों की चर्चा हम पीछे कर आये हैं।

णागकुमारचरिउ में पुष्पदंत ने कडवक-रचना के लिए १६ मात्राओं के पादवाले चतुष्पदी विलासिनी छंद (२+२+४+३+२)[1] का प्रयोग किया है—

उद्धवंत बहमच्छरो भडो ।
SISI IISIS IS

१. वही, पृ० ३१।
२. हे० छं०, ४।६०।

हत्थि-खंभ-हत्थो महाभडो ।।
ऽ । ऽ । ऽ ऽ । ऽ । ऽ

चरणचार-चालिय-धरायलो ।
। । । ऽ । ऽ । । । ऽ । ऽ

धाइयो भुया-तुलिय-मयगलो ।।[1]
ऽ । ऽ । ऽ । । । । । । ऽ

उक्त उद्धरण के प्रति पाद में मात्रागणविधान ३+३+४+३+३ चरितार्थ है। इस छंद के साथ, उसी कड़वक मे, पद्धरि की ये पंक्तियाँ आई हैं—

अरिदमणु पधायउ माहिमाणु ।
हणु हणु भणंतु कडढिवि किवाणु ।।[2]

इन दोनों छंदों का साहचर्य लयसाम्य के अतिरिक्त वीररस-वर्णन के लिए इनकी उपयुक्तता पर आधारित है।

चौपाई का प्रयोग रामसिंह (समय—सं० १०५७ वि०)[3] के पाहुडदोहा में मुक्तक रूप में धर्मोपदेश के लिए हुआ है। उदाहरण—

हलि सहि काइं करइं सो दप्पणु ।

जहि पडिबिंब न दीसइ अप्पणु ।।

धंधुवाल मो जगु पडिहासइ ।

घर अच्छंतु ण घरवइ दीसइ ।।[4]

उपर्युक्त पंक्तियों मे से प्रथम दो पादाकुलक छंद की अर्द्धाली को भी उदाहृत करते हैं, किंतु तृतीय पाद मे विषम-विषम, सम-सम कल का क्रम रहने से पूरे छंद को चौपाई ही कहेंगे।

पद्धरि का प्रयोग भी कहीं-कहीं रामसिंह ने किया है।

१. पुष्पदंत: णायकुमारचरिउ, पृ० ४७-४८ (हिं० का० धा०, पृ० २१०)।
२. वही।
३. राहुल: हिं० का० धा०, पृ० २५२।
४. रामसिंह: पाहुडदोहा, १२२ (करंजा-जैनग्रंथमाला, बरार)।

अर्द्धाली देखिए—

अह गुरु उवएसे चित्ति ठाइ।
न नेम धरतिहि कहि मि ठाइ॥[1]

अब्दुल रहमान के संदेशरासक में १६ मात्राओं के पादवाले कई छंद आये हैं।

पद्धरि या पद्धडिया छंद का स्थान संदेशरासक में संख्या की दृष्टि से रासा और गाहा के बाद ही है। इस ग्रंथ में पद्धडिया में निबद्ध कुल ९८ पाद हैं।[2] इन पादों के विश्लेषण से उनके गण-विधान की विशेषताओं का पता चलता है। पद्धरि के चार चतुष्कलों में अंतिम का स्वरूप नियमत ।ऽ। तथा अपवादत ।।।। होता है।[3] संदेशरासक की पद्धरि-निबद्ध पंक्तियों में अंतिम चतुष्कल सर्वत्र, बिना किसी अपवाद के ।ऽ। है, अर्थात् पद्धरि और पदपादाकुलक की अर्द्धालियों का मिला-जुला प्रयोग नहीं है। इस ग्रंथ में पद्धरि-निबद्ध पादों का द्वितीय चतुष्कल ३९ पादों में सगण, २५ पादों में जगण तथा ३० पादों में सर्वलघु है। प्रथम चतुष्कल ३१ पादों में सगण, २६ पादों में सर्वलघु, २२ पादों में कर्ण और १८ पादों में भगण है। तृतीय चतुष्कल ४० पादों में सगण, ३३ पादों में सर्वलघु, ८ पादों में कर्ण तथा १३ पादों में भगण है। इस ग्रंथ में पद्धरि छंद का एक उदाहरण देखिए—

मरम्मोहिउ अंग बहु गंधमोउ। (विप्र, ज, स, ज)
।।।।। ऽ। ।। ऽ।ऽ।

ण नरणि पसवकउ भिंगिर-गाउ। (भ, स, विप्र, ज)
ऽ।।। ।ऽ।। ।।। ऽ।

न मिलियावि मन्द मअणाहि महाण। (कर्ण, विप्र, भ, ज)
ऽ ऽ।। ।। ऽ।। ।ऽ।

नकोडउ पठिउ नववल्लहीण॥[4] (भ, विप्र, स, ज)
ऽ।।। ।।। ।।ऽ।।।

संदेशरासक में १५ मात्राओं के पादवाले छंद आये हैं[5], जिन्हें हम अडिल्ला, मडिल्ला या वदनक कह सकते हैं। ऐसे पद्यों की संख्या २२ है। इनमें दो पद्य-यमक-युक्त हैं।[6]

१. वही, १६६।
२. अब्दुल रहमान : संदेशरासक, २०, २१, ५९-६३, २००-२०३, २०५-२०७, २०९-२१२, २१४-२२०।
३. जब अंतिम चतुष्कल सर्वलघु-रूप हो, तो छंद पद-पादाकुलक कहा जाता है।
४. अद्दहमाण : संनेहरासय, २०३ (सं० मुनि जिनविजय, प्र० भारतीय विद्याभवन, बंबई, १९४२ ई०)।
५. अद्दहमाण : संनेहरासय, १०४; १५७-१७०; १७४-१८२।
६. वही, १०४, १८२।

शेष में अर्द्धांश में यमक है[1] अथवा यमक बिल्कुल नहीं है। प्राय. इन सभी पद्यों में गणविधान ६+४+४+२ चरितार्थ है। यमकविहीन पद्यों में वदनक छंद माना जा सकता है। किंतु श्रीभयाणी का विचार है कि इन्हे वदनक नहीं कहना चाहिए; क्योंक वदनक-नाम चारण-परंपरा के कवियों के लिए अज्ञात-सा रहा है।[2] वे इन पद्यों को अडिल्ला-निबद्ध मानते हैं।

संदेशरासक के इन छंदों के पादगत प्रथम षाण्मात्रिक गण का स्वरूप अधिकांशतः (।।।।ऽ), (ऽ।।।।) अथवा (ऽ।।ऽ); द्वितीय चतुर्मात्रिक गण का स्वरूप अधिकांशतः (।।।।), (।।ऽ) अथवा (।ऽ।) तथा तृतीय चतुर्मात्रिक गण का स्वरूप अधिकांशतः (।।ऽ) अथवा (ऽऽ) देखने मे आता है। चतुर्थ द्विकल अनिवार्यतः सदैव द्विलघु-रूप रहा है। हरिवंशपुराण में अडिल्ला छंद प्रयुक्त है, किंतु प्रथम षट्कल का स्वरूप संदेशरासक से भिन्न, अर्थात् (ऽ।ऽ।) अथवा (।।।ऽ।) पाया जाता है।

कनकामर मुनि (समय—सं० ११११ वि०, अनुमित)[3] के करकंडचरिउ[4] में पद्धरि छंद कड़वक-विधान के लिए प्रयुक्त है—

जहिं सरवरि उग्गयपंकयाइं।
णं धरणि वयणि णयणुल्लयाइं ॥[5] आदि।

जिनदत्तसूरि के उवएसरसायण (समय—सं० ११५७ वि० लगभग)[6] में चौपाई छंद धर्मोपदेश के लिए स्फुट रूप से प्रयुक्त है। एक अर्द्धाली देखिए—

कण्णजलिहि पियंति जि भव्वह।
ऽ ।। ।। ।ऽ। ऽ ऽ।।

ते हवंति अजरामर सव्वइं ॥[7]
ऽ ।ऽ। ।ऽ।। ऽ।।

चौपाई-पद्धरि-वर्ग के छंदों की उत्पत्ति

इन छंदों के प्रारंभिक प्रयोग तथा लक्षणग्रंथो में उनके उल्लेख के विगत अवलोकन से स्पष्ट है कि चौपाई और उससे लय-साम्य रखनेवाले छंदों का मूल पद्धरि छंद की

---

१. वही, १५७, १६१, १६३, १६५, १६६, १८१।
२. भयाणी: संदेशरासक; आलोचनात्मक अध्ययन।
३. राहुल: हिं० का० धा०, पृ० २२८।
४. कनकामर मुनि: करकंडचरिउ (सं० प्रो० हीरालाल जैन; करंजा-जैनग्रंथमाला, बरार के अंतर्गत प्रकाशित)।
५. वही, पृ० ४।
६. राहुल: हिं० का० धा०, पृ० ३४८।
७. जिनदत्तसूरि: उवएसरसायण, ८० (Gaikwad's Oriental Series, Vol. XXXVII, 1927), प्राचीनगुर्जरकाव्यसंग्रह।

अपेक्षा अधिक पुराने युग में निहित है। चौपाई छंद का पादाकुलक से लय-तादात्म्य नहीं होते हुए भी इतना लय-साम्य अवश्य है कि इसे पिंगलोक्त मात्रासमक का भेद पादाकुलक का, कवि के प्रयुक्त प्रयत्न-शैथिल्य तथा रुचि-स्वातंत्र्य के कारण, विकसित रूप कहा जा सके। मात्रासमक के विभिन्न भेदों के मिश्रित प्रयोग पादाकुलक कहे गये। सभी पादों के चतुष्कलों में विभाज्य नहीं होने पर और सम-सम, विषम-विषम कल प्रयुक्त होने पर इस वर्ग के छंद बाद में चौपाई कहलाये। मात्रासमक नाम द्वारा इन छंदों का मात्रिक तथा समपादी होना सूचित होता था, चौपाई नाम द्वारा इन छंदों के समचतुष्पदी छंदों के बीच सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होना ध्वनित है। कहा जा चुका है कि मात्रासमक छंद वार्णिक अनुष्टुप् के समपादीय मात्रिक संस्कार का प्रतिफलन है।[1] लक्षणग्रंथों में मात्रासमक और पादाकुलक नाम पिंगलादि संस्कृत आचार्यों द्वारा प्रयुक्त हैं तथा अडिल्ल, मडिल्ल आदि नाम प्राकृत लक्षणग्रंथों में आये हैं। किंतु, चौपाई नाम का प्रयोग तो हिंदी-लक्षणग्रंथों में ही हम प्रथम बार पाते हैं। चौपाई नाम का प्रथमोल्लेख रामसहाय तथा भिखारीदास ने किया है।

काव्य-प्रयोग के बीच चौपाई छंद का प्रयोग तो सरहपा के युग से ही मिलना आरंभ हो जाता है किंतु इस छंदोविशेष के लिए चौपाई नाम का प्रयोग १४वीं शती तक प्रामाणिक रूप से प्रायः दृष्टिगत नहीं होता। १४वीं शती के बाद ही छंद को चौपाई कहने लगे होंगे; क्योंकि आगे हम देखेंगे कि भक्तिकाल के कवियों ने हिंदी छंदोलक्षणकारों के बहुत पूर्व ही इसे 'चौपाई' छंद कहा है।

इस प्रकार, चौपाई छंद मात्रासमक का परवर्त्ती विकसित रूप होने के कारण वर्णवृत्त-परंपरा की देन कहा जा सकता है, यद्यपि उसपर तालसंगीत का प्रभाव कालांतर में पड़ता दिखाई देता है।

इसके विपरीत पद्धरि छंद विशुद्ध प्राकृत या अपभ्रंश का छंद है और लोक-प्रचलित तालवृत्त के मात्रिक संस्कार के परिणाम-स्वरूप विकसित है। पिंगल, जयदेव, जयकीर्त्ति तथा केदार के संस्कृत-लक्षणग्रंथों में पद्धरि के अनुल्लेख तथा अपभ्रंश-काव्य में इसके प्रयोगबाहुल्य द्वारा इस मंतव्य की पुष्टि होती है। पद्धरि से लयसाम्य रखनेवाला छंद पदपादाकुलक पद्धरि से ही, पादांत जगण-प्रयोग में शैथिल्य के फलस्वरूप, विकसित हुआ है। पद्धरि और पदपादाकुलक की अर्द्धालियों के मिश्रित प्रयोग द्वारा इसकी पुष्टि होती है।

चौपाई तथा पद्धरि का परवर्ती प्रयोग-वैविध्य

मध्यकालीन हिंदी-कविता में यों तो ये दोनों छंद लोकप्रिय रहे हैं, फिर भी, चौपाई को पद्धरि की अपेक्षा अधिक महत्ता मिली है। १४वीं शती के पूर्व जो स्थान पद्धरि का था, उसके पश्चात् वही स्थान चौपाई को प्राप्त हुआ। पद्धरि की लय वीररसोचित होने के कारण भक्ति-काव्य में उसकी अपेक्षा चौपाई को ही अधिक प्रसंगानुकूल समझा गया।

मध्यकालीन संत कवियों ने पद्धरि की अपेक्षा चौपाई का अधिक प्रयोग किया है, यद्यपि पद्धरि की भी उपेक्षा इन्होंने नहीं की। रामानंद के पदों में पद्धरि प्रयुक्त है—

---

१. दे० अध्याय ३ तथा ४।

कत जाइअै रे घर लागो रंगु।
।। S।। S।। S। S।

मेरा चितु न चलै मनु भइउ पंगु॥[1]
।। ।। । ।S ।। ।।। S।

इन पंक्तियों मे लघुगुरूच्चारण-संबंधी स्वच्छंदता का उपयोग बहुत अधिक किया गया है।

कबीर की रमैनी में दोहा-चौपाई-वाली कड़वक-शैली प्रयुक्त है। प्रत्येक कड़वक में अर्द्धालियों की संख्या ३ से १० तक है। इस शैली में रचित कबीर की कुछ पंक्तियाँ आदि ग्रंथ में भी मिलती हैं, किंतु वहा उनके लिए रमैनी नाम नही आया है। इस आधार पर डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का अनुमान है कि रमैनी शब्द का प्रचलन कबीर के जीवन-काल के बाद में हुआ। द्विवेदीजी कहते हैं—"मेरा अनुमान है कि दोहा-चौपाइयों में लिखी गई तुलसीदास की रामायण के प्रभाव ने कबीरपंथियों को भी अपनी रामायण बनाने को प्रोत्साहित किया और सन् ई० की १८वीं शताब्दी में किसी समय दोहा-चौपाई मे लिखित पदों को रमैनी कहा जाने लगा।"[2] रमैनी मे प्रयुक्त कबीर की चौपाई की एक अर्द्धाली देखिए—

जीव रूप एक अंतर बासा।
S। S। ।। S। ।SS

अंतर जोति कीन्ह परगासा॥[3]
S।। S। S। ।। SS

ये पाद चतुष्कलों में विभाज्य नहीं; सम-सम, विषम-विषम कल के प्रयोग के कारण छंद चौपाई कहा जायगा।

रैदास ने चौपाई का प्रयोग मुक्तक रूप मे, धर्मोपदेश के लिए किया है।

उदाहरण—

पूजा अरचा आहि न तोरी।

कहि रविदास कवन गति मोरी॥[4]

चतुष्कलों में विभाज्य होने के कारण इन पंक्तियों में पादाकुलक भी माना जा सकता है।

---

१. रामानंद: संतकाव्य (सं० परशुराम चतुर्वेदी), पृ० १५५।
२. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी: हिंदी-साहित्य—उसका उद्भव और विकास, पृ० १२५।
३. कबीर: बीजक; रमैनी, २।
४. रैदास: संतकाव्य (सं० परशुराम चतुर्वेदी), पृ० २१५।

नानक ने पद-शैली मे पादाकुलक का प्रयोग किया है—

पढि-पढि पंडितु वादु बखाणै।
भीतर होदी वसतु न जाणै॥[1]

दादू ने भी पद-शैली अथवा मक्तक-शैली मे चौपाई का प्रयोग किया है—

राम नाम जिनि छाड़े कोई।
राम कहत जन निर्मल होई॥[2]

चौपाई छंद संत कवियो मे अधिक प्रेमाख्यानक कवियो के बीच लोकप्रिय रहा है। प्रेमाख्यानक काव्य मे तो कड़वक-विधान के लिए व्यापक और अनिवार्य रूप से इस छंद का प्रयोग हुआ है। कुतबन की मृगावती मे जो छंद प्रयुक्त है, उन्हे चौपाई और दोहरा कहा गया है। चौपाई की अर्द्धाली देखिए—

मृगावती सुनि जिअ रहसाई।
कामा जनु मधवानल पाई॥[3]

मंझन की मधुमालती मे चौपाई नाम का उल्लेख तो नहीं है, किंतु इस छंद का प्रयोग कड़वक-विधान के लिए व्यापक रूप से हुआ है। अर्द्धाली द्रष्टव्य है—

सुन्यो जाहि दिन सृष्टि उपाई।
प्रीत परेवा दैव उडाई॥[4]

जायसी ने पद्मावत मे ही नही, अखरावट और आखिरी कलाम में भी चौपाई छंद का व्यापक रूप से, कड़वक-रचना के लिए प्रयोग किया है। जायसी की लेखनी से चौपाई-निबद्ध एक अर्द्धाली देखिए—

चीर चारु औ चंदन चोला।
हीर हार नग लाग अमोला॥[5]

उसमान की चित्रावली मे भी चौपाई का कड़वकबद्ध प्रयोग व्यापक रूप से हुआ है, यद्यपि चौपाई नाम का उल्लेख नही है—

ताहि देस बिच आहि सो पंथा।
चले सोइ जो पहिरै कंथा॥[6]

जानकवि की कनकावती मे इस छंद का प्रयोग है तथा इसके लिए चौपाई नाम आया है—

बिथा पाछली सभे बषानी।
जो बिनई सो सरना आनी॥[7]

१. नानक: वही, पृ० २४२।
२. दादू: दादूदयाल की वाणी (राजेन्द्रकुमार एंड ब्रदर्स, बलिया), १।१।
३. कुतबन: मृगावती, (सूफी-काव्य-संग्रह: सं० परशुराम चतुर्वेदी), पृ० ९८।
४. मंझन: मधुमालती (वही), पृ० १२२।
५. जायसी: ग्रंथावली; पद्मावत। (सं० डॉ० माताप्रसाद गुप्त), पृ० ३२४।
६. उसमान: चित्रावली (सूफीकाव्य-संग्रह), पृ० १३२।
७. जानकवि: कनकावती (सूफीकाव्य-संग्रह), पृ० १४३।

लयसाम्य के आधार पर कड़वकांतर्गत कहीं-कहीं १५ मात्राओं के पाद की अर्द्धाली भी प्रयुक्त है—

अनगन दयो दहेज अपार ।
लख्यौ न जाइ लखे करतार ॥[१]

ऐसी अर्द्धालियों को जानकवि के दूसरे ग्रंथ कामलता, मधुकरमालती तथा छीता में चौपई-निबद्ध कहा गया है,[२] यद्यपि चौपई के अंतर्गत १६ मात्राओं के पाद की अर्द्धालियाँ भी आ गई हैं। जानकृत रतनावली में भी इस प्रकार का अर्द्धाली-मिश्रण हुआ है, यद्यपि छंद को चौपाई कहा गया है।[३]

१७वीं शती के बाद भी चौपाई-दोहा में कड़वक-विधान की परंपरा कुछ दिन चलती रही। उदाहरणरूप में कासिमशाह के हंसजवाहर में तथा शेख निसार के ग्रंथ यूसुफ-जुलेखा में इस शैली का प्रयोग द्रष्टव्य है।[४]

चौपाई छंद की सर्वाधिक प्रसिद्धि रामकाव्य के कवि गोस्वामी तुलसीदास द्वारा रामचरितमानस में इसके प्रयोग के कारण हुई, ऐसा कहने में अत्युक्ति नहीं। तुलसीदास को चौपाई का सम्राट् कहा जा सकता है। तुलसीदास के विषम-भावरसादि के समान ही उनका छंद-प्रयोग भी अत्यंत विविध है, फिर भी, तुलसी शब्द से चौपाई तथा चौपाई शब्द से तुलसी की याद अनायास आ जाती है।

रामचरितमानस में चौपाई छंद को प्रसंग-सापेक्ष वैविध्य की गरिमा मिली है। उदाहरण के लिए श्रृंगार-प्रसंग में चौपाई का यह ताल-सौष्ठव देखिए—

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि।	
ऽ।। ऽ।। ऽ।। ।। ।।	२४ लघु;
कहत लखन सन राम हृदयगुनि ॥[५]	४ गुरु।
।।। । ।। ।। ऽ। । ।।।।	

इन पंक्तियों में लघु वर्णों का श्रृंगारोचित प्राधान्य तुलसी के हस्तलाघव का परिचायक है। पंक्तियाँ चतुर्मात्रिक ताल-गणों में निबद्ध हो प्रसंगानुकूल लय की सृष्टि करती हैं।

इसके विपरीत भय, आतंक और आश्चर्य को ध्वनित करनेवाली चौपाई-निबद्ध निम्नलिखित पंक्तियों को देखिए—

नाथ एक आवा कपि भारी	१० लघु;
ऽ। ऽ। ऽऽ ।। ऽऽ	
तेहिं असोक बाटिका उजारी।	११ गुरु।
।। ।ऽ। ऽ।ऽ ।ऽऽ	

१. वही, पृ० १४४।
२. जानकवि: सूफीकाव्य-संग्रह, पृ० १४६; १४७ तथा १५२।
३. वही, पृ० १५०।
४. सूफीकाव्य-संग्रह, पृ० १५५ तथा १७९।
५. तुलसीदास: रामचरितमानस (गीताप्रेस), १।२३०।

ये पंक्तियां चतुर्मात्रिक गणों में विभाज्य नहीं। अतएव, इनमें पूर्ववर्त्ती उद्धरण का ताल-माधुर्य नहीं है। प्रथम पाद में त्रिकल के बाद त्रिकल, द्वितीय पाद में पंचकल के बाद पंचकल तथा उसके पहले जगण के प्रयोग प्रसंगगत परुष भावों की व्यंजना में सहायक हैं। लघु की अपेक्षा गुरु वर्णों का प्राधान्य तथा लघुगुरु वर्णों का आनुक्रमिक (alternate) प्रयोग कपि की विकटता-विशालता तथा उसके द्वारा उत्पन्न आतंक के सहज व्यंजक है।

तात्पर्य यह कि तुलसीदास ने चौपाई की मात्रिक प्रकृति को ठीक समझकर प्रसंग-गत भाव-व्यंजना तथा वातावरण-सृष्टि के लिए उससे पूरा-पूरा लाभ उठाया है।

तुलसीदास ने १६ मात्राओं के छंदों में जो महत्त्व चौपाई को दिया, वह केशवदास ने उसे नहीं दिया। केशव के काव्य में १६ मात्राओं के अनेक छंदों का वैचित्र्य द्रष्टव्य है। रामचंद्रिका कड़वकबद्ध रचना नहीं, अतएव ये छंद भी उसमें मुक्तक रूप में ही आये हैं। कहीं पद्धरि, जिसके लिए रामचंद्रिका में 'पज्झटिका' अथवा पद्धटिका नाम आया है, प्रयुक्त है—

> पुनि आये सरयू सरित तीर।
> तहं देखे उज्ज्वल अमल नीर॥[1]

कहीं अरिल्ल का प्रयोग—

> राजति रति की सखी सुवेषनि।
> मनहुं बहति मनमथ संदेशनि॥[2]

कहीं मोहन छंद है,[3] कहीं तोटक छंद;[4] कहीं मोटनक छंद है,[5] कहीं दोधक छंद।[6] १६ मात्राओं के पादवाले इन छंदों में वर्णवृत्त भी आ गये हैं। मात्रिक छंदों में १६ मात्राओं के पादवाले अरिल्ल और पद्धरि मात्र मिलते हैं। चौपाई केशवदास ने १५ मात्राओं के पादवाले छंद को, जिसे सामान्य रूप से हम चौपई नाम से जानते हैं, कहा है। उदाहरण : '(चौपाई छंद)'—

> हाथ धनुष शर मन्मथ रूप।
> संग पयादे सोदर भूप॥[7]

चौपाई प्रेमाख्यानक काव्य तथा रामकाव्य का जिस प्रकार प्यारा छंद है, वैसा कृष्ण-काव्य का नहीं। बात यह है कि चौपाई प्रबंधात्मक रचनाओं या कड़वकबद्ध कथाकाव्यों के लिए ही, पद्धरि की तरह, उपयोगी है; मुक्तक-शैली के अनुकूल उसकी प्रकृति नहीं। इसी कारण कृष्णकाव्य की मुक्तक-शैली के अंतर्गत इसका प्रयोग हम बहुत कम पाते हैं।

---

१. केशवदास: रामचंद्रिका (टी० लाला भगवान दीन), १।२५; दे० ४।२७ भी।
२. वही, १।३०।
३. वही, ५।२।
४. वही, ५।३।
५. वही, ६।३।
६. वही, ११।२१।
७. वही, २९।१।

सूरदास के वर्णनात्मक पद्यो मे अवश्य इसका बहुत प्रयोग हम देखते है।[1] किंतु यहां भी लयसाम्य के आधार पर चौपाई के साथ चौपई तथा चौबोला अर्द्धालियो का मिश्रण हम प्रायः देखते हैं। उदाहरण—

राजधर्म तब भीपम गायो। दानापद पुनि मोक्ष सुनायो॥	}	पादगत १६ मात्राएं; चौपाई।
पै नृप को संदेह न गयो। तब भीपम नृप सो यो कह्यो॥	}	पादगत १५ मात्राएं; पादान्त ।ऽ; चौबोला।
धर्मपुत्र तू देखि विचार। कारन करनहार करतार ॥[2]	}	पादगत १५ मात्राएं; पादान्त ऽ।; चौपई।

पद्धरि छंद का प्रयोग सूरदास के वर्णनात्मक प्रसंगों में भी विरल है, यद्यपि सूरसागर मे इस छंद का नितांत अभाव नहीं। पद्धरि की लय सूरदास के काव्यविषय के बहुत अनुकूल नही थी। सूरदास द्वारा पद्धरि-प्रयोग का एक उदाहरण देखिए—

देखत प्रभु की महिमा अपार।
सब बिसरि गये मन-बुद्धि-बिकार ॥[3]

नंददास के भँवरगीत तथा रासपंचाध्यायी में १६ मात्राओं के छंद नहीं आये है। किंतु उनकी कड़वकबद्ध रचनाएं रूपमंजरी, रसमंजरी और विरहमंजरी मे चौपाई छंद कड़वक-विधान के लिए प्रयुक्त है तथा दोहा का उपयोग घत्ता के लिए हुआ है। नंददास-रचित चौपाई की एक अर्द्धाली देखिए—

टूटि तार अंगार बगावे।
कामभूत जनु मोहि छरावे ॥[4]

मीरा ने पदशैली मे तथा रसखानि और घनानंद ने प्रायः कवित्त-सवैया-शैली में रचनाएँ की। फलतः १६ मात्राओं के पादवाले चौपाई या अन्य छंदों के लिए इनके काव्य मे विशेष अवकाश नहीं। कृष्णकाव्य के अन्य कवियों के बीच भी चौपाई-पद्धरि-वर्ग के छंद अधिक लोकप्रिय नहीं रहे।

१७वी शती के बाद मुक्तक-प्रधान रीतिकाव्य में दोहा, कवित्त, सवैया प्रभृति छंदों के प्राधान्य के फलस्वरूप चौपाई-पद्धरि का आदर न हो सका। षोडश-मात्रावाले इन छंदों का भाग्य द्विवेदी-युग में वर्णनात्मक या कथात्मक काव्य के भाग्योदय के साथ ही एक बार फिर जाग उठा। मैथिलीशरण, हरिऔध, सुभद्राकुमारी आदि आधुनिक कवियों ने इन छंदों का यथावसर उपयोग किया है।

---

१. सूरदास: सूरसागर (ना० प्र० सभा, काशी; २२६-२३७, २४५, २४६, २६०, २६१, २७६, २७७, २८४-२८६, २८८-२९०, ३४१-३४३, ३६३, ३६४, ३८०, ३८२, ३८५-३९१ आदि।

२. वही, २६१।

३. वही, ६१०।

४. नंददास: ग्रंथावली (ना० प्र० सभा, काशी), पृ० १३४।

चौपाई-पद्धरि-संबंधी सामान्य निष्कर्ष

१. चौपाई और पद्धरि दोनों छंद मुख्यतः वर्णनात्मक प्रसंगों में, कथाकाव्यों या चरित-काव्यों के बीच कड़वक-विधान के लिए प्रयुक्त हुए हैं। मुक्तक या गीति-काव्य के रचयिताओं के बीच ये लोकप्रिय नहीं रहे हैं।

२. दोनों छंदों की मात्रासंख्या-समानता के बावजूद दोनों में लय-भेद है। पद्धरि ताल छंद है, जिसमें बलाघात प्रत्येक चतुष्कल की तीसरी मात्रा पर होता है। चौपाई अनिवार्यतः तालबद्ध नहीं। चतुष्कलों में विभाज्य होने पर उसे पादाकुलक कह सकते हैं।

३. चौपाई तथा पद्धरि का उत्पत्तिगत इतिहास अलग-अलग है। चौपाई संस्कृत-वर्णवृत्त-परंपरा में विकसित मात्रात्मक से संबद्ध तथा पादाकुलक, अरिल्ल (अडिल्ला) आदि के वर्ग में अन्तर्भुक्त है। पद्धरि लोकप्रचलित तालसंगीत की देन है।

४. चौपाई के वर्ग-सहचर पादाकुलक और अरिल्ल आदि व्यावहारिक रूप में काव्य के बीच द्वितीय शती से ही देखने को मिलते हैं यद्यपि इनकी चरम लोकप्रियता भक्तिकाल में सूफी और रामभक्त कवियों के हाथ प्राप्त होती है। पद्धरि का प्रयोग अपभ्रंश (८वीं शती) के पूर्व नहीं मिलता। १६वीं शती तक पद्धरि छंद चौपाई-पादाकुलक-अडिल्ल की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय रहा है किंतु भक्तिकाल में उसे वह आदर नहीं मिल सका, जो चौपाई को मिला है।

५. पद्धरि की लय तालसंगीतात्मक होने के कारण वीरगाथा या चारण-काव्य में उसे अधिक महत्ता मिली; चौपाई की संगीतात्मकता ने भक्तिकाल के प्रबंध-काव्यों के बीच इसे सम्मान दिलाया।

प्रकरण ३

काव्य (रोला)-छंद

लक्षणग्रंथों में २४ मात्राओं के पादवाले छंद

चौबीस मात्राओं के पादवाले मात्रिक छंदों का उल्लेख पिंगल, जयदेव, जयकीर्त्ति तथा केदार के छंदोग्रंथो में नही मिलता। संस्कृत-परम्परान्तर्गत केवल हेमचंद्र ने ही कुछ ऐसे छंदों की चर्चा की है। हेमचद्र के वस्तुवदनक[१] का पादगत गणविधान ६+४+४+४+६ है, जिसमे मध्य चतुष्कल जगण अथवा सर्वलघु होता है तथा अन्य चतुष्कलों में जगण निषिद्ध रहता है। हेमचंद्र के अन्य चतुर्विंशमात्रापादी छंद हैं ललिता (४+४+५+४+५+२),[२] चंद्रलेखा (६+४+४+४+४+२),[३] सालभंजिका (३+३+४+४+४+३+३),[४] उत्साह (६ चतुष्कल, तृतीय और पंचम चतुष्कल जगण या सर्वलघु, शेष में जगण निषिद्ध),[५] करभक (५+५+४+४+।ऽ।+ऽ)[६] तथा इंद्रगोप (४+४+५+५+।ऽ।+ऽ)।[७] इन छंदों में ललिता का उल्लेख पूर्ववर्त्ती लक्षणकार विरहाक ने किया है तथा यह और भी कहा है कि इसके दोनो पंचकल रगण तथा अंत्य द्विकल गुरु होते हैं।[८] विरहाक ने दो और छंद द्रुत (४+४+।ऽ।+४+।ऽ।+४)[९] तथा लक्ष्मी (४+५+५+५+।ऽऽ)[१०] का उल्लेख किया है। परवर्त्ती ग्रंथ कविदर्पण में केवल उत्साह,[११] वस्तुवदनक तथा[१२] चंद्रलेखा[१३] छंद आये हैं। प्राकृतपैंगलम् में वस्तुवदनक को 'काव्य' छंद[१४] कहा गया है। इस ग्रंथ में अन्यत्र इसे वस्तुक[१५] भी कहा गया है। काव्य, वस्तुवदनक या वस्तुक के गणयुक्त रूप को रोला[१६] संज्ञा दी गई है। छंदःकोश में इस छंद का काव्य के अतिरिक्त वस्तुक (वत्थुय) नाम आया है और इसका पादगत गणविधान ६+४+४+४+४+२ कहा गया है,[१७]

---

१. हे० छं० ५।२५।
२. वही, ४।४४।
३. वही, ४।६८।
४. वही, ४।६२।
५. वही, ५।२।
६. वही, ५।७।
७. वही, ५।८।
८. वृ० जा० स०, ४।९३।
९. वृ० जा० स०, ३।३६।
१०. वही, ३।३०।
११. क० द०, २।२६।
१२. वही, २।२५।
१३. वही, २।२४।
१४. प्रा० पैं०, १।१०९। (श्रीरामनारायण पाठक के गुजराती ग्रंथ 'बृहत् पिंगल' में भी इस छंद को 'काव्य' या 'रोला' कहा गया है; पृ० ३११)
१५. वही, १।११५।
१६. वही, १।९१।
१७. छं० को०, १३ तथा ३१।

जो हेमचंद्र के चंद्रलेखा छंद के गणविधान से तुलनीय है। देशी भाषा में रचित होने पर रत्नशेखर ने इस छंद को रोडक या रासाकुल (रासाउल) कहा है।[1]

हिंदी के लक्षणग्रंथों में छंदोहृदयप्रकाश[2] में रोला का उल्लेख प्राकृतपैंगलम् के अनुसार मिलता है। हरदेवदास ने रोलावत्थू के एक पाद का परिमाण उपदोहा[3] (क० द०, २।१५। का अवदोहक) के अर्द्धांश के बराबर मानकर ऐसे चार पादों का विधान किया है।[4] रामसहाय और भानु ने रोला की पादगत ११वीं मात्रा पर यति का विधान किया है।[5] रोला में रामसहाय ने गणनिर्देश नहीं किया, किंतु भानु ने प्रथम पादखंड का गणविधान ४+४+३ या ३+३+२+३ तथा द्वितीय पादखंड का गणविधान ३+२+४+४ या ३+२+३+३+२ माना है। रोला के चारों पादों में ११वीं मात्रा लघु होने पर भानु उसे काव्य-छंद कहते हैं। काव्य-छंद में जानी बिहारीलाल ने मात्रिक गणों का विधान प्राकृतपैंगलम् के अनुसार ६+४+४+४+६ माना है। गणविधान ६+८+१० होने पर वे उसे काव्य नहीं, कव्य कहते हैं।[6] भानु ने २४ मात्राओं के कुछ अन्य नये छंदों की चर्चा भी की है, जैसे दिगपाल (१२+१२), रूपमाला (१४+१०, अंत ऽ।), शोभन (१४+१०, अंत ।ऽ।), लीला (७+७+१०, अंत ।।ऽ), सुमित्र (१०+१४, आदि।ऽ।, अंत ।ऽ।), आदि।

उपरिलिखित छंदों में अधिकांश का उल्लेख एकदेशीय या अल्पदेशीय होने के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि ये छंद दीर्घकालीन अथवा देशव्यापी लोकप्रियता नहीं अर्जित कर सके। गणबद्ध 'काव्य' छंद तथा गणमुक्त 'रोला' छंद ही ऐसे हैं, जिन्होंने दीर्घकाल तक तथा विस्तृत भूभाग में व्यावहारिक काव्यप्रयोग के बीच आदर का स्थान प्राप्त किया।

काव्य (रोला)-छंद के प्रारंभिक प्रयोग

सरहपा के दोहाकोश में काव्य-छंद का प्रयोग अनेक स्थलों पर हुआ है।[7] एक उदाहरण देखिए,—

जइ णग्गा विअ होइ मुत्ति ता सुणह सिआलह।
।। ऽ ऽ । । ऽ । ऽ । ऽ ।।। । ऽ । ।

लोमुपाडण अत्थि सिद्धि ता जुवइ णिअम्बह॥
ऽ । ऽ । ऽ ऽ । ऽ । ऽ ।।। । ऽ । ।

१. वही, १३।
२. छं० हृ० प्र०, पृ० ३४ क।
३. छं० प० भा०, ७।१८७ (११, १३, ११, १३, समपाद तुकांत)।
४. वही, ७।१९५।
५. रा० वृ० त०, २।११०, पृ० ३६; छं० प्र०, पृ० ६३।
६. जा० छं०, २।१५७-१६०।
७. सरहपा : दोहाकोश (सं० डॉ० प्रबोधचंद्र बागची; **Journal of the Department of Letters, University of Calcutta, Vol. XXVIII**) ७, ९, ४६-४९।

पिच्छी गहणे दिट्ठ मोक्ख ता मोरह चमरह्।
S S I I S S I S I S S I I I I I I

उञ्छे मोअणे होइ जाण ता करिह तुरंगह ॥[1]
S S S I I S I S I S I I I I S I I

उक्त उद्धरण मे प्रति पाद मे ६ ४ ४ ४ ६ का गणविधान तथा तृतीय गण में जगण-विधान चरितार्थ है। काव्य-छद का यह सर्वथा शास्त्रानकूल उदाहरण है। गण-विधान की दृष्टि से, इस छद में निबद्ध सरहपा के प्रायः अन्य सभी पद्य भी ऐसे ही हैं।[2]

निम्नोद्धृत पक्तियाँ अपवाद हैं—

आवन्त ण दीस्सइ जन्त णहि अच्छन्त ण मुणिअइ।
S S I I S I I S I I I I S I I I I I I

णित्तरग परमेसुरु णिक्कलक धाहिज्जउ ॥[3]
S I S I I I S I I S I S I S S I I

इन पक्तियों मे भी गणविधान ६-४ ४-४-६ सुरक्षित है, केवल मध्य गण जगण नहीं है।

स्वयंभू के पउमचरिउ या रामायण मे काव्य-छद के दो पादो का घत्तार्थ प्रयोग हुआ है—

पिसुणे कि अब्भत्थिएण जसु कोवि ण रुच्चइ।
I I S S S S I S I I I S I I S I I

कि छण-इंदु मरुग्गहे, ण कंपन्तु विमुच्चइ ॥[4]
S I I S I I S I S I S S I I S I I

उक्त पंक्तियो मे गणविधान सर्वथा शास्त्रानुकूल है, किन्तु घत्तार्थ प्रयोग होने के कारण पादसंख्या चार के बजाय दो है। इसी प्रकार काव्य के घत्तार्थ प्रयोग ग्रंथ में अन्यत्र भी उपलब्ध है।[5]

२४ मात्राओ के पादवाले चतुष्पदी कलहंस छद[6] (पादगत १०वी मात्रा पर यति) का भी घत्तार्थ द्विपदी रूप मे प्रयोग स्वयंभू के इस ग्रंथ मे हुआ है—

१. वही, ७-८, पृ० १०।
२. वही, ४६-४९, पृ० १५।
३. वही, ८१, पृ० २०।
४. स्वयंभू: पउमचरिउ (रामायण) १।३ (हिं० का० धा०, पृ० २४)।
५. वही, ४६।२ (हिं० का० धा०, पृ० ३४)।
६. हे० छं०, ६।२०।

गयणंगणे थिएण विज्जाहर-पवर णरिन्दहो।
णाउ स-णिन्दुरेण अवलोइउ णयरु महिन्दहो ॥[1]

स्वयंभू के पउमचरिउ में २८ मात्राओं के पाद का एक और छंद आया है, जिसे करभक कहा जा सकता है। यह भी द्विपदी रूप में प्रयुक्त है यद्यपि इसका उपयोग घत्ता के लिए नहीं हुआ है—

जउ-दुवार जउ-गोउर जउ-पायार-पउर।
IIIISI IISII IISSISIS
गयण-लग्ग पवणाहय-धयमालाउर पुरु ॥[2]
IIISI IISIIIIS SIS IS

उक्त उदाहरण में प्रतिपाद में ४, ५, ६, ७ जगण गुरु का विधान चरितार्थ है।

मध्यम लंबाई के चतुष्पदी छंदों के द्विपदी रूप में प्रयोग की ओर स्वयंभू की विशेष प्रवृत्ति दिखाई देती है। २८ मात्राओं के पादवाले छंद भी अर्धाली-रूप द्विपदी-इकाइयों में विभक्त हैं जो हम देख चुके हैं।

काव्य-छंद भविसयत्तकहा के एक कडवक में प्रयुक्त है। उदाहरण देखिए—[3]

दुग्गयघरवियआयामउत्तउ मग्गइ पत्तउ।
SIIIIISIS II II SII
मोयणमाहप्पेण वणि वाहइ गणु अण्णाइउ।
SIISISI SI SII II S SII
करयलि भायणु गहइ मणोहर पुणु पुणु जाइवि।
IIII SI SI SSII II II SII
गंण पहुण पुणु वि समुल्लिउ विरहेण गलिउ ॥[4]
SIISI II I SSII IIS SII

उपर्युक्त पंक्तियों में पादगत गणविधान ४, ४, ४, ४, ६ है अवश्य, किंतु चतुर्थ चतुष्कल २+२ में सदैव विभक्त है, क्योंकि पादान्तर्गत १६वीं मात्रा पर यति है। पादान्तर्गत इस यति-स्थान का तुक पादांत यतिस्थान से प्रत्येक पंक्ति में मिलता है, यह इस ग्रंथ में काव्यछंद की विशेषता है। विभिन्न पाद परस्पर अन्त्यानुप्रासयुक्त नहीं हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि धनपाल ने प्रत्येक पाद को स्वतंत्र इकाई के रूप में प्रयुक्त

१. स्वयंभू : पउमचरिउ, ४६।२।
२. स्वयंभू : पउमचरिउ, ४६।२।
३. धनपाल : भविसयत्तकहा, ७।८।
४. वही, ७।८।१-४।

किया है। कड़वक में पादसंख्या का विषम (तेरह) होना भी इस मंतव्य की पुष्टि करता है।[1]

२४ मात्राओं के पाद का छंद, कलहंस भविसयत्तकहा में भी आया है।[2]

उदाहरण—

जाइँ जगाउलाइँ जिह आमि महंनर भवणइँ ।
ताइँमि णिज्झुणाइँ सुवइसम्मत्तइँ मिहुणइँ ।
जाइँ णिरंतराइँ चिरु पाणिग्गहारिहु तित्थइ ।
ताइँ वि विविहित्तमे ण हुअइँ णोमहमुदुत्थइ ॥[3]

उक्त उदाहरण में प्रतिपाद में १०वीं मात्रा पर यति है।

काव्य-छंद संदेशरासक के एक पद्य में स्वतंत्र रूप में[4] तथा कई पद्यों में प्रगाथ छप्पय के पूर्वांश के रूप में[5] प्रयुक्त है। उदाहरण—

अंपिवि तम वद्दलिण दसह दिमि छायउ अंबरु।
S I I I I S I I I I I I I I S I I S I I

उन्नविय्उ घुरघुरइ घोरु घण-किसणाडंबरु ॥
S I I I I I I I I I S I I I I I S S I I

णहह मग्गि णहवल्लि य नर ल तडयडिवि नडकइ ।
I I · S ' ' S ' I I I I I I I I I I I I I I

दद्दुररउणु रउद्दु सद्दु कुवि महवि ण मक्कइ ॥[6]
S I I I I I I S I S I I I I I I I S I I

उक्त उदाहरण में गणविधान ६+४+४+४+६ है। तीसरा चतुष्कल जगण या सर्वलघु है। द्वितीय-चतुर्थ चतुष्कलों में जगण नहीं आया है। पादांत मे दो लघु आये है। ११वीं मात्रा पर प्रतिपाद में यति आई है।

आल्सडार्फ ने कुमारपालप्रतिबोध[7] मे काव्य (या वस्तुवदनक) के १०० से ऊपर पद्यों के विश्लेषण के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि आरंभ में इस छंद के पाद में यति १४वीं मात्रा पर ही हुआ करती थी, बाद में यतिस्थान ११वी मात्रा पर चला आया।

---

१. वही, ७।८। १-१३।
२. धनपाल : भविसयत्तक., ४।८।
३. वही, ४।८। १३-१६।
४. अद्दहमाण : संनेहरासय, १०७ (भारतीय विद्याभवन, बंबई, १९४२ ई०)।
५. वही, १४८, १८३, १९१, १९९।
६. वही, १४८।
७. कुमारपाल : प्रतिबोध, पृ० ७४, ७५।

संदेशरासक से उपर्युद्धृत पद्य में भी चाहें तो १४वी मात्रा पर यति मान सकते हैं। संदेशरासक के इस छंद में निबद्ध अन्य पद्यों में भी दोनों स्थानों पर यति बैठ जाती है। इस ग्रंथ के प्रायः सभी काव्य-निबद्ध पद्यो में पादांत गणस्वरूप (।।ऽ।।) या (ऽऽ।।) है।

संदेशरासक के १०७वे पद्य में अगले पद्य को फुल्लउ कहा है। इसकी पादसंख्या दो है। फुल्लउ नामक छंद किसी भी लक्षणग्रंथ में उल्लिखित नही, किंतु विरहांक ने उप्फुल्लअ (उत्फुल्लक) नामक छंद का उल्लेख अवश्य किया है,[1] जिसका गणविधान इस प्रकार निर्दिष्ट है—(४+४+४+४+४+४।ऽऽ)। संदेशरासक में जिन पंक्तियों को फुल्लउ कहा है, वे वस्तुतः दोहा की पंक्तियाँ हैं।[2]

अगमभट्ट (समय—१२वी शती, उत्तरार्द्ध)[3] ने काव्य-छंद का प्रयोग छप्पय के पूर्वांश के रूप में किया है। उदाहरण—

डरि गइंद डगमगिअ चंद्र करमिलिय दिवापर।
ऽ। ।ऽ। ।।।।। ऽ। ।।।।। ।ऽ।।

डुल्लिय महि हल्लियहि मेरु जलझंपइ सायर॥
ऽ।। ।।ऽ।।। ऽ। ।।ऽ।। ऽ।।

मुहडकोडि थरहरिय कूर कूरंभ कडक्किअ।
।।।ऽ। ।।।।। ऽ। ऽऽ। ।ऽ।।

अतल वितल धसमसिअ, पुहवि सहु प्रलय पलट्टिय॥[4]
।।। ।।। ।।।।। ।।। ।।।।। ।ऽ।।

उक्त उदाहरण में गणविधान ६+४+४+४+६ चरितार्थ है। तृतीय चतुष्कल जगण या सर्वलघु है। द्वितीय-चतुर्थ चतुष्कलों में जगण नही है। अंतिम षट्कल नियमपूर्वक (।।ऽ।।) है। यति ११वी या १४वी मात्रा पर, कहीं भी, मानी जा सकती है।

शालिभद्र सूरि (समय—सं० १२४१ वि०)[5] ने बाहुबलिरास[6] में काव्य-छंद का स्वतंत्र प्रयोग किया है। उदाहरण—

टलटलिया गिरि टक टोल खेवर खलभलिया।
।।।।ऽ ।। ऽ। ऽ। ऽ।। ।।।।ऽ

१. वृ० जा० स०, ४।६३।
२. दे० आगे दोहा-प्रसंग, पृ० ५८१।
३. राहुल : हिं० का० धा०, पृ० ३९४।
४. वही (उपदेशतरंगिणी) २०२।
५. राहुल : हिं० का० धा०, पृ० ३९८।
६. शालिभद्र सूरि : बाहुबलिरास; भारतीय विद्या (वर्ष २, अंक १) में मुनि जिनविजय द्वारा संपादित (हिं० का० धा०, पृ० ३९८)।

कडडिय कूरम कंध-मधि सायर झलहलिया।
। । । । S । । S । S । S । । । । । । S

चल्लिय समहरि मेम मीसु सलमलिय न सक्कइ।
S । । । । । । । S । S । । । । । । । S । ।

कंचणगिरि कधार भारि कमकमिय कसक्कइ॥[1]
S । । । । S S । S । । । । । । । S । ।

उक्त उदाहरण मे भी गणविधान ६+४+४+४+६ चरितार्थ है। मध्य चतुष्कल जगण है, द्वितीय-चतुर्थ गण जगण नहीं है, अंतिम षट्कल विकल्प मे (।।।।S) अथवा (।।S।।) है। यति ११वी अथवा १४वी मात्रा पर मानी जा सकती है।

जिनपद्म सूरि (समय—सं० १२५७ वि० के लगभग)[2] ने थूलिभद्द-फाग मे काव्य-छंद का प्रयोग किया है। उदाहरण—

महुर[*] गंभीर सरेण मेह जिमि जिमि गाजंते।
।।। ।S। ।S। S। ।। ।। SSS

पंचवाण निय-कुसुम-वाण तिम तिम साजते॥
S । S । । । । । । । S । ।। ।। S S S

जिम जिम केतकि महमह हत परिमल विहसावइ।
।। ।। S । । । । । S। । । । । । । S । S

तिम तिम कामिय चरण लग्गि निय रमणि मनावइ॥[3]
। । । । S । । । । । S । । । । । । । S । ।

उक्त उद्धरण में प्रति पाद ६+४+४+४+६ का गणविधान चरितार्थ है। मध्य चतुष्कल जगण है तथा द्वितीय-चतुर्थ चतुष्कलों में जगण कहीं नहीं आया है। अंतिम षट्कल प्रथम दो पादो मे (SSS) तथा शेष मे (।।S।।) है। यति ११वी या १४वी मात्रा पर मानी जा सकती है।

अंबदेव सूरि (समय—सं० १३७१ वि०)[4] के समरराास में भी काव्य-छंद प्रयुक्त है। दो पाद देखिए—

---

१. वही, १२८।
२. राहुल: हिं० का० धा०, पृ० ४२२।
३. जिनपद्म सूरि: थूलिभद्द-फाग, ७, पृ० ३८ (हिं० का० धा०, पृ० ४२२)।
४. राहुल: हिं० का० धा०, पृ० ४६६।

रतन कुक्खि कुलि निम्म लीय भोली पुतु जाया।
। । । S । । । S । S । S S । । S S

महजउ सारण समर सीहु बहु पुन्निहि आया॥[1]
। । । । S । । । । । S । । । S । । S S

उक्त पंक्तियों में गणविधान ६+४+४+४+६ है। मध्य चतुष्कल जगण है। द्वितीय-चतुर्थ चतुष्कलों में जगण नहीं है। अन्तिम षट्कल (।।SS) है तथा यति ११वीं या १४वीं मात्राओं पर मानी जा सकती है।

राजशेखर सूरि (समय १४वीं शती, अनुमित)[3] के नेमिनाथ-फाग में काव्य छंद प्रयुक्त है। उदाहरण--

कोमल विमल नियब बिब किरि गंगा पुलिणा।
S । । । । । । S । S । । । । । । । ।

करि-कलउ.री तोरण जंघ पल्लव करचरणा॥
। । । । S S । । । S । S । । । । । । S

मलपति चालति वेलवीय हंसला हरावइ।
। । । । S । । S । S । S । S । S । ।

संझारागु अकालि बाल नहकिरणि करावइ॥[4]
S S S । । । S । S । । । । । । । । S । ।

उक्त उदाहरण में प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ पाद में लक्षण सर्वथा पूर्ववत् है। गण-विधान ६, ४, ४, ४, ६ है। मध्य गण जगण है, द्वितीय-चतुर्थ गणों में जगण का अभाव है। किन्तु तृतीय पाद में चतुर्थ गण की अन्तिम मात्रा पंचम गण की प्रथम मात्रा से मिलकर गुरु वर्ण की सृष्टि करती है। इससे गणविधान भंग हो जाता है। यति पूर्ववत् ११वीं या १४वीं मात्रा पर मानी जा सकती है।

काव्य-रोला-वर्ग के छंदों की उत्पत्ति

इस वर्ग के छंदों का उल्लेख हेमचंद्र के सिवा संस्कृत के अन्य किसी भी लक्षणकार ने नहीं किया है। इससे विदित होता है कि इन छंदों का संबंध संस्कृत वर्णवृत्त से न होकर अपभ्रंश के अन्य छंदों की तरह लोकप्रचलित नाद-संगीत से है। व्यावहारिक

---

१. अंबदेव सूरि : समररास, पृ० २७ (हिं० का० धा०, पृ० ४६६)।
२. राहुल : हिं० का० धा०, पृ० ४७८।
३. राजशेखर सूरि : नेमिनाथ-फाग (प्राचीनगुर्जर-काव्यसंग्रह; G.O.S. Vol. III)।
४. वही, पृ० ८४ (हिं० का० धा०, पृ० ४८०)।

काव्य-प्रयोग के अवलोकन द्वारा इस मंतव्य की पुष्टि होती है; क्योंकि, हम संस्कृत-प्राकृत में नहीं, अपभ्रंश में ही इन छंदों के प्रारंभिक प्रयोग देखते हैं। काव्य तथा रोडक छंद अष्टमात्रिक धुमाली ताल में गेय हैं। अधिकांशतः चतुर्मात्रिक मात्रागणों में निबद्ध होने के कारण काव्य-छंद आसानी से अष्टमात्रिक ताल-गणों में बाँधा जा सकता है।

इस छंद की काव्य-संज्ञा परवर्त्ती है। हेमचंद्र द्वारा प्रयुक्त इसका वस्तुवदनक नाम अधिक पुराना है। कविदर्पण में भी यही नाम आया है। प्राकृतपैंगलम् में इसे 'वत्थुअ' कहा गया है, किंतु अन्यत्र काव्य नाम भी इसके लिए आ गया है। छंदःकोश में काव्य और वस्तुक दोनों नाम प्रयुक्त हैं। देशी भाषा में रचित होने पर रत्नशेखर ने इसे रोडक कहा। हिंदी-लक्षणकारों का वत्थू नाम संस्कृत 'वस्तुवदनक' से उद्भूत प्राकृत रूप 'वत्थुअ' से विकसित है। हिंदी का 'रोला' शब्द भी प्राकृत 'रोडक' से निकला प्रतीत होता है। हरदेवदास ने तो वत्थू-दोहा के कई भेद मानते हुए एक भेद को रोला-वत्थू कहा है।

संभव है, रोला और दोहा का व्युत्पत्तिगत संबंध घनिष्ठ हो; क्योंकि रोला (११+१३) की पादसिद्धि दोहा-भेद अवदोहक के अर्द्धांश से हो जाती है। किंतु, रोला सम छंद है, दोहा अर्द्धसम; तथा रोला के पूर्वरूप काव्य में मध्यगण प्रायः जगण होता है, दोहा के चतुष्कल में जगण निषिद्ध है। यह वैषम्य देखते हुए रोला और दोहा छंदों का व्युत्पत्तिगत संबंध बहुत पुराना नहीं प्रतीत होता।

इससे अधिक संभव तो यह है कि चतुर्विंशमात्रापादी रोला का पूर्वरूप वस्तुवदनक' (काव्य) छंद (६+४+४+४+४+२) षोडशमात्रापादी छंद अडिल्ल या वदनक[2] छंद (६+४+४+२) के पाद-परिवर्द्धन द्वारा उद्भूत हुआ हो। दोनों छंदों के नाम तथा गण-विधान का साम्य (आदि षट्कल, अंत ४।२) इस दृष्टि से अर्थपूर्ण है। वस्तुवदनक अथवा काव्य-छंद से बने प्रगाथछप्पय को 'सार्द्धच्छंदम्' भी कहा गया है।[3] इस नाम से यह ध्वनि निकलती है कि इस छंद का पाद-परिमाण किसी पूर्वज छंद से ड्योढ़ा (स+अर्द्ध+साढ़े) है। इससे इस मंतव्य की पुष्टि होती है कि वस्तुवदनक (काव्य-रोला) छंद का पाद (६+४+४+४+४।२) वदनक छंद के षोडशमात्रिक पाद (६।४।४+२) के बीच में आठ मात्राएँ (४+४) बढ़ा देने से बना है। काव्य छंद की ताल-वृत्तात्मक उत्पत्ति की पुष्टि इससे भी होती है कि गुजराती में यह छंद आज भी छः चतुर्मात्रिक तालगणों में गेय है।[4]

प्रारंभिक काव्यप्रयोग के अवलोकन से यह विदित है कि ताल-सांगीतिकता की देन होने के कारण काव्य-छंद आरंभ में नियमतः गणबद्ध हुआ करता था, जिसका प्रथम गण अनिवार्यतः षट्कल तथा अंतिम गण विकल्प से षट्कल अथवा चतुष्कल+द्विकल होते थे। बीच में तीन चतुष्कलों का प्रयोग होता था, जिनमें मध्य चतुष्कल प्रायः जगण होता था तथा शेष चतुष्कलों में जगण का निषेध रहता था। जगण-संबंधी ये विधि-निषेध

१. हे० छं०, ५।२५।
२. वही, ५।८।
३. वेलंकर: कविदर्पणम् की भूमिका; ABORI, Vol. XVI, 1934-'35; PP. 53.
४. रामनारायण पाठक: बृहत् पिंगल (गुजराती), पृ० ३११।

संस्कृत वर्ण-संगीत के संस्कारो मे अभिषिक्त परिनिष्ठित काव्य-रचियताओं के प्रभाव-स्वरूप प्रचलित हुए होंगे, इसमें संदेह नही। बाद मे, देशी भाषा में प्रयुक्त होने पर इस छंद का गणमुक्त रूप रोडक या रोला सामने आया। परवर्त्ती प्रयोग के अंतर्गत हम इस छंद के गणमुक्त रूप का अपेक्षाकृत आधिक्य देखेंगे।

परवर्त्ती काव्य-प्रयोग

काव्य अथवा रोला छंद का प्रयोग हिंदी-काव्य के बीच प्रायः तीन रूपों में मिलता है—१. छप्पय, कुंडलिया अथवा अन्य प्रगाथ छदो के अंग-रूप मे; २. प्रबंध काव्यांतर्गत कड़वक-विधान के लिए प्रयुक्त तथा ३. मुक्तक रूप में प्रयुक्त।

आदिकालीन वीरगाथा-काव्य में प्रगाथ छप्पय तथा कुंडलिया के अंग-रूप में काव्य-छंद प्रयुक्त मिलता है। पृथ्वीराजरासो में दोनों के उदाहरण प्रचुर हैं।[1] इस ग्रंथ में छप्पय के लिए 'कवित्त' शब्द प्रयुक्त हुआ है। काव्य के अर्द्धांश का उदाहरण देखिए—

जय किसोर प्रथिराज रम्य हा रम्य प्रकार ।
मेत पष्य जिय चंद कला उहित तन मारं॥[2]

इन पंक्तियों में से प्रत्येक में गणविधान ६+४+४+४+६ चरितार्थ है। यति ११वीं अथवा १४वीं मात्रा पर मानी जा सकती है।

इस छंद के मुक्तक प्रगाथेतर प्रयोग को इस ग्रंथ में रोला कहा है।[3]

विद्यापति ने भी कीर्तिलता में प्रगाथ छप्पय के अंगरूप में काव्य-छंद का प्रयोग किया है।[4]

मध्यकालीन हिंदी के अंतर्गत संतकाव्य मे न तो छप्पय छंद लोकप्रिय रहा, न काव्य-छंद; क्योंकि काव्य अथवा उल्लाला की लय शांत रस के प्रसंगानुकूल नहीं। संतों की पद-शैली से इन छंदों की प्रकृति मेल नही खाती। संतों में अपेक्षाकृत अधिक परिनिष्ठित रुचि रखनेवाले सुंदरदास ने अवश्य रोला छंद का प्रयोग छप्पय[5] तथा कुंडलिया[6] के अंगरूप में ही नहीं, स्वतंत्र रूप में[7] भी किया है। स्वतंत्र प्रयोग के उदाहरण का अर्द्धांश इस प्रकार है—

१. छप्पय—संक्षिप्त पृथ्वीराजरासो, पृ० १३, १५, २३, २९, ८०, १२० आदि।
कुंडलिया—संक्षिप्त पृथ्वीराजरासो, पृ० २८, ६६, ८८, १०८, १११, १२२, १२६, १२९ आदि।
२. चंद: पृथ्वीराजरासो, पृ० ५७।
३. वही, पृ० ९३।
४. विद्यापति: कीर्तिलता (ना० प्र० सभा, काशी), पृ० १०।
५. सुंदरदास: सुंदरसार। (हि० प्रे०, प्रयाग), पृ० १, ४, ६, १७, १९, २१ आदि।
६. वही, पृ० ९, २३, ३३, ९९ आदि।
७. वही, पृ० ५।

अहंकार नहि लेश महान सबनि मुख दिज्जय।
ISSI II SI ISI III II SII

शिष्य परष्य विचारि जगत महि मो गुरु किज्जय॥
SI III ISI III II SII SII

प्रति पाद मे गणविधान ६+४+४+४+६ चरितार्थ है, किंतु मध्यगण जगण या सर्व-लघु अनिवार्यतः नही है।

इसी प्रकार अपवाद रूप मे रोला-प्रयोग कुडलिया के अगरूप मे संत हरिदास निरजनी (१७वी शती) ने किया है।[1] प्रेमाख्यानक काव्य मे कडवकविधान के लिए भी काव्यछंद प्रायः प्रयुक्त नही दिखाई देता।

कृष्णकाव्य मे अवश्य ही काव्य या रोला छंद के विविध प्रयोगो के उदाहरण मिलते है। सूरसागर में काव्यछंद का अन्य छदो के साथ सयोग द्वारा विभिन्न प्रगाथिक छंदों की मौलिक सृष्टि हुई है। चाद्रायण (११+१०)[2] तथा काव्य के योग के उपरात १० मात्राओ का पाद टेक के रूप मे देकर सप्तपदी प्रगाथ की सृष्टि की गई है।[3] इसी पद्य के अदर काव्य के दो पादो तथा दोहा के चार पादो के उपरात १० मात्राओ के पाद को रखकर भी सप्तपदी प्रगाथ रचित हुआ है।[4] ठीक इस द्वितीय प्रगाथ-शैली मे नददास का प्राय सपूर्ण भँवरगीत रचित है।[5] नददास ने इस विधान की प्रेरणा सूर-दास से ग्रहण की हो, तो आश्चर्य नही। नददास के काव्य मे ही इस विधान का एक अनुच्छेद देखिए—

जो मुख नाहिन हुतो कहो किन माखन खायो?
पायन बिन गोसग कहो को बन बन धायो?

आँखिन मे अंजन दियो, गोबरधन लियो हाथ।
नंदजसोदा पूत है कुवर कान्ह ब्रजनाथ॥
सखा सुनि स्याम के॥[6]

केवल दोहा के साथ काव्य (रोला)-छद का अनुक्रम सूर के अनेक पद्यो मे दृष्टिगत है।[7] काव्य या रोला का स्वतंत्र प्रयोग सूरदास ने कम, नददास ने अधिक किया है।

१. संतकाव्य (सं० परशुराम चतुर्वेदी), पृ० ३२६।
२. छं० प्र०, पृ० ५८।
३. सूरदास: सूरसागर, पद्य २२३६, प्रथम अनुच्छेद।
४. वही, पद्य २२३६, द्वितीय अनुच्छेद।
५. नंददास: भँवरगीत; नंददास-ग्रंथावली (ना० प्र० सभा, काशी), पृ० १७३।
६. वही, १०, पृ० १७५।
७. सूरदास: सूरसागर, पद्य ४५८, पृ० १९०; पद्य १७९३, पृ० ६६४, पद्य ४८०६, पृ० १६६२ आदि।

नंददास के ग्रंथ [illegible] [illegible]सिद्धांत-पंचाध्यायी तथा रुक्मिणीमंगल पूर्णतया रोला-निबद्ध हैं।[1]

घनानंद ने रोला का [illegible] छप्पय के अंगरूप में ही किया है।[2] रामकाव्य के अंतर्गत तुलसीदास ने [illegible] में छप्पय के अंगरूप में रोला का प्रयोग किया है।[3] केशवदास की रामचंद्रिका में छप्पय और कुंडलिया के अंग-रूप में तथा स्वतंत्र रूप में भी रोला प्रयुक्त है।[4]

१७वीं शती के बाद रोला-प्रयोग

उत्तर-मध्यकालीन [illegible] में रोला छप्पय तथा कुंडलिया के अंगरूप में ही अधिकतर प्रयुक्त होता रहा [illegible] कवित्त और सवैया के सामने अधिक लोकप्रिय नहीं रह सका। [illegible] कवियों ने छप्पय को प्राश्रय दिया[7], जबकि दीन दरवेश [illegible]।[8] आधुनिक काल में भारतेंदु ने रोला को अत्यधिक सम्मान प्रदान [illegible] के अतिरिक्त उसका प्रगाथेतर[10] प्रयोग भी किया। [illegible] यह प्रिय छंद नहीं रहा, किंतु छायावाद तथा प्रगतिवाद के [illegible] अनेक संस्कार किया। पंत ने समास-बहुला तत्सम-शैली में [illegible] भंगिमा प्रदान की।[11]

काव्य (रोला)-संबंधी सामान्य निष्कर्ष

१. [illegible] विकसित नहीं, वरन् लोक-प्रचलित [illegible] छंद है [illegible] वर्ण-संगीत के संस्कारों से अभिव्यक्त [illegible] प्रभाव पड़ा है।

२. [illegible] हेमचंद्र ने [illegible] के रूप में किया तथा [illegible] के काव्य में मिलता है। इससे विदित [illegible] कहा जा सकता है कि चतु-[illegible] छंद के पाद-परिवर्तन द्वारा उत्पन्न है। दोनों छंदों के [illegible] है।

१. नंददास : ग्रंथावली, पृ० १, ३४ तथा २००।
२. घनानंद : ग्रंथावली, सुजानहित, २८५, २८६, ४३५; कृपाकंद ४९; प्रेमपत्रिका, ५४।
३. तुलसीदास : तुलसीग्रंथावली (ना० प्र० सभा), कवितावली, बालकांड, ११; लंका-कांड, ४७, उत्तरकांड, ११०।१४९-१५२; हनुमानबाहुक, १, २।
४. केशवदास : रामचंद्रिका, १।२४; ६।८; ७।४२; १९।५१ आदि।
५. वही, १।४७, ३।८, ७।२०; १३।२८ आदि।
६. वही, १।२२, १।४८ आदि।
७. भूषण : ग्रंथावली; शिवराजभूषण (प्र० हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग), ६१, ६२ आदि।
८. दीन दरवेश : सूफीकाव्यसंग्रह (प्र० हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग), पृ० २२०।
९. भारतेंदु हरिश्चंद्र : ग्रंथावली, यमुनावर्णन।
१०. भारतेंदु हरिश्चंद्र : भारतदुर्दशा, प्रथम गीत।
११. पंत : युगवाणी, पृ० ४६, ५४, ९२, ९३ आदि।

३ म छद का रूप आरभ मे गणबद्ध रहा है, बाद मे प्रयत्न-शैथिल्य या शब्द-सकट के प्रभावस्वरूप गणमुक्त रूप प्रचलित हुआ। इसकी प्रारभिक गणबद्धता इसके ताल-सागीतिक इतिहास की ओर सकेत करती है।

४ इस छद की पादगत यति आरभ मे १४वी मात्रा पर, किंतु बाद मे ११वी मात्रा पर दृष्टिगत होती है। मध्यगण जगण होने की दशा मे दोनो स्थानो पर यति सभव है।

५ काव्य या रोला छद का प्रयोग मध्यकालीन हिंदी-काव्य मे अधिकतर प्रगाथ छप्पय तथा कुडलिया के अगरूप मे हुआ है, यद्यपि अन्य प्रगाथो के लिए भी इसका उपयोग सूरदास प्रभृति अधिक समर्थ कवियो ने किया है। स्वतत्र प्रयोग की दृष्टि से काव्य या रोला को आदिकाल के बाद आधुनिक काल मे ही थोडा-बहुत महत्त्व मिल सका।

६ यद्यपि रोला काव्य के बीच विविध विषयो के लिए प्रयुक्त हुआ है, फिर फिर भी इस छद का अधिक प्रयोग वीर या शृगार-सबधी प्रसगो मे ही हुआ है। प्रगाथ छप्पय के अगरूप मे तो अधिकाशत वीर-रस के प्रसगो मे ही यह उपलब्ध है। शृगारिक प्रसगो के लिए तथा भक्ति-काव्य के बीच दोहा के साथ काव्य के अनुक्रम-वैविध्य द्वारा अपेक्षाकृत अधिक आकर्षक प्रगाथ-छदो की सृष्टि भी की गई है।

७ भाषा की दृष्टि से अवधी-क्षेत्र मे हम इस छद को लोकप्रिय बिलकुल नही देखते। व्रजभाषा-काव्य के बीच अवश्य यह छद लोकप्रिय दिखाई देता है। अपभ्रश और डिगल मे तो इसका ओर भी अधिक प्रयोग मिलता है।

प्रकरण ४
चउपइया-त्रिभंगी-वर्ग

पादांतर्गत तुक के साथ दो यतिवाले छंदों का छंदःशास्त्रीय उल्लेख

इस वर्ग के छंदों का उल्लेख स्वयंभू, छंदःशास्त्रकार पिंगल, जयदेव, जयकीर्ति अथवा केदार ने नहीं किया है। हेमचंद्र ने भी इस वर्ग के छंदों का स्पष्ट लक्षणनिर्देश नहीं किया। उनके छंदोऽनुशासन में चतुष्पदी और त्रिभंगिका नाम इस वर्ग के विशिष्ट छंदों के बोधक नहीं।[1] विरहांक के चतुष्पद तथा त्रिफलक भी भिन्न छंद हैं।[2]

यह अवश्य है कि इस वर्ग के चतुष्पदी छंदों का मूल घत्ता, छड्डुणिका आदि द्विपदी छंदों में खोजा जा सकता है। घत्ता का स्वयंभू ने षट्पदी माना है और उसका लक्षण घत्ता के समान (१०, ८, १३) बताया है।[3]

किंतु चार पादवाले छंद का रूप में जिसके प्रतिपाद के अंतर्गत तुक के साथ दो या अधिक बार यति का विधान हो किसी छंद का उल्लेख प्राकृतपैंगलम् के पूर्व नहीं मिलता। आश्चर्य है कि प्राकृतपैंगलम् में एक साथ ऐसे कई छंदों का उल्लेख आ गया है। ये हैं चउपइया (१०, ८, १२),[4] मरहट्ठा (१०, ८, ११),[5] मदनगृह (१०, ८, १४, ८),[6] पद्मावती (१०, ८, १४),[7] दंडकला,[8] त्रिभंगी,[9] दुर्मिला,[10] जलहरण[11] और लीलावती।[12] पिछले छह छंदों में प्रत्येक का मात्राविधान १०, ८, १४ है। इस वर्ग के छंदों को वेलणकर ने द्वादशपदी अथवा षोडशपदी मानने की चर्चा की है, किंतु हम उनकी युक्तियों का खंडन कर यह दिखला आए हैं कि इन्हें चतुष्पदी कहना ही अधिक उचित है।[13] इन छंदों में परस्पर अंतर यह है कि पद्मावती में पादांतर्गत तुक नहीं होता, किंतु पादगत आठ चतुर्मात्रिक गणों में सर्वत्र जगण निषिद्ध होता है, दंडकला में पादांतर्गत यति का निर्देश नहीं, त्रिभंगी और दुर्मिला में यति और यमक (तुक) दोनों निर्दिष्ट हैं, जलहरण में यति का निर्देश तो है यमक नहीं, लीलावती में यति या यमक का निर्देश तो नहीं, किंतु यति स्पष्टतया अभिप्रेत है। जलहरण में सभी वर्ण लघु होते हैं, जबकि त्रिभंगी

१. हे० छं०, ६।२०; ४।८८।
२. वृ० जा० स०, ४।६९; ४।४३-४५।
३. स्वयं०, ८।२०-२१ तथा दे० अ० ५, प्रा० ४, घत्ता।
४. प्रा० पैं०, १।९७ (तुलना, छ० को० ४५)।
५. वही, १।२०८।
६. वही, १।२०५।
७. वही, १।१४४; छ० को० ५०।
८. प्रा० पैं०, १।१७९।
९. वही, १।१९४।
१०. वही, १।१९६।
११. वही, १।२०२।
१२. प्रा० पैं०, १।१८९।
१३. दे० अ० ४, प्र० २।

में जगण निषिद्ध है तथा यति तीन स्थलों पर १०, ८, ८, ६ के अनुसार प्रतीत होती है। तीनों यतिस्थान यमकयुक्त होते हैं।

हिंदी-लक्षणकारों में भानु ने मरहट्ठा माधवी (११, ८, १० अंत ।ऽ)[1] का उल्लेख किया है। चउपइया के लिए रामसहाय ने वैकल्पिक नाम [illegible] दिया है तथा इसके प्रति पाद में ७ चतुष्कल गुरु का विधान किया है।[2] जानी बिहारीलाल ने इसमें पादांत दो गुरु का निर्देश किया है।[3] त्रिभंगी से मिलता-जुलता छंद [illegible] (१०, ८, ८, ६, अंत ऽ)[4] है, जिसमें त्रिभंगी के विपरीत जगण का [illegible], जो वीररस के प्रसंगों के लिए उचित है। रामसहाय ने त्रिभंगी का गणविधान १०, ८, ८, ६ कहा है।[5] सुखदेव मिश्र ने दंडकला का गणविधान [illegible] निर्दिष्ट किया है।[6] गुजराती छंदोग्रंथ 'बृहत् पिंगल' में [illegible], पद्मावती, त्रिभंगी और दुर्मिला की पादगत ३२ मात्राओं को आठ चतुर्मात्रिक मात्रागणों में विभक्त माना है।

प्रारंभिक प्रयोग

काव्यप्रयोग के बीच पादांतगत दो स्थानों पर [illegible] तीन स्थानों पर परस्पर तुक से युक्त छंदों की परंपरा भी उतनी ही पुरानी है जितनी अपभ्रंश के अन्य अधिकांश प्रमुख छंदों की। अपभ्रंश में लिखनेवाले प्राचीनतम [illegible] सरहपा के दोहाकोश में एक स्थान पर ऐसा एक छंद आया है[7]—

घरवइ खज्जइ सहजे [illegible]।
।।।। ऽ ।। ।।ऽ ऽ।। [illegible]
णिअ [illegible] बइट्ठी [illegible]॥
।। ऽ। ।ऽऽ ऽऽ ऽऽ [illegible]
खज्जइ पिज्जइ [illegible]।
ऽ।। ऽ।। । ऽ। [illegible]
मणुवाहिरं [illegible]॥
।।ऽऽऽ ऽऽ।।ऽ ।।।। [illegible]

इन पंक्तियों के छंदोनिर्धारण में प्रतीत होता है [illegible] ८, ८, ११ के हिसाब से २७ मात्राओं का है, किंतु द्वितीय पाद के आरंभ में दो मात्राएँ अधिक तथा तृतीय पाद के अंतिम खंड में दो मात्राएँ कम हैं। द्वितीय पाद में मरहट्ठा छंद[8] का लक्षण घटित होता है। किंतु सामान्य रूप से पाद-रचना ८, ८, ११ की कही जायगा। सभी पादों में अंत ऽ। आया है। २७ मात्राओं के पाद के [illegible] (१६।

१. छं० प्र०, पृ० ७१।
२. रा० वृ० त०, २।१३५, पृ० ३९।
३. जा० छं०, २।१।१८७।
४. सु० पिं० १९९; अ० छं०, पृ० ५४; छं० प्र०, पृ० ७५।
५. रा० वृ० त०, २।१४८-१५३, पृ० ४०।
६. सु० पिं० २२२।
७. सरहपा : दोहाकोश, ८५-८६। (सं० डॉ० प्रबोधचंद्र बागची, J.D.L., C.U.), पृ० २०।
८. प्रा० पैं०, १।२०८।

११, अंत SI)[1] का लक्षण इस सामान्य पाद-लक्षण (प्रथम और अंतिम पाद) के समान है। सरसी छंद को कबीर भी कहते हैं, संभवतः इसलिए कि कबीर ने इस ढंग के छंदों का उपयोग अपनी खंडनमंडनात्मक उक्तियों के लिए किया था। निश्चय ही, कबीर ने अन्य बहुत-सी बातों की तरह यह छंद भी सरहपा आदि सिद्धों की परंपरा से पाया होगा। सरहपा का पादांतर्गत यति-स्थानों पर तुक इस बात की ओर संकेत करता है कि यह छंद लोककाव्य की देन है और तालबद्ध नृत्य-संगीतादि के लिए दीर्घकाल से प्रयुक्त रहा होगा। पादान्तर्गत यति-स्थानों पर तुक-योजना ताल-संगीत का स्थानापन्न नहीं, उसका पूरक या सहायक है।

स्वयंभू के पउमचरिउ (रामायण) में चार पादवाले चउपइया छंद (१०+८+१२=३० मात्राएं प्रतिपाद) का प्रयोग यत्नार्थ द्विपदी-रूप में हुआ है—

फेणावलि वंकिय- वलयालंकिय, ण महि बहुअहेनणिया।
SSII SII IISSII S II IIIIIIS
जलणिहि भत्तारहो, मोत्तिय हारहो, बाह पसारिय दाहिणिया॥[2]
IIII SSII S II SII IIIIIII SIIS

उक्त उदाहरण में कई दीर्घ वर्णों (हे, हो, वा, मा) का लघु उच्चारण अपेक्षित है। इस प्रकार का उच्चारण-स्वातंत्र्य अपभ्रंश में सदा से मान्य रहा है।

गोरखनाथ-रचित इन पंक्तियों में भी उच्चारण की यह स्वच्छंदता छंदःसौष्ठव के आग्रह में अपनाई गई है—

हबकि न बोलिबा, ठबकि न चालिबा, धीरे धोबा पाव।
IIII IIS IIIIII S SS SS SI
गरब न करिबा सहजै रहिबा भणत गोरख राव॥[4]
IIII IIS IIS IIS IIS SII SI

प्रथम पाद में 'बो' और 'ला' का लघु उच्चारण तथा द्वितीय पाद में 'त' का गुरु उच्चारण छंदोरक्षा के लिए अभीष्ट है। इस छंद में भी सरहपा के पूर्वोद्धृत पद्य के समान प्रतिपाद में ८+८+११ मात्राएँ हैं, किन्तु छंद दो पादों में ही समाप्त हो जाता है। सरसी या कबीर छंद[5] का यह द्विपदी रूप है, जिसमें पादांतर्गत १६वीं मात्रा पर यति के अतिरिक्त ८वीं पर भी यति तथा पादान्तर्गत तुक नियोजित है।

धनपाल के ग्रंथ भविसयत्तकहा में मरहट्ठा छंद (१०+८+११; गणविधान—६+४+ ४+४+४+४+SI)[6] तीसरी संधि में प्रयुक्त है।[7] पदों की परीक्षा करने पर यति-स्थान के पूर्व भी SI का विधान दृष्टिगत होता है।

१. छं० प्र०, पृ० ६८।
२. प्रा० पैं० १।९७।
३. स्वयंभू : पउमचरिउ, ३१।३ (हिं० का० धा०, पृ० ४०)।
४. गोरखनाथ : गोरखबानी (सं० पी० द० बड़थ्वाल, हिं०सा० सम्मेलन, प्रयाग), ११।२७।
५. छं० प्र०, पृ० ६८।
६. प्रा० पैं०, १।२०८-२०९।
७. धनपाल : भविसयत्त-कहा ३।२४

इस ग्रंथ की तेरहवीं संधि की कुछ पंक्तियों का छंदोविधान मरहट्ठा से मिलता-जुलता है।[1] इसमें प्रतिपाद १०+८+१२+३० मात्राएँ हैं, अर्थात् मरहट्ठा से एक मात्रा प्रत्येक पाद में अधिक है। इसकी लय मरहट्ठा के समान ही है। जैकोबी ने इसे हेमचंद्र के आधार पर गीतिसम कहा है।[2] इसकी लय और यतिविधान प्राकृतपैंगलम् के चउपइया छंद के समान है।[3]

नीचे दोनों छंदों के उदाहरण दिये जाते हैं—

मरहट्ठा—

तह्रि घणतरुममीवि मयणायदीवि हिंडंति ते वणिद।
।। ।।।।।ऽ। ।।ऽ।ऽ। ऽऽ । ऽ । ऽ।

इरुज्झियपमाय परिमुक्कचाय चक्कलियगीढविंद ॥
ऽऽ ।।।।ऽ। ।।ऽ । ऽ । ऽ । ।।ऽ।ऽ।

वरतणुकुसुमगंध परिमलसुयंध मयरंदमीसियाई।
।।।।।।।ऽ। ।।।।।ऽ। ।।ऽ।ऽ।ऽ।

कत्थई मणहराई किसलयहराईं दलवहलपत्तलाइं ॥[4]
ऽ।।।।।ऽ। ।।।।।ऽ। ।।।।।ऽ ।ऽ।

उक्त पंक्तियों में प्रतिपाद ६+४/+४+४/+४+४+ऽ। का गणविधान चरितार्थ है। १०वीं, १८वीं मात्राओं पर यति तथा यति-स्थान के पूर्व ऽ। सर्वत्र दिखाई देता है। पादांतर्गत यति-स्थानों पर तुक मिलते हैं।

गीतिसम या चउपइया—

केणवि अणिउत्तिं चंचलधुत्तिं सन्नियमाय महासइ।
ऽ।। ।।ऽ ऽ ऽ।।ऽऽ ऽ।।ऽ। ।ऽ।।
न कहिव्वउ पइपुत्तहो सवजणसुत्तहो तोरि वसिव्वउ मई बासइ ॥
। ।।।। ।।ऽ।। ।।।ऽ।। । । ।।।। ।। ऽ।।
हउँ सुट्ठु वियक्खणु बुज्झमि लक्खण अन्नमहिल न मो रुच्चइ।
।। ऽ। ।ऽ।। ऽ। । ऽ। । ऽ।।। । । ऽ।।
पिय हियइँ धरेप्पिणु तुम्हि करेविणु उत्तरु किंपि न वुच्चइ ॥[5]
।। ।।। ।ऽ।। ऽ । ।ऽ।। ऽ।। ऽ। ।ऽ।।

१. वही, १३।८, पंक्तियाँ ३ से १० तक।
२. गुणे: भविसयत्तकहा, भूमिका, पृ० ३१।
३. प्रा० पैं०, १।९७।
४. धनवाल: भविसयत्तक.।, ३।२४।
५. वही, १३।८।३-६।

उक्त उदाहरण में प्रतिपाद १०, ८, १२ मात्राएँ हैं। १०वीं और १८वीं मात्राओं पर सानुप्रास यति है। पादांत ऽ।। सभी पादों में आया है। चउपइया के लक्षण में प्राकृत-पैंगलम् में पादांत गुरु तथा उसके पूर्व सात चतुर्मात्रिक गणों का विधान है। प्रस्तुत उदाहरण में प्रति पाद सात चतुर्मात्रिक गण हैं तथा एक गुरु के स्थान में दो लघु वर्ण आये हैं।

पादांतर्गत दो यति तथा तुकवाले कम-से-कम पाँच छंदों का प्रयोग पुष्पदंत की कड़वकबद्ध रचनाओं में मिलता है। एक तो घत्ता नामक द्विपदी छंद ही है[1], जिसकी चर्चा द्विपदी-प्रकरण में हम कर आये हैं। दूसरा छंद है चतुष्पदी त्रिभंगी, जिसके दो पादों का उपयोग घत्ता के रूप में हुआ है। उदाहरण—

णंदणहिं णायरहिं विब्भमगामहिं सरवरकमलहिं लच्छि-सही।
गलकल केक्कारहिं हंसहिं मोरहिं मंडिय जेत्थु सहाइ मही॥[2]

उक्त उदाहरण में प्रतिपाद १०, ८, १४, ३२ के हिसाब से यति है तथा यति-स्थानों पर परस्पर तुक मिलते हैं। ३२ मात्राओं के पाद का ही एक अन्य छंद भी पुष्पदंत ने प्रयुक्त किया है, जिसमें यति १२, ८, १२ के हिसाब से है—

जगमण तिमिरोसारण मयणुक्क वारण णियकुलगअणदिवायर।
भोभो केसव तणुरुह णवसररुहमुह कव्वरयणरयणायर॥[3]

इस द्विपदी छंद को कविदर्पणकार ने घत्ता का एक भेद कहा है।[4] इसकी चर्चा हम द्विपदी प्रसंग में कर आये हैं। एक अन्य छंद में पादगत २४ मात्राएं ८+८+८ के हिसाब से विभक्त हैं, पादांतर्गत परस्पर तुक द्वितीय-तृतीय (पादांत) यति-स्थानों पर मिलते हैं तथा इस छंद का प्रयोग घत्ता के रूप में न होकर कड़वक के मुख्य छंद के रूप में हुआ है। यह चतुष्पदी छंद है—

सुरसरिसरि भरिहि देहलिय भरिवि गइसरणु करिवि।
पुव्वावरेंणु परिसंठियाइं धरदिट्ठियाइं॥
वेयड्ढ गिरिहि ओलंबियाइं गुणणिलयाइं।
कंडाइं भेयणमंडाइं ताइं सोमाहियाइं॥[5]

इस छंद में वस्तुवदनक या काव्य का गणविधान चरितार्थ हो जाता है, किंतु यति-स्थान और तुक-विधान भिन्न हैं। रोला में भी यति केवल ११वीं मात्रा पर होती है। अमृतध्वनि छंद के चतुर्विंशमात्रिक चार पादों में अवश्य तुक के साथ ८-८ मात्राओं पर पादांतर्गत यति होती है, किंतु अमृतध्वनि में प्रत्येक अष्टमात्रिक इकाई की प्रथम मात्रा बलाघातपूर्ण होती है, प्रस्तुत उदाहरण में प्रत्येक अष्टमात्रिक इकाई की तृतीय मात्रा बलाघातपूर्ण है, जिससे भिन्न लय की उद्भावना होती है। छंदःशास्त्र के प्रमुख ग्रंथों में इस प्रकार के किसी छंद का वर्णन नहीं मिलता। असल में समर्थ कवि छंदोरचना के

---

१. पुष्पदंत: जसहरचरिउ, पृ० ४-५।
२. वही, २०, पृ० १७।
३. पुष्पदंत: आदिपुराण (महापुराण), पृ० ५-६।
४. क० द०, २।२९-३३।
५. पुष्पदंत: आदिपुराण, पृ० २३१ (हिं० का० धा०, पृ० १८८)।

लिए छंदःशास्त्र का मुँह नहीं जोहते। वे अपनी संगीत-प्रतिभा और कल्पनाशक्ति के सहारे नवीन छंदों की आवश्यकतानुसार उद्भावना कर लेते है। पुष्पदंत का छंदोवैचित्र्य और उन छंदों में संगीत-सौष्ठव इस दिशा में उनकी क्षमताओं के द्योतक हैं। यह भी ध्यातव्य है कि उपर्युक्त तीनों छंद अष्टमात्रिक तालगणों के सहारे गेय हैं।

इस कोटि का पुष्पदंत का पाँचवाँ छंद है चउपइया, जिसके दो पादों का घत्तार्थ प्रयोग हुआ है—

जो तिल-कप्पासइं दव्वविसेसइँ हुणिवि देवगह पीणइ।
पसु-जीव ण मारइ मारय बारइ परु अप्पुवि समुजाणइ ॥[1]

उक्त प्रति पाद में १०+८+१२ के हिसाब से ३० मात्राएँ आई हैं। यह छंद भी अष्टमात्रिक तालगण में गेय है।

संदेशरासक (८५) में अगले दो पद्यो को 'चउपइया' कहा है। किन्तु ये पद्य रासा छंद से भिन्न नहीं।[2] प्राकृतपैंगलम् के चउपइया छंद से इन दो पद्यों का कोई संबंध नहीं।

संदेशरासक के पद्य २२ तथा २३ को डोमिलय या डुमिला में निबद्ध कहा गया है। इन पद्यों में से प्रत्येक में केवल दो पाद हैं। ये पाद दुर्मिला छंद के पाद के सर्वथा समान हैं—

अणुराइयरयिहरु कामिय-मणहरु मयण मणह-पह-दीवयरो।
। । S । । । । । । S । । । । । । । । । । । । । । S । । S
विरहिणिमइरद्धउ सुणहु विसुद्धउ रसियह रस-संजीवयरो ॥
। । । । । । S । । । । । । S । । । । । । । । S S । । S
अइणेहिण भासिउ रइमइवासिउ सवणसकुलियह अमिय सरो।
। । S । । S । । । । । । S । । । । । । । । । । । । । । S
लइ लिहइ विअक्खणु अत्थह लक्खणु, सुरइ-स गिजुविअड्ढ-नरो ॥[3]
। । । । । । S । । S । । S । । । । । । S । । । S । । ।

प्रतिपाद में १०+८+१४ के हिसाब से यति-विधान है तथा १०वीं एवं १८वीं मात्राओं के उपरांत यतिस्थानों पर परस्पर तुक या यमक है। अतएव, इन चारों पादों को मिलाकर हम इसे चतुष्पदी दुर्मिला छंद का एक पद्य मान सकते हैं।

संदेशरासक की भूमिका में उक्त उदाहरण को दुर्मिला छंद मानने में इसलिए संकोच किया गया है कि प्रत्येक पद्य में दो ही पाद हैं, चार नहीं। साथ ही द्विपदी घत्ता के साथ उक्त पादों की लक्षण-ऐक्य-सिद्धि के उद्देश्य से पादांत गुरु को लघु मान लेने की अनावश्यक चेष्टा की गई है। किन्तु, उक्त उदाहरण में घत्ता नहीं, दुर्मिला ही है, यह स्वयं संदेशरासक की टिप्पणक-रूपा व्याख्या में भी उल्लिखित है। उक्त उदाहरण के चारों पाद ग्रंथ में एक स्थल पर होने के कारण एक साथ भी पढ़े जा सकते हैं। इसलिए, यहाँ दुर्मिला छंद मानने में कोई खास बाधा नहीं।

---

१. पुष्पदंत: उत्तरपुराण (महापुराण), पृ० ३०९-१०; (हिं० का० धा०, पृ० २१४)।
२. हे० छं० ५।१६, २६; वृ० जा० स०, ४।३७ तथा ४।८४।
३. अब्दुर्रहमान: संदेशरासक, २२-२३।

बब्बर (समय—११६७ वि०)[1] की स्फुट रचनाओं में दुर्मिला छंद का लघु गुरुनियत-क्रम-स्वरूप देखने को मिलता है। उदाहरण—

सिअ विट्ठी किज्जइ जीआ लिज्जइ, बाला वुड्ढा कंपंता।
I I S S S I I S S S I I S S S S S S S
वाअइ पच्छा वाअइ लग्गे काआ सव्वा सीसा झंपंता॥
I I S S S I I S S S I I S S S S S S S
जइ जड्डा रूसइ चित्ता हासइ, पेट्टे अग्गी थप्पीआ।
I I S S S I I S S S I I S S S S S S S
कर पाआ सव्वा किज्जे भित्तरि, अप्पा अप्पी लुक्कीआ॥[2]
I I S S S I I S S S I I S S S S S S S

द्रष्टव्य है कि उक्त उदाहरण में प्रति पाद १० ८ : १४ मात्राएं, यतिस्थान तथा तुक-योजना मात्रिक छंद त्रिभंगी के विधानानुकूल है। किन्तु प्रतिपाद में लघुगुरु का क्रम तथा संख्या सर्वथा निश्चित होने के कारण यह छंद वस्तुतः वर्णवृत्त हो जाता है। प्राकृत-पैंगलम् में उक्त पंक्तियों को 'शंभु' नामक वर्णवृत्त के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया गया है।[3] शंभु-छंद का लक्षण यह दिया गया है कि उसके पाद के प्रथम खंड में हस्त (IIS) कर्ण (SS) सुप्रिय (II) अंतिम खंड में सप्तहार (SSSSSSS) तथा मध्य में हार (S) कर्ण (SS) सुप्रिय (II) होते हैं, अर्थात् कुल पादगत ३२ मात्राएं होती हैं।[4] यह लक्षण उक्त उदाहरण के ऊपर पूर्णतः चरितार्थ है। एक दृष्टि से वार्णिक संभु-छंद को मात्रिक दुर्मिला का एक भेद माना जा सकता है, क्योंकि दुर्मिला के अनेक प्रस्तार-भेदों में एक यह भेद भी है। स्वयं दुर्मिला नामक वर्णवृत्त[5] भी इन भेदों में एक है।

कनकामर मुनि के करकंडचरिउ का यह पद अवश्य दुर्मिला छंद का स्पष्ट उदाहरण है, किन्तु यहां यह छंद मात्रार्थ द्विपदी-रूप में प्रयुक्त है—

[illegible] [illegible]-तण-पुण्णइं, अत्थि णयरि गुमनो-हरिया।
I I I S I I I I I I S I I S I I I I I I I I I S
[illegible] [illegible] मारी, [illegible] गुण-भरिया॥[6]
I I I I I I S S I I I I S S S S S I I I I I I S

पादांतर्गत तुक के साथ दो या अधिक यति-स्थानवाले चतुष्पदी छंदों की उत्पत्ति

इस वर्ग के चतुष्पदी छंदों का उल्लेख पिंगल, जयदेव जयकीर्ति, केदार तथा हेमचंद्र ने नहीं किया है, इससे स्पष्ट है कि ये छंद संस्कृत वर्णवृत्त-परंपरा से संबद्ध नहीं, वरन् लोक-प्रचलित गान-संगीत की देन हैं। इन छंदों का प्रथमोल्लेख प्राकृतपैंगलम् में मिलता है,

१. राहुल: हिं० का० धा०, पृ० ३१४।
२. वही।
३. प्रा० पैं०, २।१९५।
४. वही, २।१९४।
५. वही, २।२०८।
६. कनकामर मुनि: करकंडचरिउ (करंजा जैनग्रंथमाला, बरार), पृ० ४।

इसके पूर्व नहीं। इस बात से यह नहीं समझना चाहिए कि ये छंद बहुत बाद में प्रवर्त्तित हुए; क्योंकि काव्य के बीच इनका प्रयोग उसी प्रकार सरहपा के युग से ही उपलब्ध होने लगता है, जिस प्रकार दोहा-चौपाई-काव्य आदि का।

इसके अतिरिक्त इसी प्रकृति का द्विपदी छंद घत्ता हेमचंद्र के पूर्व स्वयंभू आदि द्वारा ९वीं शती तक उल्लिखित हो चुका है। घत्ता में भी पादांतर्गत तुक के साथ दो यति का विधान है; संभवतः उसका प्रचलन कड़वक-रचना के भीतर छंदोगत संगीत की एकरसता दूर करने अथवा कड़वकांत में छंदः परिवर्त्तन द्वारा वैविध्य की उद्भावना के उद्देश्य से हुआ था। हम यह तो नहीं कह सकते कि प्रस्तुत चतुष्पदी छंद घत्ता के परवर्त्ती विकसित रूप ही हैं, लेकिन यह अवश्य कहा जा सकता है कि घत्ता की तरह ही इन छंदों की व्युत्पत्ति भी मानी जा सकती है। पादांतर्गत दो यतिस्थानों से ऐसा प्रतीत होता है कि चतुष्पदी, मरहट्ठा, त्रिभंगी, दुर्मिला, मदनाहर आदि छंद किसी ऐसे ताल-छंद से व्युत्पन्न हैं, जो तालयुक्त नृत्यगीत में प्रयुक्त रहा होगा। जब इस ताल-छंद के विविध रूप में मात्रिक संस्कार हुए, तब स्वभावतः इनके तालसांगीतिक माधुर्य का थोड़ा ह्रास हुआ। इसकी क्षतिपूर्त्ति के रूप में ही मानों पादांतर्गत यतिस्थानों पर तुक या यमक की योजना हुई। इन छंदों में से कई का घत्तार्थ द्विपदी रूप में प्रयोग भी हुआ ही है।

'चउपइया' शब्द संस्कृत 'चतुष्पदिका' से व्युत्पन्न है और इस बात का सूचक है कि यह छंद घत्ता की तरह दो-पादवाला नहीं, वरन् चार-पादवाला है। 'तिभंगी' (=त्रिभंगी) शब्द द्वारा इस छंद की तीन भंगिमाओं अथवा पादांतर्गत १०+८+८+६ के अनुसार तीन यतिस्थानों की सूचना मिलती है। 'मरहट्ठा' शब्द संभवतः इस बात का सूचक है कि यह छंद महाराष्ट्र में विकसित हुआ, जैसे सोरठा' छंद का नाम उसके सौराष्ट्र से संबंध का द्योतक कहा जाता है। प्राकृतपैंगलम् के वृत्तिकार ने इस छंद के लिए संस्कृत 'महाराष्ट्र' शब्द का प्रयोग किया है। मराठी छंदों मे सभी पादांतर्गत तुक के साथ दो यति-योजना की प्रवृत्ति वर्त्तमान है।[1] आदिकालीन तथा मध्यकालीन परिनिष्ठित हिंदी-काव्य में इस वर्ग के छंदों का प्रयोग दोहा-चौपाई-रोला की तरह विधि और व्यापक नहीं था, अतएव लक्षणकारों ने इन्हें देर से स्वीकृति दी। किंतु, इस वर्ग के छंदों का आकर्षण मध्यकाल में उत्तरोत्तर बढ़ता गया है, जिसके फलस्वरूप हिंदी के लक्षणकारों में से अधिकांश ने इन्हें उचित मान्यता प्रदान की है।

घत्ता छंद की तरह इन छंदों का उपयोग भी प्रबंधकाव्यों या चरितकाव्यों में ही अधिकांशतः हुआ है। कभी-कभी मुक्तक रूप में भी इनके प्रयोग मिलते हैं। किंतु गेय पदों तथा प्रगाथों के लिए, अपनी नाटकीय प्रवृत्ति और प्रकृति-गत भंगिमा के कारण, ये छंद उपयुक्त नहीं समझे गये।

परवर्त्ती प्रयोग

मध्यकालीन हिंदी-काव्य में इस वर्ग के छंद निरंतर प्रयुक्त होते गये है।

पादांतर्गत तुक के साथ दो यति-स्थानवाले दो छंद विद्यापति की पदावली में, पद-शैली में, आये हैं। उदाहरणार्थ एक-एक पाद उद्धृत है—

---

१. हे० अ० ३, पृ० २३२।

१. गेलि कामिनि गजहु गामिनि
बिहसि पलटि निहारि।[1]

इस पाद में ७+७+१० के हिसाब से यति तथा पादांतर्गत यतिस्थानों पर तुक है। इसे रूपमाला छंद (१४+१०, अंत ऽ।)[2] का भेद कह सकते हैं।

२. खनहि खन भइ किछु अरुन नयन कइ
कपट धरि मान सम्मान लेहि।[3]

उक्त पाद में १०+१०+१३ के अनुसार दो स्थानों पर तुक के साथ पादांतर्गत यति है। यह झूलना छंद[4] का पाद है। पादगत मात्रासंख्या ३२ से अधिक होने के कारण यह दंडक के अंतर्गत परिगणित है।[5]

संत जयदेव ने भी झूलना छंद का पादांतर्गत तुकयुक्त प्रयोग किया है—

चंदसत भेदिया, नादसत पूरिया,
सूरसत षोडसादतु कीया।
अबलबलु तोड़िया अचल चलु थापिया,
अघडु घड़िया तहा अपिउ पीया॥[6]

कबीर ने झूलना छंद में कहीं पादांतर्गत तुक रखा है, कहीं नहीं; क्योंकि छंद-सौष्ठव या संगीत-माधुर्य से अधिक चिंता उन्हें सत्यासत्यविज्ञान प्रचार और धर्मोपदेश की थी। दोनों प्रकार के पाद कभी-कभी एक ही पद्य में मिल जाते हैं—

शब्द ही मंत्र है शब्द ही मंत्र है
शब्द ही गुरु सिख को सुनाई।
. . . . . .
शब्द ही सृष्टि अरु सृष्टि ओंकार है
शब्द ही सकल ब्रह्मांड जाई॥[7]

झूलना छंद के पादांतर्गत तुक-मुक्त रूप के उदाहरण संत हरिदास निरंजनी की पंक्तियों में द्रष्टव्य हैं—

---

१. विद्यापति-पदावली (सं० बेनीपुरी), ३२।
२. छं० प्र०, पृ० १४।
३. वही, १३२।
४. छं० प्र०, पृ० ७८; प्रा० पैं०, १।१५६।
५. झुल्लणा या झूलना छंद को हमने प्रा० पैं० के अनुसार द्विपदी माना है, (दे० अ० ४, पृ० २); किंतु इसमें तुक के साथ पादांतर्गत दो (या तीन) यति-स्थानों के समावेश के कारण इस छंद की चर्चा यहाँ जलहरण, त्रिभंगी, दुमिल्ला आदि के साथ सुविधा के लिए की जा रही है।
६. संतकाव्य (सं० परशुराम चतुर्वेदी), पृ० १३६।
७. कबीर-वचनावली (सं० हरिऔध), पृ० ११२।

जति को भेद पणि सकल ऊपरि भयो,
राम रंगि रंग्यो रंगभ ले रात्यो।।[1]

झूलना के अतिरिक्त पादांतर्गत तुक के साथ दो यतिवाले किसी अन्य छंद का प्रयोग संतकाव्य में सुन्दरदास की रचनाओं के सिवा अन्यत्र दुर्लभ है।

सुन्दरदास ने अवश्य चउपइया[2] तथा त्रिभंगी[3] के मुक्तक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।

चउपइया—

मुख ऊपरि पीरी स्वासा सीरी, नैनहु नीझर लायो।[4]

त्रिभंगी—

तो स्वामी संगा देव अभंगा निर्मल अंगा सेबैजू।।[5]

प्रेमाख्यानक काव्य में तो, चउपइया-त्रिभंगी की कौन कहे, झूलना भी दुष्प्राप्य ही है। मध्यकालीन हिंदी-काव्य की इस धारा के अंतर्गत दोहा, सोरठा, चौपाई आदि छंद ही अधिकतर प्रयुक्त हुए हैं। छंदों का वैविध्य इस धारा के भीतर नहीं दिखाई देता।

कृष्णकाव्य के अंतर्गत सूरदास ने इस वर्ग के छंदों का कहीं मुक्तक वर्णनात्मक छंद के रूप में, कहीं गेय पद-शैली में प्रयोग किया है।

पद-शैली में प्रयुक्त सूर के झूलना छंद में निबद्ध किसी-किसी पद्य में पादांतर्गत तीन यति तथा इन यति-स्थानों पर परस्पर तुक दृष्टिगत है। उदाहरण—

सरन अब राखि लै नंद-ताता।
घटा आई गरजि, जुवति गईं मन लरजि,
।ऽ ऽऽ ।।। ।।। ।। ।। ।।।
बीजु चमकति तरजि, डरत गाता।।
ऽ। ।।।। ।।। ।।। ऽऽ
और कोऊ नहीं, तुम धनी जहँ नहीं,
ऽ। ऽ ऽ ।ऽ ।। ।ऽ ।। ।ऽ
विकल ह्वैकै कही, तुम्हि नाता।।[6]
।।। ऽऽ। ।ऽ ।।। ऽऽ

उक्त पद्य में झूलना का प्रतिपाद्य मात्रा-विधान १०+१०+१०+७ है, तथा यतिस्थानों पर परस्पर तुक है। झूलना-निबद्ध सूर के कई पद्यों में पादगत यतिस्थानों पर परस्पर तुक नहीं भी है।[7] कहीं-कहीं केवल प्रथम दो यतिस्थान तुकयुक्त है।[8]

---

१. संतकाव्य, पृ० ३२५।
२. सुन्दरदास: सुन्दरसार, पृ० १७, २९, ३५, ३७, ३९, ४३,
३. वही, पृ० २३, ८९, ९१, ९३,
४. वही, पृ० १७।
५. वही, पृ० २३।
६. सूरदास: सूरसागर (ना० प्र० सभा), १४८२।
७. वही, १२०८, १२१४, १३०२, १४६६, २३४८, २५८५ आदि।
८. वही, १३१७, २२६४, २५८९, २६०६।

सूरदास ने हरिप्रिया[1] नामक मात्रिक दंडक का प्रयोग भी कई स्थलों पर किया है।[2] इस छंद में १२+१२+१२+१० के हिसाब से पादांतर्गत तीन स्थानों पर यति का विधान है। सूरदास ने इन तीनों स्थानों पर तुक की योजना भी की है, यद्यपि तृतीय यति-स्थानवाला तुक कभी-कभी ३ मात्राएँ पूर्व ही आ जाता है। उदाहरण—

ठाढ़े सब सखा द्वार, कहत नंद के कुमार,
टेरत हैं बार-बार, आइयै कन्हाई।
:::: ::::
मृगनैन नाद करत, मुरली मधु अधर धरत,
जननी मन हरत, ग्वाल गावत सुघराई।
वृंदावन तुरत जाइ, धेनु चरति तृन अघाइ,
स्याम हरष पाइ, निरखि सूरज बलि जाई।।[3]

उक्त उदाहरण में यति प्रतिपाद १२+१२+१२+१० के हिसाब से ही है, किंतु प्रथम पाद में पादांतर्गत तीनों यतिस्थान तुकयुक्त हैं, जबकि शेष दो पादों में प्रथम दो यतिस्थान तो नियमपूर्वक तुकयुक्त हैं, किंतु तीसरे यतिस्थान की तीन मात्राओं के पूर्व ही तुक मिल जाता है। हरिप्रिया-निबद्ध सूर के कई अन्य पदों में[4] पादांतर्गत तुक का प्रयोग नितांत वैकल्पिक रूप में हुआ है। कहीं-कहीं तो पादांतर्गत तुक का अभाव ही है। कहीं-कहीं केवल प्रथम दो यति-स्थान तुकयुक्त हैं, कहीं-कहीं तीनों स्थान। इस विकल्प का प्रसंग-गत अर्थ से सूक्ष्म संबंध जान पड़ता है। भावावेशव्यंजक पदों में पादांतर्गत तुक-योजना द्वारा अतिरिक्त सांगीतिकता की सृष्टि की गई है। वर्णनात्मक पदों में इसकी आवश्यकता नहीं समझी गई। सूर के छंदःप्रयोग में यह अर्थसापेक्ष भंगिमा कवि की प्रतिभा और मौलिक सांगीतिक उद्भावना-शक्ति का परिचायक है। झूलना और हरिप्रिया छंदों में गेयता-जन्य परस्पर लय-साम्य है, किंतु इन छंदों का लय-साम्य मरहट्ठा, चउपइया, त्रिभंगी, दुर्मिला, मदनहर आदि से नहीं। आश्चर्य है कि मरहट्ठा, चउपइया, त्रिभंगी आदि छंदों का प्रयोग सूरसागर जैसे बृहत् ग्रंथ में दुर्लभ है, जबकि झूलना और हरिप्रिया के विविध प्रयोगों के उदाहरण भरे पड़े हैं। संभवतः चउपइया आदि की लय सूरदास को विशेष पसंद नहीं थी अथवा शृंगारांतर्गत और वियोग की अवस्थाओं के उद्दाम भावातिरेक वर्णन के लिए झूलना-हरिप्रिया की आक्रामक-जैसी लय उन्होंने अधिक अभिवांछित समझी।

नंददास ने भी पादांतर्गत तुकयुक्त दो यति-स्थानवाले छंदों का प्रयोग जहाँ किया है, वहाँ प्रायः झूलना[5] तथा हरिप्रिया[6] छंद ही आये हैं। ये छंद भी नंददास की गेय पदावली के

१. छं० प्र०, पृ० ८०।
२. सूरदास : सूरसागर, ७६४, ८२३, १२३७, २७६७, २७७२।
३. वही, १२३७।
४. वही, ७६४, ८२३, १७७२, १८३०, १९१४, २३१२।
५. नंददास : ग्रंथावली (ना० प्र० सभा), पृ० ३२४, ३२८
६. वही, पृ० ३६२, ३७६, ३७८

अंतर्गत आए हैं, वर्णनात्मक प्रसंगों में नहीं। नंददास ने अधिक लंबे पादवाले छंदों की ओर अन्यत्र रुचि नहीं दिखलाई है।

घनानंद ने कवित्त, सवैया, दोहा, चौपाई, अरिल्ल आदि का विशेष प्रयोग किया है। पादांतर्गत तुक के साथ दो या अधिक यतिवाले छंदःपाद उनकी गेय पदावली के बीच कहीं-कहीं उपलब्ध हैं। उदाहरण—

> कर-चरन-न्यास अभिनय-प्रकास मुखसुखविलास
> मन ऊरझैं घुघरारी भौहन।[1]

इस पाद में ८+८+८+१६ के हिसाब से तीन स्थलों पर यति तथा तुक आये हैं। यह अष्टमात्रिक ताल इकाइयों में बद्ध तालछंद से उद्भूत मात्रिक दंडक है।

घनानंद के एक अन्य गीत की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

> गिरिधर आनंदकंद।
> ब्रजजन-लोचननि चंद रसमय आभा अमंद मंडित-गोपाल-वृंद।
> नितनित लीला सुछंद गिरिवरतनया कलिंद सुन्दर बदनारविंद
> मुरली धुनि मंद मंद।[2]

प्रथम पाद में १२ मात्राओं का एक खंड, दूसरे पाद में १२-१२ मात्राओं के तीन तथा चौथे पाद में चार खंड आये हैं। सभी खंड परस्पर तुक-युक्त हैं। प्रत्येक खंड दो षाण्मात्रिक ताल-गणों में विभाज्य है। घनानंद की ये छंदःशास्त्रेतर तथा मौलिक उद्भावनाएँ उनकी संगीत-प्रतिभा के परिचायक हैं।

त्रिभंगी छंद में रचित घनानंद के ५ पद्य उपलब्ध हैं।[3] अंतिम पद्य की दो पंक्तियाँ देखिए—

> निरवधि सुखदायक रसमधि नायक
> ललितसुभायक नवनागर ।
> राधामनरंजन प्रीतम-अंजन
> मानस-मंजन गुनसागर ॥[4]

प्रतिपाद में १०+८+८+६ के हिसाब से तीन स्थलों पर तुकयुक्त यति है। त्रिभंगी छंद का यह प्रयोग मुक्तक-शैली में हुआ है, पद-शैली में नहीं।

रामकाव्य के अंतर्गत तुलसीदास ने रामचरितमानस में चउपइया छंद का प्रयोग किसी-किसी कड़वक में मुख्य छंद के रूप में[5] और कहीं-कहीं कड़वकांत के पूर्व छंदः-परिवर्त्तन के लिए[6] किया है। निम्नोद्धृत पंक्तियाँ प्रसिद्ध हैं—

---

१. घनानंदः ग्रंथावली (सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र), पदावली, ६१।
२. वही, ३३१।
३. वही, प्रकीर्णक, ८८-९२।
४. वही, ९२।
५. तुलसीदासः रामचरितमानस (गीताप्रेस), १।१९२।
६. वही, १।१८३।

भये प्रगट कृपाला दीनदयाला कौशल्या हितकारी।
हरषित महतारी मुनिमनहारी अद्भुत रूप बिचारी॥
लोचन अभिरामा तन घनस्यामा निज आयुध भुजचारी।
भूषण बनमाला नयन बिसाला सोभासिंधु खरारी॥[1]

उद्धृत प्रत्येक पाद में १०, ८, १४ के अनुसार पादांतर्गत दो बार तुक के साथ यति है।

कड़वक के मुख्य छंद के रूप में एक स्थल पर मात्रिक दुर्मिला छंद भी प्रयुक्त हुआ है।[2] प्रथम दो पाद देखिए—

परसत पद पावन सोक नसावन प्रगट भई तपपुंज सही।
देखत रघुनायक जन सुखदायक सनमुख होइकर जोरि रही॥

झूलना छंद के पादों में तुलसीदास ने विकल्प से कहीं-कहीं पादांतर्गत तुक-योजना की है—

ओंकार [illegible] निर्विकार [illegible]
दमन भंजिनाटवी कष्टहर्ता।[3]

इस पाद में १०, १०, १०, ७ के अनुसार यति तथा प्रथम दो यतिस्थानों पर तुक का समावेश है।

केशव की रामचंद्रिका में मरहट्ठा,[4] चउपइया[5] और त्रिभंगी[6] छंद आये हैं। उदाहरण-स्वरूप प्रत्येक का एक-एक पाद निम्नोद्धृत है—

मरहट्ठा—

अति उच्च अगारनि बनी पगारनि जनु चिंतामणि नारि।[7]

(मात्राविधान १०, ८, ११. पादांतर्गत दोनों यतिस्थानों पर तुक)

चउपइया—

सुर काज सँवारे रावण मारे रघुनंदन घर आए।[8]

(मात्राविधान १०, ८, १२ पादांतर्गत दोनों यतिस्थानों पर तुक)

त्रिभंगी—

[illegible] मकराकृत कुंडलधर [illegible] वेश बने।[9]

(मात्राविधान १०, ८, ८, ६; पादांतर्गत तीनों यतिस्थान तुक-युक्त।)

१. वही, ११९२।
२. वही, १।२११।
३. तुलसीदास : तुलसीग्रंथावली (ना० प्र० सभा), विनयपत्रिका, ६१।
४. केशव : रामचंद्रिका, १।४५; ३।१०; ११।३२; १७।४२; ३०।२४; ३०।२६; ३२।३४; ३३।१०; ३४।३९।
५. वही, १।३४, ३५; ७।४५; ११।५; २१।२२, २३; ३६।८।
६. वही, १।४२; ५।३८; ६६; १३।३१।
७. वही, १।४५।
८. वही, २१।२३।
९. वही, १।४२।

मध्यकालीन वीरकाव्य मे भी इस वर्ग के छंदों के कतिपय उदाहरण मिल जाते है। हम्मीर रासो मे त्रिभंगी छंद प्रयुक्त है। वीररस के प्रसंग में इस छंद की भगिमा देखिए—

बहु तोपन छट्टै, वीर आहुट्टै, फिरिफिरि जुट्टै बल चट्टै॥[1]

(मात्राविधान १०+८+८+६; पादातर्गत तीनों यतिस्थान तुक-युक्त।)

१७वी शती के बाद भी चउपइया-त्रिभंगी-वर्ग के छंद प्रयुक्त होते रहे है, यद्यपि उनकी लोकप्रियता समय के साथ घटती गई है।

पादांतर्गत तुक के साथ दो या अधिक यतिवाले छंदों के संबंध में सामान्य निष्कर्ष

(१) इस वर्ग के छंद संस्कृत वर्ण-वृत्त-परंपरा से नितांत असंबद्ध तथा लोकप्रचलित ताल-संगीत से उद्‌भूत है। इनके पूर्ववर्त्ती ताल-छंद नृत्य के प्रसंग में प्रयुक्त होते होंगे, जो इन छंदों की त्रिविध या चतुर्विध भंगिमा से ध्वनित है।

(२) ये छंद कड़वकबद्ध चरितकाव्यों में घत्ता के लिए आदिकाल में प्रयुक्त हुए, किंतु मध्यकालीन चरितकाव्यों में ये लोकप्रिय नहीं दिखाई देते। मध्यकाल में इनका प्रयोग गेय पदों में तथा स्फुट मुक्तक रूप में ही अधिक हुआ है। (तुलसी ने भी मानस में इनका बहुत अधिक प्रयोग नहीं किया।)

(३) ये छंद हिदी काव्य मे उतने लोकप्रिय नहीं हुए जितने दोहा, चौपाई, रोला, छप्पय, कवित्त और सवैया। वस्तुतः बहुत लंबे या बहुत छोटे पादवाले छंदो की ओर हिदी-कवियो की विशेष रुचि नही दिखाई देती। सामान्यतः १६ से २८ मात्राओं तक के पादवाले छंद अपेक्षाकृत अधिक लोकप्रिय रहे हैं।

(४) फिर भी प्रस्तुत वर्ग के छंदों का आकर्षण सदैव बना रहा है और उनमें नाटकीय त्वरा तथा नृत्योचित भंगिमा के कारण उनका उपयोग ऐसे प्रसंगों के लिए होता आया है, जिनमें गति अपेक्षित है। इसीसे ये छंद सगुण भक्त कवियों द्वारा तो अधिक प्रयुक्त हुए हैं, निर्गुण संतों द्वारा कम तथा सूफियों द्वारा प्रायः नहीं।

(५) घत्ता छंद-परंपरा से संबद्ध होते हुए भी इन छंदों का कड़वकांत घत्तार्थ प्रयोग आदिकाल के बाद प्रायः नही मिलता। आदिकाल में जहाँ इन छंदों का घत्तार्थ प्रयोग हुआ है, वहाँ सामान्यतः चतुष्पदी होने पर भी ये द्विपदी रूप में ही प्रयुक्त हुए हैं। घत्तेतर प्रयोग में इनका रूप प्रायः चतुष्पदी ही रहा है।

---

१. हम्मीररासो (ना० प्र० सभा), ७८४।

प्रकरण : ५
दोहा-सोरठा-वर्ग

लक्षण-ग्रंथों में दोहा-वर्ग के छंद

संस्कृत के छंदोलक्षणकारों में पिंगल, जयदेव, जयकीर्त्ति तथा केदार ने न तो दोहा-सोरठा का उल्लेख किया है, न अन्य अर्द्धसममात्रिक चतुष्पदी छंदों का। हेमचंद्र ने अपभ्रंश के छंदों के प्रसंग में रड्डा-लक्षण-निर्देश के सिलसिले में 'दोहकादि' का कथन किया है।[1] प्राकृत-अपभ्रंश की छंदोग्रंथ परंपरा के बीच इसके पूर्व ही 'दुवहअ' छंद का उल्लेख विरहांक[2] और स्वयंभू[3] ने किया है। विरहांक ने इसे द्विपदी छंद (१४+१२ मात्राएँ) माना है तथा स्वयंभू ने चतुष्पदी (१४, १२, १४, १२)। चतुर्थ अध्याय में हम इसपर विचार कर चुके हैं कि क्यों इस छंद को चतुष्पदी मानना चाहिए।[4] स्वयंभू ने दोहा के दो रूपांतरों अथवा भेदों 'उवदुवहअ' (१३, १२, १३, १२) तथा 'अवदुवहअ' (१२, १४, १२, १४) की चर्चा की।[5] नंदिताढ्य के गाथालक्षण में भी 'दूहा' और 'अवदूहा' का उल्लेख है।[6] किंतु, इन शब्दों के ये अपभ्रंश रूप सचमुच नंदिताढ्य द्वारा प्रयुक्त हैं या परवर्ती क्षेपक हैं, यह कहना आसान नहीं।[7] जो भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि दोहा का पूर्वज 'दुवहअ' (या द्विपथक) तथा सोरठा का पूर्वज 'अवदुवहअ' छंद नवीं शती के लगभग स्वयंभू-विरहांक जैसे प्राकृत-अपभ्रंश के छंदोलक्षणकारों के द्वारा उल्लिखित हो चुके हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि ये छंद व्यावहारिक काव्य के बीच इसके बहुत पहले से प्रचलित रहे होंगे।

परवर्ती लक्षणग्रंथों में कविदर्पण में 'दुवहअ' के लिए 'दोहअ' शब्द आया है, जिसका संस्कृत रूप वृत्तिकार ने भ्रमवश, द्विपथक न कह 'दोहक' कहा है।[8] इस छंद के लक्षण के संबंध में नई बात यह कही गई है कि इसके प्रत्येक सम पाद के अंत में गुरुलघु (ऽ।) होना चाहिए। प्राकृतपैंगलम् में इस छंद के लिए 'दोहा' शब्द आ गया है तथा मात्राविधान भी १३, ११, १३, ११ कथित है।[9] इस ग्रंथ में भ्रमर-भ्रामरादि इसके २३ भेद भी उल्लिखित हैं।[10] आगे दोहा-गणविधान इस प्रकार निर्दिष्ट है—६+४+३, ६+४+१।[11] प्रा० पैं० में सोरठा में ११, १३, ११, १३ मात्राओं का विधान है।[12] स्पष्टतया

१. हे० छं०, ५।२३।
२. वृ० जा० स०, ४।२७ (गणविधान—४+४+४+ऽ।+४+४+ऽऽ)
३. स्वयं०, ६।७-८।
४. दे० अ० ४, अर्द्धसममात्रिक चतुष्पदी।
५. स्वयं, ४।१०-१३।
६. गा० ल०, ८४-८७।
७. दे० अ० २, प्र० १, 'गाथालक्षण' का प्रसंग।
८. क० द०, २।१५।
९. प्रा० पैं० १।७८-७९।
१०. वही, १।८०-८१।
११. वही, १।८५।
१२. वही, १।१७०।

इसका पूर्वज स्वयंभू का पूर्वोक्त 'अवदूवहअ' है। कुछ पूर्व कविदर्पणकार ने इसे 'अवदोहअ' कहा तथा इसका मात्रा-विधान ११, १३, ११, १३ ही माना था।[१] दोहा के अन्य रूपांतर 'उवदोहय' (१२, ११, १२, ११) तथा 'मंदोहय' (१५, ११, १५, ११) कविदर्पण मे उल्लिखित हैं।[२] रत्नशेखर ने मंदोहय को 'उद्गाथक' कहा है।[३] इससे यह न समझना चाहिए कि इसका गाथा-छंद से कोई संबंध है; क्योंकि पूर्ववर्त्ती हेमचंद्र ने इसे मदनविलास कहा है, उद्गाथक नहीं।[४]

हिंदी के छंदोलक्षणकारों मे मुरलीधर कवि भूषण, रामसहाय, जानीबिहारीलाल, सुखदेव मिश्र, भिखारीदास, हरदेवदास, भानु आदि ने दोहा तथा उसके भेदों की चर्चा की है। पूर्वोक्त संदोहक को भिखारीदास, जानीबिहारीलाल और भानु ने 'दोही' कहा है।[५] पूर्वोक्त 'उवदोहअ' को भिखारीदास और जानीबिहारीलाल ने 'दोहरा' कहा है।[६] हरदेवदास ने इसे 'पंचादोहा' कहा है तथा इसके २१ भेद बताये हैं।[७] हरदेवदास ने दोहा के एक और भेद 'नंदादोहा' उल्लिखित किया है, जिसका मात्राविधान १२, ७, १२, ७ निर्दिष्ट है।[८] इस छंद को भिखारीदास[९] ने ध्रुवा तथा रामसहाय[१०] और भानु[११] ने बरवै कहा है। हरदेवदास का उपदोहा[१२] पूर्वोक्त कविदर्पणकार के अवदोहक के समान है। इस छंद के अर्द्धांश को पाद मानकर ऐसे चार पादों के प्रयोग से रोलावत्थू छंद का विधान है, जिसे दोहावत्थू के पाँच भेदो मे एक माना गया है।[१३]

चुलियाला छंद को भी दोहा के रूपातरो मे माना गया है। कहा गया है, दोहा के सम पादों में ५–५ मात्राएँ जोड़ने से यह छंद बनता है।[१४] इसे कविदर्पण मे चूडाल-दोहक कहा है।[१५] जोड़ी हुई पाँच मात्राओं का स्वरूप सम्भवतः (।ऽ।।) होता है।

गुजराती मे भी 'दोहरा' (१३, ११, १३, ११; ताल १२, मात्राएँ ४८ १२×४) तथा सोरठा (११, १३, ११, १३; ताल १२) छंद लोकप्रिय हैं।[१६]

---

१. क० द०, २।१५।
२. वही, २।१६।
३. छं० को०, २८।
४. हे० छं०, ६।२०।
५. छं० पिं०, ७।६; जा० छं०, २।३।१३; छं० प्र०, पृ० ९०।
६. छं० पिं०, ७।७; जा० छं०, २।३।७।
७. छं० प० भा०, ७।१७३। (गुजराती ग्रंथ 'बृहत् पिंगल' में भी इस छंद का नाम 'पंचा' आया है और इसका गणविधान ६+४+२; ६+२+ऽ+। कहा गया है।—रामनारायण पाठक: बृहत् पिंगल, पृ० ३३२)।
८. वही, ७।१८०-१८२।
९. छं० पिं०, ७।१२-१३ (१२+७, १२+७)।
१०. रा० वृ० त०, २।८९, पृ० ३४ (१२+७, १२+७; अंत ग ल)।
११. छं० प्र०, पृ० ८३ (१२, ७, १२, ७)।
१२. छं० प० भा०, ७।१८७–१८९।
१३. वही, ७।१९२-१९४।
१४. प्रा० पैं०, १।१६७; छं० को०, २६।
१५. क० द०, २।१७।
१६. रामनारायण पाठक: बृहत् पिंगल, पृ० ३१४-५।

काव्य-ग्रंथों में दोहा-वर्ग के छंदों के प्रारंभिक प्रयोग

दोहा-छंद का प्राचीनतम उपलब्ध प्रयोग कालिदास (समय प्रथम शती ई० पू०—चतुर्थ शती ई०)[1] के विक्रमोर्वशीय त्रोटक में दृष्टिगत है। इस ग्रंथ में दोहा-निबद्ध एक ही पद्य आया है—

मइं जाणिअ मिअलोअणि, णिसिअरु कोइ हरेइ।
II SII IISII IIIISI ISI

जाव ण णवतडिसामलि, धाराहरु वरिसेइ॥[2]
SI I IIIISII SSII IISI

उक्त उद्धरण में विषम पादों में वर्णमात्राओं की संख्या ६+४+२=१२ तथा सम पादों में ६+४+१=११ है। यदि विषम पादों के अन्तिम ह्रस्व वर्ण का गुरु उच्चारण किया जाय, जिसकी छूट प्राकृत-अपभ्रंश के पद्यों में रहती अवश्य है, तो मात्राओं की संख्या प्रति विषम पाद में १३ हो जायगी और दोहा-लक्षण चरितार्थ हो जायगा। यदि विषम पादांत वर्ण को लघु ही रहने दिया जाय, तो उक्त उद्धरण दोहा के भेद उवदोहअ (उपदोहक),[3] पत्ताददोहा[4] अथवा दोहरा[5] छंद (१२, ११, १२, ११) में निबद्ध कहा जायगा।

कालिदास का उक्त पद्य अपभ्रंश भाषा में है। इसमें जैकोबी ने इसकी प्रामाणिकता में संदेह प्रकट किया है। किन्तु, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के मत में यह संदेह अनावश्यक है; क्योंकि पाँचवीं-छठी शताब्दियों में अपभ्रंश का साहित्य काफी मात्रा में वर्त्तमान था, जिसे दण्डी और भामह ने देखा था।[6] इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि कालिदास के युग में ही अपभ्रंश में काव्य-रचना शुरू हो गई होगी। अपभ्रंश को दूहा-विद्या कहा गया है; क्योंकि आरंभ में दोहा अपभ्रंश का प्रधान छंद था, जैसे श्लोक संस्कृत का तथा गाथा प्राकृत का प्रधान छंद था। द्विवेदीजी ने कहा है—'शुरू-शुरू में दोहा अपभ्रंश का प्रतीक था।'[7] अतएव, कालिदास ने भी अपभ्रंश भाषा में दोहा-रचना की हो, तो आश्चर्य नहीं।

१. (क) बलदेव उपाध्याय : संस्कृत-साहित्य का इतिहास, पृ० १६० (ई० पू० प्रथम शती)।
(ख) S. Roy: Proceedings of the Oriental Conference; Poona, p. 59. (ई० पू० प्रथम शती)।
(ग) Macdonell : A History of Sanskrit Literature; p. 324. (चतुर्थ शती)।
(घ) Keith : A History of Sanskrit Literature; p. 82. (चतुर्थ शती)।

२. कालिदास : विक्रमोर्वशीय, ४।८ ([illegible] प्रेस, सं० १९९९ वि०)

३. क० द०, २।१६।

४. छं० प० भा०, ७।१७३।

५. छं० पि०, ७।७।

६. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिंदी-साहित्य का आदिकाल, पृ० ९९।

७. वही।

कहा जाता है, 'दव्वसहावपयास' नामक ग्रंथ पहले दोहाबंध में, अर्थात् अपभ्रंश में रचा गया था। अपभ्रंश गँवारू भाषा थी, इसलिए लोग उसकी हँसी उड़ाते थे। अतएव, कवि माइल्ल धवल ने उसे गाहा-बंध, अर्थात् प्राकृत में रूपांतरित कर दिया।[1]

अपभ्रंश-काव्य में दोहा-छंद प्रयोग के प्रवर्त्तन का श्रेय बहुत अधिक सरहपा को मिल सकता है। सरहपा ने दोहा का प्रयोग अपनी मुक्तक उपदेशावलियों के लिए किया। सरहपा के दोहाकोश में चौपाई आदि १६ मात्राओं के पादवाले छंदों के साथ दोहा का प्रयोग खूब हुआ है। आर्या, काव्य आदि अन्य छंद बहुत कम प्रयुक्त हैं। राहुल द्वारा संपादित दोहाकोशगीति में लगभग ६२ दोहे हैं।[2] सरहपा का यह दोहा प्रसिद्ध है—

जहि मण पवण ण संचरइ
I I I I I I I I S I I I

रवि ससि णाह पवेस।
I I I I S I I S I

तहि बढ चित्त बिसाम करु
I I I I S I I S I I

सरहे कहिअ उएस॥
I I I I I I I S I

उक्त उदाहरण में शास्त्रोक्त गणविधान ६+४, ३, ६ ४ १ चरितार्थ है।[3] किंतु, ऐसे उदाहरण भी मिलेंगे, जिनमें गणविधान की बात तो दूर, पादगत मात्रासंख्या भी सुरक्षित नहीं।[4] इसका कारण यह है कि सिद्ध कवियों का ध्यान छंद की शुद्धता पर नहीं था, जितना प्रभावशाली ढंग से सिद्धांत-कथन पर। इसके अतिरिक्त, लोकछंद-परंपरा के कवि वर्णमात्राओं की अपेक्षा तालमात्राओं की दृष्टि से ही छंद की विशुद्धता पर विशेष ध्यान रखते थे। आगे चलकर संतकवियों में भी छंदोगत नियम-स्वातंत्र्य की ऐसी ही प्रवृत्ति हम पाते हैं। हो सकता है, कहीं-कहीं यह नियम-शैथिल्य शब्द-संकट का परिणाम भी हो। किंतु, कभी-कभी इस स्वातंत्र्य या नियमशैथिल्य द्वारा ही नये छंदों की उद्भावना भी हुई होगी। सरहपा के निम्नोद्धृत दोहे को देखें—

खण उवास सुह अहवा, अहवा वेण्णि 'बि सो' बि।
I I I S I I I I I S I I S S I I S I

---

१. वही, पृ० ९१।

२. राहुल: दोहाकोश, भूमिका (बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना), पृ० ६५।

३. सरहपा: दोहाकोश, २५ (सं० डॉ० प्रबोधचंद्र बागची; **Journal of the Dept. of Letters, Calcutta University**), पृ० १२।

४. वही, २७, ३६, ५६, ६९, ७०, ७२, ७३, ७४, ९५, ११२।

गुरुप्पसाए पुराण जइ, विरला जाणइ कोवि॥[1]
I S I S I I S I I I I I S S I I S I

इस दोहे में प्रथम पाद में १३ के बजाय १२ मात्राएँ हैं, जो स्पष्ट ही शब्दसंकट का परिणाम है। यदि दोनों पादों में १२ मात्राएँ आ जातीं, तो छंद दोहा के बजाय उपदोहा या दोहरा बन जाता।

कण्हपा के दोहाकोश (समस्त शैली वि०)[2] का एक प्रधान छंद दोहा है। उदाहरण—

लोअह गब्ब समुव्वहइ हउं परमत्थ पवीण।
S I I S I I S I I I I I I I S I I S I

कोडिह मज्झ एक्कु जइ होइ णिरंजण लीण॥[3]
S I I S S S I I I S I I S I I S I

उक्त उद्धरण में गणविधान ६+४+३, ६+४+१ चरितार्थ है।

दोहा के रूपान्तर उपदोहक (१२, ११, १२, ११)[4] का उदाहरण देखिए—

आगम-वेअ-पुराणें, पण्डिअ माण वहन्ति।
S I I S I I S S S I I S I I S I

पक्क सिरिफले अलिअ, जिमि बाहेरिअ भमन्ति॥[5]
S I I I I S I I S I I S I I I I S I

उक्त उद्धरण में विषम पादों में १२-१२ तथा समपादों में ११-११ मात्राएँ आई हैं।

कहीं-कहीं दोहा के एक या अधिक पादों में मात्राधिक्य या मात्राल्पता भी देखने को मिलती है। इस दोहे में दोनों के उदाहरण मिलेंगे—

जिम लोण विलज्जइ पाणिएहि, तिम घरिणी लइ चित्त।
I I S I I S I I S I I I I I I I S I I S I

समरस जाइ तक्खणें, जइ पुणु ते सम णित्त॥[6]
I I I I S I S I S I I I I S I I S I

1. सरहपा: दोहाकोश, ९५ (J.D.L., C.U., VOL. XXXVIII.)
2. राहुल: हिं० का० धा०, पृ० १४६।
3. कण्हपा: दोहाकोश १ (सं० डॉ० प्र० चं० बागची; J.D.L., C.U., Vol. XXVIII, पृ० २४।
4. प्रा० पै०, २।१६; हे० छं०, ६।२०।
5. कण्हपा: दोहाकोश २ (सं० डॉ० प्र० चं० बागची; J.D.L., C.U., Vol. XXVIII;, पृ० २४।
6. वही, ३२।

इस दोहे के प्रथम पाद में १५ मात्राएं, दूसरे में ११ तीसरे में १२ तथा चौथे में ११ मात्राएँ (=वर्ण-मात्राएँ) हैं। दोहापाठ करते समय त्वरित और प्लुत उच्चारण के सहारे मात्रा-विधान नियमित (१३, ११, १३, ११) कर लिया जाता है तथा तालबद्ध रूप में गाते समय त्वरित, प्लुत और विराम के सहारे तालमात्राओं की अपेक्षित संख्या (८+८, ८+८, ८+८, ८ ८) पूरी कर ली जाती है। सिद्ध कवियों को वर्णमात्राओं की दृष्टि से छंदःशुद्धता का ध्यान अधिक नहीं था क्योंकि अधिकांशतः वे लोक-परंपरा से प्रभावित और रूढ़ पांडित्य के विरोधी थे।

उक्त उदाहरण में यदि प्रथम पंक्ति के समान दूसरी पंक्ति में भी १५, ११ मात्राएं होतीं, तो छंद सदोहक अथवा दोही हो जाता। प्रयोग-स्वातंत्र्य द्वारा नये छंदोभेदों की उद्भावना की प्रक्रिया की ओर उक्त उदाहरण भी संकेत करता है।

देवसेन (समय ९९० वि०)[1] का सावयधम्मदोहा नामक ग्रंथ केवल दोहा-छंद में निबद्ध है। दोहा के माध्यम में मालवा के इस जैन कवि ने सदाचार-उपदेश, दान-महिमा, धर्माचरणमहिमा आदि विषयों का वर्णन किया है। स्पष्टतया दोहा मुक्तक रूप में प्रयुक्त है, कडवकांत घत्ता के लिए नहीं। एक उदाहरण देखिए—

काइं बहुत्तइं सपयइं, जइ किविणाह घर होइ।
।। ।ऽ।। ऽ।।। ।। ।।।। ।।ऽ।

उयहि-णीर खारें भरिउ, पाणिउ पियइ न कोइ॥[2]
।।। ऽ। ऽऽ ।।। ऽ।। ।।। । ऽ।

उक्त उदाहरण में गणविधान ६+४+३, ६+४+१ चरितार्थ है।

मगध के सिद्ध कवि तिलोपा (समय १०१७ वि०)[3] के दोहाकोश में दोहा के अतिरिक्त अन्य छंद भी हैं। इस ग्रंथ में चौपाई-चौपई-दोहा का मुक्तक रूप में, किंतु साथ प्रयोग इन छंदों के परंपरागत साहचर्य तथा इनकी परस्पर अनुकूलता को अधोरेखांकित करता है। इन छंदों के माध्यम में सहज मार्ग, निर्वाण-साधना, निरंजन तत्त्व, तीर्थादि की व्यर्थता इत्यादि विषय वर्णित हैं। दोहा-छंद का उदाहरण देखिए,—

पर अप्पाण म भंति करु, सअल णिरंतर बुद्ध।
।। ऽऽ। ।ऽ। ।। ।।। ।ऽ।। ।ऽ

तिहुअण णिम्मल परम-पउ, चित्त सहावे सुद्ध॥[4]
।।।। ऽ ।। ।।।।। ऽ। ।ऽऽ ऽ।

१. राहुल सांकृत्यायन: हिंदी काव्यधारा, पृ० १६८।
२. देवसेन: सावयधम्मदोहा, ८९ (हिं० का० धा०), पृ० १७०।
३. राहुल: हिं० का० धा, पृ० १७२।
४. तिलोपा: दोहाकोश, १३ (सं० डॉ० प्र० चं० बागची), J.D.L., C.U., XXVIII), पृ० २।

इन पंक्तियों में भी गणविधान ६+४+३, ६+४+१ चरितार्थ है।

जोइंदु (समय सं० १०५७ वि०)[1] ने अपने ग्रंथ परमात्मप्रकाश दोहा और योगसार-दोहा में केवल दोहा छंद का व्यवहार मुक्तक रूप में ज्ञानसमाधि, आत्मा, अलख-निरंजन, परमात्मतत्त्व, खंडनमंडन आदि विषयों के वर्णन के लिए किया है। उदाहरण—

सो सिउ संकरु विण्हु सो, सो रुद्दवि सो बुद्ध।
सो जिणु ईसरु बंभु सो, सो अणंतु सो सिद्ध ॥[2]

दोहा के रूपांतर अवदोहक छंद का यत्रतत्र प्रयोग कहीं-कहीं पुष्पदंत ने किया है।[3] इस छंद में मात्राएँ क्रमशः विभिन्न पादों में ११, १३, ११, १३ सोरठा के समान होती हैं, किंतु तुक विषम पादों की अपेक्षा सम पादों के अंत में मिलता है।[4] उदाहरण—

विसहर पोसिय देह, सरि भसलु रेहइ हरि।
णं आलिंगिय जग ण मयमत्तउ दिस-करि ॥[5]

उक्त उद्धरण में सम-पादांत 'रि' का गुरु उच्चारण अपेक्षित है।

इसी प्रकार दोहा के एक और रूपांतर चूलियाला छंद का प्रयोग भी पुष्पदंत के काव्य में उपलब्ध है।[6] उदाहरण—

ता चक्क-उरउ णवरह चंद-किरण-पुंजिय-भुवणांगणु।
S S I III IIII SI III S I I II SII
विरगह णर-णारी-मणहर जीविउ देंतु समुग्गउ दिणयरु ॥[7]
IIII II S S III S I I SI I S I I IIII

उक्त उद्धरण में मात्राविधान १३ १६ १३ १६ है।

कब्बर (समय ११०७ वि०)[7] ने सोरठा छंद का प्रयोग किया है—

सो माणिअ गुणवंत, जासु भत्त-पडिअ तणय।
जासु पसंगि गणधम, साविय पुहुवि सम्माह णिलय ॥[8]

उक्त उदाहरण में मात्राविधान ११, १३, ११ १३ है और साथ ही विषम पादों में तुक मिलते हैं।

---

१. राहुल: हिं० का० धा०, पृ० २४०।
२. जोइंदु: योगसार दोहा, १०५ (सं० ए० एन्० उपाध्ये, श्रीरामचंद्र जैनशास्त्रमाला, १०, बंबई, १९३० ई०)।
३. पुष्पदंत: णायकुमारचरिउ, पृ० ७४-७५ (हिं० का० धा०, पृ० २१२)। पुष्पदंत: उत्तरपुराण, पृ० ६४-८९ (हिं० का० धा०, पृ० २२८) आदि।
४. का० द०, २।१५।
५. पुष्पदंत: उत्तरपुराण (हिं० का० धा०, पृ० २२८)।
६. पुष्पदंत: आदिपुराण. ८ (हिं० का० धा०, पृ० १८२); अन्य उदाहरण—उत्तरपुराण (हिं० का० धा०, पृ० २३८)।
७. राहुल: हिं० का० धा०, पृ० ३१४।
८. वही (तथा प्रा० पैं०, १।१७१)।

अर्द्धसम चतुष्पदी चौबोला[1] छंद का एक पद्य, जो बब्बर का कहा जाता है,[2] प्राकृत-पैंगलम् में उदाहरणार्थ प्रस्तुत है—

रे धणि ! मत्त मअंगजगामिणि, (१६ मात्राएँ)
खंजण-ओअणि चंदमुही। (१४ „)
चंचल जोब्बण जात ण जाणहि, (१६ „)
छइल समप्पहि काइ णही॥[3] (१४ „)

चौपई-चौपाई के साथ मुक्तक रूप में दोहा छंद का प्रयोग जैन साधु रामसिंह ने (समय १०५७ वि०)[4] भी, अपनी कृति पाहुड-दोहा में किया है। उदाहरण—

'अप्पायत्तउ जोजि सुहु, तेण जि करि संतोसु।
पर सुह बढ़ ! चिंततहं, हियइ न फिट्टइ सोसु॥'[5]

संदेशरासक में दोहा छंद का प्रयोग हुआ है। उदाहरण—

पिअ-विरहानल संतविउ, जइ वच्चइ सुरलोइ।
तुअ छड्डिबि हिय अट्ठिह, तं परिवाडि ण होइ॥[6]

उक्त उद्धरण में १३, ११, १३, ११ के हिसाब से मात्राएँ आई हैं। संदेशरासक के दोहों में षाण्मात्रिक गण का स्वरूप अधिकाशतः मध्य-द्विलघु या मध्य-गुरु है, चतुर्मात्रिक का स्वरूप अधिकांशतः सगण (।।ऽ) या सर्वलघु है तथा त्रिमात्रिक गण का स्वरूप सर्वत्र सर्वलघु है।

संदेशरासक में एक पद्य[7] को फुल्लउ (=उत्फुल्लक। ४+४+४+४+४ ऽऽ)[8] कहा गया है, किंतु वह वस्तुतः दोहा का ही उदाहरण है, उत्फुल्लक का नहीं।

संदेशरासक में दो पद्य चुलियाला छंद में निबद्ध हैं, जो सर्वथा शास्त्रनियमानुकूल हैं।[9]

हेमचंद्र के कुमारपालचरित[10] (समय ११४५–१२२९ वि०)[11] में दोहा-छंद का प्रयोग हुआ अवश्य है,[12] किंतु बहुत कम। अधिकता आर्या छंद की है। इस ग्रंथ के प्रायः सभी दोहे गणविधान ६+४+३, ६+४+१ में निबद्ध हैं।

---

१. प्रा० पैं०, १।१३१ (१६, १४, १६, १४)।
२. राहुल: हिं० का० धा०, पृ० ३१४।
३. प्रा० पैं०, १।१३२ (तथा हिं० का० धा०, पृ० ३१६)।
४. राहुल: हिं० का० धा०, पृ० २५२।
५. रामसिंह: पाहुडदोहा २ (करंजा—जैन ग्रंथमाला, करंजा, बरार)।
६. अब्दुर्रहमान: संदेशरासक, ७५ (भारतीय विद्या, १९४२ ई०)।
७. वही, १०८।
८. वृ० जा० स०, ४।२७।
९. अब्दुर्रहमान: संदेशरासक, ११२, ११४।
१०. हेमचंद्र: कुमारपालचरिउ (भंडारकर रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना से प्रकाशित, १९३६; सं० शंकर पांडुरंग पंडित)।
११. वही, भूमिका, पृ० २३-२५।
१२. वही, पद्य २८–७४।

हेमचंद्र के प्राकृतव्याकरण (८।१।१६) में चंद्रमाला छंद आया है, जिसके दोहावाले अंश के चतुर्मात्रिक गणों में जगण से परहेज नहीं किया गया है। पादान्त सामान्य ।।-ऽ।। के बजाय ऽऽ।। रूप आया है।

नेमिचंद्र भंडारीकृत जिनवल्लभसूरि गुणवर्णन में ३५ दोहे हैं। इस ग्रंथ का रचनाकाल १३वीं शती का पूर्वार्द्ध है।[1]

संस्कृत-ग्रंथ पुरातन-प्रबंध-संग्रह के प्राकृत पद्यों में दोहा छंद का प्रयोग भी मुक्त रूप से हुआ दिखाई देता है।[2] इसी प्रकार, प्रभाचंद्राचार्य-विरचित प्रभावकचरित (समय १३३४ वि०)[3] में संस्कृत-पद्यों के बीच-बीच में प्राकृत या अपभ्रंश के पद्य भी आये हैं, जो दोहा छंद में निबद्ध हैं।[4] प्रबंधकोश (समय १४०५ वि०)[5] के संस्कृत-प्रबंधों में भी अपभ्रंश-उद्धरणों में दोहा-छंद प्रयुक्त है—

उपयारह उवयारडउ सव्वु लोउ करेइ।
अवगुणि किए ज गुण करइ, विरलउ जणणी जणेइ ॥[6]

उक्त उदाहरण के द्वितीय पाद में 'उ' का दीर्घ उच्चारण तथा चतुर्थ पाद में 'णी' का ह्रस्व उच्चारण अपेक्षित है। दोहा छंद के अन्य उदाहरण भी इस ग्रंथ में मिलेंगे।[7]

सोरठा छंद पुरातन प्रबंध-संग्रह के अपभ्रंश-पद्यों में कहीं-कहीं दृष्टिगत है।[8] राजशेखर के प्रबंधकोश (समय १४०५ वि०)[9] के अपभ्रंश-पद्यों में भी इसी प्रकार, सोरठा छंद कहीं-कहीं मिलता है। उदाहरणार्थ, निम्नोक्त पद्य देखिए—

कुमारपालह [illegible] [illegible] हरिसइ वयहरणु।
[illegible] [illegible] अवगउ किंयउ ॥[10]

दोहा-सोरठा-वर्ग के छंदों का उद्भव:—

दोहादि छंदों का [illegible] संस्कृत-परंपरा के पिंगल, जयदेव, जगकीर्त्ति, केदार आदि छंदशास्त्रियों ने नहीं किया और न अपभ्रंश-युग के पूर्व साहित्यिक काव्य के बीच

१. ऐतिहासिक जैनकाव्य-संग्रह।
२. पुरातनप्रबंध-संग्रह (सिंघी-जैन ज्ञानपीठ, कलकत्ता), पृ० १९, ४८, १२१।
३. मुनि जिनविजय : प्रबंधकोश (सिंघी-जैन ग्रंथमाला, ग्रंथांक ६); प्रास्ताविक वक्तव्य, पृ० १।
४. प्रभाचंद्राचार्य : प्रभावकचरित (सिंघी-जैन ग्रंथमाला, भारतीय विद्याभवन, बंबई, ग्रंथांक १३), पृ० ८७।
५. मुनिजिनविजय : प्रबंधकोश, प्रास्ताविक वक्तव्य, पृ० १।
६. राजशेखरसूरि : प्रबंधकोश (सिंघी-जैन ग्रंथमाला, ग्रंथांक ६), पृ० ८।
७. वही, पृ० ३१, ५१।
८. पुरातनप्रबंध-संग्रह (सिंघी-जैन ज्ञानपीठ, कलकत्ता), पृ० ५६।
९. मुनिजिनविजय : प्रबंधकोश (सिंघी-जैन ग्रंथमाला, ग्रंथांक ६); प्रास्ताविक वक्तव्य, पृ० १।
१०. राजशेखर सूरि : प्रबंधकोश (सिंघी-जैन ग्रंथमाला, ग्रंथांक ६), पृ० ५२।

इनका अधिक प्रयोग मिलता है। इससे निःसंकोच अनुमान किया जा सकता है कि दोहा-वर्ग का संबंध संस्कृत की वर्ण-वृत्त-परंपरा से नहीं, वरन् अन्य अपभ्रंश-छंदों की तरह लोक-प्रचलित ताल-संगीत से है।

कालिदास द्वारा दोहा-निबद्ध पद्य प्रामाणिक हो या न हो, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इस वर्ग के छंदों का पर्याप्त प्रचलन विरहाक-स्वयंभू के समय के बहुत पूर्व हो चुका होगा; क्योंकि स्वयंभू ने 'दुवहअ' के भेदों की चर्चा भी की है। सरहपा के काव्य में दोहा का जो विकसित रूप (१३, ११, १३, ११) मिलता है, उससे भी इस अनुमान की पुष्टि होती है।

दोहा-छंद की उत्पत्ति के संबंध मे विद्वानों की विभिन्न धारणाएँ हैं।

श्रीरघुनंदन शास्त्री का अनुमान है कि वैदिक अनुष्टुप् से गाथा या आर्या छंद तथा आर्या से दोहा-छंद विकसित हुआ है।[1] किंतु आर्या तथा दोहा के प्रकृति-वैषम्य को देखते हुए दोनों छंदों का सबंध-कथन दूरारूढ कल्पना-मात्र है। इसके अतिरिक्त शास्त्रीजी ने यह नहीं बताया है कि दोहा-छंद के जन्म और विकास की प्रक्रिया क्या है। प्रमाणों के अभाव के कारण शास्त्रीजी के मंतव्य को हम विशेष महत्त्व नहीं दे सकते।

जैकोबी का विचार है कि अपभ्रंश का दोहा-छंद, जो संस्कृत दोधक छंद से इस अर्थ में साम्य रखता है कि दोनों की प्रकृति मूलतः भगणात्मक (Dactylec) है, ग्रीक षड्गण (Hexameter) से उद्भूत है। दोहा में दो चतुर्मात्रिक षड्गण (Hexameter) को एक अनुच्छेद या पद्य में रखकर उसे भारतीय ढंग से चार पादों में विभक्त कर दिया गया। गंधार और आसपास में बसनेवाले आभीरों के माध्यम से ग्रीस का षड्गण भारत में आकर दोहा में प्रयुक्त हुआ। ग्रीको-बैक्ट्रियन राजाओं के प्रभावकाल में इन आभीरों ने होमर की कविताओं को भारतीय भाषाओं में अनूदित करने की आवश्यकता अनुभव की होगी। मूल कविताओं में षड्गण प्रयुक्त रहा होगा, इसीसे अनुवाद में भी षड्गण से बने दोहा-छंद का प्रयोग हुआ।

किंतु, कीथ ने इस मत का खंडन किया है। क्योंकि, पहले तो यही सिद्ध नहीं है कि होमर का अनुवाद प्राचीन काल में भारतीय भाषाओं में हुआ है। ऐसे किसी भी अनुवाद का आज कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं। डियो (Deo) का साक्ष्य, जिसपर जैकोबी ने अपने विचार आधारित किये हैं, प्रमाणपुष्ट नहीं। दूसरे, षड्गण का प्रयोग दोहा-छंद में स्वतंत्र रीति से भी व्याख्येय है।[2]

कीथ महोदय इतना कहकर चुप हो जाते हैं। इतना और कहा जा सकता है कि हमारे यहाँ चतुर्मात्रिक गणों का उपयोग आर्यादि-प्रसंग में पिंगल (दूसरी शती) के काल में खूब मिलता है। और, जैसे अनुष्टुप् के पद-परिवर्द्धन द्वारा जगती छंद बना, उसी प्रकार मात्रासमकादि के चतुर्गण दोहादि के षड्गण के रूप में सहज परिवर्त्तनीय थे। अतएव, दोहा की उत्पत्ति के संबंध में जैकोबी के विचार निराधार तथा नितांत भ्रममूलक हैं।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ग्रीक षड्गण से तो नहीं, किंतु आभीरों से तथा अहीर छंद से दोहा का संबंध अनुमित किया है। विद्वद्वर डॉ० द्विवेदी के विचार है—"यह कह

---

१. रघुनंदन शास्त्री: हिंदी छंदप्रकाश, भूमिका, पृ० ९।

२. **Keith : History of Sanskrit Literature; pp. 370-371.**

सकना कुछ कठिन ही है कि आभीर या अहीर जाति से इस छंद का क्या संबंध था। नाट्यशास्त्र में कथित जिस उकार-बहुला भाषा को आभीरों से संबद्ध कहा गया है, वह अपभ्रंश ही थी। दण्डी ने भी आभीर आदि की वाणी को अपभ्रंश कहा है और प्राकृत-पैंगलम् के एक विशेष छंद को आभीर या अहीर नाम दिया गया है। इस आभीर या अहीर छंद में दोहा के द्वितीय और चतुर्थ चरण के समान ग्यारह मात्राओं के चार चरण होते हैं। ...सो उसका कुछ संबंध दोहे में खोजा जा सकता है। सोरठा का संबंध सौराष्ट्र से जोड़ा गया है; क्योंकि उसे कभी-कभी सोरट्ठा दोहा भी कहा गया है और आभीर-गुर्जरों का सौराष्ट्र से पुराना संबंध है।" फिर, द्विवेदीजी स्वयं स्वीकार करते हैं कि 'यह बात ठोस प्रमाणों पर कम और अटकल पर अधिक आधारित है।'[1]

इस संकेत-सूत्र का सहारा लेकर हमने दोहा-छंद तथा अहीर छंद के परस्पर संबंध पर बहुत विचार किया है तथा इस दृष्टि से छंदोलक्षणग्रंथों एवं प्राचीन काव्यग्रंथों के पन्ने उलटे हैं। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि दोहा छंद अहीर छंद से उत्पन्न नहीं है। हमारी यह मान्यता सकारण है। लोक के बीच प्रारंभिक अलिखित प्रयोग की अवस्था में छंदों के वास्तविक विशिष्ट स्वरूप और इतिहास की जानकारी के साधन उपलब्ध नहीं। अतएव, हमें उनके लिखित प्रयोग और शास्त्रोल्लेख-संबंधी सामग्री से ही संतोष करना पड़ेगा। इस दृष्टि से यथातथ्य यह है कि अहीर छंद प्राकृतपैंगलम् के पूर्व के किसी भी छंदोग्रंथ में उल्लिखित नहीं। प्राकृतपैंगलम् १४वीं शती से पूर्व की रचना नहीं हो सकता। किन्तु दोहा-प्रयोग की परंपरा का आरंभ परिनिष्ठित काव्य के बीच आठवीं शती (सरहपा) में अवश्य हो जाता है। लक्षणग्रंथों के बीच भी दोहा के पूर्व-रूप 'दुवहअ' का सभेद उल्लेख उस काल के लगभग (विरहाक-स्वयंभू द्वारा) मिल जाता है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि अहीर छंद दोहा का परवर्त्ती है। यह हो सकता है कि अहीर छंद ही दोहा के सम पादों के अनुकरण पर बना हो।

इसके अतिरिक्त, हमने देखा है कि दोहा का पूर्व-रूप 'दुवहअ' ह्रस्वांत-पादी नहीं है। उसका गणविधान ६, ४, ४, ६, ४, २ है। अपभ्रंश की प्रकृति के कारण बाद में पादांत गुरु का वैकल्पिक उच्चारण अपनाया गया और कालान्तर में गणविधान ६।४।३।६+४।१ हो गया। इसलिए, आभीरों के ह्रस्वांत विरहा-गान से दोहा का पुराना संबंध है, ऐसा निस्सन्देह नहीं कहा जा सकता। निश्चय के साथ हम इतना ही कह सकते हैं कि 'दोहा' का पूर्वरूप 'दुवहअ' लोकप्रचलित तालसंगीत से उद्भूत है।

'दुवहअ' छंद से ही दोहा के वर्तमान रूप का विकास हुआ, यह हम चतुर्थ अध्याय में लिखा आये हैं। 'दुवहअ' शब्द से 'दूहा' और उससे 'दोहा' बना, तथा दोहक शब्द दोहा का बाद में कृत्रिम संस्कृतीकृत रूप है, यह भी हम सप्रमाण कह आये हैं। स्मरणीय है कि 'दोधक' शब्द से 'दोहा' शब्द व्युत्पन्न नहीं, जैसा भ्रमवश कुछ लोग समझते हैं।[2] दोधक छंद सोलह मात्राओं के पाद का सम वर्णवृत्त है और दोहा-छंद

1. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी: हिंदी-साहित्य का आदिकाल, पृ० ९२-९३।
2. संदेशरासक में जहाँ-जहाँ 'दोहा' या 'दोहअ' शब्द (पद्य ७४, ८८, १३६, १४७, १५१, १५५, आदि) आया है, वहाँ टिप्पणी और अवचूरिका में उसका संस्कृत-अनुवाद दोधक में किया गया है, जो निर्भ्रान्त नहीं।

से उसका कोई सबंध नही। 'दोहा' शब्द निश्चित रूप में 'दुवहअ' मे विकसित हुआ है। दोहा का सस्कृत रूप 'द्विपथ' प्राकृतपैंगलम् की टीका[1] में प्रयुक्त है। इस टीका का रचनाकाल १६९९ है। आधुनिक विद्वानो मे भयाणी ने 'द्विपथा'[2] तथा वेलकर ने 'द्विपथक'[3] रूप प्रयुक्त किया है। स० 'द्विपथक' से 'दुवहअ', उससे 'दूहा' और तब 'दोहा' रूप बने। हिंदी मे 'दूहा' तथा 'दोहा' रूप प्रचलित है, जिनमे पहला निश्चय ही अधिक पुराना है।

'दुवहअ' के मात्राविधान (१४, १२, १४, १२) को देखते हुए यह नही कहा जा सकता कि घत्ता छंद (१०+८+१३) के त्रयोदशमात्रिक उत्तरपादात मे अहीर छद का पाद (११ मात्राएँ) जोडने से दोहा का अर्द्धांश बन गया। क्योकि, दोहा के पूर्वरूप 'दुवहअ' मे १३ या ११ मात्राओ के पाद नही होते। निश्चय ही दोहा (दुवहअ) छद दो छंदो के पाद-मिश्रण से उद्भूत नही, वरन् बहुत पुराने जमाने मे ही ताल-सगीत से स्वतंत्र रूप में विकसित मात्रिक छंद है। गुजराती मे यह छद आज भी ताल-संगीत के अनुशासन मे बद्ध है और इसी रूप मे छद:शास्त्र मे भी वर्णित है।[4]

दोहा-भेद 'उवदुवहअ' (दोहरा) और 'सदोहय' ('दोही')[5] प्रारंभिक काल मे रचना-शैथिल्य या शब्द-संकट के परिणाम हो सकते है, तथा 'अवदुवहअ' (सोरठा)[6] रचनागत सांगीतिक रुचि-वैचित्र्य की प्रेरणा से जानबूझकर प्रयोग का फल हो सकता है। सोरठा के दोहा से भिन्न संगीत का सकेत प्रारभिक रचयिताओ को लगातार दोहा-पाठ के क्रम मे मिला होगा, जिसमे दोहा के दूसरे पाद (११ मात्राएँ) के बाद तीसरे पाद (१३ मात्राएँ) के अविलंब पाठ द्वारा सोरठा की लय-सृष्टि होती होगी। दोहा का इस प्रकार द्रुत पाठ धर्मोपदेशमूलक मुक्तक रचनाओ की अपेक्षा वर्णनात्मक कथा-काव्यों में अधिक संभव है, जिसकी परपरा आदि काल मे राजस्थान-सौराष्ट्र-प्रभृति पश्चिमीय प्रांतों में वर्त्तमान थी।

संभव है, सौराष्ट्र या सोरट्ठ मे जन्म ग्रहण करने अथवा अधिक प्रचलित होने के कारण 'अवदुवहअ' का नाम बाद मे सोरठा पड़ गया। प्राकृतपैंगलम् मे 'सोरठा' नाम आया है[8] तथा उसकी प्रायः सभी टीकाओं में इसके लिए संस्कृत 'सौराष्ट्र' शब्द प्रयुक्त हुआ है।[9] इससे हमारे अनुमान की पुष्टि होती है। डॉ० द्विवेदी भी सोरठा का संबंध सौराष्ट्र नामक भू-भाग से अस्वीकार नही करते।[10]

---

१. प्रा० पैं० की वंशीधरकृत पिंगलप्रकाश-टीका; बिब्लियोथिका इंडिका-संस्करण, पृ० १३८ तथा भूमिका, पृ० ६।
२. भयाणी: संदेशरासक की भूमिका।
३. वेलंकर: वृ० जा० स०, ४।२७, लक्षणसूत्र और संस्कृतानुवाद।
४. रामनारायण पाठक: बृहत् पिंगल, पृ० ३१४।
५. (१२, ११, १२, ११)
६. (१५, ११, १५, ११)
७. (११, १३, ११, १३)
८. प्रा० पैं०, १।१७०।
९. विश्वनाथ पंचानन तथा वंशीधर (पिंगलप्रकाश) की टीकाएँ; प्राकृतपैंगलम्, बिब्लियोथिका इंडिका-संस्करण, पृ० १७८-१७९।
१०. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी: हिंदी-साहित्य का आदिकाल, पृ० ९२-९३।

'दोहरा' नाम उवदुवहअ (उप-द्विपथक) के समान ही उचित न्यूनता-वाचक तथा दोही नाम सदोहय (स०-द्विपथक) के ही समान उचित ही अधिकता-वाचक है। इसी तरह 'अवदुवहअ' (अवद्विपथक) शब्द से 'दुवहअ' के उल्टा होने का बोध होता है। प्रत्यय-उपसर्गों के प्रयोग द्वारा दोहा-भेदों का मूल दोहा-छंद से अंतर ध्वनित है। केवल 'सोरठा' शब्द प्रचलन-स्थान-सूचक है।

चुलियाला (चूडाल-दोहक) छंद के दोहा के सम पादों में ५ मात्राएँ जोड देने से बन जाता है।[1] यह छंद निःसंदेह दोहा के सचेत पाद-परिवर्द्धन का परिणाम है। इसका चूडाल नाम इंगित करता है कि यह एक प्रकार का चूडा-युक्त या परिवर्द्धित दोहा है, अथवा इसमें एक चूलिका (चोटिका) अतिरिक्त ५ मात्राओं के रूप में सम्बद्ध है।[2] 'चूडा' या 'चूलिका' में 'इल्ल' या 'आल' (संबंधवाचक प्रत्यय) जोड देने से चूडियाला, चूडिल्लय, चूडाल आदि शब्दों की व्युत्पत्ति सिद्ध होती है।

बरवै छंद, जिसे भिखारीदास ने ध्रुवा तथा हरदेवदास ने नंदादोहा कहा है, निश्चय ही बहुत बाद का छंद है; क्योंकि संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश के छंदोग्रंथों में यह छंद उल्लिखित नहीं। हेमचन्द्र ने एक भिन्न छंद 'ध्रुवा' के कई भेदों का कथन किया है, जिनमें प्रथम भेद में सात मात्राएँ होती हैं।[3] जैसे घत्ता का प्रयोग कडवकांत में होता था उसी प्रकार ध्रुवा या ध्रुवक का योग गेय पद-शैली में पदारम्भ में होता था। संभव है, इसी सप्तमात्रिक पाद के आरंभ में १२ मात्राएँ जोड़कर परवर्ती बरवै छंद बना, जिसके लिए भिखारीदास ने पुराना नाम ध्रुवा ही प्रयुक्त किया। 'बरवै' नाम इस छंद का कैसे पड़ा, इस संबंध में एक किंवदंती है[4]—

नवाब अब्दुर्रहीम खानखाना के एक कर्मचारी ने अपने विवाह के लिए कुछ दिन की छुट्टी ली थी। काम पर वापस लौटने में देर हो जाने के कारण वह भयभीत और चिंतित था। यह देख उसकी स्त्री ने एक कागज पर निम्नोद्धृत पद्य लिखकर पति को दिया कि अपनी सफाई के रूप में यह नवाब साहब को दे दिया जाय—

प्रीति रीति का 'बिरवा' चलेहु लगाय।
सींचन की सुधि लीजै मुरझि न जाय॥[4]

खानखाना इसे पढ़कर इतने खुश हुए कि इसी छंद में, जिसे 'बिरवा' या 'बरवै' कहा गया, उन्होंने नायिका-भेद लिखा। इस प्रकार 'बिरवा' प्रेम के पौधे से छंद बन गया।

बरवै का दोहा से संबंध यह हो सकता है कि इस छंद में उपदोहा या दोहरा के द्वादशमात्रिक पाद का उपयोग ध्रुवा के सप्तमात्रिक पाद के साथ हुआ है। इसीसे हरदेवदास जैसे लक्षणकार इसे दोहा-भेद मानते हैं। यों, दोनों छंद अर्द्धसम चतुष्पदी हैं ही।

---

१. प्रा० पैं०, १।१६७।

२. चूडा: चूलिका चोटी, शिखा; चूडाल· शिखायुक्त।—बृहत् हिंदी-कोश, ज्ञानमंडल, काशी, पृ० ४३७।

३. हे० छं०, ६।४।

४. रहिमनविलास (सं० व्रजरत्नदास), भूमिका, पृ० ५५।

दोहा छंद का तालसांगीतिक विश्लेषण हम अ० ३-४ में कर आये हैं। यहाँ उसकी आवृत्ति आवश्यक नहीं।

दोहा-वर्ग के छंदों का परवर्ती प्रयोग-वैविध्य

मध्यकालीन हिंदी-कविता में दोहादि छंद आदिकालीन अपभ्रंश की अपेक्षा कम लोकप्रिय नहीं रहे हैं। वस्तुतः, दोहा-सोरठा के प्रयोग का क्षेत्र-विस्तार ही हमारे विवेच्य काल मे हुआ है। चरित-काव्यों में कड़वकांत घत्ता के रूप में गाथा, घत्ता और उल्लाला छंदों को दोहा ने मध्य युग में सर्वथा निष्कासित कर डाला, रोला तथा अन्य छंदों के योग से दोहा ने कुंडलिया-प्रभृति अनेक प्रगाथों की सृष्टि की, मुक्तक रूप मे शास्त्र-विवेचन, धर्मोपदेश, नीति तथा शृंगार के विविध प्रसंगों मे वह वर्णन का सर्वाधिक लोकप्रिय माध्यम बना एवं यदा-कदा गेय पदों में कतिपय रूपांतर के साथ टेक या ध्रुवक के रूप में प्रयुक्त हुआ। इस तरह दोहा एक सर्व-विषयानुकूल (omni purpose) छंद है, जो प्रत्येक भाव और शैली के लिए समान रूप से उपयोगी है। हम दोहादि छंदों के इन विविध प्रयोगों का अति संक्षिप्त अवलोकन करे। आदिकालीन वीरगाथा-काव्य में दोहा-प्रयोग के उदाहरण पृथ्वीराजरासो प्रस्तुत करता है।[1] इस ग्रंथ में छंद का अपेक्षाकृत पुराना नाम दूहा प्रयुक्त है। चंद का एक दूहा देखिए—

जंपि सुकी सुक पेम करि। आदि अंत जो बत्त।
इंच्छिनि पिथ्थह व्याह विधि। मुब्ब मुनंते गत्त॥[2]

१३ मात्राओं के बाद प्रति पंक्ति में विराम इस बात का द्योतक है कि चंद के युग में दोहा चतुष्पदी की तरह प्रयुक्त था, यद्यपि दो पंक्तियों में ही इसे लिखते थे। पृथ्वीराजरासो में सोरठा का भी अभाव नहीं है।[3] चंद ने प्रगाथ कुंडलिया के अंगरूप में भी दोहा-प्रयोग किया है।[4]

वीरकाव्य के लिए दोहा-छंद मुक्तक और प्रगाथ दोनों रूपों में हमारे विवेच्य काल में भी प्रयुक्त होता रहा है। साथ ही, मध्यकालीन वीरकाव्य में दोहा-छंद छप्पय और पद्धरि के समान ही लोकप्रिय भी रहा है। इस वर्ग के कवियों में जोधराज,[5] जटमल,[6] गोरेलाल,[7] श्रीधर,[8] सदानंद,[9]

---

१. चंद बरदाई: संक्षिप्त पृथ्वीराजरासो (सं० डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी)। पृ० १-५, ७-९, १२, १५, १८, २३, ३९, ५७, ११३ आदि।
२. वही, पृ० १।
३. वही, पृ० १२।
४. वही, पृ० २८, ६६, ८८, १०८, १११, १२२, १२६, १३९ आदि।
५. जोधराज: हम्मीररासो (१७वीं शती)।
६. जटमल: गोराबादल री कथा (रचनाकाल सं० १६८५)।
७. गोरेलाल (लाल कवि): छत्रप्रकास (१७वीं शती)।
८. श्रीधर: जंगनामा (१८वीं शती)।
९. सदानंद: रासा भगवंत सिंह।

सूदन,[1] गुलाब,[2] केशव,[3] भूषण,[4] पद्माकर,[5] और मतिराम[6] ने दोहा या दोहरा का प्रयोग किया है।[7]

सोरठा का प्रयोग जोधराज, जटमल, सूदन, गुलाब तथा केशव ने किया है।[8] प्रगाथ अमृतध्वनि तथा कुंडलिया के अंगरूप में भी वीरकाव्य के अंतर्गत दोहा प्रयुक्त है। प्रथम के उदाहरण सूदन, गुलाब और भूषण की रचनाओं में तथा दूसरे के उदाहरण इनके अतिरिक्त जटमल की रचनाओं में भी दृष्टिगत है।[9]

जोधराज के हम्मीररासो में दोहा को दोहरा कहा गया है। उदाहरण देखिए—

हरि समुह अस्तुति करत, करव अचल नग आय।
बाम करों तिहि पर अचल, यज्ञ करै नव पाय॥[10]

उक्त उदाहरण का मात्राविधान १३, ११, १३, ११ है।

मध्यकालीन संत-काव्य में दोहा-सोरठा का प्रयोग अधिकांशतः मुक्तक-शैली में धर्मोपदेश, सम्प्रदाय-सिद्धान्त प्रचार तथा खंडन-मंडन के लिए किया गया है, यद्यपि कबीर आदि की रमैनियों में दोहा का प्रबन्ध-बद्ध प्रयोग भी हुआ अवश्य है।

कबीर की रमैनी में दोहा-चौपाई-शैली व्यवहृत है। ३ से १३ तक अर्द्धालियों के बाद एक-एक दोहा आया है। रमैनी में इस प्रकार के कुल ८४ कड़वक के लिए ८४ दोहे प्रयुक्त हैं।[11] कबीर की 'साखी' में दोहा मुक्तक रूप में प्रयुक्त है। इन दोहों को सम्प्रदाय में प्रमाण या साक्षी (साखी) की तरह काम में लाया जाता था, अतएव ये साखी कहलाये। एक साखी देखिए—

जिन जिन संबल ना कियो, अस पुर पाटन पाय।
झालि परे दिन आथये, संबल कियो न जाय॥[12]

उक्त साखी के पादों में क्रमशः १२, ११, १२, ११ मात्राएँ हैं, अतः यह उवदोहअ या दोहरा का उदाहरण है।

निम्नलिखित पंक्तियों में दोहा का अपेक्षित मात्राविधान १३, ११, १३, ११ प्रयुक्त हुआ है—

१. सूदन : सुजानचरित (१८वीं शती)।
२. गुलाब : करहिया को रायसो (१८वीं शती)।
३. केशव : वीरसिंहदेवचरित (रचनाकाल सं० १६६४)।
४. भूषण : शिवराजभूषण (१८वीं शती)।
५. पद्माकर : हिम्मतबहादुर-विरुदावली (जन्म सं० १८१०)।
६. मतिराम : ललितललाम (१७वीं शती)।
७. टीकमसिंह तोमर : हिंदी-वीरकाव्य (हिंदुस्तानी एकेडमी), पृ० १३१।
८. वही, पृ० १३२।
९. वही, पृ० १३३।
१०. जोधराज : हम्मीररासो (ना० प्र० सभा, काशी), ४९।
११. कबीर : बीजक (कबीर-ग्रंथ-प्रकाशन-समिति, बाराबंकी), पृ० १-२७।
१२. वही, पृ० ९२।

हीरा परा बजार में, रहा छार लपटाय।
मूरख था सो बहि गया, पारखि लिया उठाय।।[1]

यद्यपि गणविधान ६+४+३,+६+४+१ चरितार्थ नहीं। प्रथम पाद में ही ६ठी-७वीं मात्राएँ मिलकर गुरु ('रा') बन गई हैं। चतुर्थ पाद में भी ६ठी-७वीं मात्राएँ गुरु ('या') रूप मे संयुक्त हैं। अतएव, इन पादों में पट्कल नहीं बनते। संतों की वाणी में ऐसे नियम-शैथिल्य के उदाहरण बहुत मिलेंगे; क्योंकि वे न तो छंदःशास्त्रज्ञ थे, न छंदोगत सौष्ठव उन्हे अनिवार्यतः अभीष्ट ही था।

दोहा का प्रयोग संतो मे जंभनाथ (सं० १५०८),[2] अंगद (सं० १५६१),[3] अमरदास (सं० १५३६),[4] सिगाजी (सं० १५७६),[5] गुरु रामदास (सं० १५९१),[6] दादूदयाल (स० १६०१),[7] गुरु अर्जुनदेव (स० १६२०),[8] बषना,[9] गरीबदास (सं० १६३२),[10] हरिदास निरंजनी (१७वी शती),[11] गुरु तेगबहादुर (सं० १६७९)[12] तथा मलूकदास (सं० १६३१)[13] ने किया है। इन सभी की रचनाओं में (कबीर की ही तरह) दोहा को साखी कहा गया है। गुरु तेगबहादुर के दोहे तो साखी ही नहीं, सलोक (श्लोक) भी कहे गये है, यद्यपि अनुष्टुप् (श्लोक) से इन दोहो का कोई संबंध नहीं। संभवतः, इसलिए कि ये संस्कृत काव्य-पुराणादि मे व्यापक रूप से प्रयुक्त श्लोक के समान ही असाधारण महत्त्व से मंडित माने गये। इन साखियों का विषय प्रायः सदैव धर्मोपदेश या संप्रदाय-सिद्धात रहा है और इनकी शैली मुक्तक रही है।

सुन्दरदास (स० १६५३)[14] के दोहे पर्याप्त सुन्दर हैं, यद्यपि वे साखी नहीं कहे गये।[15] सोरठा के भी प्रचुर उदाहरण सुन्दरसार मे उपलब्ध हे।[16] इन मुक्तक प्रयोगों के अतिरिक्त प्रगाथ कुडलिया के अगरूप मे भी दोहा का प्रयोग सुन्दरदास ने किया है।[17]

---

१. वही, पृ० १०७।
२. संतकाव्य (सं० परशुराम चतुर्वेदी), पृ० २३५।
३. वही, पृ० २५५, २५६।
४. वही, पृ० २५७, २६१, २६६।
५. वही, पृ० २६७, २७१।
६. वही, पृ० २७२, २७८।
७. वही, पृ० २८२, २८९।
८. वही, पृ० २९७, ३०८।
९. वही, पृ० ३१३।
१०. वही, पृ० ३१७, ३२०।
११. वही, पृ० ३२१, ३२७।
१२. वही, पृ० ३४०, ३५०।
१३. वही, पृ० ३५१, ३५८।
१४. श्यामसुन्दरदास: सुन्दरसार, भूमिका, पृ० ११।
१५. सुन्दरदास: सुन्दरसार, पृ० २, १७, ३६, ३७, ४१, ७४, ७५ आदि।
१६. वही, प० ३, २७, २८ आदि।
१७. वही, पृ० ९९-१०१।

दोहा-सोरठा का कड़वक-बद्ध घत्तार्थ प्रयोग मतकाव्य मे अपवाद, किंतु प्रेमाख्यानक काव्य में नियम है। घत्ता-प्रसंग में[1] हमने देखा है किस प्रकार मुल्ला दाऊद के चंदायन, कुतबन की मृगावती,[2] जायसी के पद्मावत तथा आखिरी कलाम,[3] मंझन की मधुमालती,[4] उसमान की चित्रावली,[5] जानकवि की कनकावती,[6] कामलता,[7] रतनावली[8] तथा छीता,[9] कासिमशाह के हंसजवाहर,[10] नूर मुहम्मद की इंद्रावती,[11] अनुराग-बाँसुरी[12] आदि ग्रंथों में चौपाई मे कडवक-रचना तथा कडवकांत घत्ता के लिए व्यापक रूप से दोहा-छंद प्रयुक्त हुआ है। मुल्ला दाऊद[14] के चंदायन या लोरकहा मे चौपाई की अर्द्धालियों के बाद दोहा का घत्तार्थ प्रयोग हुआ है, जो सूफी-प्रेमाख्यानक काव्य की परवर्त्ती परंपरा मे घत्तार्थ दोहा-प्रयोग के प्राय: एकाधिपत्य को पूर्वाभासित करता है। मुल्ला दाऊद का चंदायन सूफी प्रेमकथाओं की परंपरा मे सर्वाधिक प्राचीन है। परिनिष्ठित काव्य के प्रभाव मे अपेक्षाकृत मुक्त होने के कारण इस ग्रंथ मे दोहा-प्रयोग अपने बहुत पूर्ववर्त्ती लोकसाहित्य मे प्रयुक्त दोहा के स्वरूप का परिचायक कहा जा सकता है। इस ग्रंथ से दोहा छंद के तीन उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं—

(१) आगे चांद गयानी पाछे लोरिक बीर।
    १२ (।६) ११ (।५)
    दइय सजोग गाग सब उतरे बूड़त पाएउ तीर॥[15]
    १६ (०) ११ (।५)

१. दे० अ० ५, पृ० ८।
२. सूफी काव्यसंग्रह (हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग), पृ० ९५।
३. जायसी-ग्रंथावली (सं० डॉ० माताप्रसाद गुप्त, हिंदुस्तानी एकेडमी), पृ० १२१।
४. वही, पृ० ६८७।
५. सूफी काव्यसंग्रह, पृ० ११९।
६. चित्रावली (ना० प्र० सभा, काशी, १९१२ ई०)।
७. सूफी काव्यसंग्रह, पृ० १४३।
८. वही, पृ० १४५।
९. वही, पृ० १४९।
१०. वही, पृ० १५२।
११. वही, पृ० १५५।
१२. वही, पृ० १६२।
१३. वही, पृ० १६७।
१४. रचनाकाल सं० १३७५ वि०; परशुराम चतुर्वेदी: सूफी-काव्य-संग्रह, पृ० ९७। मुल्लादाऊद का 'चंदायन'-'लोरकहा' शीर्षक से डॉ० विश्वनाथ प्रसाद तथा डॉ० माताप्रसाद गुप्त के संपादकत्व में आगरा-विश्वविद्यालय, हिंदी-विद्यापीठ द्वारा प्रकाशित हुआ। यह अमूल्य ग्रंथ अबतक अनुपलब्ध था।
१५. मुल्लादाऊद: लोरकहा (चंदायन); (सं० डॉ० विश्वनाथ प्रसाद तथा डॉ० माता-प्रसाद गुप्त), कड़वक १९, पृ० २०।

इस उद्धरण के प्रथम पाद मे १२, तृतीय मे १६ तथा द्वितीय-चतुर्थ पादों मे ११-११ मात्राएँ हैं।

(२) अस सुनि लोरिक सिघ जस गाजा लइ ओडन पुतार।
१६ (+०) ११ (+५)
बावन आगि जवहि सो छोडा अँगवहि बीर सभार॥[1]
१६ (+०) ११ (+५)

इस उद्धरण मे प्रथम-तृतीय पादों मे १६-१६ तथा द्वितीय-चतुर्थ पादों मे ११-११ मात्राएँ हैं।

(३) मुख कारइ कइ बोदई बइठल बैल बँधाइ।
१३ (+३) ११ (+५)
रैनि राइ करिगा बेगि हँकारहि जाइ॥[2]
११ (+५) ११ (+५)

इस उद्धरण के प्रथम-तृतीय पादो मे क्रमशः १३-११ तथा द्वितीय-चतुर्थ पादो मे ११-११ मात्राएँ हैं।

तीनों उद्धरणो मे द्रष्टव्य है कि सम पादों मे से प्रत्येक मे ११ मात्राएँ नियमपूर्वक अवश्य आती है, किंतु विषम पादों की मात्रा-संख्याएँ विभिन्न (११ से १६ तक) हैं। फिर भी लय दोहा की ही है। हिंदी के अन्य सूफी कथाकाव्यों मे भी घत्तार्थ दोहा छद ही प्रयुक्त है। अतएव, लोरकहा के घत्तार्थ प्रयुक्त छंद का भी दोहा होना सर्वथा स्वाभाविक है। अतएव, ये उद्धरण दोहा-छद के ही कहे जायँगे। इनके विषम पादों मे मात्रासंख्या का वैभिन्न्य इस बात का सूचक है कि सूफी कवि परिनिष्ठित प्रभाव से मुक्त होने के कारण वर्ण-मात्राओ की विशेष चिता नही करते थे और ताल-मात्राओं की अपेक्षित योजना को ही पर्याप्त मानते थे। कहा जा चुका है कि दोहा में तालमात्राओं की सख्या १६, १६, १६, १६ होती है, जिसकी पूर्ति व्यावहारिक छंदःप्रयोग मे वर्ण-मात्राओं के अतिरिक्त विराम या प्लुत उच्चारण के सहारे भी की जाती है।[3] उपर्युक्त उद्धरणों मे भी जिन पादों में वर्ण-मात्राओं की संख्या १६ (=तालमात्राओं की संख्या) से कम है, वहाँ इस कमी की पूर्ति विराम या प्लुत उच्चारण द्वारा की जायगी, जैसा पादों के नीचे कोष्ठकों की मात्रा-संख्याओ द्वारा संकेतित है। ध्यातव्य है कि विषम पादों मे १६ से अधिक मात्राएँ नही आई हैं और जहाँ वर्णमात्राएं १६ से कम है, वहाँ प्लुत अथवा विराम के लिए अवकाश वर्त्तमान है। मुल्ला दाऊद जैसे पुराने कवि द्वारा वर्ण-मात्राओं के सख्या-नियम की उपेक्षा तथा प्लुत आदि के सहारे नियमित ताल-मात्राओं की योजना द्वारा दोहा-लय की रक्षा का उद्योग हमारे इस मतव्य का पोषक है कि दोहा की उत्पत्ति मूलतः लोक-प्रचलित ताल-संगीत से हुई है, वर्ण-वृत्त से नहीं। विषम पादों मे सोलह मात्राओं के पाद के आधिक्य के कारण यह भी कहा जा सकता है कि दोहा-विकास के क्रम में एक स्थिति वह भी थी, जब विषम पादों में वर्ण-मात्रा संख्या प्रायः

१. वही, कड़वक २४, पृ० २२।
२. वही, कड़वक ३२, पृ० २६।
३. दे० अ० ३, पृ० २२७-२२९।

१६ (ताल-मात्रासंख्या) होती थी तथा केवल सम पादो मे वर्णमात्रासंख्या १६ से ११ हो गई थी और तालबद्ध दोहा-पाठ मे ५ मात्राओ की क्षति-पूर्ति के लिए प्लुत आदि का प्रयोग प्राय केवल सम पादों मे होता था।

लोरकहा की तरह अन्य सूफी-कथाकाव्यो मे भी दोहा-प्रयोग मे यह वर्ण-मात्रा-नियम-शैथिल्य कहीं-कही दृष्टिगत है किन्तु (संभवत परिनिष्ठित प्रभाव के फलस्वरूप) यह प्रवृत्ति उत्तरोत्तर घटती गई [1]। अन्य सूफी कवियो के घत्तार्थ दोहा-प्रयोग की सविस्तर चर्चा हम कडवकान्त घत्ता विधान के प्रसंग मे कर आये है।[1] अतएव, यहाँ उनकी पुनरावृत्ति अनावश्यक है। सूफी प्रेमाख्यानक काव्य के प्राचीनतम ज्ञात कवि मुल्ला दाऊद के अतिरिक्त इस काव्य धारा के सर्वाधिक प्रसिद्ध कवि मलिक मुहम्मद जायसी के दोहा-प्रयोग को उदाहृत-विवेचित करना पर्याप्त होगा। जायसी के अखरावट मे प्राय ७ अर्द्धालियो के बाद एक दोहा के साथ एक सोरठा भी घत्ता के रूप मे नियमपूर्वक आया है। दोहा के साथ सोरठा या अन्य छदो का इतना नियमित घत्तार्थ प्रयोग और किसी कवि ने नही किया है।

जायसी के पद्मावत का निम्नाकित दोहा प्रसिद्ध है—

यह तन जारौ छार कै, कहौ कि पवन उड़ाउ।
मकु तेहि मारग होइ परौ, कंत धरै जह पाउ॥[2]

उक्त उद्धरण मे १३, ११, १३, ११ के मात्राविधान की चरितार्थता के लिए तीसरे पाद मे 'ते' तथा 'हो' का ह्रस्व उच्चारण अपेक्षित है।

प्रयत्न-शैथिल्य या छद शास्त्रीय नियमो के ज्ञान की अल्पता के कारण दोहा के मात्रा-विधान मे अक्सर न्यूनताधिक्य दिखाई देता है। दोनों अर्द्धांशों में यह समान रूप से होने पर दोहा-भेद बन जाता है। दोहा-भेदो मे उबहुबह्न या दोहरा का उदाहरण पदमावत से देखिए—

बिरह न आपु सँभारै, मैल चीर सिर रूख।
पिउ पिउ करत रात दिन, पपिहा भइ मुख सूख॥[3]

उक्त पद्य म मात्राविधान १२, ११, १२, ११ है।

प्रेमाख्यानक काव्य मे दोहा का और प्रायः दोहा का ही कडवकान्त घत्तार्थ प्रयोग मिलता है। साथ ही, दोहा-प्रयोग इस काव्य-प्रवृत्ति के अतर्गत मुक्तक रूप मे अथवा प्रगाथ छंदों के अगरूप मे नही दिखाई देता। दोहा के शैली-वैविध्य की दृष्टि से राम-काव्य तथा कृष्ण-काव्य के क्षेत्र अपेक्षाकृत अधिक उर्वर है।

कृष्णकाव्यान्तर्गत सूरदासकृत सूरसागर[5] कडवक-बद्ध रचना नहीं, वह गेय पदों तथा मुक्तक वर्णनात्मक छंदों का कथा-क्रम से संकलन है। फिर भी, कही कही कडवक-बद्ध

---

१. दे० अ० ५, पृ० ४।
२. जायसी-ग्रंथावली (हिंदुस्तानी एकेडमी), पृ० ६५३।
३. वही, पदमावत, पृ० ३६०।
४. वही, पृ० २७२।
५. सूरदास: सूरसागर (नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी), सं० २००९।

शैली का प्रयोग सूरसागर मे मिल जाता है। इन प्रसगो मे कडवक-रचना अनिवार्यतः चौपाई द्वारा नही हुई है। एक स्थल पर तो १४ मात्रिक-पादी सखी छद[1] की चार-चार अर्द्धालियो के पूर्व एक-एक दोहे का प्रयोग हुआ है। अतिम कडवक मे अर्द्धालियो की सख्या आठ है।[2]

सूरसागर मे पद-शैली के लिए दोहा-छद के पाद प्राय प्रयुक्त नही दिखाई देते। फिर भी, ऐसे प्रयोग का उसमे सर्वथा अभाव नही है। राग मल्लार मे निबद्ध गेय पदो मे दोहा का सुन्दर प्रयोग हुआ है।[3] उदाहरण देखिए—

ग्वालिनि प्रगट्यो पूरन नेहु।
दधि-भाजन सिर पर धरे, कहहि गोपालहि लेहु॥
बन-वीथिनि अरु पुर-गलिनि, जहाँ तहाँ हरि-नाउँ।
समुझाई समुझति नही, सिख दै बिथक्यौ गाउँ॥[4]

वर्णनात्मक प्रसगों मे मुक्तक रूप मे दोहा प्रयुक्त है। उदाहरण—

व्यास कहे सुकदेव सो द्वादस स्कध बनाइ।
सूरदास सोई कहे पद भाषा करि गाइ॥

सूरसागर मे अनेक स्थलो पर कई अन्य छदो के साथ मिलाकर दोहा का प्रासगिक प्रयोग हुआ है। कही रोला के दो पादो के बाद एक दोहा प्रयुक्त है,[6] कही रोला के चार पादो के बाद।[7] किंतु सभी दशाओ मे प्रसग का प्रारम्भिक पादयुग्म किसी तीसरे छंद मे—अक्सर चाद्रायण (११+१०) या प्लवगम (८+१३, आदि ऽ, अत ।ऽ।ऽ)[8] मे निबद्ध होता है। कही-कही रोला के विकल्प मे चार या दो पादो के बाद एक दोहा आया है तथा तदुपरात अनुच्छेद-पूर्ति दस मात्राओ के एक पाद के ध्रुवक या टेक द्वारा की गई है।[9] इस शैली का उपयोग नददास ने भी भँवरगीत मे किया है। काव्य-(रोला) प्रसग मे इसका उदाहरण दिया गया है।[10]

सपूर्णतया दोहा मे रचित ग्रथ नददास-कृत अनेकार्थध्वनिमजरी तथा नाममाला हैं।[11] इनमे दोहा-छद स्फुट मुक्तक के रूप मे प्रयुक्त है। दोहा का कडवकात घत्ता के रूप मे प्रयोग नददासकृत रूपमजरी तथा विरह-मंजरी मे दृष्टिगत है।[12] प्रथम मे चौपाई की

---

१. छं० प्र०, पृ० ४६।
२. सूरसागर, १८००।
३. वही, २०६१, २२५८।
४. वही, २२५८।
५. वही, २२५।
६. वही, १०५६, ११९०, १२०७, १४५९, १७९३, २०७९, २१०९, ३७०८।
७. वही, ४८०६।
८. छं० प्र०, पृ० ५७-५८।
९. सूरसागर, २२३६।
१०. दे० अ० ६, पृ० ३।
११. नंददास: ग्रंथावली (ना० प्र० सभा, काशी), पृ० ४९ तथा ७६।
१२. वही, पृ० ११७ तथा १६२।

अर्द्धालियों के बाद केवल दोहा प्रयुक्त है, दूसरे में कहीं-कहीं दोहोपरांत सोरठा भी। भागवत, दशमस्कंध में चौपाइयों के बीच बहुत दूर-दूर पर दोहा प्रयुक्त है।[1]

घनानंद के काव्य में दोहा छंद के मुक्तक प्रयोग के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं।[2] सरसवसंत, अनुभवचंद्रिका, रंगबधाई, प्रेमपद्धति आदि में चौपाई के साथ दोहा का प्रयोग है, लेकिन उनमें भी कडवक-व्यवस्था नहीं दिखाई देती।

रसखानि ने अधिकतर कवित्त-सवैया का प्रयोग किया है, किन्तु कहीं-कहीं दोहा का भी मुक्तक के रूप में प्रयोग किया गया है।[3]

कृष्णकाव्य के अंतर्गत दोहा का प्रयोग अक्सर अलौकिक शृंगार-वर्णन के प्रसंग में हुआ है। नंददास ने अनेकार्थ, मानमंजरी तथा नाममाला में दोहों का विशुद्ध साहित्यिक तथा शृंगारेतर प्रसंग के लिए प्रयोग किया है।

राम-काव्य में भी दोहा का प्रयोग विभिन्न प्रसंगों में तथा विविध शैलियों में दृष्टिगत है। तुलसीदास के रामचरितमानस में कडवकों के रूप में दोहा साथ चौपाई की आठ अर्द्धालियों के बाद आया है। सामान्य नियम तो यह है कि एक कडवक के अंत में एक दोहा प्रयुक्त है[4] किंतु अपवाद रूप दो या अधिक दोहों के प्रयोग[5] हैं अथवा दोहा के स्थान पर या उसके साथ सोरठा छंद के प्रयोग के उदाहरण भी अनेक मिलेंगे।[6] दो कडवकों के बीच अथवा कडवकांतर्गत चौपाइयों तथा दोहा-रूप होने के बीच कभी-कभी हरिगीतिका, सवैया[7] आदि अन्य छंद भी आ गये हैं, दोहा का मुक्तक प्रयोग भी तुलसी के काव्य में दोहावली, वैराग्यसंदीपनी तथा रामाज्ञा-प्रश्न[8] में उपलब्ध है। रामाज्ञा-प्रश्न में सात सर्ग हैं, प्रत्येक सर्ग में सात सप्तक हैं तथा प्रत्येक सप्तक में सात दोहे हैं। इस प्रकार कुल दोहों की संख्या ७ × ७ × ७ = ३४३ है। दोहावली या वैराग्य-संदीपनी में इस प्रकार का कोई क्रम स्वीकार नहीं। दोहावली में सोरठा छंद भी अंतर्भुक्त है,[9] वैराग्यसंदीपनी में सोरठा के अतिरिक्त चौपाई भी बीच-बीच में कहीं-कहीं प्रयुक्त है।[10]

प्राकृतपैंगलम् में दोहान्तर्गत प्रयुक्त गुरु-लघुवर्णों की संख्या के आधार पर दोहा के

---

१. वही, पृ० २१६।

२. घनानंद: ग्रंथावली, सुजानहित, १७२, १९१, ४१२, ४४८-४५१; कृपाकंद, ४१, ४२, ४३, ४६; इश्कलता, १-५, २२, २६, २७, ३३, ३४ आदि; प्रेमसरोवर, १-८; व्रजविलास, १-६९, सरसवसंत, १-६, ६६-७८; अनुभवचंद्रिका, ९, ५४, ५५; गोकुलगीत, २२, २३; रंगबधाई, ३, १२, ५३; कृष्णकौमुदी, १-४७, ५७-८४।

३. रसखानि (सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, वाणी-वितान, बनारस), १९, ७०, ७१, ९१, ९३, १०९, १४९ आदि।

४. तुलसीदास: रामचरितमानस, १।३, ७, १०, २८-३०, ४३, १५९, १७८ आदि।

५. वही, १।१४, १६, १७, ४८, ५१, ९३, १२०, १२४, १६१ आदि।

६. वही, १।५१, ८४-८७, ९३-१०३, २६१, ३१६-३२७ आदि।

७. वही, १।१८३, १८४, १८६, १९२ आदि।

८. तुलसी-ग्रंथावली (ना० प्र० सभा, काशी), पृ० १०३।

९. वही, पृ० ९।

१०. वही, पृ० ९७।

भ्रमर-भ्रामर-आदि २३ भेद[1] कथित हैं। इन सभी भेदों का इस युग तक व्यावहारिक काव्य के बीच प्रयोग हो चुका हो, यह आवश्यक नहीं। ये भेद सैद्धांतिक दृष्टि से उल्लिखित हैं। तुलसी की दोहावली के प्रथम ५ दोहों का इस दृष्टि से हमने विश्लेषण किया है, जिसका परिणाम इस प्रकार है—

दोहा-भेद	गुरु-संख्या	लघु-संख्या	उपलब्ध दोहों की संख्या
१. शार्दूल[2]	६	३६	२
२. कच्छ[3]	७	३४	५
३. मच्छ[4]	८	३२	४
४. त्रिकल[5]	९	३०	६
५ वानर[6]	१०	२८	९
६. चल[7]	११	२६	८
७. पयोधर[8]	१२	२४	७
८. मदकल[9]	१३	२२	२
९. हंस[10]	१४	२०	३
१०. नर[11]	१५	१८	३
११. करभ[12]	१६	१६	१

इस विश्लेषण द्वारा देखते हैं कि बहुत कम या बहुत अधिक गुरुवाले दोहे अपेक्षाकृत कम आये हैं। आधिक्य उन्हीं दोहों का है, जिनमें गुरु वर्णों की संख्या ७ से १२ तक है। विश्लेषण के लिए, लिये गये ५० दोहों में ६ से कम अथवा १६ से अधिक गुरु-वाले दोहे नहीं मिले। किंतु अन्यत्र तुलसी ने ६ से कम गुरुवाले दोहों का प्रयोग किया अवश्य है। उदाहरण—

---

१. प्रा० पैं०, १।८०-८२।
२. तुलसी-ग्रंथावली, दोहावली, २४, ४१।
३. वही, ७, १६, १७, ३५, ४२।
४. वही, २, ४, ९, २७।
५. वही, ५, १९, २१, २८, ३७, ३९।
६. वही, ३, ८, १८, २०, २५, २६, ३१, ३२, ५२।
७. वही, १, ११, १३, १४, ३३, ३८, ५०, ५५।
८. वही, २२, २९, ३०, ३४, ४०, ५१, ५४।
९. वही, १२, १५।
१०. वही, ६, १०, ३६।
११. वही, २३, ४९, ५३।
१२. वही, ४८।

लता भवन ते प्रगट भए, तेहि अवसर दोउ भाइ।
। S । । । S । । । । । । । । । । । । । S ।
निकसे जनु जुग बिमल बिधु, जलद पटल बिलगाइ॥[१]
। । S । । । । । । । । । । । । । । । । S ।

(दोहा के मात्राविधान की रक्षा के लिए उक्त प्रथम पंक्ति में 'ये', 'ते', तथा 'दो' का लघु उच्चारण अपेक्षित है।) इस उद्धरण में ५ गुरु तथा ३८ लघु वर्ण हैं। इस दोहाभेद का नाम अहिवर है।

इसी तरह १७ और १८ गुरुवाले दोहे भी मिलते हैं।[२] उदाहरण—

राम निकाई रावरी है सबही को नीकु।
S । । S S S । S S । । S S S ।
जौ यह साँची है सदा, तो नीको तुलसीक॥[३]
S । । S S S । S S S S । । S ।

इस दोहे में १८ गुरु और केवल १२ लघु वर्ण आये हैं। इस दोहा-भेद का नाम मंडूक है।

किन्तु २२ गुरु अथवा ४८ लघुवाले दोहों के उदाहरण लक्षण-ग्रंथों में ही सुलभ हैं।

मात्रा-विधान के आधार पर दोहा के भेदों या रूपांतरों का प्रयोग भी तुलसी के काव्य में दुष्प्राप्य नहीं। सोरठा की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। 'उवहुवहअ' या दोहरा का प्रयोग भी खूब हुआ है।[४] उदाहरण---

व्यापक ब्रह्म निरंजन, निर्गुन बिगत बिनोद।
S । । S । । S । । S । । । । । । S ।
सो अज प्रेम-भगति बस, कौसल्या के गोद॥[५]
S । । S । । । । । । S S S S S ।

इस दोहे में विषम पादों में १२-१२ तथा सम पादों में ११-११ मात्राएँ हैं। अतः यह उक्त भेद दोहरा है।

दोहावर्ग में अंतर्भुक्त बरवै छंद पर तो गोस्वामीजी ने विशेष कृपा की है कि इस छंद में ६९ पदों की एक छोटी-सी रामायण ही लिख डाली।[६] इस छंद के संबंध में रहीम[७] का नाम विशेष रूप से लिया जाता है। वेणीमाधवदास ने तो तुलसीदास की बरवै रामायण की रचना का कारण रहीम को ही माना है—

१. तुलसीदास: रामचरितमानस १।२३२ (सं० देवनारायण द्विवेदी)।
२. तुलसी-ग्रंथावली, दोहावली, ८४, ४९४ तथा १०५, ५७२।
३. वही, १०५।
४. तुलसीदास: रामचरितमानस, १।१९२, १९८-२००, २०२ आदि।
५. वही, १।१९८।
६. तुलसी-ग्रंथावली, बरवै रामायण, पृ० १९।
७. जन्म सं० १६१०; डॉ० रा० कु० वर्मा: हिं० सा० का० आलो० इति०, पृ० ७२९।

कवि रहीम बरवा रचैं, पठए मुनिवर पास।
लखि तेहि सुन्दर छंद में, रचना कियौ प्रकाश॥[1]

रहीम का एक बरवा देखिए—

सघन कुंज अमरइया, सीतल छाँह।
अगरत आइ कोइलिया, फिर उड़ि जाहि॥[2]

रहीम के दोहे तथा सोरठे भी अत्यंत सरस-सुन्दर हैं।[3]

केशवदास के काव्य में दोहा[4] तथा सोरठा[5] के प्रचुर प्रयोग उपलब्ध हैं। उदाहरण-स्वरूप एक दोहा उद्धृत है—

वाकों थोरा दोष मैं दीन्हो दंड अगाध।
रामचराचर ईश तुम छमियो या अपराध॥[6]

उक्त दोहे में १६ गुरुवर्ण तथा १६ लघुवर्ण हैं। अतः, यह दोहा का करभ नामक भेद है।

१७वीं शती के बाद दोहा-प्रयोग

दोहा-छंद की लोकप्रियता रीतिकाल में घटी नहीं, यद्यपि इस काल में इसका प्रयोग प्रायः मुक्तक रूप में ही अधिक हुआ। रीतिकालीन कवियों में सतसई में केवल दोहा का ही प्रयोग करनेवाले बिहारी प्रसिद्ध हैं। भूषण ने शिवराजभूषण में अलंकारों के लक्षण प्रायः दोहा-छंद में दिये हैं। भारतेन्दु ने भी बहुत ही सुन्दर दोहे लिखे। अपभ्रंश, डिंगल, अवधी और व्रजभाषा में ही नहीं, खड़ीबोली काव्य में भी दोहा प्रयुक्त है। इस दृष्टि से दुलारेलाल भार्गव-दोहावली तथा नाथूराम शंकर शर्मा के विविध दोहे उल्लेख्य हैं। रीतिकाव्य में तथा भारतेंदु की रचनाओं में मुख्यतः कुंडलिया के अंगरूप में दोहा का प्रासंगिक प्रयोग भी होता रहा है।

दोहादि-संबंधी सामान्य निष्कर्ष

१. संस्कृत के छंदोलक्षणग्रंथों में प्रायः अनुल्लेख, संस्कृत-प्राकृत काव्य में प्रायः अप्रयोग तथा अपभ्रंश-काव्य में प्रयोगाधिक्य से यह विदित है कि दोहा अपभ्रंश का छंद है। परिनिष्ठित काव्य में इसकी परंपरा का आरंभ ८वीं शती के लगभग दिखाई देता है। किंतु, कालिदास के विक्रमोर्वशीय त्रोटक में इसके प्रयोग तथा स्वयंभू द्वारा इसके कई भेदों के उल्लेख से ध्वनित है कि इस छंद का जन्म उस काल के बहुत पूर्व हो चुका होगा।

२. दोहा-छंद का पूर्वरूप 'दुवहअ' (द्विपथक) है, जो सीधे लोकप्रचलित ताल-संगीत के मात्रिक संस्कार का प्रतिफलन है। घत्ता के त्रयोदश-मात्रिक पादांश में अहीर

१. गोसाईंचरित, ९३।

२. रहिमनविनोद (हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग), सं० १९८४, बरवै-नायिकाभेद, पृ० ७१।

३. वही, दोहावली, प० १-४६।

४. केशवदास: रामचंद्रिका, १।५-७, १८, २१, २९, ४९, ५१ आदि।

५. वही, १।५०; २।९, २५; ३।१७, १९, २३, २७ आदि।

६. वही, ३४।२४।

छंद के एकादशमात्रिक पाद के मिश्रण से दोहा का जन्म नहीं हुआ, और न ग्रीस के षड्गण (Hexameter) से दोहा विकसित हुआ है। यह लोकगीत से उद्भूत विशुद्ध भारतीय छंद है।

३. अपभ्रंश तथा मध्यकालीन हिंदी में दोहा सर्वाधिक लोकप्रिय छंद कहा जा सकता है। इसका प्रयोग ८वीं शती से २०वीं शती तक लगातार विविध विषयों के लिए तथा विविध शैलियों में होता आया है। अपभ्रंश में सिद्धों और जैनों के सांप्रदायिक मतवाद, संतों के खंडन-मंडन और रहस्यानुभूति, कृष्णकाव्य के अंतर्गत दार्शनिक सिद्धांत एवं भक्तिपरक उद्गार, अपभ्रंश और डिंगल की वीरगाथाएँ, राम-काव्यांतर्गत विविध मार्मिक प्रसंग, सूफी-प्रेमाख्यान, फुटकल ऐहिक शृंगार अथवा, नीति-परक उक्तियाँ, रीतिकालीन शास्त्र-चिन्तन तथा आधुनिक सामाजिक विचार एवं देशप्रेम-संबंधी उद्गार—ये विविध विषय—एक समान दोहा के रूप में सर्वथा अनुकूल अभिव्यक्ति उपलब्ध करते हैं। दोहा का प्रयोग मुक्तक-शैली में, कडवक-बद्ध (प्रबंध) शैली में, पद-शैली में तथा प्रगाथ-शैली में समान सौकर्य के साथ होता दिखाई देता है।

४ दोहा-छंद आरंभ से बहुत दिनों तक गणबद्ध रूप में प्रयुक्त होता रहा। परवर्त्ती हिंदी में गणमुक्त रूप में भी इसका प्रयोग आम तौर पर दिखाई देने लगा।

५ संभवतः दोहा प्रथम छंद है, जिसमें तुक का उपयोग हुआ है। दोहा के अनुकरण पर ही शायद अन्य अपभ्रंश में भी तुक का प्रयोग हुआ।[1] तुक या अंत्यानुप्रास अपभ्रंश के छंदों की विशेषता है, संस्कृत वर्णवृत्त तथा उससे उद्भूत आर्यादि मात्रिक छंदों में पादांत तुक की प्रथा नहीं थी। लोक-प्रचलित ताल-छंद का जब दोहा के रूप में मात्रिक संस्कार हुआ, तब स्वभावतः उसके ताल-सांगीतिक माधुर्य का थोड़ा बहुत ह्रास हुआ। इस क्षति की पूर्ति की चेष्टा दोहा में अंत्यानुप्रास-योजना द्वारा की गई। अन्य अपभ्रंश-छंदों के संबंध में भी यह बात कही जा सकती है। मात्रिक छंदों में गणांतर्गत लघुगुरु-स्वरूप की अपेक्षाकृत स्वतंत्रता के कारण पद्यगत शब्दचयन के लिए जो अधिक अवकाश मिला, वह भी अंत्यानुप्रास-विधान के लिए अनुकूल सिद्ध हुआ।

६ दोहा छंद के इतिहास में उसके चरमोत्कर्ष का समय १४वीं शती को कहा जा सकता है। इस समय तक दोहा के उपदोहअ (दोहरा), अवदोहअ (सोरठा), संदोहअ (दोही), चूडाल-दोहअ (चुलियाला) आदि रूपांतर[2] तथा लघुगुरु-वर्णों की अनुच्छेदगत संख्या पर आधारित भ्रमर, भ्रामर आदि २३ भेद[3] विकसित हो चुके थे। नंदा-दोहा[4] (बरवै) भी काव्य के बीच इसके बाद शीघ्र ही प्रचलित दिखाई पड़ा।

७. सभी युगों, सभी क्षेत्रों, हिंदी के अंतर्गत प्रायः सभी बोलियों, सभी विषयों तथा सभी शैलियों में प्रयुक्त होने के कारण दोहा को अपभ्रंश-हिंदी का सर्वाधिक क्षमताशील एवं लोकप्रिय छंद माना जा सकता है।

---

१. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिंदी-साहित्य का आदिकाल, पृ० ९३।
२. क० द०, २।१५-१७।
३. प्रा० पैं०, १।८०-८२।
४. छं० प० भा०, ७।१८१।

प्रकरण ६
विषममात्रिक छंद (प्रगाथ)

हिंदी के लक्षणकारों ने विषम छंद दो प्रकार के माने हैं—(१) वे छंद, जिनमें विभिन्न पादों की लंबाई या बनावट भिन्न हो; (२) वे छंद, जिनमें पाद-संख्या चार से अधिक हो, या जो दो छंदों के अनुच्छेदों के संयोग से बने—प्रागाथिक (Strophic) छंद। प्रथम प्रकार के विषम छंद हिंदी मे कभी लोकप्रिय नही रहे, अतएव हिंदी में 'विषम छंद' का व्यावहारिक तात्पर्य 'प्रगाथ छंद' हो गया।

प्राकृत-अपभ्रंश के छंदोलक्षणग्रंथों मे षट्पदी से षोडशपदी तक अनेक प्रकार के प्रगाथ छंदों का उल्लेख हुआ है।[1] वस्तुतः इन भाषाओं के काव्य में भी प्रगाथों के बहुत प्रयोग मिलते हैं। इनमें से अधिकांश प्रगाथ मध्यकालीन हिंदी में प्रयोग से उठ गये। उदाहरणस्वरूप, रड्डा छंद, को लें, जो अपभ्रंश में बहुत ही लोकप्रिय था, किंतु हिंदी-काव्य के बीच उसका प्रयोग कहीं उपलब्ध नहीं होता। अपभ्रंश में रड्डा छंद की लोकप्रियता इसी बात से विदित होती है कि उसके कई भेद अपभ्रंश-काव्य में देखे जा सकते हैं।

रड्डा छंद (मात्रा दोहा)[2] के उदाहरण अब्दुर्रहमान के संदेशरासक में उपलब्ध हैं।[3] इस ग्रंथ में रड्डा छंद में निबद्ध कुल छः पद्य आये हैं, जिनके द्वारा रड्डा के कई भेदों में से दो भेद उदाहृत होते हैं—चारुसेनी[4] और राजसेना।[5]

चारुसेनी रड्डा का उदाहरण देखिए—

जइ अणक्खइ कहिउ मइ पहिय। (१५ मात्राएँ)
घण दुक्खाउन्नियह (११ ,,)
मयण-अग्गि विरहिणि पलित्तिहि। (१५ ,,)
तं फरसउ मिल्हि तुह (११ ,,)
विणय मग्गि पभणिज्ज झत्तिहि। (१५ ,,)
तिम जंपिय जिम कुवइ णहु, तं पभणिय ज जुत्तु।
आसीस्मिवि वर-कामिणिहि, उवट्ठाउ पडिउत्त॥[6]
(१३, ११, १३, ११ मात्राएँ)

---

१. दे० अ० ४, पृ० २।

२. छं० को०, ३४ (छं० को० में मात्रा को राठउ कहा गया है तथा रड्डा को वत्थु)।

३. अब्दुर्रहमान: संदेशरासक, १८, १९, २४, २५, २२२, २२३।

४. अब्दुर्रहमान: संदेशरासक, १८, १८९, २५, २२२ (विभिन्न पादों में क्रमशः मात्रा-संख्या १५, ११, १५, ११, १५ दोहा)।

५. वही, २४, २२३ (विभिन्न पादों में क्रमशः मात्रा-संख्या १५, १२, १५, ११, १५ दोहा)।

६. वही, २२२।

चारुसेनी रड्डा का प्रयोग हरिभद्र सूरि (समय सं० १२१६ वि०)[1] के णेमिणाह-चरिउ में भी हुआ है। उदाहरण—

जत्थ माहवि लइय तो मरिय (१५ मात्राएँ)
मेहालिय कुंतलिय (११ ,,)
जालईय लहु सुरहि लइयवि। (१५ ,,)
भूयद्दुम मंजरिय (११ ,,)
बहुगुलुब पायव अमोर्यवि। (१५ ,,)
आलिगिज्जहि पूगफले, तरु कामुय सव्वंगु।
नागवल्लि तरुणिहि जणह, उज्जीविरिहि अणंगु॥[2]
(१३, ११, १३, ११ मात्राएँ)

हरिभद्र सूरि ने भी अद्दहमाण की तरह रड्डा के अन्य भेदों की अपेक्षा चारुसेनी का ही प्रयोग अधिक किया है।

कवि पिल्हकृत जिनदत्तसूरिस्तुतिः (खरतर पट्टावली; समय १२वीं शती शेषार्द्ध) में १० छप्पय हैं, जिन्हें ग्रंथ में 'षट्पद' कहा गया है।[3] ग्रंथ की भाषा अपभ्रंश-मिश्रित प्राकृत है।

छप्पय को संदेशरासक में वत्थु कहा गया है। इस ग्रंथ में वत्थू के तीन स्वरूप प्रयुक्त किये गये हैं—

१ काव्य। उल्लाला (छप्पय)[4]
२. रासा। उल्लाल[5]
३ काव्यरासासंकीर्ण। उल्लाल[6]

संदेशरासक में एक और प्रगाथ है, खडहडय (-भ्रमरावली। गाथा),[7] जो दो पद्यों में प्रयुक्त है।[8]

अपभ्रंश-काव्यग्रंथों में और भी प्रगाथ प्रयुक्त मिलेंगे। किंतु हिंदी की दृष्टि से उन सभी प्रगाथ छंदों का महत्त्व नहीं है; क्योंकि हिंदी में इनमें से दो के अतिरिक्त और प्रगाथों के प्रयोग प्रामाणिक और पर्याप्त रूप से नहीं मिलते। हिंदी में लोकप्रिय दो प्रगाथ हैं—छप्पय (काव्य। उल्लाला) और कुंडलिया (दोहा।-काव्य)।

१. राहुल: हिं० का० धा०, पृ० ३८४।
२. वही, पृ० ३८६।
३. ग्रंथ के अंत में संस्कृत में ये शब्द आये हैं: 'इति श्रीपट्टावली षट्पदानि। संवत् ११७० वर्षे अश्वयुगाद्य पक्षे ११ तिथौ' ... आदि।
—ऐतिहासिक जैनकाव्यसंग्रह, पृ० ३६५-८।
४. अब्दुर्रहमान: संदेशरासक, १४८, १८३, १९९।
५. वही, १३७।
६. वही, १९१।
७. बृ० जा० स०, ४।७३।
८. अब्दुर्रहमान: संदेशरासक, ११५-११६।

यहाँ छप्पय और कुंडलिया छंदों की विशुद्ध चर्चा मध्यकालीन हिंदी-कविता की पीठिका में आवश्यक नहीं, क्योंकि हम उनके अंगभूत उल्लाला, काव्य और दोहा पर स्वतंत्र प्रकरणों में सविस्तर विचार कर चुके हैं और उन प्रसंगों में यथावश्यकता छप्पय-कुंडलिया का उल्लेख भी होता गया है।[1]

हाँ, इस प्रसंग में यह अवश्य वक्तव्य है कि प्रतिभाशाली मध्यकालीन कवियों की दृष्टि प्रगाथ के क्षेत्र में केवल छप्पय-कुंडलिया तक सीमित नहीं रही है, वरन् उन्होंने अपनी प्रज्ञा के सहारे ऐसे विभिन्न छंदोऽनुच्छेदों के मिश्रण प्रस्तुत किये हैं, जो उस युग तक के छंदोग्रंथों में अनुल्लिखित होने के कारण प्रगाथ-संज्ञा के अभाव में उन कवियों की मौलिक देन कहे जा सकते हैं। ऐसे कवियों के शिरोमणि हैं सूरदास जिनके कुछ मौलिक प्रगाथ-प्रयोग द्रष्टव्य हैं—

१. चौपाई की अर्द्धाली गीतिका (सगुण) ८ पाद।

२. चौपाई की अर्द्धाली हरिगीतिका (सगुण) ८ पाद।

३. चांद्रायण (अर्द्धाली) काव्य या रोला (अर्द्धाली) दोहा (सगुण) ८ पाद।[4]

४. काव्य या रोला (अर्द्धाली) दोहा (सगुण) इन गाथाओं का पाद ध्रुवक रूप में ७ पाद।

अंतिम प्रगाथ को नंददास ने व्यापक रूप से अपने भ्रमरगीत में प्रयुक्त किया है। मध्यकाल के अन्य कवियों ने जहाँ प्रगाथ का प्रयोग किया है वहाँ छप्पय-कुंडलिया ही प्रयुक्त दिखाई देते हैं। उनकी पृथक् चर्चा अनावश्यक है, क्योंकि पिछले प्रकरणों में[6] ये पर्याप्त रूप से उल्लिखित हैं। अतएव केशवदास की एक कुंडलिया को उद्धृत कर देना यहाँ काफी होगा—

पंडित अति सिगरी पुरी मनहु गिरा गति गूढ़।
सिंह चढ़ी जनु चंडिका मोहति मूढ़ अमूढ़॥
मोहति मूढ़ अमूढ़ देवसंगहि सी सोहै।
सब शृंगार सदेह मनो रति मन्मथ मोहै॥
सबै शृंगार सदेह सकल सुख सुखमा मंडित।
मनोशची बिधि रची बिबिध बिधि बरनत पंडित॥[7]

कुंडलिया और छप्पय प्रगाथ आधुनिक काल में भी प्रयुक्त हुए हैं। राय देवीप्रसाद

---

१. दे० क्रमशः अ० ५, पृ० ३; अ० ६, पृ० ४, अ० ६, पृ० ५।
२. सूरदास: सूरसागर (ना० प्र० सभा काशी), ४८०४।
३. वही, ४८०५।
४. वही, ४८०६।
५. वही, २२३६।
६. दे० अ० ५, प्र० ३, उल्लाला; अ० ६, प्र० ३, का० प; अ० ६, प्र० ५, दोहा।
७. केशव: रामचंद्रिका, १।४७।

'पूर्ण' ने कुडलिया और गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', गोपालशरण सिह तथा रामनरेश त्रिपाठी ने छप्पय का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत किया है।[1]

आधुनिक काल की नई धारा के अतर्गत मध्यकालीन छदो के पादमिश्रण द्वारा नवीन प्रगाथेतर छदो की तथा अनुच्छेद-मिश्रण से नवीन प्रगाथो की भी उद्भावना की गई है। इन अभिनव प्रगाथो मे अधिकाश ताल और बलाघात के अनुशासन मे बाँधे जा सकते है, जिससे यह ध्वनित है कि ये छद प्राचीन लोकप्रचलित तालवृत्त के ही कालातर मे विकसित-परिष्कृत रूप हैं।

१. डॉ० केसरीनारायण शुक्ल: आधुनिक काव्यधारा, पृ० १८४, १८९, १९०।

अध्याय ८

उपसंहार

सामान्य समीक्षा एवं निष्कर्ष

(क) छंदःशास्त्रीय विवेचन की प्रवृत्ति के बीज, यों तो, वैदिक वाङ्मय में भी मिल जाते है, किंतु पृथक् ग्रंथरूप मे उसकी सम्यक् परंपरा का प्रवर्त्तन पिंगलाचार्य के 'छंदःशास्त्र' द्वारा हुआ। संस्कृत-लक्षणकारों मे अकेले हेमचंद्र ने लोकछंद:परंपरा से उद्भूत तथा अपभ्रंश मे प्रयुक्त मात्रिक छंदो की विशद चर्चा की है।[१] हेमचंद्र के पूर्व प्राकृत के लक्षणकार विरहाक और स्वयंभू ने ऐसे छंदों का उल्लेख किया। इनके ग्रंथों मे प्रायः सभी ज्ञात छंदों को अंतर्भुक्त कर लेने की प्रवृत्ति दीखती है, जबकि प्राकृत-पैंगलम् और छंदःकोश मे वे ही छंद आये हैं, जो अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित अथवा लोकप्रिय थे।[२] इन दो ग्रंथों मे आये छंदों के उदाहरण व्यावहारिक काव्य के बीच दीर्घ काल तक आसानी से मिल भी जाते है।[३] हिंदी के छंदोलक्षणकार प्रायः प्राकृतपैंगलम् से प्रेरणा ग्रहण करते है।[४]

(ख) संस्कृत-छंदोग्रंथों मे अधिक प्रचलित लक्षणनिर्देश की सूत्रशैली प्राकृत और हिंदी में बहुत प्रयुक्त नही। इसके स्थान पर पद्यबद्ध लक्ष्य-लक्षणशैली अधिक लोकप्रिय हुई।[५] छंदोलक्षण-निर्देश के लिए वर्ण-गणो तथा मात्रा-गणों का प्रयोग पिंगल के युग से ही उपलब्ध है। मात्रिक गणो मे पिंगल ने केवल चतुष्कल का प्रयोग किया। पाँचों मात्रिक गणो का विकास हेमचंद्र के समय तक हो चुका था, यद्यपि उन्हें परिनिष्ठा प्राकृतपैंगलम् मे प्राप्त हुई।[६] इस ग्रंथ मे मात्रिक छंदों के लक्षण गणमुक्त और गणबद्ध दोनों रूपों मे अलग-अलग दिये गये।[७] हिंदी छंदोग्रंथों मे प्रायः गणमुक्त-शैली की ओर प्रवृत्ति रही।[८] असल में, मध्यकालीन हिंदी-काव्य के बीच प्रयोग-स्वातंत्र्य के कारण गणविधान का ढाँचा बहुत कुछ ढीला पड़ गया और लक्ष्य पद्यों में गणनियम प्रायः चरितार्थ नहीं होने लगे।[९] कई परवर्त्ती लक्षणकारों ने लक्ष्य के आलोक में अपने छंदःलक्षणों का संशोधन किया।

---

१. दे० अ० २, प्र० १।

२. वही।

३. दे० अ० ५ तथा ६।

४. दे० अ० २, प्र० ५।

५. प्रा० पैं० तथा छं० हृ० प्र० में लक्षण-लक्ष्य-सादृश्य-शैली तथा श्रु० बो०, वृ० र०, वृ० जा० स०, छं० को०, वृ० छं०, छं० प्र० आदि में लक्षण-लक्ष्य-तादात्म्य-शैली दृष्टिगत है। दे० अ० २, प्र० ३।

६. दे० अ० १, प्र० २।

७. दे० अ० २, प्र० १।

८. दे० अ० २, प्र० २।

९. दे० अ० ५ तथा ६।

(ग) पादसंख्या के अनुसार मात्रिक छंदों के वर्गीकरण की परंपरा का आरंभ जयकीर्त्ति-हेमचंद्र से तथा चरम विकास कविदर्पण में दिखाई पड़ा। किंतु प्राकृतपैंगलम् मे तथा बाद मे हिंदी के छंदोग्रथों में ऐसा वर्गीकरण नही है।[1] मध्यकालीन व्यावहारिक काव्य के बीच हम अक्सर देखते है कि किसी छंदोविशेष का प्रयोग विकल्प मे कभी द्विपदी, कभी चतुष्पदी रूप में, प्रसंगगत आवश्यकतानुसार होता है। इसके अतिरिक्त मध्यकालीन हिंदी-काव्य में द्विपदी-चतुष्पदी-षट्पदी के अतिरिक्त कविदर्पणोक्त छंद:प्रकारों का प्रयोग कभी लोकप्रिय नही रहा।[2] बाद के लक्षणकारों ने इसीलिए पाद-संख्यानुसार वर्गीकरण नहीं अपनाया।

समार्द्धसमविषमवर्गीकरण भी पादसंख्या-सापेक्ष है।[3] व्यावहारिक काव्य में भी दोहा-सोरठा-बरवै जैसे अर्द्धसम चतुष्पदी छंद समद्विपदी की तरह दो पंक्तियो में लिखे जाते है। कभी-कभी सम दंडको के लंबे पाद को तोड़कर दो पंक्तियों में विषम छंद की तरह लिखते हैं।[4] संभवतः इस प्रयोग-स्वातंत्र्य के कारण ही प्राकृत तथा हिंदी के लक्षणकारों ने मात्रिक छंदों के समार्द्धसमविषमवर्ग-विभाजन की बहुत चिंता नही की।

पादगतमात्रासंख्या-क्रम से छंदोविवेचन की प्रवृत्ति प्राकृत में नही, हिंदी में ही दिखाई दी।[5] मात्रिक छंदों के उल्लेख-क्रम के प्रसंग में संस्कृत-प्राकृत के लक्षणकारों का ध्यान पादगत मात्रासंख्या से अधिक छंदों के परस्पर व्युत्पत्तिगत संबंध अथवा उनके प्रयोग-क्षेत्र पर रहा।[6]

कविदर्पणकार के पादसंख्यामूलक वर्गीकरण की तरह ही वृंदावनदास का लघुगुरु-नियतानियत-वर्गीकरण भी, अपनी अव्यावहारिक अतिशास्त्रीयता के कारण लोकप्रिय नहीं हुआ।[7]

(घ) गत पृष्ठों में उल्लिखित हिंदी के ३७ प्रमुख छंदोलक्षणग्रंथों में केवल ८ प्रकाशित हैं और शेष २९ अबतक हस्तलिपि-रूप में साहित्य-जगत् की दृष्टि से ओझल पड़े है। इन २९ हस्तलिपियों में केवल १० का उल्लेख श्रीजानकीनाथसिंह ने किया था। शेष १९ हस्तलिपियों का अध्ययन-विश्लेषण प्रस्तुत शोध-प्रबंध में प्रथम बार किया जा रहा है।[10] इनमें मुरलीधर कविभूषण-कृत छंदोहृदयप्रकाश, सुखदेव-कृत पिंगल, वृंदावनदास-कृत छंदसार, अयोध्याप्रसाद-कृत छंदानंदपिंगल तथा जानकीबिहारीलाल-कृत छंद-प्रभाकरपिंगल मुख्य है।

---

१. दे० अ० २, प्र० १ तथा २।

२. दे० अ० ६, प्र० ३ तथा ४।

३. दे० अ० ५ तथा ६।

४. उदाहरणतः समद्विपदी घत्ता (१०+८+१३) को चतुष्पदी (१०+८, १३) या षट्पदी (१०, ८, १३) मानने पर उसकी प्रकृति अर्द्धसम हो जाती है। दे० अ० ४, प्र० २।

५. दे० अ० ६, प्र० ५ तथा ६।

६. अपवाद केवल जानीबिहारीलाल और भानु हैं (दे० अ० २, प्र० २)।

७. भिखारीदास, जानीबिहारीलाल और भानु के ग्रंथ उदाहरण हैं (दे० अ० २, प्र० १ तथा २)।

८. संस्कृत-ग्रंथों में व्युत्पत्ति के अनुसार आर्या-मात्रासमक-वैतालीय वर्गीकरण तथा हेम-चंद्र का भाषाधार वर्गीकरण इस दृष्टि से अर्थपूर्ण हैं (दे० अ० २, प्र० ३)।

९. दे० अ० २, प्र० २।

१०. दे० वही।

—२—

(क) वैदिक स्वर-वृत्त या अक्षर-वृत्त, जिसमें उदात्त, अनुदात्त और स्वरित ध्वनि-प्रकारों का नियमन तथा अनुच्छेदगत अक्षर-संख्या की स्थूल गणना की पद्धति थी, कालांतर में लघुगुरु-वर्ण-सांगीतिक अनुशासन में बँधकर वर्ण-वृत्त में रूपातरित हुआ। इस नवीन वर्ण-संगीत की ओर रचयिताओं का ध्यान कुछ वैदिक छंदों के पाद-परिवर्द्धन की प्रक्रिया में वैदिक काल में ही आकृष्ट हो चुका था, जैसा गायत्री के कुछ पादों और ब्राह्मण-गाथाओं से विदित है। वेदागत प्रायः सभी छंदों ने वर्ण-वृत्त के रूप में गण-बंधन स्वीकार किया, किंतु अनुष्टुप् पुराणकारों और महाकाव्यकारों के बीच व्यापक रूप से लोकप्रिय होने के कारण अर्द्धनियमित (स्वर-मुक्त, वर्ण-गण-मुक्त) रूप में ही परिनिष्ठित हो गया। अनुष्टुप् स्वर-वृत्त और वर्ण-वृत्त के बीच की संयोजक कड़ी का अवशिष्ट उदाहरण है।[1]

(ख) वैदिक छंदों की पादगत अक्षर-संख्या वर्ण-वृत्तांतर्गत गणों[2] में विभक्त हुई और इन गणों के प्रस्तार-भेद से समान अक्षर-संख्यावाले अनेक छंदोभेदों की सृष्टि हुई। विभिन्न वैदिक छंदों के नाम क्रमशः विभिन्न अक्षर-संख्यावाली उक्तादि छंदोजातियों के बोधक बन गये। वर्णवृत्तों के नये नामकरण कही श्रृंगारिक प्रसंगों में उनके प्रयोग से प्रभावित (जैसे इंदुवदना, प्रियंवदा आदि), कही श्रृंगारेतर् प्रकृति-व्यापार के बोधक (जैसे जलोद्धतगति, भुजंगप्रयात आदि) तथा कही छंदोगत विशेष भंगिमा के सूचक (जैसे, द्रुतविलंबित) हैं।[3] वर्ण-गणों के साथ देवता-फलाफलादि-विचार मध्ययुग के धर्म-भावना-प्रधान परिवेश का फल है, जिसका पालन परवर्त्ती युग में भी रूढि की तरह हुआ है।[4] व्यावहारिक काव्य के बीच इस विचार की उपयोगिता नहीं दिखाई देती।[5]

(ग) उपर्युक्त वर्णवृत्त की वेदागत परंपरा के अतिरिक्त एक और छंदःपद्धति अत्यंत प्राचीन काल से वर्त्तमान थी—वह थी लोकप्रचलित ताल-छंद की परंपरा, जिसके अंतर्गत स्वर-संगीत अथवा लघगुरुवर्ण-संगीत के स्थान पर बलाघातपूर्ण समान इकाइयों की नियमित आवृत्ति द्वारा ताल-संगीत की सृष्टि होती थी।[6] प्राकृत-अपभ्रंश के लोकगीतों में प्रयुक्त इस संगीत द्वारा आकृष्ट हो वर्ण-वृत्त के संस्कारों से स्नात परिनिष्ठित काव्य-रचयिताओं ने जब ताल-छंद की रचना का उपक्रम किया, तो लघु-गुरुवर्णों के लिखित रूप में शुद्ध या रूढ व्याकरणगत उच्चारण के अति आग्रह के कारण उन्होंने अनायास ताल-गणों के स्थान में विभिन्न मात्रिक गणों की सृष्टि कर डाली और इससे विभिन्न मात्रिक छंदों की उद्भावना हुई। मात्रिक छंदों की व्युत्पत्ति दो प्रकार से मान्य है—१. आर्या, मात्रासमक और वैतालीय वर्ग के छंद अनुष्टुप् आदि वर्णवृत्तों के उस मात्रिक संस्कार के प्रतिफल है, जो लोक-छंदों के प्रभाव से घटित हुआ; २. दुवई, उल्लाला, घत्ता, पद्धरि, रोला, चउपइया, त्रिभंगी, मदनहर, दोहा, बरवै, आदि छंद लोक-प्रचलित

१. दे० अ० ३, प्र० २।
२. दे० अ० १, प्र० २, गण।
३. दे० अ० ३, प्र० ३।
४. दे० अ० १, प्र० २, गण।
५. दे० अ० ५ तथा ६।
६. दे० अ० ३, प्र० ४।

ताल-छंदों के उस मात्रिक संस्कार के प्रतिफल हैं, जो वर्ण-संगीत के अभ्यस्त शिक्षित और परिनिष्ठित रचयिताओं के द्वारा प्रयोगाधिक्य के फलस्वरूप घटित हुआ।[1]

मात्रिक छंद अपेक्षाकृत अधिक विश्लेषणात्मक भाषाओं, अपभ्रंश तथा हिंदी, की प्रकृति के अधिक अनुकूल होने के कारण तथा लयसाम्य रक्षित रखते हुए वर्ण-क्रम-संगीत में प्रसंगोचित वैविध्य के अवकाश से युक्त होने के कारण मध्यकालीन रचयिताओं के बीच सहज ही लोकप्रिय हो गये।[2]

(घ) संस्कृत-लक्षणग्रंथों में आरंभ से ही उल्लिखित छंद वर्णवृत्त से उद्‌भूत हैं। आर्या और उसके कतिपय भेद अनष्टुप् के पाद-परिवर्द्धन तथा मात्रिक रूपांतर के प्रतिफलन हैं। प्राकृत गेय कथाकाव्यों या चरितकाव्यों में प्रयुक्त होने के कारण आर्या का नाम गाथा पड़ा।[3] मात्रासमक षोडशमात्रापादी दोधकादि समवर्णवृत्तों के मात्रिक समचतुष्पदी रूपांतर हैं, जिनसे कालांतर में पादाकुलक और चौपाई छंद विकसित हुए।[4] वैतालीय संस्कृत के अर्द्धसम मात्रिक छंदों का प्रतिनिधि है, जिसके पाद-संघटन में आंशिक रूप से मात्राओं तथा आंशिक रूप से वर्ण-गणों का उपयोग होता है। यह छंद वर्णवृत्त तथा लोकगत तालछंद के पादांश-मिश्रण द्वारा उद्‌भूत है।[5]

(ङ) प्राकृत-अपभ्रंश के छंदोग्रंथों में उपरिलिखित तीन वर्गों के छंदों के अतिरिक्त प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं में प्रयुक्त कुल मिलाकर शताधिक मात्रिक छंद उल्लिखित हैं। परवर्त्ती ग्रंथों (प्रा० पै० तथा छं० को०) में इनमें अधिकांश के अनुल्लेख द्वारा यह ध्वनित है कि ये सभी छंद चिरंजीवी न हो सके। लक्षणग्रंथों में उल्लिखित सभी छंद किसी युग में व्यावहारिक काव्य-प्रयोग से लिये गये हों, यह आवश्यक नहीं; संभव है, उनमें से कई छंद कल्पना और संभावना के सहारे लक्षणकारों के मस्तिष्क की उपज हों। किंतु, इन छंदों के प्रारंभिक उल्लेख से इसका पता भी अवश्य चलता है कि अपभ्रंश-काल में मात्रिक छंदों के नये-नये प्रयोग व्यावहारिक काव्य के बीच हो रहे थे तथा आदिकालीन रचयिता अपनी विविध भावनाओं और प्रसंगों के साथ एक समान सांगीतिक अनुकूलता रखनेवाले नवीन छंदःस्वरूपों की निरंतर खोज में था।[6] छंदों के काव्यगत ऐतिहासिक अध्ययन द्वारा इसकी पुष्टि होती है।[7]

(च) मध्यकालीन साधक कवियों को उक्त छंदःस्वरूपों की वांछित उपलब्धि हुई थी। उस युग के व्यावहारिक काव्य के बीच प्रयोगबाहुल्य[8] तथा छंदोग्रंथों के बीच उल्लेख-बाहुल्य[9] के आधार पर कहा जा सकता है कि ये छंद हैं—दुवई (सार), उल्लाला

---

१. दे० अ० ३, प्र० ५।
२. वही।
३. दे० अ० ५, प्र० १।
४. दे० अ० ६, प्र० २।
५. दे० अ० ४, प्र० १।
६. दे० अ० ४, प्र० २।
७. दे० अ० ५ तथा ६।
८. वही।
९. दे० अ० ४, प्र० २ तथा ४।

घत्ता, दीपक, अहीर, हाकलि, चौपाई, चौबोला, चौपाई, पद्धरि, काव्य, (रोला), गीतिका, दोहा, चउपइया, त्रिभंगी और मदनगृह तथा इनके कतिपय भेद एवं रूपांतर। ये सभी छंद विविध भावों, प्रसंगों, शैलियों, भाषाओं तथा रचयिताओं के सर्वथा अनूकल सिद्ध हुए।[1] इन छंदों की सर्वानुकूलता तथा सहज-रूपांतरणीयता[2] भी इनकी जीवनी-शक्ति के आधार हैं।

(छ) लोक-प्रचलित तालवृत्त से उद्‌भूत अपभ्रंश के मात्रिक छंद दो कोटियों में विभाज्य हैं—१. वे छंद, जो तालवृत्त से उद्‌भूत तो हैं, किंतु जिनमें वर्ण-संगीत के संस्कारों से युक्त कवियों या पंडितो के प्रभावस्वरूप वर्णों के लघुगुरुस्वरूप-संबंधी विधि-निषेध मात्रागणों की आवश्यकता[3] से बहुत अधिक हैं; तथा २. वे छंद, जो तालवृत्त से मात्रावृत्त तो बन गये है, लेकिन जिनमे लघुगुरु-संबंधी प्रतिबंध मात्रागणों की आवश्यकता से अधिक नहीं। प्रथम कोटि में उपरिलिखित छंदों में से दुवई, पद्धरि और काव्य को माना जा सकता है, यद्यपि परवर्त्ती काव्य-प्रयोग से ऐसा विदित होता है कि इन छंदों मे भी बाद में वर्णों के लघुगुरुस्वरूप-संबंधी या वर्णगण-संबंधी बंधन ढीले कर दिये गये।[4] उपरिलिखित शेष छंद दूसरी कोटि में अंतर्भुक्त है।

—३—

(क) द्विपदी मात्रिक छंदों में काव्य-प्रयोग की दृष्टि से चार छंद उल्लेख्य हैं—आर्या (गाथा), दुवई, उल्लाला तथा घत्ता; यद्यपि इनमें प्रथम और अन्तिम चौदहवीं शती के बाद, अर्थात् मध्यकालीन हिंदी में प्रयुक्त नहीं दिखाई देते। वर्णवृत्त अनुष्टुप् के पाद-परिवर्द्धन तथा मात्रिक संस्कार से उद्‌भूत[5] आर्या छंद प्राकृत के अतिरिक्त संस्कृत में भी प्रयुक्त है। प्राकृत का यह प्रधान छंद काव्य, पुराण, साहित्यशास्त्र, धर्मशास्त्र, संप्रदाय-सिद्धांत, इतिहास, आख्यान आदि विविध विषयों के लिए व्यवहृत दिखाई देता है। दूसरी शती से चौदहवी शती तक आर्या और उसके भेदों के विविध शैलियों में प्रयोग के प्रचुर उदाहरण उपलब्ध हैं। चरित-काव्यों मे कड़वकांत घत्ता के लिए तथा अन्यत्र मुक्तक रूप में आर्यादि छंद प्रयुक्त हैं। घत्ता नामक छंद का जीवन अपेक्षाकृत अल्प-कालिक है। नवम शती से यह प्रयुक्त दिखाई देता है और चौदहवी शती के बाद इसका प्रायः कहीं प्रयोग नहीं मिलता। इस छोटी अवधि में चरित-काव्यों में कड़वकांत छंदःपरिवर्त्तन के लिए घत्ता नामक छंद प्रधान रूप से प्रयुक्त हुआ है; संभवतः इसीलिए कड़वकात छंदःपरिवर्त्तन को 'घत्ता देना' कहने लगे होंगे। घत्ता छंद गाथा से उद्‌भूत नहीं, वरन् तालसंगीत से विकसित है।[6] कडवकांत घत्ता के लिए आदिकाल में यद्यपि कई अन्य छंद प्रयुक्त होते थे, किन्तु आर्या (गाथा) तथा घत्ता का उपयोग प्रधान रूप से होता था। चौदहवीं शती के बाद कड़वकांत घत्ता के क्षेत्र से दोहा, सोरठा आदि अपभ्रंश के अपेक्षाकृत अग्रसर छंदों ने गाथा तथा घत्ता को सर्वथा निष्कासित कर दिया।

---

१. अ० ५ तथा ६।
२. Adaptability and flexibility.
३. दे० अ० ४, प्र० २ तथा ५।
४. दे० अ० ५ तथा ६।
५. दे० अ० ५, प्र० १।
६. दे० अ० ५, प्र० ४।

अपभ्रंश के छंदों में से दुवई कम प्राचीन नहीं। यह छंद तालवृत्त से उद्भूत और अपने मात्रिक रूप में भी अष्टमात्रिक धमाली ताल में गेय है।[1] इसी कारण मध्यकालीन हिंदी-काव्य के बीच भी यह अधिकांशतः गेय पदों के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। वस्तुतः, राग-रागिनियों में निबद्ध गेय पदों के लिए इस छंद का जितना व्यापक उपयोग हुआ है, उतना अकेले अन्य किसी छंद का नहीं।[2] दुवई का प्रयोग आठवीं शती से उपलब्ध है। आदिकाल में यह गणबद्ध रूप में प्रायः चरितकाव्यों में ध्रुवक या घत्ता के लिए तथा सिद्धों आदि द्वारा मुक्तक शैली में धर्मोपदेशादि के लिए व्यवहृत हुआ है। मध्यकालीन हिंदी में अधिकतर गेय पदों में ही इसका उपयोग हुआ है। दुवई मात्रागणबद्ध तथा दो पादवाला छंद है। बाद में इसके गणमुक्त तथा चतुष्पदी रूप को सार या ललितपद कहा गया।[3]

उल्लाला छंद उसी मूल तालवृत्त से उद्भूत है, जिससे दोहा, सोरठा आदि। प्रयोग-वैचित्र्य के कारण उल्लाला को समद्विपदी माना गया और दोहा-सोरठा को अर्द्धसम चतुष्पदी। नवम शती से उल्लाला के कुंकुम और कर्पूर भेदों के प्रयोग घत्ता अथवा मुक्तक रूप में मिलते हैं। किन्तु, चौदहवीं शती के बाद उल्लाला प्रायः छप्पय आदि प्रगाथों के उत्तरांश रूप में ही व्यवहृत दिखाई देता है। अपनी वीररसोचित लय-भंगिमा के कारण उल्लाला, छप्पय के अंग-रूप में, वीरकाव्य में जितना समादृत हुआ, भक्तिकाव्य में उतना ही उपेक्षित भी।[4]

वस्तुतः, मध्यकालीन हिंदी-काव्य में द्विपदी छंदों की ओर विशेष रुचि नहीं दिखाई देती। आर्या और घत्ता तो नहीं ही मिलते हैं, उल्लाला का भी प्रगाथेतर प्रयोग अपवाद-रूप में ही प्राप्य है। दुवई छंद अपनी ताल-सांगीतिक क्षमता के कारण गेय पदों में प्रयुक्त होता रहा। किन्तु, पदेतर शैली में दुवई के गणमुक्त चतुष्पदी-रूप सार छंद की ओर ही विशेष रुचि दिखाई दी।[5]

(ख) समचतुष्पदी छंदों में चौपाई, पद्धरि, अरिल्ल, पादाकुलक, काव्य (रोला), मरहट्ठा, चउपइया, त्रिभंगी, दुर्मिला, मदनहर आदि तथा अर्द्धसममात्रिक छंदों में दोहा, सोरठा, बरवै आदि हमारे विवेच्य काल में सर्वाधिक लोकप्रिय रहे हैं। षोडशमात्रापादी प्रथम चार छंदों का उपयोग आठवीं शती से ही विविध विषयों और विविध शैलियों में दृष्टिगत है। चौपाई-पादाकुलक की व्युत्पत्ति वर्णवृत्त-परंपरा से उद्भूत पिंगलोक्त मात्रासमक छंद से तथा पद्धरि-अरिल्ला की व्युत्पत्ति लोक-प्रचलित ताल-वृत्त से मान्य है।[6] इनसे छोटे पादवाले छंद आदिकाल में कई देखने में आये, किन्तु कवि के पूर्ण मंतव्य को वहन करने में असमर्थ होने के कारण मध्यकालीन हिंदी में वे लोकप्रिय न हो सके।[7] षोडशमात्रापादी छंदों में पादाकुलक का प्रयोग चतुर्थ शती के पूर्व से, चौपाई

१. दे० अ० ५, प्र० २।
२. दे० अ० ५ तथा ६।
३. दे० अ० ४, प्र० ४।
४. दे० अ० ५, प्र० ३।
५. दे० अ० ५, प्र० २।
६. दे० अ० ६, प्र० २।
७. दे० अ० ६, प्र० १।

का प्रयोग अष्टम शती से तथा पद्धरि का प्रयोग नवम शती से उपलब्ध है। फिर भी, चौपाई नाम पंद्रहवी शती के पूर्व प्रयुक्त नही मिलता। संभवतः, कुतुबन आदि सूफी कवियों ने इस नाम का इस छदो-विशेष के लिए प्रथम प्रयोग किया है।[1]

आदिकालीन चरित-काव्यों मे कड़वक-विधान के लिए अधिक पद्धरि-अरिल्ल का और कम चौपाई-पादाकुलक का उपयोग हुआ है। कडवक के मुख्य छंद के रूप में इनके अतिरिक्त कहीं-कही काव्य, मदनावतार, प्लवंगम आदि भी आ गये हैं; किन्तु प्रयोग-बाहुल्य षोडशमात्रापादी छंदों के पक्ष मे ही रहा है।[2] मध्यकालीन हिंदी मे कडवक-रचना के लिए व्यापक रूप मे दोहा-चौपाई-शैली अपना ली गई और कड़वक के मुख्य छंद के रूप मे प्रायः सर्वत्र चौपाई छंद व्यवहृत हुआ। पद्धरि का इस रूप मे प्रयोग इस युग में अपवाद-रूप में ही उपलब्ध है। षोडशमात्रापादी छंद कभी गेय पदों के लिए अधिक नही अपनाये गये।

वस्तुवदनक (वत्थू) या काव्य-छंद षोडशमात्रापादी वदनक छंद के पाद-परिवर्द्धन का परिणाम तथा इस दृष्टि मे लोक-प्रचलित ताल-संगीत-परंपरा से विकसित अवश्य कहा जा सकता है, किन्तु वर्णवृत्त के संस्कारों मे स्नात परिनिष्ठित काव्य-रचयिताओं के प्रभाव-स्वरूप उसके मध्य चतुष्कल मे वार्णिक जगण का विधान स्वीकृत हुआ। आठवी शती से गणबद्ध चतुष्पदी के रूप में यह छंद प्रयुक्त मिलता है। चरितकाव्यों में जहाँ इसका घत्तार्थ प्रयोग हुआ है, वहाँ प्रायः उसके दो पाद ही आये हैं। मध्यकालीन हिंदी मे गण-विधान शिथिल होने पर ११, १३ के विश्राम मे इसका पाद-गठन हुआ और इसे रोला कहा गया। जैसे 'वत्थू' शब्द 'वस्तुक' से व्युत्पन्न है, उसी प्रकार 'रोला' 'रोडक' मे। हिंदी में रोला तथा इस वर्ग के अन्य छंदों का प्रयोग मुक्तक शैली मे तथा प्रगाथ शैली में बहुत अधिक हुआ है। वीरकाव्य में छप्पय, कुण्डलिया तथा अमृतध्वनि छंदों के अंग-रूप में इसका तेज जितना प्रभावशाली है, शृंगारोन्मुख भक्तिकाव्य मे मुक्तक-रूप में तथा कुण्डलिया आदि अनेक प्रगाथों के रूप मे इसका माधुर्य उतना ही मनो-मुग्धकारी।[3]

पादांतर्गत तुक के साथ दो या अधिक यतिवाले चतुष्पदी छंदों का प्रयोग भी आठवीं शती से मिलता है[4], यद्यपि लक्षण-ग्रंथों में प्राकृतपैंगलम् (चौदहवीं शती) के पूर्व इनका उल्लेख उपलब्ध नहीं।[5] इस बीच लक्षणकारों की उपेक्षा का कारण यह हो सकता है कि ये छंद इस अवधि में विकास की प्रक्रिया में थे और अभी परिनिष्ठा नहीं प्राप्त कर सके थे। इस बात की पुष्टि इनके व्यावहारिक काव्य-प्रयोग के अवलोकन से भी हो जाती है।[6] आदिकाल में कभी इन छंदों का प्रयोग घत्तार्थ द्विपदी-रूप में होता था, कभी कड़वकातर्गत या मुक्तक चतुष्पदी रूप में। मध्यकालीन हिंदी में संतकाव्य और कृष्णकाव्य के अंतर्गत इस वर्ग के झूलना तथा हरिप्रिया विशेष प्रयुक्त हैं और रामकाव्य

१. दे० अ० ६, प्र० २।
२. दे० अ० ६, प्र० २ तथा ३।
३. दे० अ० ६, प्र० ३।
४. दे० अ० ६, प्र० ४।
५. दे० अ० ४, प्र० २।
६. दे० अ० ६, प्र० ४।

के अंतर्गत चउपइया तथा दुर्मिला। यों इस काल में मरहट्ठा, त्रिभंगी, मदनगृह आदि के उदाहरण भी मिल जाते हैं। इस वर्ग के छंदों के पाद अक्सर लंबे होने के कारण दो से अधिक खंडों में विभाजित होते हैं तथा इनके नृत्य-ताल-सांगीतिक इतिहास के कारण इनके पादों में पादांतर्गत यति-स्थानों के बीच नियमपूर्वक आठ मात्राओं का अन्तर हुआ करता है।[1] द्रष्टव्य है कि ये छंद अष्टमात्रिक तालगणों में गेय हैं।[2]

—४—

(क) अर्द्धसममात्रिक चतुष्पदी छंदों में दोहा, सोरठा, बरवै आदि हमारे विवेच्य काल में विशेष लोकप्रिय रहे। कालिदास द्वारा प्रयुक्त दोहा प्रामाणिक हो या न हो, आठवीं शती में उसके परिष्कृत-परिनिष्ठित प्रयोग द्वारा यह अवश्य ध्वनित है कि दोहा छंद किसी-न-किसी रूप में इसके बहुत पूर्व से प्रचलित रहा होगा। दोहा न तो 'दोधक' से, न अहीर छंद से और न आर्या से व्युत्पन्न है। ग्रीस के षड्गण से भी इसका संबंध नहीं। वस्तुतः, यह अष्टमात्रिक तालगणों में गेय किसी मूल तालवृत्त से विकसित दुवहअ छंद का परवर्त्ती रूप है। अपभ्रंश-काव्य में दोहा का जितना महत्त्व रहा, उससे कम समादृत यह मध्यकालीन हिंदी में नहीं रहा है। सभी विषयों और सभी शैलियों में प्रयुक्त यह एक प्रकार से सर्वोपयोगी (omni purpose) छंद रहा है। दोहा के रूपांतर उवदुवहअ (दोहरा), अवदुवहअ (सोरठा), गंदोहय (दोही) तथा चूडाल-दोहय (चुलियाला) छंद भी प्रयोग-वैविध्य के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।[3]

(ख) विषम छंदों के नाम पर हिंदी में चार से अधिक पादवाले छंद छप्पय, कुंडलिया प्रभृति प्रगाथ ही प्रयुक्त मिलते हैं, यद्यपि न तो प्राकृत लक्षण-ग्रंथों में विषम छंद का 'चार से अधिक पाद का होना' अर्थ ग्रहण किया गया है और न चार से अधिक पादवाले अन्य छंदों का अभाव ही है। आश्चर्य है कि हिंदी में मात्रा, रड्डा आदि छंद नहीं अपनाये गये, जबकि आदिकालीन अपभ्रंश में ये खूब प्रचलित रहे हैं।[4] मध्य-कालीन हिंदी के रचयिताओं का ध्यान मुख्यतः चतुष्पदी छंदों पर ही केन्द्रित रहा है।

—५—

मध्यकाल में हिंदी-काव्य में प्रयुक्त अन्य महत्त्वपूर्ण छंद हैं—सवैया और कवित्त। कवित्त का ढाँचा मुख्यतः वर्णवृत्त का होने के कारण वह प्रस्तुत शोध-प्रबंध की विषय-सीमा के अंतर्गत विवेच्य नहीं। सवैया वार्णिक और मात्रिक दोनों प्रकार के लिखे गये हैं। इनका पृथक् अध्याय में सविस्तर अध्ययन हिंदी छंदः संबंधी एक पूर्ववर्त्ती शोध-प्रबंध में हो चुका है,[5] अतएव इनकी विशद चर्चा भी प्रस्तुत प्रबंध में नहीं की गई है। वस्तुतः, मध्यकालीन मुक्तक काव्य में सवैया इंद्रधनुष के विविध रंगों के समान अनेकरूपिणी भंगिमा के साथ प्रकट हुआ है। उसका महत्त्व कम नहीं।

---

१. दे० अ० ४, प्र० २ तथा अ० ६, प्र० ४।
२. दे० वही।
३. दे० अ० ६, प्र० ५।
४. दे० अ० ६, प्र० ६।
५. दे० ना० ना० सिं०, अ० ५, पृ० २०६—२१६।

अध्याय ७ : उपसंहार

हिंदी-काव्य में प्रयुक्त उपरि-विवेचित मुख्य मात्रिक छंद कालांतर में विकसित हुए हैं। अतएव, इनपर विभिन्न युगों, भौगोलिक परिस्थितियों और ऐतिहासिक व्यक्तित्वों की छाप है, जो कभी स्पष्ट, कभी धुँधली और कभी सर्वथा अव्यक्त रूप ग्रहण करती हुई प्रतीत होती है। सामूहिक रूप से हिंदी के छंद प्रायः पिछले दो हजार वर्षों के इतिहास को अपने अस्तित्व में अन्तर्निहित किये अगणित परिवर्त्तन-प्रत्यावर्त्तनों को पार करते हुए, अनन्त देश-देशान्तरागत प्रभावों को क्रिया-प्रतिक्रिया-रूप में ग्रहण करते हुए नवीन और अपूर्व संगीत-विधानों की दिशा में सतत सर्जनाकुल हैं।

परिशिष्ट

परिशिष्ट-१

सहायक सामग्री-सूची

(क) छंदोलक्षणग्रंथ

संस्कृत

अमरदास— प्रस्तारादिरत्नाकर (श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९६६ वि०)

कालिदास— श्रुतबोध (श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९८८ वि०)

केदारभट्ट— वृत्तरत्नाकरः (जयदामन्। हरितोषमाला-१। हरितोष-समिति, बम्बई, १९४९। तथा, मेहरचंद लक्ष्मणदास, लाहौर, १९९२ वि०)

क्षेमेन्द्र— सुवृत्ततिलकम्। (काव्यमाला-२। निर्णयसागर प्रेस, १८९६ ई०)

गंगादास— छन्दोमंजरी (चौखम्बा-संस्कृत-सीरीज, बनारस, २००५ वि०)

गंगासहाय— छन्दोऽङ्कुरः (श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, सं० १९६६ वि०)

चंद्रमोहन घोष— छन्दःसार-संग्रह। (प्र० गिरीशचंद्र मुखोपाध्याय, कलकत्ता, १८९३ई०।)

जयकीर्त्ति— छन्दोऽनुशासनम् (जयदामन्। हरितोषमाला-१। हरितोष-समिति, बम्बई, १९४९ ई०)

जयदेव— जयदेवच्छन्दस् (जयदामन्। हरितोषमाला-१। हरितोष-समिति, बम्बई, १९४९ ई०)

दामोदरमिश्र— वाणीभूषण (काव्यमाला ५३। निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १८९५ ई०)

पिंगलाचार्य— छन्दःशास्त्रम् (काव्यमाला ९१। निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३८ ई०)

पिंगलाचार्य— पिंगलच्छन्दःसूत्रम् (रूप प्रिंटिंग प्रेस, कलकत्ता, पाँचवीं आवृत्ति)

रामचरणशर्मा— वृत्तप्रत्ययकौमुदी। (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १८९९ ई०)

रामदयालु— वृत्तचन्द्रिका (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १८९९ ई०)

वेलंकर— संस्कृतवृत्तकुसुमोच्चयः। (जयदामन्। हरितोषमाला-१। हरितोष-समिति, बम्बई, १९४९ ई०)

हेमचंद्र— छन्दोऽनुशासनम् (जयदामन्। हरितोषमाला-१। हरितोष-समिति, बंबई, १९४९ ई०)

प्राकृत-अपभ्रंश

कविदर्पणम्— (ABORI, Vol. XVI, 1934-35, pp. 44-89 ; Ed. Velankar.)

नन्दिताढ्य— गाथालक्षण। (ABORI, Vol. X. i-ii, pp 38; Ed. Velankar)

प्राकृतपिंगलसूत्राणि—(काव्यमाला-४१। निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १८९४ ई०)

प्राकृतपैंगलम्— (Bibliothica Indica ; 1902 ; Ed. Chandra Mohan Gosh.)

विरहांक— वृत्तजातिसमुच्चय। (JBBRAS. Vol. V, 1929-30, pp 34-39 ; Ed.— Velankar.)

रत्नशेखर— छन्दःकोशः। (JUB, Vol. II, iii, 1933., pp. 55-62 ; Ed. Velankar.)

स्वयम्भू— स्वयम्भूच्छन्दस्। (JBBRAS ; 1935 ; pp 18-58 and JRB, Vol. V ; 1936; pp. 69-93 ; Ed. Velankar.)

हिंदी

अयोध्याप्रसाद—छंदानंदपिंगल (हस्तलिपि—ना० प्र० सभा, काशी, सं० ७१८)

अवध उपाध्याय—नवीन पिंगल (साहित्य-भवन, प्रयाग, २००५ वि०.)

चतुरदास— चतुरचंद्रिका-पिंगल (हस्तलिपि—ना० प्र० सभा, काशी)

जगन्नाथप्रसाद 'भानु'—काव्यप्रभाकर (श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, १९६६ वि०)

जगन्नाथप्रसाद 'भानु'—छंदःप्रभाकर (सातवाँ संस्करण, १९३१ ई०)

जयदेवमिश्र— वृत्तार्णव (हस्तलिपि—हिंदी-विद्यापीठ, आगरा-विश्वविद्यालय)

जानी बिहारीलाल—छंदःप्रभाकर-पिंगल (हस्तलिपि—ना० प्र० स०, काशी। सं० ७१८)

दत्त— छंद:चंद्रिका (पुस्तक-भंडार, पटना। प्रथम संस्करण)

परमानंद— श्रीपिंगलपीयूष (ओरिएण्टल बुकडिपो, दिल्ली, १९५३ ई०)

बिहारी— छंदप्रकाश (हस्तलिपि—ना० प्र० सभा, काशी, सं० ९०४।)

भिखारीदास— छंदोर्णवपिंगल (श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९७१ वि०।)

मतिराम— छंदसार-संग्रह (हस्तलिपि—ना० प्र० सभा, काशी, सं० १००३)

मुरलीधर कविभूषण—छंदोहृदयप्रकाश (हस्तलिपि—हिंदी-विद्यापीठ, आगरा-विश्वविद्यालय।)

रघुनंदन शास्त्री—हिंदी-छंदप्रकाश (राजपाल ऐण्ड सन्ज, १९५२ ई०)

रघुवरदयाल दुर्ग—छंदरत्नमाला (श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, बंबई, १९७२ वि०)

रामनरेश त्रिपाठी—हिंदी-पद्य-रचना (पिंगल)। (हिंदी-मंदिर, प्रयाग, १९५४ ई०)

रामसहाय— वृत्ततरंगिणी (हस्तलिपि—ना० प्र० सभा, काशी, सं० ६४)

राय— पिंगलकनका (हस्तलिपि—हिंदी-विद्यापीठ, आगरा वि० वि०)

वृंदावनदास— छंदसार या पिंगलसार (हस्तलिपि—हिंदी-विद्यापीठ, आगरा-विश्वविद्यालय)

सुखदेवमिश्र— छंदोनिवास (हस्तलिपि—ना० प्र० सभा, काशी, सं० १००३)

सुखदेवमिश्र— पिंगल (हस्तलिपि—ना० प्र० सभा, काशी, सं० २५३ तथा ३०६३, सं० १९१२ वि०)

सुखदेवमिश्र— पिंगल (हस्तलिपि—श्रीमन्नूलाल पुस्तकालय, गया, सं०—अ०-५)

सुखदेव मिश्र—वृत्तविचार (हस्तलिपि—ना० प्र० सभा, काशी, सं० १८०९)

सूरतिमिश्र— लघुपिंगल (हस्तलिपि—हिंदी-विद्यापीठ, आगरा-विश्वविद्यालय)

हरदेवदास— छंदपयोनिधि भाषा (श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९६३ वि०।)

अन्य भाषाएँ

George Saintsbury—Historical Manual of English Prosody (Macmillan and Co., London, 1910,)

रामनारायण पाठक—बृहत् पिंगल (गुजराती; गुजरात-साहित्य-परिषद्, विद्याभवन, बम्बई-७)

शोध-प्रबंध

१. डॉ० जानकीनाथ सिंह 'मनोज'—The Historical Development of Medieval Hindi prosody. (Ramanand-Kesava,

1400-1600.) [English—Unpublished—Allahabad University.]

२. डॉ० माहेश्वरी सिह 'महेश'—The Contribution of Hindi poets to prosody. [English–Unpublished–London University.]

३. डॉ० पुत्तूलाल शुक्ल—आधुनिक हिंदी-काव्य में छंदोयोजना (हिंदी—प्रकाशित—लखनऊ-विश्वविद्यालय।)

(ख) काव्य-ग्रंथ

संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश

अद्दहमाण— सनेहरासय (संदेशरासक। सं० मुनि जिनविजय और हरिवल्लभ भयाणी। सिंघी जैनग्रंथमाला। भारतीय विद्याभवन, बम्बई, २००१ वि०)

कनकामर मुनि—करकंडचरिउ (सं० हीरालाल जैन। करंजा-जैन ग्रंथमाला, बरार)

कालिदास— विक्रमोर्वशीय (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९६६ वि०)

कोउहल— लीलावई (सिंघी जैनग्रंथमाला, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, ग्रंथांक ३१)

गोवर्द्धनाचार्य— आर्यासप्तशती (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई काव्यमाला, १८९५ ई०)

जयसिंह सूरि— धर्मोपदेशमाला-विवरण (सिंघी जैन ग्रंथमाला, ग्रंथांक २८, भारतीय विद्याभवन, बम्बई)

जिनदत्त सूरि— उवयेसरसायन (प्राचीन गुर्जर-काव्य-संग्रह। गायकवाड़ ओरियेंटल सीरीज २७, १९२७ ई०)

जिनेश्वर सूरि—कथाकोशप्रकरण (सिंघी जैन ग्रंथमाला। ग्रंथांक ११। भारतीय विद्याभवन, बम्बई)

धनवाल— भविसयत्तकहा (सं० दलाल और गुणे। गायकवाड़ ओरियेंटल सीरीज। संख्या २०। बड़ोदा केंद्रीय पुस्तकालय, १९२३ ई०)

धाहिल कवि— पउमसिरिचरिउ। (भारतीय विद्याभवन, बंबई, १९४८ ई०)

पुष्पदंत— जसहरचरिउ। (सं० डॉ० पी० एल्० वैद्य। करंजा जैन ग्रंथमाला, बरार, १९३१)

पुष्पदंत— णायकुमारचरिउ (सं० हीरालाल जैन। देवेंद्र जैन ग्रंथमाला, करंजा, बरार, १९३३ ई०)

पुष्पदंत— महापुराण (तिसट्ठि-महापुरिस-गुणालंकार)। (सं० डॉ० पी० एल्० वैद्य। माणिकचंद्र-दिगम्बर जैनग्रंथमाला, बम्बई। तीन खंड। १९३७ ई०, १९४० ई०, १९४१ ई०)

प्रभाचंद्राचार्य—प्रभावकचरित्र (सिंघी जैनग्रंथमाला। ग्रंथांक १३। भारतीय विद्याभवन, बम्बई)

महेसर सूरि— नाण-पंचमी-कहाओ (सिंघी जैनग्रंथमाला। ग्रंथांक २५। भारतीय विद्याभवन, बम्बई)

मेरुतुंगाचार्य— प्रबंधचिंतामणि (सिंघी जैनग्रंथमाला। ग्रंथांक १। सिंघी जैन ज्ञानपीठ, शांतिनिकेतन)

राजशेखर सूरि—नेमिनाथ-फाग (प्राचीनगुर्जर-काव्य-संग्रह। गायकवाड़ ओरियेंटल सीरीज ३)

राजशेखर सूरि—प्रबंधकोश (सिंघी जैनग्रंथमाला। ग्रंथांक ६। सिंघी जैन ज्ञानपीठ, शांतिनिकेतन)

रामसिंह— पाहुडदोहा (करंजा जैनग्रंथमाला, बरार)

राहुल सांकृत्यायन (सं०)—हिंदी काव्यधारा। (किताब महल, प्रयाग, १९४५ ई०)
वाक्पति— गउडवहो (शिक्षा-विभाग, बम्बई, १८८७ वि०)
विद्यापति— कीर्त्तिलता (सं० डॉ० बाबूराम सक्सेना। ना० प्र० सभा, काशी, १९२९ ई०)
विमलसूरि— पउमचरियम् (सं० चौगुले तथा वैश्य)
शालिभद्रसूरि— बाहुबलि रास (भारतीय विद्या, वर्ष २, अंक १ सं०, मुनि जिन-विजय)
सरहपा— दोहाकोश (सं० राहुल साकृत्यायन। बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, १९५७ ई०)
सरहपा— दोहाकोश (Ed. Prabodh Chanra Bagchi; Journal of the Deptt. of Letters, Calcutta Uuiversity.)
सरहपा तथा कण्हपा—दोहाकोश और चर्यापद। "Les chants Mystiques de khana et de Saraha". Adrien-Maisonneuve 5, Rue de Tournon 5. Paris VI. 1928.)
सातवाहन हाल—गाथासप्तशती (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई। काव्यमाला २१, १९३३ ई०)। (भूमिका—म० म० डॉ० गोपीनाथ कविराज)
सोमप्रभ— कुमारपाल-प्रतिबोध (गायकवाड़ ओरियेंटल सीरीज १४, १९२० ई०)
हेमचंद्र— कुमारपालचरित (सं० शंकर पांडुरंग पंडित। भंडारकर ओरियेंटल रिसर्च इस्टीच्यूट, पूना १९३६, ई०)

हिंदी

उदयनारायण तिवारी (सं०)—वीरकाव्य (भारती-भंडार, प्रयाग, २०१२ वि०)
उसमान— चित्रावली (ना० प्र० सभा, काशी, १९१२ ई०)
कबीर-कबीर—पदावली (सं० रामकुमार वर्मा। हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग, १९३७ ई०)
कबीर— कबीर-वचनावली (सं० हरिऔध इंडियन प्रेस, प्रयाग, १९८७ वि०)
कबीर— बीजक (कबीर-ग्रंथ-प्रकाशन-समिति। बाराबंकी, २००७ वि०)
केशव— कविप्रिया (लाला भगवानदीन, काशी, १९८२ वि०)
केशव— रामचंद्रिका (रामनारायण लाल, प्रयाग, २००९ वि०)
गणेशप्रसाद द्विवेदी (सं०)—हिंदी-प्रेमगाथा काव्य-संग्रह (हिंदुस्तानी एकेडमी, प्रयाग, १९५३ ई०)
गणेशप्रसाद द्विवेदी (सं०)—हिंदी-संतकाव्य-संग्रह (हिंदुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग, १९५२ ई०)
गोरखनाथ— गोरखबानी (सं० डॉ० बड़थ्वाल। हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग)
घनानंद— घनानंद-ग्रंथावली (सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र। वाणीवितान, बनारस, २००९ वि०)
चंदवरदाई— संक्षिप्त पृथ्वीराज-रासो (सं० डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा डॉ० नामवर सिंह। काशिका-समिति, हिंदी-विभाग, हिंदू-विश्वविद्यालय, काशी की ओर से साहित्य-भवन, प्रयाग द्वारा प्रकाशित, १९५२ ई०)
जयशंकर 'प्रसाद'—कामायनी (भारती-भंडार, प्रयाग, १९९३ वि०)

जोधराज— हम्मीररासो (इंडियन प्रेस, प्रयाग, १९२९ ई०)

तुलसीदास— तुलसी-ग्रंथावली (ना० प्र० सभा काशी, २००८ वि०)

तुलसीदास— तुलसी-ग्रंथावली (सं० डा० माताप्रसाद गुप्त। हिंदुस्तानी एकेडमी प्रयाग, १९४९ ई०)

तुलसीदास— रामचरितमानस (गीताप्रेस गोरखपुर २००५ वि०)

तुलसीदास— रामचरितमानस (कल्याण-मानसांक, वर्ष १३ अंक १, गीताप्रेस गोरखपुर)

तुलसीदास— रामचरितमानस (टीकाकार—देवनारायण द्विवेदी। भार्गव बुक डिपो, बनारस, १९४९ ई०।)

तुलसीदास— श्रीरामचरितमानस (सं० डॉ माताप्रसाद गुप्त। हिंदुस्तानी एकेडमी, प्रयाग)

दादूदयाल— संत दादू और उनकी वाणी (राजेन्द्रकुमार ऐण्ड ब्रदर्स, बलिया, १९५० ई०)

नंददास— नंददास-ग्रंथावली (ना० प्र० सभा काशी, २००६ वि०)

नंददास— भँवरगीत (रामनारायण लाल, प्रयाग, १९३८ ई०)

नरपति नाल्ह—बीसलदेवरासो (सं० डा० माताप्रसाद गुप्त)

नरपति नाल्ह—बीसलदेव-रासो (ना० प्र० सभा काशी १९८२ वि०)

पद्माकर— गंगालहरी (सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र। श्रीरामरत्न-पुस्तक-भवन, काशी, १९९१ वि०)

परशुराम चतुर्वेदी—संतकाव्य (किताब-महल, प्रयाग, १९५२ ई०)

परशुराम चतुर्वेदी—(सं०) सूफी-काव्य-संग्रह (हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग, १९५१ ई०)

भूषण— भूषण-ग्रंथावली (हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग, १९८६ वि०)

मलिक मुहम्मद जायसी—जायसी-ग्रंथावली (सं० डा० माताप्रसाद गुप्त। हिंदुस्तानी एकेडमी, प्रयाग, १९५२ ई०)

मलिक मुहम्मद जायसी—जायसी-ग्रंथावली (सं० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल। ना० प्र० सभा, काशी, २००८ वि०)

मीराँ— मीराँबाई की पदावली (सं० परशुराम चतुर्वेदी। हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग, २०१२ वि०)

मुल्ला दाऊद—चंदायन या लोरकहा, (सं० विश्वनाथप्रसाद, आगरा)

मैथिलीशरण गुप्त—साकेत (चिरगाँव, झाँसी।)

रसखानि— रसखानि-ग्रंथावली (सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र। वाणीवितान, बनारस, २०१० वि०)

रहीम— रहिमन-विनोद (हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग, १९८४ वि०)

रहीम— रहिमन-विलास (रामनारायण लाल, प्रयाग, १९८७ वि०)

रामनरेश त्रिपाठी—(सं०) कविता-कौमुदी। तीसरा भाग। ग्रामगीत (नवनीत प्रकाशन, बम्बई, १९५५ ई०)

रामानंद— रामानंद की हिंदी-रचनाएँ (सं० डॉ० बड़थ्वाल। ना० प्र० सभा, काशी, २०१२ वि०)

विद्यापति— विद्यापति की पदावली (स० बेनीपुरी। हिंदी-पुस्तक-भडार, लहेरियासराय, १९८२ वि०)
बृंद— सतसई। (सतसई-सप्तक। स० श्यामसुन्दरदास। हिंदुस्तानी एकेडमी प्रयाग, १९३१ ई०)
श्यामसुन्दरदास—(स०) परमालरासो, ना० प्र० सभा, काशी, १९७६ वि०)
सुन्दरदास— सुन्दरसार (मनोरजन-पुस्तकमाला, २५, इडियन प्रेस, प्रयाग, १९२८ ई०)
सुमित्रानदन पत—ग्राम्या (भारती-भडार, प्रयाग, १९९७ वि०)
सूरदास— सूरसागर (खड १)। (ना० प्र० सभा०, काशी, २००९ वि०)
सूरदास— सूरसागर (खड २)। (ना० प्र० सभा, काशी, २००७ वि०)
हरिश्चद्र— श्रीचद्रावली-नाटिका (स० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय। विश्वविद्यालय-प्रकाशन, गोरखपुर, १९५३ ई०।)
हरिश्चद्र— भारतदुर्दशा (स० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय। विश्वविद्यालय-प्रकाशन गोरखपुर, १९५३ ई०)

(ग) अन्य ग्रंथ

हिंदी

कन्हैयालाल पोद्दार—संस्कृत-साहित्य का इतिहास (ना० प्र० सभा, काशी, २०११ वि०)

कामताप्रसाद गुरु—हिंदी-व्याकरण (ना० प्र० सभा, काशी, २००९ वि०)

कामताप्रसाद जैन—हिंदी-जैनसाहित्य का संक्षिप्त इतिहास (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९४७ ई०)

(डॉ०) केसरीनारायण शुक्ल—आधुनिक काव्यधारा (सरस्वती मंदिर, २००० वि०)

(डॉ०) धीरेन्द्र वर्मा—ग्रामीण हिंदी (साहित्य-भवन, प्रयाग, १९५० ई०।)

(डॉ०) धीरेन्द्र वर्मा—हिंदी-भाषा का इतिहास (प्रकाशक, हिंदुस्तानी एकेडमी, प्रयाग, १९४० ई०)

पद्मसिंह शर्मा—हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी।

बलदेव उपाध्याय—संस्कृत-साहित्य का इतिहास। (शारदा मंदिर, बनारस, १९५३ ई०)

(डॉ०) बाबूराम सक्सेना—सामान्य भाषाविज्ञान।

बृहत्-हिंदी-कोश—(ज्ञानमंडल, काशी)

भगीरथप्रसाद दीक्षित—भूषणविमर्श (अवध पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ। द्वितीय आवृत्ति)

भगीरथप्रसाद दीक्षित—महाकवि भूषण (साहित्य-भवन, प्रयाग, १९५३ ई०)

रामचंद्र शुक्ल—हिंदी-साहित्य का इतिहास (इंडियन प्रेस, प्रयाग, १९९७ वि०)

(डॉ०) लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—हिंदी-साहित्य का इतिहास (मालवीय पुस्तक भवन, लखनऊ, प्रथम संस्करण)

शिवसिंह सेंगर—शिवसिंहसरोज।

संक्षिप्त हिंदी-शब्दसागर—(ना० प्र० सभा, काशी)

(पं०) सीताराम जयराम जोशी तथा विश्वनाथ शास्त्री भारद्वाज—संस्कृत-साहित्य का संक्षिप्त इतिहास (लक्ष्मी बुकडिपो, कलकत्ता, १९३२ ई०)

(डॉ०) हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिंदी-साहित्य: उसका उद्भव और विकास (अतरचंद कपूर एंड सन्ज, दिल्ली, १९५२ ई०)

(डॉ०) हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिंदी-साहित्य का आदिकाल (बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, १९५२ ई०)

हिंदी शब्दसागर—बृहत् (ना० प्र० सभा, काशी)

संस्कृत

अमरकोश: (श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, २००९ वि०)

ऋक्प्रातिशाख्य (बनारस-संस्कृत-सीरीज)

कालिदास— अभिज्ञानशाकुन्तलम्।

छान्दोग्य-उपनिषद्।

नारदीय महापुराण।

भरतनाट्यसूत्र (गायकवाड़-ओरियेंटल-सीरीज)
मनुस्मृति—(हिंदी-पुस्तक-एजेंसी, कलकत्ता, १९९४ वि०)
मुण्डकोपनिषद्।
यास्क—निरुक्त।
शांखायन श्रौतसूत्र—(सं० ए० हिलब्रैंड, पी-एच्० डी०)
श्रीमद्भगवद्गीता—(गीता प्रेस, गोरखपुर, २०१३ वि०)

अंग्रेजी

A. B. Keith—History of Sanskrit Literature. (Oxford University Press, London. 1953.)
A. B. Keith—Classical Sanskrit Literature. (Oxford University Press, London. 1923.)
Arthur A. Macdonell—A History of sanskrit Literature.
Arnold—Vedic Metre.
(Dr.) Baburam Saxena—Evolution of Awadhi.
Charles F. Richardson—A Study of English Rhyme (Hanover, N. H., 1909.)
C. P. Brown—Sanskrit Prosody (London, 1869.)
Cary T. Jacob—The Foundation and Nature of Verse (New York, 1918 Dalal's Descriptive Catalogue (Gaikwar Oriental Series, Baroda.) Encyclopaedia Britannica.
Edward D. Snyder—Hypnotic Poetry: A Study of Trance—Inducing Technique in certain poems and its Literary Significance, (Philadelphia, 1930.)
F. Maxmuller—Sacred Books of the East.
Ghate—Vedic Metre.
(Dr.) Grierson—The Linguistic Survey of India.
H. C. Scholberg-Concise Grammar of the Hindi Language (Oxford University Press; 1950.)
H. D. Velankar M. A., Litt.—Apbhramsa Metres; Bharat—Kamudi, Part II (Indian Press, Allahabad. 1947.)
H. D. Velankar—Jayadaman; Introduction (Haritosh Samiti, Bombay.)
Henry Lanz—The Phyaical Basis of Rime: (Stanford University Press, 1931.)
I. P. Dabney—The Musical Basis of Verse (New York, 1901.)
(Dr.) Janakinath Sinha—Contribution of Hindi Poets to Prosody (Allahabad University Thesis - Unpublished.)
J. Schipper, Ph. D.—A History of English Versification (The Clarendon Press, Oxford. 1910.)
John Hubert Scott—Rhythmic Prose (University of Iowa Studies, Humanistic Studies III, No. 1; Iowa City, 1925.)
(Dr.) Maheshwari Singh 'Mahesh'—The Historical Development of Medieval Hindi Prosody (London University Thesis—unpublished.)
M. Krishnamacharya—Classical Sanskrit Literature.
Macdonell—Vedic Grammer.
Morris W. Croll—Music and Metres: (Studies in Philology XX, 1923.)
Raymond Macdonald Alden, Ph. D.—English Verse.
Shapiro—A Bibliography of Modern Prosody.
Shapiro—Accent and Rhythm.

Saintsbury—Historical Manual of English Prosody (Macmillan & Co., London. 1910.)

Saintsbury—A History of English Prosody. Vols. I to III. (Macmillan & Co., London. 1906.)

Winterneitz—History of Sanskrit Literature.

W. M. Patterson—The Rhythm of Prose: New York, 1916 (Columbia University Studies in English. N. 27.

(घ) पत्र-पत्रिकाएँ

हिंदी

'कल्पना': वर्ष ८, अंक ४, अप्रैल १९५७ ई०। (हरिमोहन—छंद.शास्त्र के मूल तत्त्व)

'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' वर्ष ६०, अंक २, २०१२ वि०। (कैप्टेन शूरवीर सिंह—महाकवि भूषण का समय)

'हिंदी-अनुशीलन': वर्ष ६ अंक १, २०१० वि०। (डॉ० विश्वनाथप्रसाद—हिंदी गवेषणा और पाठ्य-क्रम का पुनः संगठन)

'हिंदी-अनुशीलन'. वर्ष ३, अंक २, २००७ वि०। (डॉ० केसरीनारायण शुक्ल—लंदन में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथ)

'हिंदी-अनुशीलन': वर्ष ४, अंक ३, २००८ वि०। (श्रीपुत्तूलाल शुक्ल—मुक्त छंदों का विश्लेषण)

अँगरेजी

Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute; Vol. XIV; 1932-33 (Nandhadhya-Gatha-Lakshana)

Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute; Vol. XVI; 1934-35 (Kavidarpanam.)

Journal of the University of Bombay; Vol. II; Part III (Ratnashekhar Chchandah-Kosh. Velankar—Apbhramsa Metres.)

Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society; 1943-44 (Hemchandra --Chchandonushasan.)

Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society; Vol. II; 1935 (Svayambhu Svayambhu-chandash, I-III.)

Journal of Royal Asiatic Society; 1921 (R. L. Turner Gujrati Phonology.)

New Indian Antiquery Vol. I; July 1928. (Velankar—Apbhramsa and Marathi Metres.)

Poona Orientalist; Vol. VIII, 1943. (H. D. Velankar—Music and Metres.)

Journal of the University of Bombay; Vol-V; 1936. (Svayambhu-Svayambhu-chandash, V. VIII.)

Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society; Vol. VIII; 1932; No. 1 and 2. (Virahanka—Vrittajati-Samuccaya, V-VIII.)

Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society; Vol. V; 1929; No. 1 and 2. (Virahanka—Vrittajati—Samuccaya, I-IV.)

परिशिष्ट—२

मात्रिक गण

गण	मात्रासंख्या	भेद	भेदस्वरूप	भेदनाम
टगण	६	१३	१—ऽऽऽ	हर (मगण)
			२—।।ऽऽ	शशि
			३—।ऽ।ऽ	सूर्य
			४—ऽ।।ऽ	शक्र
			५—।।।।ऽ	शेष
			६—।ऽऽ।	अहि
			७—ऽ।ऽ।	कमल
			८—।।।ऽ।	धाता
			९—ऽऽ।।	कलि
			१०—।।ऽ।।	चन्द्र
			११—।ऽ।।।	ध्रुव
			१२—ऽ।।।।	धर्म
			१३—।।।।।।	शाली
ठगण	५	८	१—।ऽऽ	इंद्रासन, सुरराज (यगण)
			२—ऽ।ऽ	वीर, सुपर्ण (रगण)
			३—।।।ऽ	चाप, भुजगेन्द्र
			४—ऽऽ।	हीर (तगण)
			५—।।ऽ।	शेषर (शेखर)
			६—।ऽ।।	कुसुम
			७—ऽ।।।	अहिगण
			८—।।।।।	पापगण
डगण	४	५	१—ऽऽ	कर्ण
			२—।।ऽ	करतल, कर (सगण)
			३—।ऽ।	मुरारि, पयोधर (जगण) नरेन्द्र स्तन
			४—ऽ।।	वसुचरण, चरण (भगण)
			५—।।।।	विप्र, द्विज
ढगण	३	३	१—।ऽ	रसवास, ध्वजा
			२—ऽ।	पौत्र, नंद, ग्वाल, ताल
			३—।।।	वलय, पटह (नगण)
णगण	२	२	१—ऽ	हार, चौंर, नूपुर, कुंडल, भूषण
			२—।।	सुप्रिय, भाव, रस

परिशिष्ट–३

संख्यासूचक सांकेतिक शब्दावली

१–शशि, भू, गंध, रूप, शब्द, स्पर्श।

२–भुज, पक्ष, नैन।

३–गुण, राम, ताप, काल, अग्नि।

४–वेद, वर्ण, फल, युग, आश्रम, अवस्था, धाम, गजेन्द्र, तुरग, पदाति, योध, रथ।

५–शर, गति, बाण, शिवमुख, कन्या, इन्द्रिय, तत्त्व, प्राण, यज्ञ, वर्ग, गव्य, भूत, अनिल, अग्नि, प्रहरण, स्थान, बाणासन।

६–शास्त्र, राग, रस, ऋतु, वेदांग, दति, अलिपद।

७–अश्व, मुनि, लोक, पुरी, वार, स्वर, द्वीप, सिंधु, पाताल, नग।

८–वसु, सिद्धि, योग, याम, दिग्गज, अहि, अंग।

९–भक्ति, निधि, अंक, ग्रह, नाडी, भूखंड, छिद्र, द्रव्य।

१०–दिशा, दशा, दीप, अवतार, दिक्पाल।

११–शिव, हर, भव।

१२–रवि, राशि, भूषण, मास।

१३–भागवत, नदी।

१४–मनु, विद्या, रत्न, भुवन।

१५–तिथि

१६–शृंगार, चन्द्रकला, संस्कार

१८–पुराण, स्मृति

२०–नख

२५–प्रकृति

२७–नक्षत्र

३०–मास-दिवस

३२–लक्षण, दंत

३३–देव

३६–रागिणी

४९–पवन

५६–भोग

६०–संवत्सर

६४–कला

(इनके स्थान में पर्यायवाची शब्द भी व्यवहृत होते हैं।)